समकालीन विश्व इतिहास

कक्षा 12 के लिए पाठ्यपुस्तक

मोहम्मद अनवर-उल हक

हिमांशु एस. पटनायक

प्रत्यूष के. मंडल

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

अगस्त 2003

भाद्रपद 1925

PD 100T SC

ISBN 81-7450-228-9

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस श्री अरविंद मार्ग नई दिल्ली 110016	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज बेंगलूर 560 085	नवजीवन ट्रस्ट भवन डाकघर नवजीवन अहमदाबाद 380 014	सी.डब्लू.सी. कैंपस निकट : धनकल बस स्टॉप पनिहटी, कोलकाता 700 114

प्रकाशन सहयोग

संपादन : शशि चड्डा

उत्पादन : अतुल सक्सेना

सज्जा और आवरण

कल्याण बैनर्जी

रु. 55.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा नवटैक कंप्यूटर 1982, गंज मीर खां, दरियागंज, दिल्ली 110 002 में लेज़र टाईपसैट होकर शिवम ऑफसेट (प्रा.) लिमिटेड, यूनिट नं.1, 128, मेन रोड, असोला, नई दिल्ली 110 030 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं तक आते-आते विद्यार्थीगण इतने भोले नहीं रहते कि किसी की भी बात पर आसानी से विश्वास कर लें। अब तक उनमें स्वतंत्र रूप से विचार करने की क्षमता विकसित हो जाती है और वे अपने चारों ओर दृश्यमान जगत् और उसमें घटित होने वाली घटनाओं पर स्वतंत्र रूप से अपनी दृष्टि डालते हुए स्वयं निष्कर्ष निकालने लगते हैं। बहुस्तरीय राष्ट्रव्यापी परामर्शों के बाद तैयार की गई *विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2000* में विद्यार्थियों के व्यक्तित्व में होने वाले इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और उनकी शैक्षिक आवश्यकताओं का सम्यक रूप से ध्यान रखा गया है। तदनुसार, उच्चतर माध्यमिक स्तर के सभी विषय-क्षेत्रों के लिए नई पाठ्यचर्या तैयार की गई और अब विद्यार्थियों की रुचियों एवं जरूरतों को पूरा करने के लिए नई पाठ्यपुस्तकें तैयार की जा रही हैं।

पाठ्यपुस्तकें तैयार करने की प्रक्रिया में, इतिहास पर पर्याप्त रूप से ध्यान दिया गया है। चूंकि हाल में बीता समय (भूत काल) निश्चित रूप से वर्तमान और भविष्य से जुड़ा होता है, इसलिए बारहवीं कक्षा के चौथे सत्रांश (सेमेस्टर) के लिए निर्धारित समकालीन विश्व के इतिहास का, कुछ विशेष महत्त्व हो जाता है। इस स्तर के छात्र-छात्राओं को यह अवश्य ही ज्ञात होना चाहिए कि वे एक ऐसे देश के वासी हैं, जो उनके लिए, अतीत की तरह अब भी, एक समृद्ध, मंगलमय और आनंदप्रद जीवन के अवसर प्रदान करता है और उनके भविष्य के लिए इससे भी सुंदर सपना संजोए हुए है। वे उन सभी बातों के बारे में जान सकेंगे जिन्होंने हमारी इस दुनिया को पहले से अधिक रहने लायक और सुखद बना दिया है और वे उसमें आगे और भी सुधार करने के लिए समर्थ हो जाएंगे। दूसरी ओर, वे यह भी जान लेंगे कि गत शताब्दी में किन-किन कारणों से मानव-प्रगति की गति धीमी एवं बाधित रही है और वे उन बाधाओं को रोकने तथा दूर करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेंगे।

'समकालीन विश्व इतिहास' की इस पुस्तक का उद्देश्य, बीसवीं सदी में घटित हुई उन मुख्य-मुख्य घटनाओं, विकास कार्यों एवं उनकी प्रवृत्तियों से विद्यार्थियों को अवगत कराना है, जिन्होंने समकालीन विश्व को आज की स्थिति में पहुंचाया है। इस पुस्तक में यथासंभव उन सभी उल्लेखनीय घटनाओं को शामिल किया गया है जो विश्व के लगभग सभी क्षेत्रों में घटित हुई हैं। इसमें विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, कला, साहित्य तथा संस्कृति, परिवहन, संचार एवं सूचना-माध्यमों के क्षेत्र में हुए संपूर्ण विकास का संक्षिप्त ब्योरा दिया

गया है। बीसवीं सदी का सामाजिक-आर्थिक घटनाक्रम, जिसने मानव जाति के भाग्य को नया रूप और भूमंडल को नया रंग दिया है, निस्संदेह इस पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

मैं उन सभी लेखकों तथा विशेषज्ञों का आभारी हूं जिन्होंने इस पुस्तक की पांडुलिपि तैयार की और उसकी समीक्षा करके उसे अंतिम रूप प्रदान किया। इस पुस्तक के बारे में शिक्षाविदों, अध्यापकों, प्रबुद्ध पाठकों एवं विद्यार्थियों से प्राप्त होने वाले सुझावों का स्वागत होगा और उन पर विचार करके इसमें आगे और सुधार किया जा सकेगा।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
मई, 2003

आमुख

इतिहास का कोई आदि-अंत नहीं होता और न ही इसे सुनिश्चितता के साथ सुपरिभाषित खंडों में सुव्यवस्थित रूप से विभाजित किया जा सकता है। किंतु इस अजस्र एवं शाश्वत काल-प्रवाह का सर्वाधिक स्पष्ट एवं इंद्रियग्राह्य खंड है 'अब' यानी वर्तमान जो हमें सहज भविष्य की ओर ले जाता है। इसे आम बोलचाल की भाषा में इतिहास की समकालीन अवधि कहा जाता है। इस काल-बिंदु पर, एक शताब्दी का समय अर्थात् 20वीं सदी और 21वीं सदी के दो-एक वर्ष हमारे प्रयोजन के लिए समकालीन इतिहास की अवधि के द्योतक हैं। इसमें मोटे तौर पर संपूर्ण विश्व को, उसकी उपलब्धियों एवं हानियों को, उसके प्रशंसनीय एवं निंदनीय कार्यों को, राष्ट्रों की स्वतंत्रता एवं परस्पर-निर्भरता को और सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों की अनेक नई-नई प्रवृत्तियों को समाहित करने का प्रयास किया गया है।

विश्व के इस बहुपक्षीय इतिहास को जो गत सौ वर्षों से अधिक की घटनाओं को अपने में समाए हुए है, बारहवीं कक्षा के छात्र-छात्राओं के लिए एक लघु पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रस्तुत करना अत्यंत कठिन कार्य था और चूंकि समस्त विश्व और भारत के भी इस समकालीन इतिहास के सभी उल्लेखनीय तत्त्वों को उनके पारस्परिक संबंधों के साथ, समाविष्ट करना था इसलिए यह चुनौतीपूर्ण कार्य और भी अधिक कठिन हो गया। तथापि इस पुस्तक में इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, सभी तथ्यों को सुव्यवस्थित, सुसंबद्ध, संक्षिप्त एवं वस्तुनिष्ठ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

हमारे लिए यह एक अत्यंत संतोष का विषय होगा यदि यह पुस्तक उन विद्यार्थियों की जरूरतों को समुचित एवं पर्याप्त रूप से पूरा कर सकेगी जिनके लिए, विशेष रूप से यह तैयार की गई है।

लेखकगण

आवरण
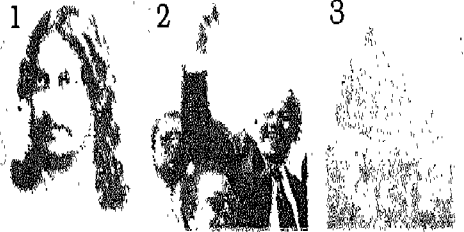
पृष्ठभूमि : बोस्टन टी पार्टी - चाय पर लगे कर के प्रति अपना रोष जताने के लिए लोग जहाज से आई चाय की पेटियों को समुद्र में फेंक रहे हैं।

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर

2. नेल्सन मंडेला

3. रोम में स्थित सेंटपीटर के चर्च का गुंबद जो माइकेल एंजेलो द्वारा अभिकल्पित (डिजाइन) किया गया था।

पाठ्यपुस्तक समीक्षा कार्यगोष्ठी के सदस्य

मोहम्मद अनवर-उल हक
रीडर, इतिहास
क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान
भुवनेश्वर, उड़ीसा

हिमांशु एस. पटनायक
प्रोफेसर, इतिहास
उत्कल विश्वविद्यालय
भुवनेश्वर, उड़ीसा

यूथिका मिश्रा
सीनियर लेक्चरर, इतिहास
विवेकानंद महिला महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अनीता देवराज
प्रधानाचार्या
डी.ए.वी. विद्यालय
बहादुरगढ़, हरियाणा

वीणा व्यास
पी.जी.टी., इतिहास
डी.एम.स्कूल, क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान
भोपाल, मध्यप्रदेश

नीति व्यास
पी.जी.टी., इतिहास
राजकीय महाराणा प्रताप उच्चतर
माध्यमिक विद्यालय
जहांगीराबाद, भोपाल, मध्यप्रदेश

एन.सी.ई.आर.टी. संकाय
सामाजिक विज्ञान एवं
मानविकी शिक्षा विभाग

सीमा शुक्ला, *लेक्चरर*

रितु सिंह, *लेक्चरर*

प्रत्यूष के. मंडल, *रीडर* **(समन्वयक)**

अनुवादक
परशुराम शर्मा
भूतपूर्व निदेशक (राजभाषा)
दूरसंचार विभाग
नई दिल्ली

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

विषय सूची

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं,रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे; और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके।
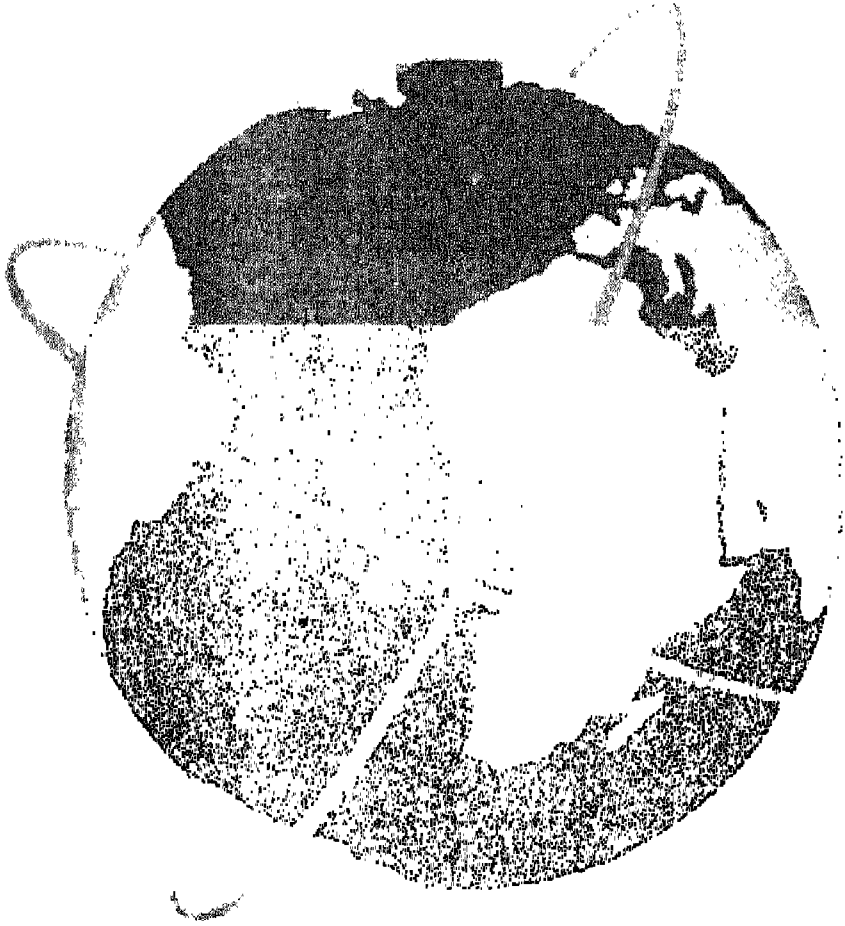
आजादी के बारे में सोचने की हिम्मत करने से पहले हमें एक-दूसरे को प्यार करना होगा, एक-दूसरे के धर्म, यहां तक कि उनके पूर्वाग्रहों और अंधविश्वासों के प्रति भी सहिष्णु बनना होगा।

मोहनदास करमचंद गांधी

अध्याय 1
विश्व इतिहास का समकालीन युग

प्रस्तावना

अंग्रेजी का 'हिस्ट्री' (इतिहास) शब्द लैटिन भाषा के 'हिस्टोरिया' शब्द से निकला है। इसका अर्थ है पूछताछ, खोजबीन, अनुसंधान और सूचना आदि के जरिए प्राप्त किया हुआ ज्ञान। इसका जर्मन पर्याय *गेशिष्टे (geschichte)* है, जिसका अर्थ है भूतकाल में घटी घटनाओं का सुबोधगम्य एवं सार्थक वृत्तांत। इस प्रकार, यदि सरल शब्दों में कहें तो इतिहास विगत घटनाओं का वृत्तांत या आख्यान है। यह मनुष्य जाति के जीवन में घटी असाधारण घटनाओं का अभिलेख है। जैसा कि ड्रॉयसन ने कहा है, "इतिहास मनुष्य जाति की अपने बारे में जानकारी यानी आत्म-जागरूकता है"।

इतिहास *रेस गेस्ताई (res gestae)* यानी कार्य-कारण संबंधों का विज्ञान है। इसमें मनुष्य द्वारा भूतकाल में किए गए कार्यों से संबंधित प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया जाता है। इसी बात को लॉर्ड एक्टन ने कुछ भिन्न रीति से स्पष्ट करते हुए कहा है कि इतिहास "ज्ञान की पूर्णता का अभिलेख तैयार करने का एक अनोखा माध्यम है, जो अधिक से अधिक लोगों के लिए अत्यंत उपयोगी है।" ज्ञान तथा समझबूझ की इस परिपूर्णता की सहायता से मानव बुद्धि का विकास हुआ है और वह अपने जीवनयापन के लिए बेहतर साधन खोज सका है। इस प्रकार, इतिहास जितना सरोकार सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बलों या ताकतों से रखता है, उतना ही सरोकार यह ज्ञान, विश्वास और नैतिकता से रखता है।

हेरोडोटस और थ्यूसीडाइड्स के समय से ही इतिहास, विभिन्न रीतियों तथा शैलियों में और विभिन्न प्रयोजनों तथा उद्देश्यों के साथ लिखा जाता रहा है। जैसा कि लिन थोर्न डाइक ने लिखा था, "कुछ के लिए इतिहास साहित्य है, कुछ अन्यों के लिए यह तथ्यों का उल्लेख है, कुछ के लिए यह वर्तमान की व्याख्या है तो कुछ अन्य लोगों के लिए यह भूतकाल का प्रकटीकरण

या अनुभूति है।'' इतिहास लिखना वास्तव में एक बड़ा नाजुक काम है, जैसा कि ड्यूरैंट ने कहा है, ''कोई मूर्ख व्यक्ति ही सैकड़ों सदियों के इतिहास को मात्र सौ पृष्ठों में समेटने का जोखिम उठाएगा।'' इसलिए इतिहास के क्षेत्र को सिकोड़कर समकालीन युग तक सीमित करने तथा उसकी व्याख्या के लिए कुछ व्यावहारिक अनुमानों एवं परिकल्पनाओं का पता लगाने की जरूरत महसूस की गई। क्रोसे भी इससे अधिक के लिए सहमत नहीं हो सकता था, जब उसने घोषित किया कि ''संपूर्ण इतिहास ही समकालीन इतिहास है।'' आधुनिक मानदंडों को दृष्टिगत रखते हुए इतिहासकारों ने इतिहास की जो व्याख्याएं की हैं वे फिलहाल सही प्रतीत होती हैं। इस संदर्भ में, वोल्तेयर ने 'इतिहास का दर्शन' अभिव्यक्ति का निर्माण किया। अन्य इतिहासकारों में कोलिंगवुड ने इतिहास के इस दर्शन को दो रूपों में स्पष्ट किया, जिसमें पहला था किसी समस्या-विशेष का एक विशेष अध्ययन और दूसरा था नए ऐतिहासिक सत्यों और पुराने परंपरागत सिद्धांतों के बीच के अंतर का पता लगाना।

'समकालीन इतिहास' के लेखन का उद्देश्य है उन ऐतिहासिक घटनाक्रमों को स्पष्ट करना जिन्होंने 20वीं शताब्दी के दौरान विशिष्ट रूप से जीवन को प्रभावित किया है। पहले ये घटनाक्रम *आधुनिक यूरोप का इतिहास* अथवा *अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का इतिहास* जैसे उन व्यापक विषयों का हिस्सा थे, जो समकालीन इतिहास के विवेच्य विषय थे।

एक विषय-विशेष के रूप में समकालीन इतिहास के अध्ययन में अनेक अनोखी समस्याएं उपस्थित होती हैं। इस अध्ययन में ऐसे अनेक प्रश्नों का उत्तर खोजना पड़ता है; जैसे— समकालीन इतिहास को कहां तक इतिहास का ही एक रूप माना जाए, अथवा समकालीन इतिहास की परिभाषा क्या है, या समकालीन इतिहास और आधुनिक इतिहास में क्या अंतर है और अंततः इसके विशेष लक्षण या विशिष्टताएं क्या हैं।

समकालीन इतिहासकार आमतौर पर अपने ग्रंथ के आरंभ में यह बताते हैं कि 'पुरानी दुनिया' के विघटन के क्या कारण थे, जिनकी वजह से 'नई दुनिया' का आविर्भाव हुआ। इसलिए, समकालीन इतिहास के वर्ण्य-विषय में अधिकांशतः दो विश्वयुद्धों के बीच की दुनिया का वृत्तांत प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे अनेक घटनाएं शामिल हैं; जैसे – पेरिस शांति सम्मेलन के फलस्वरूप हुई शांति संधियां, फासीवाद और नाज़ीवाद का उद्भव, साम्यवादी तथा पूंजीवादी गुटों के बीच संघर्ष, जो 1945 से बराबर चलता रहा और सोवियत संघ तथा यूगोस्लाविया का विघटन, जिसके परिणामस्वरूप एक-ध्रुवीय विश्व का आविर्भाव हुआ।

इस प्रकार, संक्षेप में, समकालीन इतिहास विश्व के समकालीन युग का ही इतिहास है। किंतु, समकालीन इतिहास की सीमाओं का निर्धारण कैसे किया जाए? इसका एक तर्कसंगत उत्तर यह हो सकता है कि यह वहां से शुरू होता है जहां 'आधुनिक' इतिहास खत्म होता है। इसलिए समकालीन इतिहास को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि समकालीन इतिहास वह है जो *उस काल का हो, तथा उस अवधि का अभिलेख प्रस्तुत करता हो जिसमें इतिहासकार जीवित रहा है*। बैराक्लो के अनुसार, ''समकालीन इतिहास वहां से शुरू होता है, जहां वर्तमान विश्व की वास्तविक समस्याएं सर्वप्रथम दृश्य रूप ग्रहण

करती हैं।'' अगला प्रश्न यह है कि समकालीन इतिहास की सुसंगतता को खोजने के लिए पीछे कहां तक की घटनाओं का उल्लेख किया जाए? उदाहरण के लिए, फ्रांस के इतिहास लेखक आज भी डि गॉल के फ्रांस में, 1789 की फ्रांस की राज्यक्रांति की अनसुलझी विषमताओं को देखते हैं। इस प्रकार, यह इस बात पर निर्भर करता है कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से किस प्रकार की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया जा रहा है। वर्तमान संदर्भ में, प्रथम विश्वयुद्ध से प्रारंभ हुई अवधि को कई दृष्टियों से प्रवृत्ति-निर्धारक माना जा सकता है। विश्व-भर में और विशेष रूप से 'तीसरी दुनिया' में लोगों की राष्ट्रवादी भावनाओं तथा आकांक्षाओं का स्फुरण एवं प्रतिफलन, 'पश्चिम का अध:पतन' जिसके जरिए, जैसा कि स्पेंगलर ने स्पष्ट किया है, विश्व के कार्यकलापों पर से यूरोपीय प्राधान्य का अंत हुआ, लीग ऑफ नेशंस और संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का अस्तित्व में आना और फासीवाद, नाज़ीवाद और साम्यवाद जैसे उद्दंड या उद्धत एवं सर्वाधिकारवादी 'वादों' का उत्थान और पतन, विज्ञान एवं उच्च प्रौद्योगिकी का विकास, 'शीत युद्ध' और द्वि-ध्रुवीयवाद, सोवियत संघ के धराशायी होने पर नवजात एक-ध्रुवीयवाद का आविर्भाव, कष्टों तथा आपदाओं के माध्यम से दुनिया का गला घोटने वाली गरीबी की समस्या और राजनीतिक परिणामों की अपेक्षा आर्थिक परिणामों को अधिक महत्त्व दिया जाना जैसा कि आज की आतंकवादी तथा रूढ़िवादी प्रवृत्तियों में प्रतिबिंबित होता है- ऐसे ही अनेक विषय हैं जिन्हें समकालीन इतिहास में शामिल किया जाता है। इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि समकालीन इतिहास का प्रारंभ, प्रथम विश्वयुद्ध से किया जाए और लगभग सभी इतिहासकार इस विषय पर सहमत हैं। किंतु, इससे पहले उठाए गए प्रश्न पर पुनर्विचार करते हुए यह भी उचित प्रतीत होता है कि विश्व के समकालीन इतिहास की रचना तथा व्याख्या करते समय 'आधुनिक विश्व' के उत्थान को भी पृष्ठभूमि में रखना बहुत आवश्यक है।

विश्व इतिहास का समकालीन युग

जैसा कि ऊपर बताया गया है, समकालीन इतिहास को हाल के इतिहास की उस अवधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके प्रभाव आज भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। 'समकालीन' का शाब्दिक अर्थ है उस अवधि का होना जिसका उल्लेख किया जा रहा है अथवा उस समय का, जिसमें हम रह रहे हैं। सरल शब्दों में कहा जाए तो यह उन घटनाओं का द्योतक है, जो इसी काल में हो रही हैं अथवा विद्यमान हैं। इतिहास की शब्दावली में कहें तो इसमें उन ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन एवं वर्णन किया जाएगा जो, 20वीं शताब्दी में घटी हैं या घट रही हैं। दूसरे शब्दों में, समकालीन इतिहास वर्तमान के साथ आगे बढ़ता है, जबकि उससे पहले के युग शनैः शनैः सामान्य इतिहास के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं।

फॉन्टाना डिक्शनरी ऑफ मॉडर्न थौट के अनुसार, ''विषय के गंभीर अकादमिक अध्ययन की तरह, इस शब्द का प्रयोग 1950 से हो रहा है। इस शब्द का प्रयोग पिछले लगभग सत्तर वर्षों तक के इतिहास के संबंध में किया जाता है, हालांकि फ्रांस में इस शब्द का प्रयोग 1789 से अब तक के इतिहास के लिए किया जा रहा है"।

ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी (ए न्यू इंगलिश डिक्शनरी ऑन हिस्टोरिकल प्रिंसिपल, खंड II, 1961) ने 'कंटेम्पोरेरी' (समकालीन) शब्द का जो अर्थ अंग्रेजी में दिया है, उसका हिंदी अनुवाद इस प्रकार है: ''उसी समय, युग या अवधि का; एक ही समय में एक साथ जीवित रहने, विद्यमान रहने या घटित होने वाला।'' इसी प्रकार, *कैंब्रिज इंटरनेशनल डिक्शनरी ऑफ इंगलिश* (1995) के अनुसार, ''समकालीन लोग वे होते हैं, जो एक ही अवधि में रहते यानी जीवित रहते हैं।''

द्वितीय विश्वयुद्ध के संदर्भ में इस शब्द पर चर्चा करते हुए, इतिहासकार ए.जे.पी. टेलर ने इस शब्द के आपेक्षिक स्वरूप पर बल दिया है। जो 'आज' समकालीन है वह 'कल' भूतकालीन हो जाएगा, अतः इतिहासकार का काम इसलिए और भी अधिक कठिन होता है क्योंकि उसे अपनी सारी सूचना तथा जानकारी को अद्यतन बनाए रखना होता है। जैसा कि टेलर ने कहा है, "समकालीन इतिहास, अपने सही अर्थ में, घटनाओं का अभिलेख उसी समय तैयार कर लेता है, जब वे तरोताजा ही होती हैं और इस प्रकार उसकी सही जांच के बाद पाठक में तत्काल सहानुभूति उत्पन्न कर देता है।'' समकालीन इतिहास की संकल्पना के उद्भव की व्याख्या करते हुए, *एन इंट्रोडक्शन टू कंटेम्पोरेरी हिस्ट्री* के लेखक और समकालीन इतिहास की परिभाषा देने वाले सबसे पहले इतिहासकारों में से एक इतिहासकार ज्योफ्री बैराक्लो ने कहा कि ''समकालीन इतिहास का विचार एक नई उद्भावना है, जो 1918 के बाद उस मोहभंग हुई जनता की मांगों के बारे में दलाली करने के लिए की गई थी जो, यह जानना चाहती थी कि यह "युद्ध तो सभी प्रकार के युद्धों का अंत करने वाला था, लेकिन अब उसके साथ क्या गड़बड़ हो गई।''

तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि सभी इतिहासकार विषय की मान्यता या तर्कसंगति के बारे में आश्वस्त नहीं हैं। उनमें से अधिकांश यह संदेह प्रकट करते हैं कि समकालीन इतिहास के अध्ययन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण दस्तावेज उपलब्ध नहीं होते और साथ ही उन्हें यह भी शक है कि इतिहासकार हाल की घटनाओं के बारे में सही परिप्रेक्ष्य नहीं अपना सकता, क्योंकि ये घटनाएं उसी समय या इतने कम समय पहले घटित हुई होती हैं कि इतिहासकार अपने आप में उनके प्रति वस्तुनिष्ठता विकसित नहीं कर सकता और व्यक्तिनिष्ठता यानी आत्मनिष्ठता का शिकार हो सकता है।

अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि समकालीन इतिहास का कोई अलग काल नहीं होता और न ही उसके अलग या विशिष्ट लक्षण होते हैं जो उसे आधुनिक युग से अलग करके दर्शाते हों। इसके दो कारण हैं: एक तो यह कि समकालीन की संकल्पना न केवल अविवेच्य, अस्पष्ट अथवा अनिश्चित है बल्कि आजकल इतिहास में निरंतरता के तत्त्व पर जो बल दिया जा रहा है उसके कारण यह संकल्पना और भी अधिक धुंधली या अस्पष्ट हो गई है। तथापि, जो लोग इस तर्क का खडंन करते हैं, यह दलील पेश करते हैं कि ''समकालीन इतिहास को एक अलग कालावधि का इतिहास माना जाना चाहिए; इस *अवधि की अपनी अलग* विशिष्टताएं हैं, जो इस अवधि को पूर्ववर्ती अवधि से अलग करके दर्शाती हैं, ठीक उसी तरह जैसे हम आधुनिक काल को मध्यकाल से अलग करके 'आधुनिक इतिहास' और 'मध्यकालीन इतिहास' का अलग-अलग अध्ययन करते हैं।

समकालीन इतिहास और आधुनिक इतिहास के बीच अंतर

समकालीन इतिहास निस्संदेह अध्ययन का एक जटिल क्षेत्र है। समकालीन अवधि के प्रत्येक पक्ष या उसकी प्रत्येक घटना की समस्याएं होती हैं। उन्हें समझने के लिए विभिन्न प्रकार के कौशल की आवश्यकता होती है। वे विषयों से जुड़ी होती हैं और इन समस्याओं के समाधान के लिए कई तरह के तरीके अपनाने होते हैं। इसके विपरीत आधुनिक इतिहास अपेक्षाकृत कम बोझिल या दुरूह है क्योंकि इसके लिए सुव्यवस्थित एवं सुप्रलिखित आंकड़े तथा अन्य सामग्रियां उपलब्ध हैं जिसके जरिए सुसंगत तथा विश्वासोत्पादक तर्क, दलीलें एवं व्याख्याएं प्रस्तुत की जा सकती हैं। समकालीन इतिहास में, विषय-वस्तु उतने जोरदार तरीके से मूल्य प्रस्तुत नहीं करती, जिस तरीके से आधुनिक इतिहास में करती है क्योंकि जब कोई व्यक्ति आधुनिक इतिहास का अध्ययन करता है तो वह भली-भांति समझ जाता है कि कौन-से मूल्य अधिक व्यापक या सर्वजनीन और कालातीत हैं यानी स्थान और समय की सीमाओं में नहीं बंधे हैं और कौन-से मूल्य अपेक्षाकृत अल्पावधि के लिए और क्षेत्र-विशेष तक ही सीमित हैं।

यह अकसर कहा जाता है कि "किसी इतिहासकार के इतिहास का अध्ययन करने से पहले स्वयं उस इतिहासकार का अध्ययन करो।" इस कहावत के पीछे एक सरल-सा तथ्य यह है कि प्रत्येक इतिहासकार अपने 'युग' का गुलाम होता है। इस प्रकार, ऐतिहासिक तथ्यों के बारे में भिन्न-भिन्न इतिहासकारों के 'वस्तुनिष्ठ' मूल्यांकन अलग-अलग होते हैं जैसे उनके दृष्टिकोण अलग-अलग होते हैं। उदाहरण के लिए, सोवियत संघ के ढह जाने की घटना को कदाचित कुछ लोग न टल सकने वाली घटना मानते हों, जबकि कुछ लोग यह समझते हों कि यह स्थिति तो कुछ समय के लिए ही उत्पन्न हुई है और इस समय विघटित हुआ सोवियत संघ अपने संपूर्ण वैचारिक तामझाम के साथ फिर अपनी पूर्वस्थिति में आ जाएगा। समकालीन इतिहास के अध्ययन की एक कमजोरी यह होती है कि इतिहासकार अपने विषय से निर्लिप्त होकर यानी अलग रहकर उसका अध्ययन नहीं कर सकता। इतिहासकार की व्यक्तिगत रुचि और वर्ग-विशेष के प्रति उसकी निष्ठा अकसर उसे 'निर्लिप्त' की बजाय 'संलिप्त' बना देती है। समकालीन इतिहास अध्ययन का एक गंभीर विषय हो सकता है, यदि उसका अध्ययन निष्पक्ष रूप से और बिना किसी पूर्वाग्रह के किया जाए। समकालीन इतिहासकार आमतौर पर अध्ययनाधीन घटनाओं का स्वयं साक्षी होता है, इसलिए उसके लिए जरूरी है कि वह अपनी इन सीमाओं से ऊपर उठकर विषय का अध्ययन करे, नहीं तो उसके व्यक्तिगत सोच-विचार, उसके भावबोध को ग्रसित कर लेंगे और वह सामान्य भावबोध से एकदम हटकर सोचने लगेगा। इराक के हाल के घटनाक्रम को इस स्थिति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस उदाहरण में सभी इतिहासकार अमेरिकी एकपक्षीयता का समर्थन नहीं करेंगे क्योंकि अमेरिका की इकतरफा कार्रवाई के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रतिष्ठा को अथवा विश्व भर में अधिकांश जनमत को धक्का लगा है, हालांकि जनमत की यह आवाज 'धक्के और भय' के वातावरण में आसानी से सुनाई नहीं दे रही है। 'आधुनिक' इतिहासकार उन घटनाओं की

शृंखला के बारे में भली-भांति जानता है, जिनके विषय में वह लिख रहा है, लेकिन समकालीन अवधि के इतिहासकार की स्थिति भिन्न होती है। समकालीन इतिहासकार अकसर किसी घटना-विशेष के बारे में, जिस पर वह लिख रहा है, उसके कारणों को विस्तृत रूप से नहीं जान सकता। 'समकालीन' परिदृश्य एक उलझे मकड़जाल की तरह होता है। 'समकालीन' इतिहासकार की सफलता उसकी इस क्षमता पर निर्भर करती है कि वह एक खास मुद्दे को अन्य मुद्दों से अलग निकालकर उसका अध्ययन कर सकता है या नहीं। इस प्रयास में वह अकसर यह भविष्यवाणी या पूर्वकल्पना करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता कि भविष्य में स्थिति क्या मोड़ लेगी अथवा कैसी घटनाएं घटेंगी। किसी समकालीन घटना के बारे में आंकड़े और आधारभूत सामग्री का चयन आज की दुनिया में और भी कठिन एवं दुर्वह हो गया है क्योंकि आज दुनिया ने एक समस्त भूमंडलीय रूप धारण कर लिया है। समकालीन इतिहासकार किसी भी 'परिवर्तन' के विषय में सदा चिंतित रहता है चाहे वह परिवर्तन सूक्ष्म हो अथवा स्थूल। क्योंकि समकालीन इतिहास एक अत्यंत अनिश्चित, परिवर्तनशील और 'निरंतर बनते हुए' पर्यावरण में सक्रिय रहता है। उसे उन बुनियादी संरचनात्मक परिवर्तनों की ओर भी विशेष ध्यान देना होता है, जो उसके चारों ओर घटित होते रहते हैं। विश्व के विभिन्न भागों में एक साथ घटित होने वाले इन 'परिवर्तनों' में उपलब्ध आधारभूत समानताएं इतिहासकार के सम्मुख एक ऐसा वस्तुनिष्ठ ढांचा प्रस्तुत करती हैं, जिस पर वह आगे काम कर सकता है। आखिरकार समकालीन इतिहास एवं इतिहासकार का यही तो विशेषाधिकार है कि वह सत्ता में लगातार हो रहे परिवर्तनों पर विचार करे, उनके कारणों का पता लगाए, भविष्य पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में परिकल्पना करे।

यहां यह बताने का प्रयास किया गया है कि इतिहास की ये दो अवधियां अपनी गुणवत्ता, अंतर्वस्तु, स्वरूप-स्वभाव एवं व्याप्ति-क्षेत्र की दृष्टियों से आपस में कैसे और कितनी भिन्न हैं।

निस्संदेह, समकालीन इतिहास और आधुनिक इतिहास अकसर एक-दूसरे को आंशिक रूप से व्याप्त कर लेते हैं। लेकिन यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विश्व का आधुनिक इतिहास स्पष्ट रूप से उन घटनाओं के साथ समाप्त हो गया, जो 1945 के आस-पास घटित हुईं। इस दौरान अधिकांश अफ्रीकी-एशियाई देश औपनिवेशिक शासन का जूआ उतारकर स्वतंत्र हो गए थे या हो रहे थे और इसी घटनाक्रम को निश्चित रूप से इस अवधि का परिवर्तन बिंदु या संक्रांतिकाल कहा जा सकता है।

संभव है कि आधुनिक इतिहास में यह संक्रांतिकाल सर्वत्र एक साथ न आया हो, अर्थात् भिन्न-भिन्न देशों में इसका आगमन कुछ आगे-पीछे रहा हो। जापान में यह 1868 के मेइजी प्रत्यावर्तन (Restoration) के साथ प्रारंभ होता है। चीन में, आधुनिक इतिहास 1839-42 में हुए अफीम युद्धों के साथ शुरू होता है। आधुनिक यूरोप का इतिहास 1789 की फ्रांसीसी क्रांति से आरंभ होता है। भारत में, आधुनिक काल को आमतौर पर भारत में यूरोप की व्यापारिक कंपनियों के आगमन के साथ शुरू हुआ मानते हैं। इसकी तुलना में, समकालीन इतिहास किसी भी देश के सन्निकट भूतकाल से यानी हाल में बीते हुए समय से सरोकार रखता है। लेकिन कुल मिलाकर देखा

जाए तो विश्व के इतिहास में समकालीन अवधि का समारंभ उन निर्णायक घटनाओं के आधार पर माना जाता है, जिनके कारण 'पुरानी दुनिया' के स्वभाव या प्रकृति में अचानक परिवर्तन आ गया हो। हो सकता है इस बारे में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के इतिहासकारों में थोड़ा-बहुत मतभेद हो।

इन दो अवधियों के इतिहास में परस्पर तीन बड़े अंतर देखे जा सकते हैं। आधुनिक काल का इतिहासकार कुछ अंशों में तत्कालीन घटनाओं से विरक्त रहते हुए लिखता है, जबकि समकालीन इतिहास के बारे में यह सदा संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि आधुनिक इतिहास के मामले में इतिहासकार स्वयं उन घटनाओं में हिस्सेदार नहीं होता, जिनके बारे में वह लिखता है। इसके विपरीत, समकालीन इतिहासकार, अनिवार्य रूप से, समकालीन घटनाओं में आलिप्त रहता है और इसलिए वह उनका एक निर्लिप्त दर्शक नहीं, बल्कि उनमें संलिप्त एक सहभागी होता है। उदाहरण के लिए, यह कल्पना करना बहुत कठिन होगा कि हाल के खाड़ी युद्ध के बारे में लिखने वाला कोई भी व्यक्ति, उस युद्ध के औचित्य के पक्ष में या उसके विरुद्ध अपनी राय रखे बिना, लिख सकता हो।

आधुनिक अवधि का इतिहासकार यह जानता है कि उसके अध्ययन के विषय के बाद कौन-कौन सी घटनाएं घटी हैं। इस प्रकार उसे पश्चदृष्टि यानी पीछे की घटनाओं को भली-भांति देखने-समझने का लाभ मिलता है। जबकि समकालीन अवधि के इतिहासकार के लिए यह जानने का कोई रास्ता नहीं होता कि उस घटना के बाद क्या होने वाला है, जिसका वह अध्ययन कर रहा है। जब कोई इतिहासकार स्पेन के गृहयुद्ध के बारे में लिखता है, तब वह उन घटनाओं को ही नहीं जानता बल्कि परवर्ती शताब्दियों में प्रकट हुए उसके परिणामों को भी जानता है, किंतु समकालीन इतिहासकार को यह सुविधा उपलब्ध नहीं हो सकती। इसके अलावा, उसने जिस घटना-विशेष के बारे में लिखा है उसके सुनिश्चित कारणों को जानने में भी उसे कुछ कठिनाई होती है। इस मायने में 'समकालीन' परिदृश्य अधिक चुनौती भरा विषय है। इस प्रकार, समकालीन इतिहासकार की सफलता किसी विशेष मुद्दे को अन्य मुद्दों से अलग करके उसकी विशेषताओं को जान सकने की उसकी योग्यता पर निर्भर करती है, जैसे कि द्वितीय विश्वयुद्ध के कारणों तथा परिणामों को अलग करके जानना।

फिर उस स्रोत सामग्री की उपलब्धता अथवा साक्ष्य का प्रश्न है, जो कि आधुनिक अवधि के विषय में प्रचुरता से मिलती है, जबकि समकालीन इतिहासकार को उस अवर्गीकृत यानी अगोपनीय सामग्री से ही काम चलाना पड़ता है, जो रिपोर्टों, निबंधों, सर्वेक्षण-विवरणों, आंकड़ों, जनगणना आदि के रूप में ही उपलब्ध रहती हैं। समकालीन इतिहास के अध्ययन के लिए एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत है— मौखिक साक्ष्य। इसमें शामिल हैं : वर्तमान महत्त्व की घटनाओं के विषय में लिए गए साक्षात्कार, और अन्य अभिलिखित घटनाओं के विषय में पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से प्राप्त हुई जानकारी। किंतु, इतिहासकार आज भी ऐसे साक्ष्यों की सच्चाई या विश्वसनीयता का पता लगाने की समस्याओं से जूझ रहे हैं।

किसी समकालीन घटना-विशेष के बारे में आधार सामग्री का चयन करना भी एक कठिन

और भारी काम है, खासतौर पर ऐसे संसार में, जो अत्यधिक अन्योन्याश्रित हो गया है। इस प्रकार, समकालीन इतिहास जितने प्रश्नों के उत्तर देता है, उनकी अपेक्षा कहीं अधिक नए प्रश्न खड़े कर देता है, जिससे और अधिक ऐतिहासिक अनुसंधान की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में, समकालीन अवधि के प्रत्येक पहलू या घटना की अपनी ही समस्याएं होती हैं और उसे भली-भांति समझने के लिए कई प्रकार के कौशल की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से आधुनिक इतिहास कम बोझिल व कम दुर्वह होता है क्योंकि एक निश्चित रूपरेखा के भीतर इसका सुव्यवस्थित रीति से लेखन किया जाता है और इसमें सुसंगत तर्कों तथा व्याख्याओं पर आधारित सामग्री तथा दस्तावेजों का सहारा लिया जाता है।

जो इतिहासकार समकालीन इतिहास को एक अलग श्रेणी मानते हैं, वे विषय क्षेत्र की व्याप्ति की चर्चा करते हुए यह तर्क देते हैं कि समकालीन अध्ययन का क्षेत्र, निश्चित रूप से, हाल के आधुनिक इतिहास के क्षेत्र से भिन्न होता है। 'वास्तविक इतिहास' सुदूर अतीत की पुन: रचना है। इस परिभाषा के अनुसार, समकालीन इतिहास के लिए, इसमें से कितनी दूरी को आधुनिक इतिहास की सीमा में रखने के लिए छोड़ा जाए, यह विचारणीय है। उदाहरण के लिए, प्रथम विश्वयुद्ध के मूल कारणों का अध्ययन करने के लिए अध्ययनकर्ता को पीछे की ओर 1900 या 1890 तक अथवा उससे भी पीछे 1870 तक जाना होगा। इसलिए यह अधिक स्वीकार्य होगा कि 'समकालीन इतिहास' का सर्वेक्षण उन घटनाओं से शुरू किया जाए, जिन्होंने एक विशिष्ट रीति से समकालीन अवधि को एक अलग रूप दिया है।

समकालीन इतिहास की लाक्षणिक विशिष्टताएं

समकालीन इतिहास की लाक्षणिक विशिष्टताओं की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय, इतिहासकार को समकालीन अवधि के द्वैध-भाव से निपटना होगा। उदाहरण के लिए, समकालीन अवधि में पहले से ही एक ऐसी पीढ़ी मौजूद है, जिसके लिए पंडित नेहरू अथवा सरदार पटेल जैसी विभूतियां उतनी ही ऐतिहासिक बन गई हैं जितनी कि सम्राट अशोक या अकबर । इसलिए समकालीन इतिहास की प्रथम विशेषता इस श्रेणी की नम्यता या लचीलापन को मानना होगा। यह संपूर्ण संकल्पना ही आपेक्षिक है। जो चीज या घटना आज की पीढ़ी के लिए समकालीन है, वह संभव है, आगे की पीढ़ियों के लिए समकालीन न रहे। परिणामस्वरूप विषय की सीमाएं और वर्ण्यवस्तु बदलती रहेंगी। उदाहरणार्थ, कुछ देशों या लोगों के लिए समकालीन इतिहास द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल से भली-भांति प्रारंभ हो सकता है, जबकि कुछ अन्य लोगों के लिए 1945 के बाद का समय इतिहास क्षेत्र में ही नहीं आएगा।

कभी-कभी, समकालीन इतिहास को 'सामयिक विषयों पर टीका-टिप्पणी' के समकक्ष मान लिया जाता है जो शीतयुद्ध के घटनाक्रम के किसी-न-किसी पक्ष से जुड़ी मनोग्रस्ति का सूचक है। ऐसे पत्रकारिक वृत्तांतों से जुड़ी अनेक खामियां दृष्टिगोचर होती हैं, क्योंकि समकालीन घटनाओं के अध्ययन के लिए इतिहास की किसी भी अन्य अवधि की घटनाओं की तुलना में, अधिक गहराई तक जाने की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, विश्व में आधुनिक औद्योगिक समाज के आरंभ और विकास का अध्ययन करते समय, समकालीन इतिहासकार 18वीं शताब्दी की

औद्योगिक क्रांति और 20वीं शताब्दी के औद्योगिक विकासक्रमों के बीच के अंतरों की अपेक्षा, औद्योगिक प्रक्रियाओं तथा आविष्कारों के क्रमिक विस्तार से कम सरोकार रखेगा।

समकालीन इतिहास की मुख्य विशेषता यही है कि यह ऐसे बुनियादी संरचनात्मक परिवर्तनों को स्पष्ट करने की क्षमता रखता है, जो आधुनिक विश्व को रूप प्रदान करते हैं। यहां इस विषय में कुछ उदाहरण उद्धृत किए जा सकते हैं; जैसे- विभिन्न देशों की स्थिति का बदलते रहना, जैसे- संयुक्त राज्य अमेरिका और तत्कालीन सोवियत संघ का दुनिया की राजनीतिक बिसात पर बड़ी शक्तियों के रूप में उभरना; ब्रिटेन, फ्रांस और हालैंड जैसे देश जो संपूर्ण 19वीं शताब्दी में और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अधिकांश विश्व पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए थे, उनके साम्राज्यवाद का धराशायी हो जाना; एशियाई तथा अफ्रीकी देशों का स्वतंत्र राज्यों के रूप में उभर आना, जिसकी वजह से गोरों और अन्य वर्ण के लोगों के बीच के संबंधों को पुनःसमायोजित करना पड़ा, आदि-आदि। ये ऐसी घटनाएं हैं जिनके बारे में अलग-अलग राय और व्याख्याएं हो सकती हैं पर सामूहिक रूप से उनका एक समग्र रूप होता है, जिसे तब तक पूरी तरह नहीं समझा जा सकता, जब तक कि उन्हें उनके समकालीन ऐतिहासिक संदर्भ से अलग करके समझने की कोशिश की जाएगी।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि समकालीन इतिहास अपनी अपेक्षाओं की दृष्टि से, अन्य अवधियों के इतिहास से अधिक भिन्न नहीं होता। लेकिन यह बात यथार्थ नहीं है क्योंकि परंपरागत 'कारण-कार्य पद्धति' समकालीन इतिहासकार के लिए पर्याप्त साधन नहीं होती। प्राचीन, मध्यकालीन अथवा आधुनिक काल के विषय में लिखने वाला कोई इतिहासकार अतीत के किसी काल-बिंदु से प्रारंभ करके आगे की ओर बढ़ता जाता है, जबकि समकालीन इतिहासकार वर्तमान काल में मजबूती से खड़ा होकर स्पष्टीकरणों के लिए अतीत में झांकता है। उदाहरण के लिए, एक इतिहासकार जर्मनी और इटली के एकीकरणों, पूर्वी प्रश्न (Eastern Question) के उद्भव, हैब्सबर्ग (Habsburg) पर सर्व-स्लाववाद (Pan-Slavism) जैसे बढ़ते हुए राष्ट्रवाद का प्रभाव और 1815 के वियना समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न हैब्सबर्ग ऑटोमन साम्राज्य आदि पर अवश्य दृष्टिपात करेगा। इन्हीं सब 'प्रश्नों' के पारस्परिक प्रभाव एवं अन्योन्य क्रिया के परिणामस्वरूप 1914 में विश्वयुद्ध प्रारंभ हुआ, लेकिन एक समकालीन इतिहासकार उसी अवधि को एक अलग तरीके से देखेगा। उसका आरंभ बिंदु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अंतर्निहित भूमंडलीय प्रणाली होगी और फिर उसका मुख्य सरोकार यह स्पष्ट करना होगा कि अमुक स्थिति कैसे उत्पन्न हुई।

अकसर यह कहा जाता है कि समकालीन इतिहास आनुमानिक तथा अंतिम या अस्थायी होता है। यह ऐसी पूर्वधारणाओं और सामान्यीकरणों पर आधारित होता है, जो अतीत से चुने जाते हैं। किंतु वास्तव में समकालीन इतिहासकार केवल ऐसे घटकों, आंदोलनों या घटनाओं का ही उल्लेख करता है, जो समकालीन जीवन को, स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ही दृष्टियों से प्रभावित करते हैं। इससे समकालीन इतिहासकार का परिप्रेक्ष्य सीमित नहीं होता और उसका दृष्टिकोण भी संकुचित नहीं होता। वास्तव में सच्चाई इसके ठीक विपरीत होती है। समकालीन

घटनाओं और संयोगों को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक होता है कि उस घटना या संयोग से पहले जो कुछ हुआ है उसकी गहराई से जानकारी प्राप्त की जाए। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका की समकालीन विदेश नीति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जाना जाए, जो अधिक नहीं तो एक शताब्दी पहले तक की हो सकती है।

समकालीन इतिहास का एक अन्य विशिष्ट लक्षण है, उत्तर-आधुनिकतावाद (post-modernism)। समकालीन संस्कृति के इस आयाम की अकसर अवहेलना कर दी जाती है, हालांकि वह समकालीन जीवन का एक आवश्यक तत्त्व होता है। आज की स्थिति में, उत्तर-आधुनिकतावाद विचारों का एक संकुल है, जो 1980 के दशक से लेकर आजतक अकादमिक विचार-विमर्श तक ही सीमित रहा है। एक संकल्पना के रूप में, यह भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों में व्याप्त है जिनमें कला, शिल्प, संगीत, फिल्म, साहित्य, फैशन और प्रौद्योगिकी शामिल हैं। इसके अलावा, यह जीवन के सभी क्षेत्रों; जैसे — राजनीतिक, सामाजिक, सौंदर्यपरक, आर्थिक अथवा प्रौद्योगिक क्षेत्रों में बहुलता तथा अनन्तिमता के तत्त्वों का समावेश करता है। कभी-कभी सुस्थापित व्यवस्था पर आपत्ति उठाने अथवा उसके प्रतिरोध के रूप में धार्मिक रूढ़िवाद के उत्थान को भी उत्तर-आधुनिकतावाद के घटनाक्रम के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि समकालीन समाज और राज्यतंत्र में अनेक प्रकार के बिखरावों की व्यापकता के कारण, उत्तर-आधुनिकतावाद, एक ढांचे के रूप में, उदारवादी और परिवर्तनवादी (radical) दोनों प्रकार के लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा है।

इस चर्चा के उपसंहार के रूप में यह कहा जा सकता है कि समकालीन इतिहास ऐतिहासिक तथ्यों तथा समकालीन मूल्यों के प्रत्यक्ष ज्ञान के बीच संतुलन है। समकालीन इतिहास का इतिहासकार भी प्राचीन, मध्यकालीन अथवा आधुनिक इतिहास के इतिहासकारों की तरह ही किसी घटना या संयोग के पूर्ववृत्तों या कारणों तक पहुंच सकता है, किंतु वह उसके परिणामों या प्रतिफलों के बारे में केवल परिकल्पना ही कर सकता है, अन्य इतिहासकारों की तरह उनकी जानकारी प्राप्त नहीं कर सकता। उसे घटनाओं की पश्चदृष्टि से यानी उनके घटित होने के बाद समीक्षा करने की सुविधा सुलभ नहीं होती। इस प्रकार, घटना के घटित होने के समय के अधिक पास होते हुए भी, वह उसके परिणामों तथा प्रतिफलों से अधिक दूर होता है। किंतु अध्ययन के एक अलग क्षेत्र के नाते, समकालीन इतिहास साक्ष्य के संदर्भ में अधिक सुविधाजनक होता है। अपने समय का जीवनी-लेखक होने के नाते समकालीन इतिहासकार अपने प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए संभावित ऐतिहासिक स्रोतों का गहन अध्ययन कर सकता है। साक्ष्य या ऐतिहासिक आधार-सामग्री की मात्रा समकालीन इतिहासकार को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है, यद्यपि यह संभव है कि उस साक्ष्य की गुणवत्ता इतिहास की अन्य श्रेणियों में उपयोग में लाए जाने वाले साक्ष्य जैसी न हो। तथापि, समकालीन इतिहासकार अध्ययनाधीन घटना के जितने ही अधिक पास होगा, उसके प्रतिफल उतने ही अधिक महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट होंगे। वह अपने समय में होने वाले परिवर्तनों को पूरी तरह समझता है, इसलिए वह तमाम संरचनात्मक परिवर्तनों में से ऐतिहासिक अन्वेषण के लिए आधारभूत परिवर्तनों

को अलग करने की कोशिश करता है। समकालीन अवधि का कोई इतिहासकार अपने अध्ययन के प्रति तब तक न्याय नहीं कर सकता जब तक वह उन संरचनात्मक परिवर्तनों को, जिन्होंने आधुनिक विश्व को नया रूप दिया है, भली-भांति देख, समझ और जान न ले। "सभ्यता में गतिशीलता होती है, स्थिरता नहीं, यह एक यात्रा है, गंतव्य नहीं"। समकालीन इतिहास इस गतिशीलता को आत्मसात् और प्रतिबिंबित करता है। गतिशीलता से तात्पर्य है तुलना। इसलिए इतिहासकार प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी, उदारवादी तथा अनुदारवादी जैसी तुलनात्मक अभ्युक्तियों को मानते हुए उनके साथ-साथ चलता है और अच्छा तथा बुरा जैसे हठीले सुनिश्चित विशेषणों से दूर रहता है। ''यह समकालीन इतिहास है जिसने विकासमान सभ्यता की गहमागहमी में मनुष्य को स्पष्ट रूप से यह दर्शाया है कि मानव को बौद्धिक विकास और व्यावहारिक उपलब्धियां कैसे प्राप्त हुई हैं"। समकालीन इतिहास में विश्वास रखने से ही समाज के भविष्य में विश्वास उत्पन्न होता है। समकालीन इतिहास जांच-पड़ताल के सामान्य तरीके, कार्य-पद्धति तथा तकनीक के मामले में अन्य इतिहास जैसा ही होता है। लेकिन वर्तमान के प्रति ऐतिहासिक चिंतन के उपयोग एवं अनुप्रयोग के मामले में यह अपनी विशिष्टता रखता है। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए इतिहासकार में एक ऐसी व्यावसायिक अभिवृत्ति का होना जरूरी है, जहां पूछे गए प्रश्न उनके उत्तरों की अपेक्षा अधिक अर्थवान हों।

समकालीन विश्व की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सर्वेक्षण

समकालीन इतिहास के बारे में गतिशील दृष्टिकोण 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में उस अवधि के साथ प्रारंभ होता है, जिसमें वह तूफान उठने लगा था जिसकी वजह से 1914 से 1918 के बीच प्रथम विश्वयुद्ध हुआ। इस अवधि में अनेक उथल-पुथल मचाने वाली घटनाएं घटीं; जैसे – 1917 में रूस की क्रांति और संयुक्त राज्य अमेरिका का विश्वयुद्ध में शामिल होना। एक दूसरा गतिशील चरण उस द्वि-ध्रुवीय विश्वव्यवस्था के साथ प्रारंभ हुआ, जो द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के तुरंत बाद शुरू होकर 1991 तक चलती रही, जब शीत युद्ध का अंत हो गया। दोनों विश्वयुद्धों के बीच की अवधि भी कम गतिशील नहीं कही जा सकती। इस दौरान पुरानी विश्वव्यवस्था इतिहास के गर्भ में समा गई और नई विश्वव्यवस्था का समारंभ हो गया। 21वीं शताब्दी के प्रारंभ में हमें अब एक अन्य विश्वव्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही है, जो इस समय अस्तित्व में आ रही है।

समकालीन इतिहास का कोई सिद्धांत 1914 तक विकसित नहीं हो सका क्योंकि तब तक पाश्चात्य इतिहासकारों का ध्यान केवल यूरोप पर ही केंद्रित रहा। परिणामस्वरूप ये इतिहासकार विश्व के इतिहास के बारे में कोई विश्वजनीन दृष्टिकोण या अभिधारणा नहीं बना सके। इसके अलावा, 1914 के बाद का समकालीन इतिहास अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति समग्र दृष्टिकोण अपनाने की अपेक्षा सामयिक मामलों के बारे में ही अधिक चिंतित रहा। रूस की बोल्शेविक क्रांति को, इटली में फासीवाद, जर्मनी में नाज़ीवाद जैसे सर्वाधिकारवादी मतों को और ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपनायी गई तुष्टीकरण की नीति को, यहां तक कि निशस्त्रीकरण के मुद्दों को भी स्थानीय अथवा अधिक से अधिक क्षेत्रीय या महाद्वीपीय परिप्रेक्ष्य में ही देखा गया। समकालीन घटनाओं को भी अच्छे और बुरे

के विधिवादी एवं नैतिकतावादी परिप्रेक्ष्य में देखा गया। एक बचाव करने वाली अच्छी बात यही रही कि अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और विधि के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय सबंधों का संस्थापन करके उन्हें संस्थागत रूप दे दिया गया। समकालीन इतिहास के क्षेत्र में आदर्शवाद के तत्त्व का भी धीरे-धीरे समावेश हो गया। इस प्रकार, 1939 तक, समकालीन इतिहास के तीन प्रमुख विषय थे – अंतर्राष्ट्रीय विधि (कानून), राजनीतिक सुधारवाद और राजनयिक इतिहास। सन् 1945 के बाद के परिदृश्य ने समकालीन इतिहास के केंद्र-बिंदु को स्थानांतरित करके ऐसे घटकों तथा बलों पर स्थापित कर दिया, जो एक सच्चे अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण में राष्ट्रों के आचार-व्यवहार को शासित करते थे। केंद्र-बिंदु संबंधी इस परिवर्तन के लिए जिम्मेदार घटक थे : उपनिवेशवाद का अंत, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नए-नए आविष्कार, नए राष्ट्रों का और उनके साथ ही नए मूल्यों का आविर्भाव, बढ़ती हुई पारस्परिक निर्भरता, जनसांख्यिकीय परिवर्तन एवं अंतरण, अंतर्राष्ट्रीय विचारधाराएं और राष्ट्रों तथा समुदायों के जीवन में अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का बढ़ता हुआ वर्चस्व। समकालीन इतिहास को इन सभी बातों को ध्यान में रखना होता है और इस प्रकार एक अधिक समग्रतावादी स्वरूप धारण करना होता है।

1950 और 1960 के दशकों में और कुछ हद तक 21वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में भी सामान्य रूप से प्रचलित धारणा यह रही है कि 18वीं शताब्दी के अंत के साथ ही तकनीकी तथा औद्योगिक युग का शुभारंभ हुआ, जो औद्योगिक क्रांति का एक स्वाभाविक परिणाम था। इसे एक ऐसा परिवर्तन बिंदु या मोड़ माना जाता है, जिसके ऐसे दूरगामी परिणाम हुए जिनकी बदौलत 19वीं शताब्दी को एक तरह से समकालीन का दर्जा दे दिया गया।

जहां तक 20वीं शताब्दी का संबंध है, इस दौरान अनेक नई प्रवृत्तियां उत्पन्न हुईं, जिन्होंने समकालीन इतिहास की संकल्पना को बदल दिया और उसके बारे में लोगों के विचारों तथा धारणाओं में परिवर्तन ला दिया। इस बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों के दौरान अनेक महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय घटनाएं घटीं; जैसे- बर्लिन की दीवार का ढहना, जर्मनी को फिर से एक बनाना और सबसे अधिक उल्लेखनीय घटना है : सोवियत संघ का विघटन। ये घटनाएं एक छोटी-सी अवधि में, 1889 से 1991 के बीच, घटित हुईं। इन घटनाओं ने समकालीन इतिहास के अनुसंधान के केंद्र-बिंदु को अचानक, नाटकीय ढंग से बदल दिया। 20वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में द्वि-ध्रुवीय विश्वव्यवस्था का अंत हो जाने से अनुसंधान के इस नए केंद्र-बिंदु को और बल मिला। विभिन्न राष्ट्रों के हितों के बीच सामंजस्य का अभाव ही इन सभी अंतर्विरोधों और परिवर्तनों का प्रमुख कारण है। नए राज्यों का उत्थान, देश से बाहर की ताकतों की सहायता से सत्ता परिवर्तन का भय, परमाणु शस्त्रों की दौड़ और शस्त्र नियंत्रण के प्रयत्नों की विफलता, राजनीति में बड़ी शक्तियों का बोलबाला, नए राज्येतर कर्ताओं का उत्थान, और रूढ़िवाद तथा आतंकवाद का बढ़ता हुआ घिनौना रूप जैसे अनेक घटकों ने समकालीन इतिहास के अध्ययन के प्रति पहले से चले आ रहे दृष्टिकोणों को वास्तव में पुराना या समयातीत बना दिया है। एक बचाव करने वाली बात यह है कि किसी भी संघर्ष में बलप्रयोग का तत्काल इस डर

से विरोध किया जाता है कि कहीं उससे परमाणु युद्ध न भड़क उठे। इस समय विश्व में ताकत का पलड़ा एक ओर बहुत झुक गया है। किंतु शांति के तकाज़ों की वजह से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के बीच कुछ गठजोड़ बना हुआ है। इन सब बातों का समकालीन इतिहास पर कुल मिलाकर प्रभाव यह हुआ है कि शांति की स्थापना की दिशा में जो अलग-अलग प्रयत्न किए जा रहे हैं उन सब में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की जा रही है, ताकि हम धरती पर शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का उच्च लक्ष्य प्राप्त कर सकें।

अभ्यास

1. समकालीन इतिहास क्या है? इसकी मुख्य विशिष्टताएं क्या हैं?
2. पाठ्यपुस्तक से उपयुक्त उदाहरण देते हुए समकालीन इतिहास और आधुनिक इतिहास का अंतर बताइए।
3. विभिन्न विषय क्षेत्रों से उदाहरण देते हुए 'उत्तर आधुनिकतावाद' शब्द की व्याख्या कीजिए।

परियोजना कार्य

- समकालीन विश्व (1945 से लेकर) की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत कीजिए और उन विशिष्टताओं का पता लगाइए जो समकालीन इतिहास को आधुनिक इतिहास से अलग करती हैं।

अध्याय 2
आधुनिक युग का प्रारंभ

इतिहासकारों के बीच सामान्य रूप से इस विषय पर कोई सहमति नहीं है कि कौन-सी तारीख या घटना आधुनिक इतिहास को मध्यकालीन इतिहास से और समकालीन इतिहास को आधुनिक इतिहास से अलग करती है। इस बात का निर्धारण करना कि आधुनिक इतिहास वास्तव में कब शुरू हुआ मात्र सुविधा पर निर्भर करता है। आमतौर पर, आधुनिक इतिहास उन गतिविधियों तथा रीति-रिवाजों की उपस्थिति से संबंध रखता है, जो हमें आज प्राचीन के मुकाबले अधिक परिचित प्रतीत होती हैं। इतिहासकार आमतौर पर इस बात पर सहमत हैं कि 14वीं से 16वीं शताब्दी तक यूरोप अपने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ढांचे में ऐसे परिवर्तन देखता रहा जिन्हें हम आधुनिक काल का आरंभ करने वाला कह सकते हैं।

इस अध्याय में हम यूरोप के उस संक्रांति काल का अध्ययन करेंगे जिसने विश्व इतिहास के भावी दौर को प्रभावित किया।

पुनर्जागरण

अंग्रेजी भाषा के 'रिनेसा' (Renaissance-पुनर्जागरण) शब्द का शाब्दिक अर्थ है पुनर्जन्म। यह विशेष नाम, परंपरागत रूप से, मनुष्य की बौद्धिक तथा कलात्मक ऊर्जाओं की उस अभिव्यक्ति को दिया जाता है जिसके द्वारा यूरोप ने मध्यकाल से निकलकर आधुनिक काल में प्रवेश किया था। किंतु यह भी कहा जाता है कि पुनर्जागरण इतिहास में विद्वत्ता तथा संस्कृति का ही युग नहीं था, बल्कि यह पुनर्जागरण की एक ऐसी अनोखी भावना से ओतप्रोत भी था जिसने जीवन के राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक पक्षों के साथ-साथ बौद्धिक तथा कलात्मक आदि सभी पक्षों को प्रभावित करके उनका रूप ही बदल डाला था। यह परवर्ती शताब्दियों में आधुनिक विश्व के विकास के लिए अत्यंत निर्णायक सिद्ध हुआ। व्यापार तथा वाणिज्य के क्षेत्र में हुए नए घटनाक्रम से और इटली, जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैंड

में हुई नगरों की वृद्धि से सामंती प्रणाली तथा जागीरदारी अर्थव्यवस्था का पतन शुरू हो गया था। मध्यकाल में जमीन खुशहाली की निशानी मानी जाती थी लेकिन अब मुद्रा यानी पैसा ही धनाढ्यता का नया मापदंड बन गया। भूमध्य सागर के आस-पास के कस्बों तथा शहरों ने यूरोप के भीतर तथा बाहर वाणिज्य के विस्तार में सहायता दी। यूरोप के व्यापारी भारत तथा चीन जैसे धनाढ्य देशों में पहुंचे। मार्को पोलो उन पहले यूरोपवासियों में से था जिसने अधिकांश एशिया महाद्वीप की यात्रा की थी और यूरोपवासियों को एशियाई सभ्यताओं की प्रत्यक्ष जानकारी दी थी। पूर्वी सभ्यताओं के साथ यूरोपवासियों के संपर्क ने उनमें अपने यूनानी-रोमन अतीत के बारे में दिलचस्पी फिर से पैदा कर दी। यूनानी-रोमन अतीत तथा अन्य देशों के बारे में यह ज्ञान यूरोप में अरब तथा बाइज़ैंटाइन (पूर्वी रोमन) साम्राज्यों से, जहाँ तक यह कई शताब्दियों सुरक्षित रहा था, छन-छनकर आ रहा था।

पुनर्जागरण का आविर्भाव

जैसा कि ऊपर कहा गया है 'रिनेसा' यानी पुनर्जागरण का शाब्दिक अर्थ पुनर्जन्म है, पर इससे किसी प्रकार के पुनर्जन्म का बोध नहीं होता क्योंकि मध्यकाल में शास्त्रीय पांडित्य का कोई अंत नहीं हुआ था और मध्यकालीन विद्वान अनेक रोमन विद्वानों तथा उनकी कृतियों से परिचित थे। किंतु वे यूनानी लेखकों की कृतियों के बारे में बिलकुल नहीं जानते थे। पुनर्जागरण की आरंभिक अवस्था को पुनरुद्धार (revivai) की अवधि कहा जाता था क्योंकि इस चरण में पुराने पांडित्य को पुनरुज्जीवित करने पर जोर दिया गया था। यह पुराना पांडित्य, परंपरागत तरीकों से फैलाया गया था। इसके बाद की अवस्था को नवप्रवर्तन या नवाचार की अवधि कहा गया, क्योंकि इस अवधि में बहुत-सा नया ज्ञान प्रवर्तित या उत्पन्न किया गया, जिसके फलस्वरूप आधुनिक विचारधारा के विकास की नींव पड़ी। यह नया ज्ञान एक नए माध्यम, यानी मुद्रण के द्वारा फैलाया गया। इसके फलस्वरूप अनेक देश और लोग एक साथ उस ज्ञान का लाभ उठाने लगे और नए परिवर्तनों के बारे में विचार-विमर्श एवं चर्चा करने लगे। यद्यपि शास्त्रीय तथा ईसाई पुरातनता का अध्ययन पुनर्जागरण काल से पहले भी होता रहा था, किंतु मध्यकालीन विद्वानों तथा पुनर्जागरणकालीन चिंतकों एवं विचारकों में उल्लेखनीय अंतर था। पुनर्जागरणकालीन चिंतकों ने कुछ अल्प-ज्ञात विद्वानों की कृतियों को खोजा और अधिक प्रसिद्ध कृतियों के साथ-साथ उनको लोकप्रिय बना दिया। यूनानी भाषा में लिखित वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रंथों का लैटिन भाषा में अनुवाद कराकर पाश्चात्य लोगों को उपलब्ध कराया गया। पुनर्जागरण काल के चिंतकों ने शास्त्रीय पुस्तकों का नए तरीके से इस्तेमाल किया, जैसे कि उन्होंने उनके आधार पर अपनी पूर्वकल्पित धारणाओं पर फिर से विचार किया और अपनी अभिव्यक्ति की शैली को बदला। इस प्रकार, विश्व तथा मानवता की सत्ता के बारे में वैज्ञानिक खोज की भावना से प्रेरित होकर तर्कपूर्ण चिंतन पुनर्जागरणकालीन दृष्टिकोण का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण बन गया। इन तर्कपूर्ण विचारों से एक ऐसे समाज को विकसित करने में सहायता मिली जो मध्ययुगीन संस्कृति की तुलना में अधिकाधिक भिन्न-भिन्न होता गया।

पुनर्जागरण का आविर्भाव इटली में मोटे तौर पर 1300 ई. से 1550 ई. के बीच हुआ, फिर वह
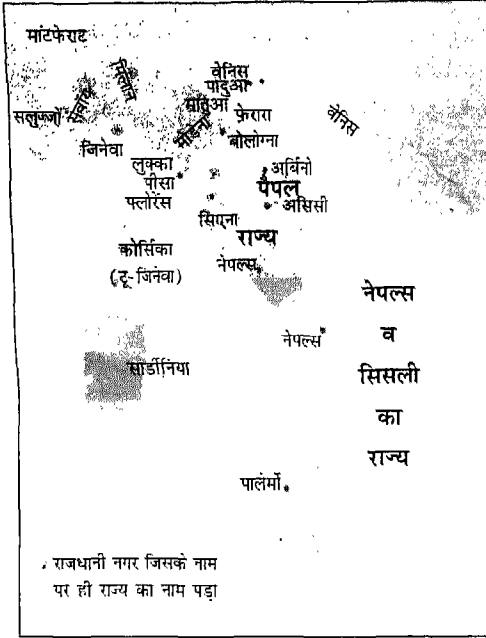
पुनर्जागरणकालीन इटली 1490 ई. लगभग

16वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में उत्तरी यूरोप तक फैल गया। इटली में पुनर्जागरण फैलने के कई कारण थे। प्रथम, इटली को हमेशा ही बाकी यूरोप की तुलना में अधिक सांस्कृतिक लाभ प्राप्त था क्योंकि इसकी भौगोलिक स्थिति ने इसे पूर्व और पश्चिम के बीच का प्राकृतिक द्वार बना दिया था। वेनिस, जिनेवा, मिलान, पीसा और फ्लोरेंस जैसे नगरों का एशियाई देशों के साथ निर्बाध रूप से व्यापार चलता था, और वहां का समाज बहुत गतिशील एवं गुंजायमान था। 13वीं तथा 14वीं शताब्दियों में व्यापारिक नगर बढ़कर शक्तिशाली नगर-राज्य बन गए और वे आस-पास के ग्रामीण इलाकों के राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर अपना प्रभुत्व जमाने लगे। इटली का अभिजातवर्ग परंपरागत रीति से अपने शहरी केंद्र में रहता था, न कि ग्रामीण गढ़ों या किलों में, जहां उत्तरी यूरोप का अभिजात-वर्ग रहा करता था। इस प्रकार शहरी केंद्रों में रहने से इटली का अभिजात-वर्ग वहां के सार्वजनिक मामलों में खुलकर खूब हिस्सा लेता था। नव-धनाढ्य वणिक समुदायों ने, जो बाद में बुर्जुआज़ी (bourgeoisie) कहलाने लगे, अभिजात-वर्ग का दर्जा हासिल करने की कोशिश की। मेडिची के प्रसिद्ध फ्लोरेंटाइन परिवार ने, जो चिकित्सकों यानी डाक्टरों के परिवार के रूप में उभर आया था, बैंक व्यवसाय में खूब धन कमाया और वह 15वीं शताब्दी में अभिजात-वर्गीय प्रतिष्ठा प्राप्त करने में सफल हो गया। इस प्रकार के व्यापारी परिवारों ने अभिजात-वर्गीय जीवन-शैली की नकल करने की कोशिश की। उनका धन और व्यवसाय इटली में शिक्षा के विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारक बन गया। सफल सौदागर बनने के लिए लिखने-पढ़ने और हिसाब-किताब रखने की कुशलता प्राप्त करना बहुत जरूरी था, इसलिए इस कुशलता के विकास के लिए शिक्षा की मांग की जाने लगी। इतना ही नहीं, धनवान और समाज के अग्रणी परिवार ऐसे सुयोग्य अध्यापकों की खोज करने लगे जो उनके बच्चों को पढ़ा-लिखाकर उनमें वह ज्ञान और कौशल भर सके जो सार्वजनिक क्षेत्र में प्रतियोगिता करने और आगे बढ़ने के लिए आवश्यक था। इसके फलस्वरूप, इटली ने अनेक शिक्षाविद् एवं अध्यापक उत्पन्न किए जो न केवल छात्रों को पढ़ाते थे बल्कि अपनी लेखनी से राजनीतिक तथा सदाचार की शिक्षाओं से परिपूर्ण ग्रंथों तथा साहित्यिक कृतियों की रचना के द्वारा अपने पांडित्य का प्रदर्शन भी किया करते थे।

उत्तर-मध्यकालीन इटली बौद्धिक तथा कलात्मक पुनर्जागरण का जन्म स्थान कैसे बना,

इसका एक अन्य कारण यह भी था कि इसमें यूरोप के किसी भी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा, शास्त्रीय श्रेण्य (Classic) अतीत के साथ घनिष्ठता बनाए रखने की कहीं अधिक भावना थी। इटली में, शास्त्रीय अतीत अत्यंत संगत प्रतीत हुआ क्योंकि इटली के संपूर्ण प्रायद्वीप में प्राचीन रोमन स्मारक स्थान-स्थान पर मौजूद थे और लैटिन के प्राचीन साहित्य में उन नगरों तथा स्थानों का बार-बार उल्लेख किया गया था जिन्हें इटलीवासी अपना मानते थे।

तीसरे, इटली में पुनर्जागरण को भरपूर संरक्षण प्राप्त हुआ जिससे उसके प्रचार-प्रसार में सुविधा हुई। इटली के धनी नगर भव्य सार्वजनिक स्मारकों के निर्माण में एक-दूसरे के साथ स्पर्धा करते थे और ऐसे लेखकों को समर्थन देने के लिए सदा तत्पर रहते थे जिनका काम ही इन नगर-गणराज्यों का अपनी रचनाओं तथा भाषणों में गुणगान करना था। इन धनाढ्य नगरों में राजसी एवं अभिजातवर्ग का बोलबाला था जिनमें प्रमुख थे: मिलान (Milan) में वाइकाउंट (Viscount) और स्फोर्जा (Sforza), फ्लोरेंस (Florence) में मेडिची (Medici), फ़ेरारा (Ferrara) में एस्ते (Este) और मांतुआ (Mantua) में गोंज़ागा (Gonzaga)। रोम के पोपशासन ने भी रोम को पाश्चात्य विश्व की एकमात्र कलात्मक राजधानी बनाने के लिए कला तथा साहित्य को पूर्ण संरक्षण प्रदान किया।

14वीं शताब्दी के प्रारंभ में, तीन महान विभूतियों ने पुनर्जागरण की मुख्य परंपराओं का प्रतिनिधित्व किया। वे थे: दान्ते एलिघरी (Dante Alighieri) (1265-1321), जिसका नाम इटली के साहित्य में सबसे पहले लिया जाता है; जोत्तो दि बांदोन (Giotto di Bandone) (1266-1336) जो फ्लोरेंटाइन स्कूल का सबसे पहला महान चित्रकार था; और फ्रांसेस्को पेट्रार्क (Francesco Petrarch) (1304-1374), जो एक प्रसिद्ध कवि था और मानवतावादी आंदोलन का नेता भी था। दांते की सर्वोत्कृष्ट कृति *डिवाइन कॉमेडी* थी, जिसे उसने इतालवी भाषा में लिखा था। *डिवाइन कॉमेडी* के तीन भाग थे: हेल (नरक), पर्गेटरी (शुद्धीकरण) और हैवन (स्वर्ग)। इन तीनों स्थानों की यात्रा का वर्णन करते हुए, दांते ने अस्तित्व के बारे में ईसाई विचारों को तो अभिव्यक्त किया ही है, साथ ही उसने खगोल, भूगोल तथा भू-विज्ञान के बारे में उस समय जितना ज्ञान उपलब्ध था, उसका भी वर्णन किया। चित्रकार के रूप में, जोत्तो ने सर्वप्रथम चित्रकला को एक स्वतंत्र कला के रूप में मान्यता दिलायी; पहले चित्रकला को वास्तुकला तथा मूर्तिकला जैसी प्रमुख कला रूपों के अधीन माना जाता था।

ईसाई धर्म और दर्शन के साथ-साथ, श्रेण्य ग्रंथों (Classic) के अध्ययन से मानवता को समझने की एक नई प्रवृत्ति प्रारंभ हुई। मानवता में इस स्थूल रुचि को अक्सर 'मानवतावाद' (Humanism) कहा जाता है। लेकिन इस शब्द का एक संकुचित अर्थ भी है जो साहित्य, कला, इतिहास और दर्शन से जुड़ा है। पुनर्जागरणकालीन मानवतावाद में कई बातें छिपी हुई हैं; जैसे - मानवता में एक सामान्य रुचि, साथ ही उसके गुण, स्वभाव और संवदेनशीलता; साहित्य कला और दर्शन में विशेष रुचि; और श्रेण्य अवधि के साहित्य, कला और दर्शन में विशिष्ट रुचि। इस परिप्रेक्ष्य से, फ्रांसेस्को पेट्रार्क को पुनर्जागरण काल का सबसे पहला मानवतावादी माना जाता है। पेट्रार्क ने अपना जीवन विद्वत्ता और साहित्य की साधना में लगा दिया। उसने श्रेण्य साहित्य एवं ग्रंथों के प्रति अपनी लगन एवं निष्ठा के द्वारा और इस संसार के सौंदर्य की

गंभीर अनुभूति के माध्यम से, उभरते हुए मानवतावाद को अभिव्यक्ति प्रदान की। उसने इतालवी भाषा में 'सोन्नेट' (Sonnet–चतुर्दशपदियां) कविताएं लिखीं, जिन्हें बाद में 'पेट्रार्कन सोन्नेट' कहा जाने लगा। संपूर्ण पुनर्जागरण काल में इन चतुर्दशपादियों की, रूप तथा विषय-वस्तु की दृष्टि से, नकल की जाती रही।

पेट्रार्क के परवर्ती विद्वानों को 'श्रेण्य मानवतावादी' (Classical humanist)कहा जाता था। प्राचीन साहित्यिक धरोहर के अध्ययन के मामले में वे पेट्रार्क से भी आगे निकल गए। उनमें से बहुतों ने महत्त्वपूर्ण लैटिन पाठों/ग्रंथों का पुनरुद्धार किया। लेकिन उनकी इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण सफलता यह रही कि उन्होंने श्रेण्य यूनानी अध्ययन के क्षेत्र का उद्घाटन किया। अपने इस कार्य में उन्हें उन अनेक बाइज़ेंटाइन विद्वानों की सहायता मिली जो कुस्तुंतुनिया (Constantinpole) पर तुर्कों की विजय के बाद 15वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इटली चले आए थे। इटली में आकर उन्होंने यहां के विद्वानों को प्रेरित किया कि वे भी यूनानी पांडुलिपियों की खोज में कुस्तुंतुनिया और अन्य पश्चिम एशियाई नगरों की यात्रा पर जाएं।

लोरैंजो वल्ला ने श्रेण्य साहित्य के ज्ञान का सर्वोतम रीति से उपयोग किया। उसे श्रेण्य ग्रंथों का पूरी तरह ज्ञान कराया गया और वह प्रथम श्रेणी का भाषाशास्त्री बन गया। उसका यश यह विचार प्रदर्शित करने के कारण सर्वोच्च शिखर पर पंहुच गया कि कोन्स्टैन्टाइन का दान (Donation of Constantine) जो समस्त ईसाई जगत् पर पोप के लौकिक प्रभुत्व के दावे के औचित्य का आधार है, एक जालसाजी है। उसने अपनी बात को सही साबित करने के लिए यह दिखा दिया कि वह लैटिन भाषा जिसमें 'डोनेशन' लिखा हुआ था, और वे घटनाएं जिनका उसमें उल्लेख किया था, दोनों ही उस युग की हैं जो कोन्स्टैन्टाइन से कई शताब्दी बाद का था। जब वल्ला ने 1440 में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की तो उसे इस पुराने मिथक को भंग करने के लिए दंडित नहीं किया गया बल्कि पोप ने वास्तव में उसे एक बड़े पाठ-समालोचक के रूप में सम्मानित किया। यहां तक कि पोप ने उसे यूनानी इतिहासकार थ्यूसीडाइड्स की कृतियों का अनुवाद करने का काम सौंप दिया। लगभग 1450 ईस्वी से लगभग 1600 ईस्वी तक नव-प्लेटोवादी (New-Platonists) इटली के चिंतन जगत् पर छाए रहे। उन्होंने प्लेटो के विचार तथा अन्य अनेक प्राचीन रहस्यवादी दार्शनिकों के विचारों का ईसाई धर्म के सिद्धांतों के साथ सामंजस्य बैठाने का प्रयास किया। राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में, निकोलो मैकियावेली का नाम सबसे पहले लिया जाता है। किसी भी अन्य व्यक्ति ने वास्तविक राजनीति के नैतिक आधारों के विषय में प्रचलित सभी पूर्ववर्ती मतों का खंडन करने के लिए मैकियावेली से अधिक काम नहीं किया। अपनी प्रधान कृति *दि प्रिंस* में उसने आधुनिक सरकारों तथा शासनों की रीति-नीतियों तथा कार्य-व्यवहारों का वर्णन उच्च आदर्शों के साथ बहुत बढ़ा-चढ़ाकर नहीं बल्कि वस्तुस्थिति के अनुसार ही किया।

इटली में कलात्मक पुनर्जागरण

इटली के पुनर्जागरण की अनेक उपलब्धियों में से कला के क्षेत्र में हुई उपलब्धियां सब से अधिक व्यापक रूप से दिखाई देती हैं। सभी महान कलाकृतियों में चित्रकला को निस्संदेह सर्वोच्च

स्थान प्राप्त हुआ। चित्रकला के अनेक स्कूल जैसे फ्लोरेंटाइन और वेनेशियन इसी अवधि में विकसित हुए थे। फ्लोरेंटाइन स्कूल के तीन महान गुरु कलाकारों अर्थात् लिओनार्दो ड विंची, राफेल और माइकल एंजेलो ने इस परंपरा को सर्वोच्च शिखर पर पंहुचा दिया। लिओनार्दो ड विंची ने विश्व-मानव (universal person) का एक रिनेसा आदर्श प्रस्तुत किया। एक सर्वकालीन महान चित्रकार होने के साथ-साथ, लिओनार्दो एक इंजीनियर भी था। उसके आविष्कारी मस्तिष्क ने अनेक आधुनिक मशीनों; जैसे - हवाई जहाज, पनडुब्बी, मोटरकार आदि के रूपों की परिकल्पना की थी। वह एक स्वतः शिक्षित जीवविज्ञानी भी था जिसने प्रयोग करने की विधि का समर्थन किया। उसने शरीर-रचना का ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वयं शवों की चीरफाड़ की। उसका चित्रकला के प्रति यह दृष्टिकोण था कि चित्रकला प्रकृति की सही-सही नकल करने की एक विधि है। यह दृष्टिकोण उसके सुप्रसिद्ध चित्र 'मोनालिसा' में देखा जा सकता है। लिओनार्दो की एक अन्य शानदार कृति थी 'दि लास्ट सपर' (अंतिम रात्रि भोज), एक त्रि-आयामी भित्ति-चित्र है जो मिलान में एक भोज-कक्ष की दीवार पर बना हुआ है।

राफेल का कौशल मुख्य रूप से उसके अद्भुत शिल्प में दृष्टिगोचर होता है। उसने फ्लोरेंटाइन परंपराओं की उपलब्धियों का बड़ी सफलता के साथ उपयोग किया। उसने शरीर-रचना विज्ञान और श्रेण्य वास्तु-शिल्प के बारे में जानकारी प्राप्त की और फिर अपनी चित्रकारियों को बनाने में उसका उपयोग किया। वह 'मैडोना' के सुकोमल चित्रण और अपने भित्ति-चित्र 'दि स्कूल ऑफ एथेन्स' (एथेन्स स्कूल) के कारण प्रसिद्ध हुआ। उसके भित्ति चित्र 'दि स्कूल ऑफ एथेन्स' में प्लेटो तथा अरस्तू को प्राचीन काल के महान दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों से घिरा हुआ दिखाया गया है।

माइकल एंजेलो एक साथ चित्रकार, मूर्तिकार, वास्तुकार और कवि था। एक मूर्तिकार के रूप में उसने सर्वजनीन विचारों तथा मनोभावों को अभिव्यक्त करने के लिए मानव देह की प्रतिकृतियों का उपयोग किया। उसके द्वारा बनाई गई डेविड तथा मोजेज की प्रतिमाएं उसकी सर्वोत्कृष्ट कलाकृतियां मानी जाती हैं। एक चित्रकार के रूप में माइकल एंजेलो की प्रतिभा रोम के सिस्टाइन चैपल (प्रार्थनालय) की भीतरी छत के अलंकरण में अपने सर्वोच्य शिखर पर पहुंच गई। यह विश्व के सबसे बड़े भित्ति-चित्रों में से एक है। इसमें 300 से भी अधिक वीर पुरुषों के चित्र हैं जिनमें से प्रत्येक चित्र अपने किस्म का अकेला अनूठा है और उसमें किसी प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं हुई, लेकिन वे सब चित्र एक चित्रात्मक और नाटकीय इकाई में एकसाथ बंधे हैं।

टिशियन, वेनेशियन स्कूल का सबसे अधिक सृजनशील तथा प्रतिनिधिक चित्रकार था। वेनेशियन चित्रकारों का दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक विषयों से कोई सरोकार नहीं था, जबकि ये विषय फ्लोरेंटाइन स्कूल की विशेषता थे। वेनेशियन चित्रकारों का प्राथमिक उद्देश्य, मन के बजाय, ज्ञानेंद्रियों को प्रभावित करना था।

इटली की पुनर्जागरणकालीन वास्तुकला रोमन शैली की नकल थी। इसलिए इसे 'रोमनेस्क' यानी रोमनप्रभावित कहा जाने लगा। वास्तुकला की इस शैली का सबसे शानदार नमूना रोम का सेंट पीटर्स बैसिलिका है। इस विशाल चर्च का निर्माण पोप जूलियस द्वितीय तथा पोप लियो दशम के संरक्षण में किया गया था। इसका नक्शा प्रारंभ में
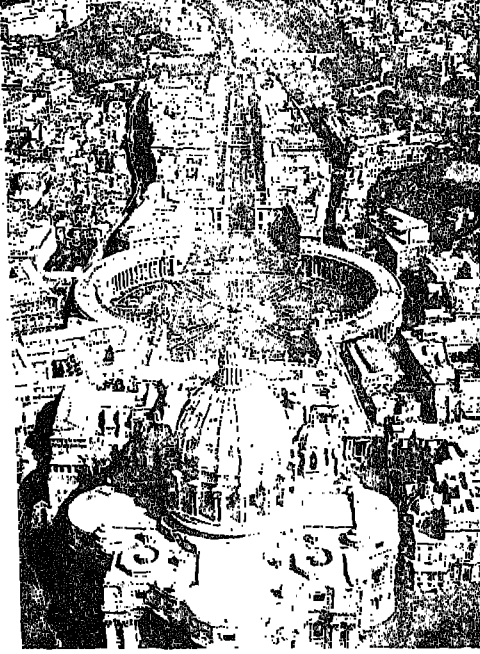
माइकल एंजेलो द्वारा डिजाइन किया गया रोम के सेंट पीटर्स चर्च का गुंबद

दोनातो ब्रामान्ते द्वारा बनाया गया था, माइकल एंजेलो ने इसके गुंबद का डिजाइन फिर से तैयार किया था।

उत्तरी यूरोप में पुनर्जागरण

15वीं शताब्दी तक इटली का पुनर्जागरण आंदोलन अन्य यूरोपीय देशों तक फैल चुका था। उत्तरी पुनर्जागरण का प्रमुख व्यक्ति विद्वान-प्रचारक डेसिडेरियस इरैस्मस था। मानवतावादियों का सरताज समझे जाने वाले इस महान व्यक्ति की अभिसूचियां साहित्यिक तथा विद्वत्तात्मक होने के साथ-साथ भक्ति-भाव से भी ओतप्रोत थीं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *दि प्रेज़ ऑफ फॉली*, में उसने समाज के विभिन्न वर्गों पर उनके भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता में लिप्त होने और उनके द्वारा ईसाई धर्म के सामान्य उपदेशों की अवहेलना किए जाने के कारण, व्यंग्य प्रस्तुत कर उनका मज़ाक उड़ाया है।

इरैस्मस का एक घनिष्ठ मित्र और मानवतावादी के रूप में उसके बाद दूसरा स्थान प्राप्त करने वाला महान साहित्यकार सर थॉमस मूर था जिसने *यूटोपिया* नामक पुस्तक की रचना की थी। इस कृति में उसने अपने जमाने की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से एक काल्पनिक द्वीप पर रहने वाले एक आदर्श जनसमुदाय का चित्रण किया था।

वास्तुकला के क्षेत्र में, उत्तरी यूरोप में गॉथिक शैली का बोलबाला था, नोकदार मेहराब, बाह्य पुश्ते और विशाल खिड़कियां इस शैली के विशेष लक्षण थे। फ्रांस का लूव्र (Louvres) म्यूजियम और रीम (Reims) कैथेड्रल इस शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

चित्रकला और मूर्तिकला के साथ-साथ संगीत भी 15वीं तथा 16वीं शताब्दी के दौरान यूरोप में पुनर्जागरण काल का एक उत्कृष्ट पहलू बन गया था। संगीतकारों ने 'पोलीफोनी' की तकनीक विकसित कर ली थी, जिसमें अनेक अलग-अलग रागों का सामंजस्य था। नए वाद्ययंत्र; जैसे – वायलिन, डबल बेस (दोहरा मंद्र), ल्यूट और हार्पसिकार्ड आदि तो स्थानीय रूप से तैयार कर लिए जाते थे अथवा उन्हें बाहर से आयात कर लिया जाता था। वेतनभोगी संगीतकार और गायक चर्चों तथा राजदरबारों के अंग बन गए। लोकगीत और लोक संगीत भी यूरोपीय देशों में संस्कृति की मुख्य धारा में शामिल हो गए।

वैज्ञानिक आविष्कार

पुनर्जागरण की विचारधारा ने वैज्ञानिक ज्ञान के विकास को भी उत्प्रेरित किया, जिससे पाश्चात्य

जगत में क्रांति आ गई। जिन क्षेत्रों में उल्लेखनीय विकास हुआ उनमें से कुछ का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

मुद्रण

इस अवधि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आविष्कार था पुस्तक मुद्रण की प्रौद्योगिकी (Printing)। 12वीं शताब्दी में अरब के लोगों ने यूरोप को चल मुद्रण की उन तकनीकों से परिचित कराया था जिनका विकास 11वीं शताब्दी के दौरान चीनवासियों द्वारा किया गया था। जर्मनी के जॉन गुटेनबर्ग ने 14वीं शताब्दी में इस तकनीक में और आगे सुधार किया। यह कहा जाता है कि उसने सर्वप्रथम पोप के 'लेटर्स ऑफ इंडल्जेन्स' अनुग्रह और बाइबल के एक संस्करण को छापा था। यह नया आविष्कार शीघ्र ही काफी लोकप्रिय हो गया क्योंकि मुद्रित पुस्तकें सस्ती तो पड़ती ही थीं, साथ ही उनमें प्रतिलिपिकारों द्वारा की जाने वाली भूलें भी बहुत कम होती थीं और वे एकसाथ बड़ी संख्या में छापी जा सकती थीं।

आयुर्विज्ञान

मानव शरीर की रचना को दर्शाने वाले चित्रों के साथ बनी हुई पुस्तकों के व्यापक प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप, आयुर्विज्ञान तथा चिकित्सा के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। फिर 13वीं शताब्दी में, मानव-शवों की चीरफ़ाड़ पर लगे हुए प्रतिबंध को आंशिक रूप से उठा लिए जाने से भी चिकित्सा-कौशल में वृद्धि हुई। आयुर्विज्ञान के अध्ययन को विश्वविद्यालयों में सम्मानजनक स्थान मिलने लगा। पादुआ और फ़ेरारा के विश्वविद्यालयों के अंतर्गत चिकित्सा महाविद्यालय (मेडिकल कालेज) प्रसिद्ध हो गए। अब चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन मानव शरीर के प्रत्यक्ष प्रेक्षण एवं ज्ञान के आधार पर और संगत प्राकृतिक घटनाओं के संदर्भ में किया जाने लगा। पादुआ विश्वविद्यालय का प्रोफेसर ऐंड्रिया वेसालुई अपनी कक्षाओं में मानव शवों की चीरफाड़ करता था। उसने इस विषय पर स्वयं अपनी पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक था *ऑन दि स्ट्रक्चर ऑफ ह्यूमन बॉडी* (मानव शरीर की संरचना)। इसी प्रकार ग्रैब्रिएलो फैलोपियो ने नैदानिक शल्यक्रिया के आधार पर मानव भ्रूणों का महत्त्वपूर्ण अध्ययन करके अनेक उल्लेखनीय बातों का पता लगाया। उसने स्त्री की शरीर रचना में डिंबवाही नली का वर्णन करके यश प्राप्त किया। नैदानिक प्रेक्षण के आधार पर अनेक रोगों के बारे में अध्ययन किया गया।

स्विस कायचिकित्सक पैरासेल्सस के प्रयोगों के साथ-साथ औषध-विज्ञान (Pharmacology) ने प्रगति की। उसने गेलेन के रोग सिद्धांत पर आगे काम किया जिसके अनुसार रोग शरीर में तरल पदार्थों में असंतुलन उत्पन्न हो जाने से उत्पन्न होते हैं। उसने यह सुझाव दिया कि विशिष्ट रोगों की चिकित्सा के लिए रासायनिक उपचार किए जाएं। फ्रांसीसी शल्य-चिकित्सक ऐम्ब्रायज़ पारे ने नई तकनीकों का विकास करके आधुनिक शल्य-चिकित्सा की नींव डाली। उनकी एक तकनीक थी - रक्त वाहिनियों को टांके लगाकर सीना न कि उन्हें गर्म लोहे से दागकर बंद करना।

खगोल विज्ञान

पुनर्जागरण काल के दौरान इस विश्व मानव के ज्ञान में जो महत्त्वपूर्ण प्रगतियां हुईं वे भूगोल की सीमाओं को भी पार कर गईं। वर्ष 1543 में
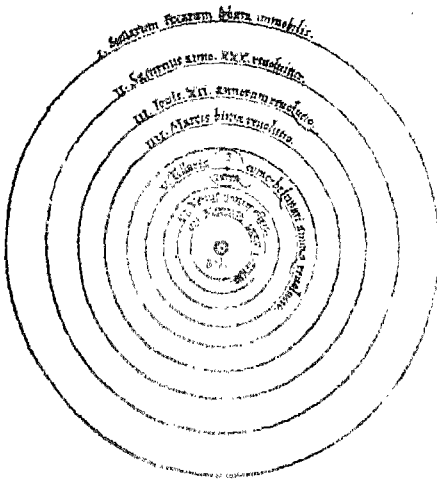
विश्व के बारे में सूर्य केंद्रित सिद्धांत जैसा कि वह कोपरनिकस की पुस्तक के प्रथम संस्करण में प्रकाशित किया गया था।
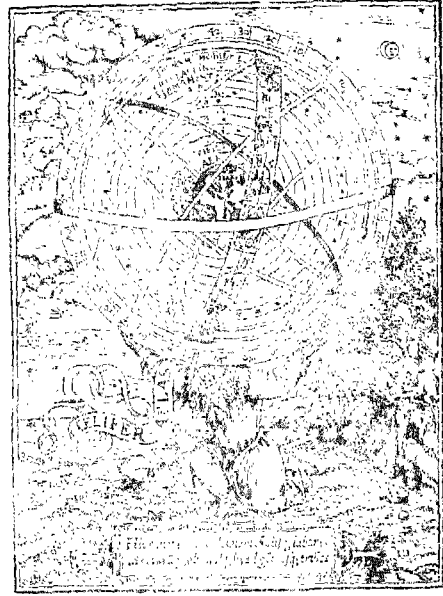
टोलेमी के मतानुसार विश्व की प्रणाली

कोपरनिकस की उन छह पुस्तकों के प्रकाशन के साथ जिनमें आकाशीय पिंडों तथा ग्रहों की परिक्रमा के बारे में बताया गया था, आधुनिक खगोल विज्ञान (Astronomy) का प्रारंभ हुआ। कोपरनिकस (1473-1543) का जन्म पोलैंड में हुआ था। उसने इटली के पादुआ तथा अन्य विश्वविद्यालयों में कानून तथा चिकित्साशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। उसने अपने जीवन के तीस वर्ष एक कैथेड्रल में कैनन के पद पर बिताए। गणित तथा खगोल विज्ञान के क्षेत्र में किए गए उसके कार्य ने विश्व के भू-केंद्रिक होने की परिकल्पना को जो टोलेमी और अन्य पूर्ववर्ती खगोल वैज्ञानिकों द्वारा स्थापित की गई थी, खत्म कर दिया। इसके स्थान पर उसने, विश्व के सूर्य केंद्रित होने की नई क्रांतिकारी परिकल्पना स्थापित की। इस नई परिकल्पना के अनुसार, पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है, सूर्य स्थिर है वह पृथ्वी के चारों ओर चक्कर नहीं लगाता, जैसा कि पहले माना जाता था।

कोपरनिकस की परिकल्पना ने खगोल-विज्ञान के संबंध में लोगों की विचारधारा में आमूल परिवर्तन ला दिया। इसने पृथ्वी की अद्वितीयता के विचार को निर्मूल कर दिया और यह सुझाव दिया कि पृथ्वी भी अन्य आकाशीय पिंडों के समान ही चक्कर लगाने का काम करती है। इसमें भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि उसके सिद्धांत ने उस पुराने विचार को खंडित कर दिया जिसके अनुसार यह माना जाता था कि पृथ्वी

ब्रह्मांड व्यवस्था के बीचोंबीच स्थित है। कोपरनिकस के सिद्धांत अगले डेढ़ सौ वर्षों में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गए।

सूर्य केंद्रिक प्रणाली की संकल्पना की दिशा में कुछ अन्य बड़े कदम डेनमार्क के खगोलविज्ञानी टाइको ब्राहे (1546-1661) और जर्मनी के खगोल विज्ञानी जोहानेस केपलर (1571-1630) द्वारा उठाए गए। टाइको ब्राहे ने खगोल वैज्ञानिक प्रेक्षणों की सर्वाधिक सही तालिकाएं तैयार कीं। उसकी मृत्यु के बाद, ये तालिकाएं केपलर के कब्जे में आ गईं, जो काफी कार्य करने के बाद सूर्य क्रेंद्रिक सिद्धांत पर सहमत हुआ, यद्यपि उसने कोपरनिकस के गोलाकार कक्षाओं (Orbit) के सिद्धांत को नहीं माना। ब्राहे के प्रेक्षणों पर विचार करने से जो गणितीय तथ्य उभर कर आए हैं, उनसे यह पता चला कि ग्रहों के परिक्रमा-पथ यानी उनकी कक्षाएं गोलाकार नहीं, अंडाकार (elliptical) हैं। केपलर ने अपने निष्कर्षों को एक पुस्तक *ऑन दि मोशन ऑफ मार्स* (मंगल की गति) में 1609 में प्रकाशित किया। इस प्रकार, उसने कोपरनिकस के सिद्धांत और ब्राहे के प्रेक्षणों का उपयोग करते हुए ग्रहीय कक्षाओं की समस्याओं को सुलझा दिया।

किंतु, उसी वर्ष जब केपलर ने अपनी पुस्तक प्रकाशित की थी, इटली के एक वैज्ञानिक गैलीलियो गैलिली (1564-1642) ने पहली बार उसके द्वारा आविष्कृत दूरदर्शक (Telescope) को आकाश की ओर मोड़ा। इस यंत्र के माध्यम से उसने ऐसे स्थानों पर तारों को देखा जहां वे पहले कभी दिखाई नहीं दिए थे, फिर उसने चंद्रमा पर पहाड़ देखे, चंद्रमा और सूर्य के आर-पार हिलते हुए धब्बे देखे और बृहस्पति ग्रह को उसकी कक्षा में परिक्रमा करते हुए देखा। पादुआ विश्वविद्यालय में गैलीलियो के साथ काम करने वाले कुछ लोग तो यह सब जानकर इतने अधिक घबरा गए कि उन्होंने टेलिस्कोप के जरिए देखने से ही इनकार कर दिया क्योंकि वह टेलिस्कोप 'स्वर्ग' यानी आकाश का कुछ ऐसा रूप प्रस्तुत कर रहा था, जो चर्च के उपदेशों तथा टोलेमी के सिद्धांतों के विपरीत था। गैलीलियो ने अपने निष्कर्षों को अनेक कृतियों में प्रकाशित किया जिनमें उसकी सबसे अधिक प्रसिद्ध कृति है : *डायलॉग्स ऑन दि टू चीफ सिस्टम्स ऑफ दि वर्ल्ड* (विश्व की दो प्रमुख प्रणालियों के विषय में वार्तालाप), (1632)। इस पुस्तक के कारण रोमन कैथोलिक चर्च ने
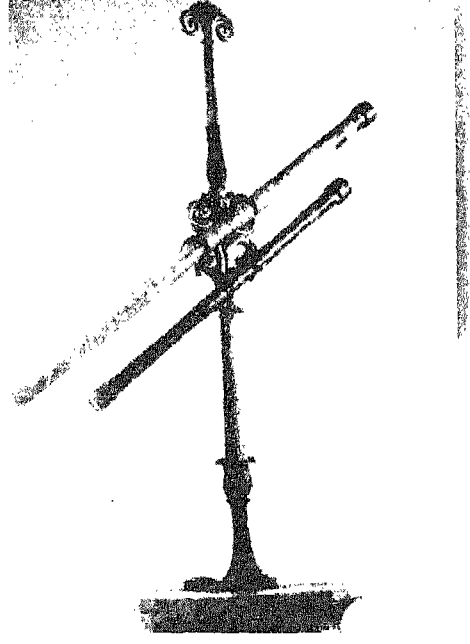
1609 में गैलीलियो द्वारा बनाया गया दूरदर्शक (टेलिस्कोप)

उसके विरुद्ध दंडादेश जारी कर दिया। उसकी जान तभी बच सकी, जब उसने अपने विचारों एवं मतों को वापस लेना मंजूर कर लिया। उसने अपना शेष जीवन एक तरह से अपने घर में कैद रह कर ही बिताया।

आइज़क न्यूटन का जन्म 1642 में इंग्लैंड में हुआ था; इसी वर्ष गैलीलियो की मृत्यु हुई थी। न्यूटन ने ग्रहों की गति के विषय में शेष बड़ी-बड़ी समस्याओं को सुलझाया और आधुनिक भौतिक विज्ञान के लिए आधार स्थापित किया। न्यूटन की अधिकांश खोजें गैलीलियो और अन्य पूर्ववर्ती खगोल वैज्ञानिकों के कार्यों पर आधारित थीं। 1687 में उसने अपना ग्रंथ *दि मैथेमैटिकल प्रिंसिपल्स ऑफ नैचुरल फिलॉसफी* (प्राकृतिक दर्शन के गणितीय सिद्धांत) प्रकाशित किया। इस कृति में उसने यह प्रस्तुत किया कि ग्रह और वास्तव में विश्व के सभी अन्य अंश पारस्परिक आकर्षण के बल से चलायमान रहते हैं। यही नियम आगे चलकर *गुरुत्वाकर्षण के नियम* (Law of Gravitation) के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार, न्यूटन ने खगोल विज्ञान के अध्ययन के लिए गणित तथा भौतिकी को एक साथ जोड़ दिया। यह कहना प्रासंगिक होगा कि भारत में ईसा की पांचवीं तथा छठी शताब्दी में वराहमिहिर और आर्यभट्ट हो चुके थे, जो न्यूटन से पहले इस विषय पर काम कर चुके थे।

कैलेंडर

एक दूसरा महत्त्वपूर्ण सुधार कैलेंडर निर्माण के क्षेत्र में हुआ। 16वीं शताब्दी में बढ़ते हुए खगोल वैज्ञानिक ज्ञान के फलस्वरूप 1582 में तेरहवें पोप ग्रेगरी के लिए जूलियन कैलेंडर में, जो कि प्राचीन रोमन काल से प्रयोग में आ रहा था, सुधार करना संभव हुआ। सौर वर्ष को एकदम ठीक बनाने के लिए ग्रेगरी ने यह निर्णय दिया कि कैलेंडर को दस दिन पीछे ले जाया जाए और अधिवर्षों (Leap Year) में जोड़े गए एक अतिरिक्त दिन को सभी शताब्दी वर्षों से निकाल दिया, सिवाय उन वर्षों के जो 400 के गुणज हों। इस सुधरे हुए कैलेंडर को, जिसे आज ग्रेगरीय कैलेंडर कहा जाता है, आधुनिक विश्व में सर्वत्र अपना लिया गया।

प्रोटेस्टैंट आंदोलनों का आविर्भाव

यूरोपवासियों ने अपनी जिज्ञासा की भावना तथा विचार शक्ति के माध्यम से यह जान लिया था कि कैथोलिक चर्च में बुराइयों के साथ-साथ भ्रष्टाचार भी फैला हुआ है। 'प्रोटेस्टैंट' की संज्ञा सर्वप्रथम केवल उन्हीं पृथकतावादी लोगों को दी गई थी, जो मार्टिन लूथर के नेतृत्व में उसके अनुयायी थे। मार्टिन लूथर ने 1529 में पवित्र रोमन साम्राज्य की डायट (विधानसभा) के उस प्रयास का विरोध किया था जिसके द्वारा वे धार्मिक नवाचारों के प्रवर्तन को रोकना चाहते थे। लेकिन बाद में यह प्रोटेस्टैंट नाम उन सभी ईसाइयों को दे दिया गया जो पोप के प्रभुत्व को अस्वीकार करते थे। इस प्रोटेस्टैंट ईसाई संप्रदाय के कई रूप 16वीं शताब्दी में प्रकट हुए। उनमें से प्रमुख थे: लूथरवाद, काल्विनवाद और आंग्ल चर्चवाद।

मार्टिन लूथर भले ही आगे चलकर लाखों करोड़ों लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया हो, लेकिन प्रारंभ में उसने अपने पिता को अत्यधिक निराश किया। मार्टिन लूथर का जन्म 1485 में जर्मनी के एक किसान परिवार में हुआ था। एम.ए. की डिग्री प्राप्त करने के बाद उसके

महत्त्वाकांक्षी पिता ने उसे कानून की पढ़ाई करने के लिए एरफर्ट विश्वविद्यालय भेजा। लेकिन उसने वहां कभी कानून की पढ़ाई आरंभ नहीं की। कानून पढ़ने के बजाय उसने सेंट ऑगस्टाइन के आर्डर ऑफ दि हर्मिट्स (वैखानस पंथ) में प्रवेश ले लिया और विटनबर्ग के मठ में भिक्षुक बन गया। इससे उसके परिवार वालों को गहरा धक्का लगा। विटनबर्ग के मठ में रहते हुए ही उसने 1512 में धर्मविज्ञान में डॉक्टरेट की डिग्री हासिल कर ली।

जब वह रोम गया तो उसे चर्च में फैले भ्रष्टाचार का पता चला। उसके अपने धार्मिक अनुभव से उसे यह विश्वास हो गया कि मुक्ति का मार्ग संस्कारों तथा उस 'सुकर्म' में नहीं है, जिसे चर्च ने विहित किया है, बल्कि वह हृदय की पवित्रता तथा सरलता और परमेश्वर की अनुकंपा में विश्वास में निहित है। लूथर के इस सिद्धांत ने सीधे कैथोलिक धर्म की पादरी प्रणाली के मर्म पर कुठाराघात किया। उसने अनुग्रह-पत्रों (indulgence) की बिक्री और उसमें निहित अंधविश्वास की निंदा की। अनुग्रह-पत्र एक ऐसा दस्तावेज था जिसे प्राप्त करने के बाद मनुष्य की आत्मा इस पृथ्वी पर मनुष्य जीवन में किए गए पापों से, जिनके लिए उसे मृत्यु के बाद कष्ट सहने पड़ते थे, आंशिक रूप से छुटकारा पा सकती थी। इस प्रकार, चर्च को कुछ धनराशि अदा करके पापों से प्रायश्चित यानी छुटकारा खरीदा जा सकता था। अनुग्रह-पत्रों की यह बिक्री चर्च के लिए आय का एक बड़ा साधन बन चुकी थी।

मार्टिन लूथर ने इस विचार का प्रचार किया कि एक कागज के टुकड़े मात्र से मनुष्य को मोक्ष नहीं मिल सकता; मोक्ष तो अपने पापों का सच्चे मन से प्रायश्चित करने और परमेश्वर में दृढ़ विश्वास रखने से ही प्राप्त हो सकता है। उसने अपने इस चिंतन को 'पच्चानवे विचार-बिंदुओं' यानी उक्तियों के रूप में प्रस्तुत किया। वह अपने विचार-बिंदुओं को एक सार्वजनिक वाद-विवाद के माध्यम से सही सिद्ध करना चाहता था और उसने 31 अक्तूबर 1517 को विटनबर्ग के चर्च में एक पत्र भेजा जिसमें उसके सारे विचार-बिंदु लिखे हुए थे। उसने इन विचार-बिंदुओं को छपवाकर अन्य नगरों में भी वितरित किया। इसकी प्रतिक्रिया को देखकर लूथर आश्चर्यचकित रह गया क्योंकि उसके विचारों को जन-साधारण में ही नहीं बल्कि धनाढ्य वर्ग के व्यापारियों तथा राजे-रजवाड़ों में भी समर्थन प्राप्त हुआ था। सैक्सनी के 'इलेक्टर' ने मार्टिन लूथर को, अपने धर्म प्रचार के लिए उस पर लगाए गए आरोपों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया। शीघ्र ही जर्मनी के बहुत-से राजनीतिक नेताओं और मानवतावादियों के समर्थन से 'लूथर ने रोमन चर्च के अन्य संदेहपूर्ण सिद्धांतों तथा परिपाटियों पर अपना आक्रमण जारी रखा।

लूथर ने जर्मन लोगों की राष्ट्रीय भावना को पोप की विदेशी सत्ता के विरुद्ध भड़काया और यह दलील दी कि राजनीतिक मामलों में नागरिक सरकार चर्च से ऊपर है। उसने यह भी कहा कि पादरी पद एक अनावश्यक बुराई है क्योंकि प्रत्येक ईसाई व्यक्ति स्वयं अपना पादरी होता है और सभी ईसाइयों को धर्मोपदेशों की व्याख्या स्वयं करनी चाहिए और यह काम पादरियों का एकधिकार नहीं माना जाना चाहिए। लूथर ने बाइबल का जर्मन भाषा में अनुवाद भी तैयार किया।

कैथोलिक चर्च से नाता तोड़ने के बाद, लूथर ने अपने अनुयायियों को एक नए चर्च के अंतर्गत

संगठित करना शुरू किया और इस प्रकार, प्रोटेस्टैंट मत की नींव डाली। लूथर का कैथोलिकवाद से संबंध-विच्छेद कोई अकेली घटना नहीं थी, बल्कि उसी समय में भिन्न-भिन्न स्थानों पर ऐसे ही अन्य बहुत-से प्रोटेस्टैंट आंदोलन चल पड़े।

स्विट्जरलैंड में उलरिक ज्विंगली और जोन काल्विन प्रोटेस्टैंट आंदोलन के नेता बन गए। काल्विन के नेतृत्व में स्विट्जरलैंड के नगर उन प्रोटेस्टैंट लोगों के लिए शरणस्थली बन गए जो धार्मिक उत्पीड़न के कारण पश्चिम यूरोप में अन्य देशों को पलायन कर रहे थे। काल्विन ने प्रोटेस्टैंट मिशनरियों के प्रशिक्षण के लिए एक अकादमी स्थापित की। उसमें प्रशिक्षित धर्मप्रचारक अन्य देशों में परमेश्वर के सही और सच्चे उपदेशों का प्रचार करने लगे। प्रोटेस्टैंटवाद के अपने रूपांतर को प्रचार करने के लिए काल्विन ने एक ग्रंथ लिखा जिसका शीर्षक था *दि इंस्टीट्यूट्स ऑफ दि क्रिश्चियन रिलीजन* (ईसाई धर्म की संहिता)।

साम्राज्ञी एलिजाबेथ प्रथम का चित्र

उसने इस पुस्तक में प्रोटेस्टैंट मत के सिद्धांतों की सटीक परिभाषा दी जो इस आंदोलन के अन्य नेताओं द्वारा की गई परिभाषा से कहीं अधिक स्पष्ट एवं तर्कपूर्ण थी।

इंग्लैंड में प्रोटेस्टैंट आंदोलन का नेतृत्व राजनीतिक नेताओं, विशेष रूप से वहां के सम्राट हेनरी अष्टम और साम्राज्ञी एलिजाबेथ प्रथम द्वारा किया गया। उनके सुधार धार्मिक या सामाजिक सुधारों की भावना से नहीं, बल्कि राज्य के हित और विशेष रूप से, हेनरी अष्टम की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित थे। हेनरी अष्टम अपनी पत्नी कैथरीन अरागान को तलाक देकर अपनी प्रेयसी ऐन बोलीन से शादी रचाना चाहता था। पोप ने इस विवाह-विच्छेद को इस आधार पर नामंजूर कर दिया कि हेनरी ने कैथरीन से विवाह करने से पहले पोप से एक विशेष आज्ञा-पत्र मांगा तथा प्राप्त किया था जिसमें कैथरीन के साथ उसके विवाह को विधि-मान्य और अविच्छेद्य एवं अटूट घोषित किया गया था। पोप से दोटूक जवाब मिलने के बाद हेनरी ने तत्काल अपने आप को इंग्लैंड के चर्च का "एकमात्र संरक्षक और सर्वोच्च अध्यक्ष एवं प्रधान पादरी घोषित कर दिया। इसके बाद उसने ऐन बोलीन से विवाह कर लिया। इस शादी से एलिजाबेथ प्रथम का जन्म हुआ जो आगे चलकर इंग्लैड की साम्राज्ञी बनी। पोप से इंग्लैंड का अंतिम रूप से संबंध-विच्छेद 1529 में हुआ जब ब्रिटेन की संसद (Parliament) के एक विशेष अधिवेशन में इग्लैंड के चर्च को पोप के अधिकार-क्षेत्र से पूर्णत: मुक्त करने के लिए कई कानून बनाए गए। इंग्लैंड के सम्राट को वहां के चर्च का प्रधान घोषित कर दिया गया तत्पश्चात इंग्लैंड के चर्च 'को 'ऐंग्लिकन चर्च' कहा जाने लगा।

प्रतिसुधार आंदोलन

रोमन कैथोलिक चर्च लूथर, ज़्विंगली और काल्विन के द्‌वारा प्रारंभ किए गए आंदोलनों से अपनी जड़ों तक हिल गया। इन प्रोटेस्टैंट आंदोलनों द्‌वारा पहुंचाए गए नुकसान को दूर करने के लिए कैथोलिक चर्च में अनेक सुधार प्रारंभ किए गए जिन्हें सम्मिलित रूप से 'प्रतिसुधार आंदोलन' की संज्ञा दी गई। प्रतिसुधार आंदोलन ने कैथोलिक चर्च की सर्वव्यापी सत्ता को पुन: स्थापित करने के लिए तीन तरह के उपाय किए। इन उपायों में से एक उपाय के रूप में पोप पॉल तृतीय द्‌वारा 'ट्रेंट की परिषद्' (1545) बुलाई गई। यह परिषद् प्रोटेस्टैंटवाद का मुकाबला करने के लिए आवश्यक अर्थोपायों पर विचार करने के लिए बुलाई गई थी। इस परिषद् में ये निर्णय लिए गए कि कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट मतों के अनुयायियों के बीच जो सैद्‌धांतिक विवाद हैं उनका समाधान किया जाए; कैथोलिक चर्च में मौजूद नैतिक तथा प्रशासनिक बुराइयों को दूर किया जाए; और मुसलमानों के विरुद्‌ध एक नया धर्मयुद्‌ध (जिहाद) छेड़ा जाए। इसके साथ-साथ परिषद् ने यह भी आदेश दिया कि उन प्रतिषिद्‌ध पुस्तकों की सूची तैयार की जाए जिन्हें पढ़ना कैथोलिकों के लिए वर्जित है।

तत्पश्चात् ईसाई धर्म प्रचारकों (मिशनरियों) का एक नया वर्ग संगठित किया गया। इस पंथ के धर्मप्रचारकों को 'जेसुइट' कहा जाता था। इस पंथ का नेता इग्नैशियस लॉयोला नामक एक स्पेनवासी था। पेशे से वह एक सैनिक था परंतु तीस वर्ष की आयु में उसने भावावेश में आकर फौज की नौकरी छोड़ दी और ईसामसीह का सैनिक बनने के लिए जेरूस्लम की तीर्थ यात्रा पर चल पड़ा। उसने ईसामसीह के संदेश का प्रचार करने के लिए समर्पित प्रचारकों का एक दल तैयार किया।

इसी बीच, कैथोलिक चर्च ने सदियों पुरानी धर्माधिकरण (Inquision) की संस्था को भी फिर से चालू कर दिया। ये चर्च के न्यायालय यूरोप और अमेरिका के सभी देशों में चलने लगे।

कैथोलिक चर्च द्‌वारा अपनाए गए उपर्युक्त उपाय समस्त यूरोप को पोप की सत्ता के अंतर्गत लाने के लिए पर्याप्त नहीं थे। फिर भी, इस अभियान ने प्रोटेस्टैंटवाद को और आगे बढ़ने से रोकने में काफी सफलता प्राप्त की। यद्‌यपि यूरोप का काफी बड़ा भाग प्रोटेस्टैंट बना रहा, लेकिन समुद्रपार के अनेक नए देशों में कैथोलिक चर्च का प्रभुत्व फैल गया।

नई दुनिया को खोजने और भारत के लिए नए रास्तों का पता लगाने के प्रयास

पुनर्जागरण के आंदोलन द्‌वारा जगाई गई जिज्ञासा और साहस की भावना ने नए-नए देशों की खोज करने और नए समुद्री रास्तों का पता लगाने के लिए लोगों में बड़ी दिलचस्पी पैदा कर दी। यूरोप के अनेक देशों के व्यापारियों तथा शासकों ने नए देशों में धन संसाधनों और बाजारों का पता लगाने के लिए इन समुद्री यात्राओं के लिए वित्त की व्यवस्था की। दिक्सूचक यंत्र (कुतुबनुमा), उन्नतांशमापी (Astrolabe) और नए तैयार किए गए मानचित्रों तथा मार्गदर्शक पुस्तकों की सहायता से ये समुद्री यात्राएं बहुत सुगम एवं सुविधाजनक हो गईं। दिक्सूचक की सहायता से, नौचालक महासागरों में दिशाओं का पता लगा सकते थे और उन्नतांशमापी किसी क्षेत्र-विशेष के अक्षांश का पता लगाने में मदद करने लगा।
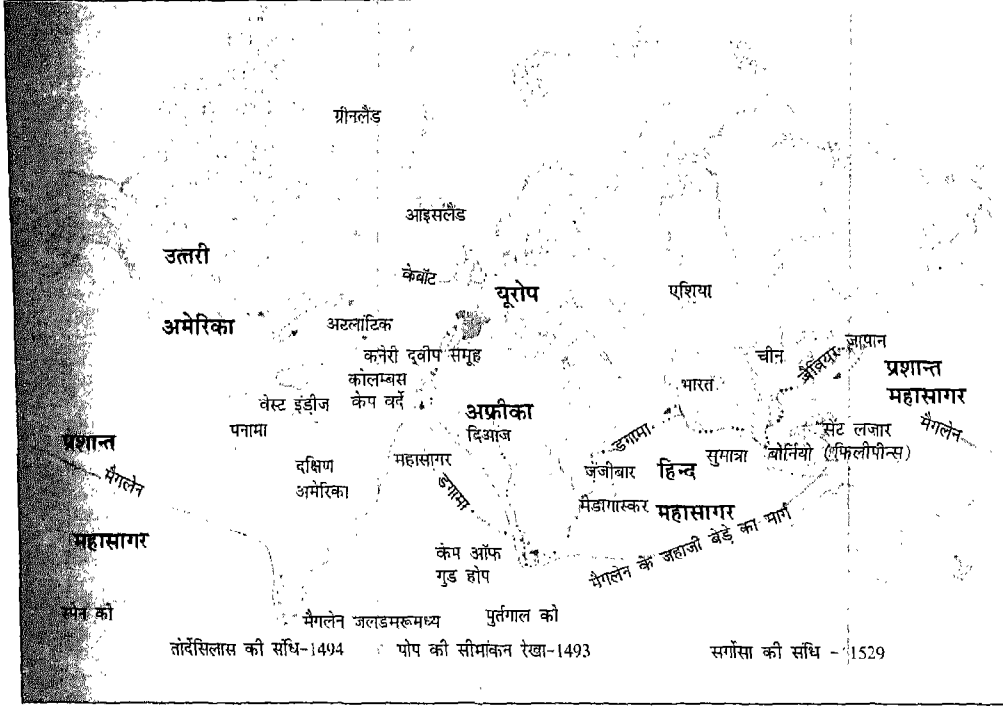
खोज की यात्राएं

इस प्रकार, व्यावहारिक भूगोल तथा नौचालन विज्ञान में उन्नति होने के साथ-साथ वाणिज्य तथा व्यापार में भी वृद्धि होने लगी। स्पेन और पुर्तगाल पहले यूरोपीय देश थे जिन्होंने इन खोजों तथा अन्वेषण-यात्राओं के लिए वित्त की व्यवस्था की थी। शीघ्र ही, पुर्तगाल के व्यापारी और शासक अफ्रीका के साथ सोने, हाथी दांत और दासों के व्यापार से मालामाल होने लगे। सोने के प्रति दिलचस्पी बढ़ने से भारत के मसाला बाजारों में भी तेजी से दिलचस्पी बढ़ने लगी। गरम मसालों, विशेष रूप से लौंग और काली मिर्च की मांग यूरोप में दिनोंदिन बढ़ती गई क्योंकि सर्दियों में भोजन को बिगड़ने से बचाने और उनका स्वाद बढ़ाने के लिए इनकी जरूरत पड़ती थी।

1487 में, बारथोलोम्यू डिआज़ नौका में यात्रा करते हुए अफ्रीका के पश्चिमी समुद्री तट के नीचे के हिस्से पहुंचा और उसने उसके दक्षिणी सिरे का एक चक्कर लगाया, जिसे बाद में केप ऑफ गुड होप का नाम दिया गया। दस साल बाद, वास्को डि गामा ने केप ऑफ गुड होप से होकर डिआज के रास्ते का अनुसरण किया और 1498 की वसंत ऋतु में भारत में कालीकट बंदरगाह पर उतरा।

पुर्तगालवासियों ने तो हिंद महासागर पर ही अपना ध्यान केंद्रित रखा, लेकिन स्पेनवासी अटलांटिक

महासागर के पार चले गए। उन्होंने ऐसा इस आशा में किया कि शायद भारत पहुंचने के लिए कोई छोटा रास्ता निकल आए। इटली के एक साहसिक यात्री क्रिस्टोफर कोलम्बस ने पूर्व की ओर जाने का नया वाणिज्यिक मार्ग खोजने के लिए स्पेन से पश्चिम की ओर नौका द्वारा कई यात्राएं कीं। 1492 से 1504 के बीच की गई अपनी चार समुद्री यात्राओं में उसने एक 'नई दुनिया' का पता लगाया। इस 'नई दुनिया' में पहुंचने पर उसने यह समझ लिया कि वह भारत पहुंच गया है, इसलिए उसने वहां के निवासियों को 'भारतीय' कहा। इस प्रकार दक्षिण अमेरिका के लोग 'रेड इंडियन' (लाल भारतीय) कहलाने लगे। कोलम्बस अपने समस्त जीवनकाल में इस बात से अनभिज्ञ रहा कि वस्तुतः उसने एक नए महाद्वीप की खोज की थी।

एक पुर्तगालवासी फर्डिनैंड मैग्लेन एशिया के गरम मसाले के टापुओं का पश्चिम की ओर से रास्ता खोजने के लिए 1519 में रवाना हुआ। मैग्लेन ने तीन वर्ष में दक्षिण अफ्रीका होते हुए प्रशांत महासागर पार किया और फिलीपीन्स द्वीपसमूह पहुंचा। यहां वह स्थानीय सामंत के साथ लड़ाई करते हुए मारा गया। इस लड़ाई में उसके कुल 243 नाविकों में से, केवल 18 लोग जीवित बचे। वे हिंद महासागर और अफ्रीकी समुद्र तट के जाने-पहचाने रास्ते से आगे बढ़ते गए और अंततः स्पेन पहुंचे। पहली बार मैग्लेन द्वारा पृथ्वी के इस नौ परिसंचलन से यह निर्णायक रूप से पता चल गया कि दुनिया गोल है।

उपनिवेशवाद का उत्थान

पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों के समुद्रयात्रियों ने बड़े-बड़े महासागरों को पार करके अन्य सभ्यताओं का पता लगाया। अन्ततोगत्वा 15वीं और 16वीं शताब्दियों की उन खोजों ने विश्व इतिहास की काया ही पलट दी, क्योंकि इनके कारण अनेक यूरोपीय देशों के बीच एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिकी महाद्वीपों में अधिक से अधिक भूमि और संसाधन हथियाने की होड़ मच गई।

इन तीन महाद्वीपों का औपनिवेशीकरण यूरोप में आई वाणिज्यिक क्रांति का हिस्सा बन गया। यह वाणिज्यिक क्रांति, पूंजीवाद (capitalism) और वणिकवाद/वाणिज्यवाद (mercantilism) की अवधारणाओं से शासित थी। पूंजीवाद उत्पादन, वितरण और विनिमय की एक प्रणाली है, जिसमें संचित धन निजी मालिकों द्वारा मुनाफा कमाने के लिए निवेश किया जाता है। इस प्रकार, यह एक ऐसी प्रणाली है जिसका उद्देश्य व्यक्ति को उसकी उद्यमशीलता के लिए पुरस्कृत करना और वाणिज्यिक विस्तार को स्थानीय स्तर से उठाकर राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक प्रोत्साहित करना है। इसके विपरीत, वणिकवादी, सरकारों या राज्यों को अलग-अलग इकाइयां मानते थे और अलग- अलग राज्यों की सामान्य समृद्धि को बढ़ाने के लिए आर्थिक नीतियों में अपने प्रत्यक्ष हस्तक्षेप पर बल देते थे। वणिकवादी सिद्धांत के अनुसार, किसी राज्य की शक्ति उसके वास्तविक परिकलनीय धन पर निर्भर करती थी और उसके धन का हिसाब उसके पास मौजूद सोने-चांदी की मात्रा तथा यथासंभव उसके अनुकूल व्यापार शेष (balance of trade) के आधार पर लगाया जाता था। इस प्रकार, किसी राज्य की आर्थिक समृद्धि तथा उसकी शक्ति का स्पष्टतम मापदंड यही था कि वह कितना आत्मनिर्भर रह सकता है, वह यथासंभव कम-से-कम आयात करता है और

ज्यादा-से-ज्यादा कितना निर्यात करता है। इस मापदंड के सिद्धांत ने राज्य की नीति को अनेक प्रकार से प्रभावित किया था। सर्वप्रथम, इससे प्रेरित होकर दूरस्थ महाद्वीपों तथा देशों में उपनिवेशों की स्थापना की गई और फिर उनका विकास किया गया। ये उपनिवेश अपने नियंत्रक राज्य (Mother Country) के लिए बहुमूल्य धातुओं के साथ-साथ कच्चे माल की व्यवस्था करते थे। इस आधार पर राज्य सरकारें औद्योगिक उत्पादन और व्यापार को प्रोत्साहन देने लगीं क्योंकि इन दोनों से उन राज्यों की आय में वृद्धि होती थी। इस प्रकार, सरकारों तथा उद्यमियों, दोनों ने मिलकर नई-नई संस्थाएं बनाईं जिनसे 17वीं तथा 18वीं शताब्दियों में भूमंडलीय वाणिज्य का विस्तार हुआ। यूरोप के देशों में फ्रांस और इंग्लैंड आधुनिक काल के प्रारंभिक वर्षों में यूरोप में वणिकवाद को बढ़ावा देने में सबसे अधिक सफल रहे।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, पहली समुद्रपारीय खोजों के लिए वित्त की व्यवस्था 15वीं शताब्दी में पुर्तगाल और स्पेन द्वारा की गई थी। इसलिए पुर्तगालवासी और स्पेनवासी ही उपनिवेशवाद की दौड़ में सबसे आगे रहे। 1494 में, तोर्देसिलास की संधि द्वारा पोप ने स्पेन और पुर्तगाल के समुद्रपारीय साम्राज्य को, वर्दे द्वीपसमूह अंतरीप के पश्चिम से एक सीधी रेखा खींचकर, दो भागों में विभाजित कर दिया। इस प्रकार, इस रेखा के पूर्व में पड़ने वाला प्रदेश पुर्तगाल के हिस्से में आ गया और रेखा के पश्चिम की ओर का प्रदेश स्पेन को मिल गया। उपनिवेशीकरण की दौड़ में, लगभग सभी यूरोपवासियों द्वारा चार मार्गदर्शक सिद्धांत स्वीकार किए गए। पहला, इस व्यापार में मातृदेश यानी उपनिवेश को नियंत्रित करने वाला देश प्रमुख भागीदार था और तैयार माल तथा सेवाएं देता था जबकि उपनिवेश कच्चा माल पैदा करते थे। दूसरा, अन्य यूरोपीय देशों के नागरिक इस व्यापार से बाहर रखे जाते थे। वे सीधे उपनिवेश से लेन-देन नहीं कर सकते थे और न ही उपनिवेश तथा नियंत्रक देश के बीच वाणिज्य में हिस्सा बांट सकते थे। तीसरा, उपनिवेश के मूल निवासियों को काबू में रखने और प्रतिद्वंद्वियों से व्यापारिक चौकियों तथा समुद्री मार्गों की रक्षा करने के लिए सशस्त्र सेनाएं आवश्यक थीं, और चौथा उपनिवेशवाद ईसाई धर्म को फैलाने का भी एक बड़ा साधन बन गया। उपनिवेशवादियों को इस कार्य में पोप से समर्थन मिला और उपनिवेशों के स्थानीय लोगों को बलपूर्वक तथा धर्म प्रचार के अन्य कार्यकलापों द्वारा ईसाई बनाया गया। इस धर्म-परिवर्तन अभियान के मुख्य शिकार अमेरिका, अफ्रीका के देश और दक्षिण-पूर्व एशिया के कुछ बौद्ध-धर्मावलंबी देश हुए।

अमेरिका

अमेरिका की खोज के बाद, स्पेन ने शनैःशनैः काफी बड़े राज्य क्षेत्र पर अपना शासन स्थापित कर लिया जिसमें मेक्सिको, पेरू, बोलीविया, चिली, ग्वाटेमाला और अमेरिका का दक्षिण-पश्चिमी समुद्र तट शामिल था। पुर्तगालियों ने ब्राजील को अपने कब्जे में किया और अंग्रेज उपनिवेशवादियों ने उत्तरी अमेरिका और कैरीबियन द्वीपों में अपनी कृषि बस्तियां बसाना शुरू किया। उनकी पहली स्थायी बस्ती 1607 में वर्जीनिया में जेम्सटाउन के रूप में बसाई गई। अगले चालीस वर्षों में, लगभग 80,000 अंग्रेज उत्प्रवासियों ने 'नई दुनिया' में बीस से भी अधिक स्वायत्त बस्तियां बसा लीं। न्यू ऐम्स्टर्डम का डच उपनिवेश 1664 में अंग्रेजों

द्वारा अपने कब्जे में कर लिया गया और उसे नया नाम 'न्यूयार्क' दे दिया गया। फ्रांसीसियों ने भी उत्तरी तथा पश्चिमी अमेरिका के सेंट लॉरेंस बेसिन के क्षेत्र में चौदह उपनिवेश स्थापित कर लिए। अमेरिका के उपनिवेशीकरण की दौड़ में स्वीडन और हालैंड के लोग उनसे पीछे रह गए। अमेरिका के इस उपनिवेशीकरण के परिणामस्वरूप वहां की मूल ऐज़टेक और इंका सभ्यताएं नष्ट हो गईं। उनके राजाओं, सामंतों को मौत के घाट उतार दिया गया और अधिकांश मूल आबादी खत्म कर दी गई और उसके स्थान पर यूरोप से आए लोगों को बसा दिया गया। मूल अमेरिकियों की जो थोड़ी-बहुत आबादी बची उसे ईसाई बना लिया गया क्योंकि उनकी संस्कृति को बर्बर और असभ्य घोषित कर दिया गया।

अफ्रीका

अमेरिका की तरह, अफ्रीका यूरोपवासियों के लिए अनजान क्षेत्र नहीं था। 1487 में बार्थोलोम्यू डिआज़ द्वारा केप ऑफ गुड होप की खोज से पहले भी, अफ्रीका का उत्तरी भाग यूरोपीय गतिविधियों का हिस्सा था। मोरक्को से मिस्र तक का प्रदेश रोमन काल से ही भूमध्य सागरीय दुनिया का हिस्सा था। इसी प्रकार, पूर्वी अफ्रीका अरब व्यापार-तंत्र का हिस्सा बना हुआ था। 15वीं शताब्दी के प्रारंभ में, यूरोपवासियों ने कुछ समय के लिए अफ्रीका की उपेक्षा कर दी थी क्योंकि वे सोचने लगे थे कि अफ्रीका यूरोपीय मानदंडों के अनुसार एक गरीब देश है।

उन दिनों अफ्रीका का दक्षिणी तथा मध्य भाग अनेक जनजातीय कबीलों से आबाद था। यूरोपवासियों
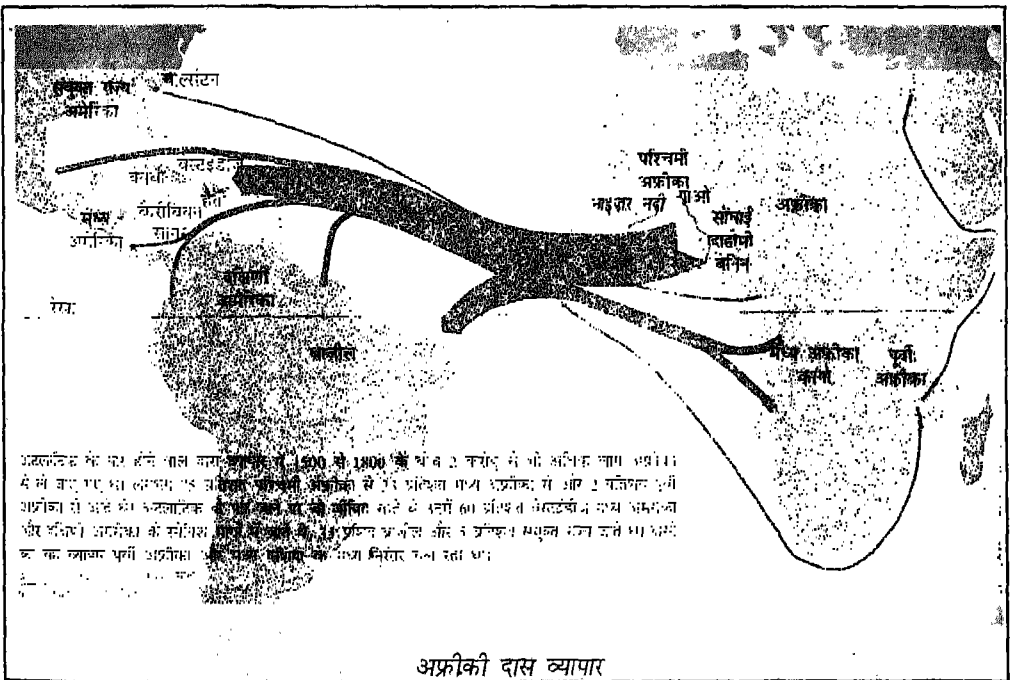
अफ्रीकी दास व्यापार

को उनकी संस्कृतियों की कोई जानकारी नहीं थी और न ही यूरोपवासियों ने अफ्रीकी संस्कृतियों को जानने की कोई कोशिश की। यूरोपवासियों की मुख्य दिलचस्पी तो दास-व्यापार में थी जिसके अंतर्गत वे अफ्रीका के मूल निवासियों को गुलाम बनाकर अधिकतर अमेरिका ले जाते थे। इसके अलावा, वे हाथी दांत, सोने और अन्य उष्णकटिबंधीय माल के व्यापार में भी रुचि रखते थे। इस उद्देश्य से पुर्तगाल, हालैंड, इंग्लैंड और फ्रांस के व्यापारियों ने अफ्रीका की तटीय पट्टी पर अनेक केंद्र स्थापित कर लिए थे। अफ्रीका का भीतरी प्रदेश अनखोजा अनजाना रह गया था, किंतु गुलामों के धंधेबाज और उनके स्थानीय दलाल भीतरी प्रदेश से भी परिचित थे। गन्ने और तंबाकू की खेती दास-श्रमिकों पर निर्भर थी और ज्यों-ज्यों इन उत्पादों यानी चीनी और तंबाकू की मांग बढ़ती गई त्यों-त्यों काले गुलामों का व्यापार भी बढ़ता गया क्योंकि इन गुलामों की मेहनत के बगैर इन चीजों की खेती व उत्पादन नहीं किया जा सकता था। 18वीं शताब्दी के दौरान हर वर्ष लगभग 75,000 से 90,000 तक अफ्रीकी गुलाम मजदूर अटलांटिक महासागर के पार भेजे जाते रहे। इस दास-व्यापार की संपूर्ण अवधि में अफ्रीका से कुल मिलाकर जो 90 लाख गुलाम मजदूर भेजे गए उनमें से 60 लाख गुलाम तो अकेली 18वीं शताब्दी में भेजे गए थे। इन गुलामों में से लगभग 35 प्रतिशत कैरीबियन द्वीपों में अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी बागानों में काम करने के लिए, 5 प्रतिशत उत्तरी अमेरिका में और शेष दक्षिणी अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों तथा ब्राजील के पुर्तगाली उपनिवेश में भेजे गए। दास-व्यापार की चरमावस्था के दौरान, दास-व्यापार पर सरकार का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया और उसे निजी उद्यमियों के लिए खोल दिया गया।

एशिया

एशिया महाद्वीप में भारत, चीन, जापान और दक्षिण-पूर्व एशिया द्वीपसमूह जैसे अनेक देश 16वीं शताब्दी में यूरोपीय व्यापार के केंद्र बन गए। कालांतर में यूरोपवासियों ने इन देशों पर शासन चलाने के लिए अपनी सैन्य शक्ति तथा 'फूट डालो और राज करो' की नीति का उपयोग करना शुरू कर दिया। पुर्तगालवासी पहले यूरोपीय थे जिन्होंने चीन तथा भारत के पश्चिमी तटों पर अपनी बस्तियां बसाईं। ऐसी चौकियों को उन *फैक्टरों* यानी वाणिज्यिक एजेंटों के कारण 'फैक्टरियां' कहा जाने लगा, जो स्थानीय जनता से व्यापार करने के लिए वहां रखे जाते थे। आगे चलकर डच (हालैंडवासी), ब्रिटिश अंग्रेज और फ्रांसीसी व्यापारी इस दौड़ में पुर्तगालियों के मुकाबले आ गए। चीन में पुर्तगाली व्यापारियों ने मकाओ को पकड़ा जबकि हालैंडवासियों ने ताइवान में अपना अड्डा जमाया। भारतीयों की तरह चीन के लोगों ने भी यूरोपवासियों का प्रतिरोध किया लेकिन अंततोगत्वा उन्होंने घुटने टेक दिए और संधि करके यूरोपवासियों को अपने समुद्री पत्तनों का इस्तेमाल करने की रियायतें दे दीं। जापान में, यूरोपवासियों के प्रवेश के विरुद्ध प्रतिक्रिया चीन के मुकाबले ज्यादा तीखी रही। वहां पुर्तगालियों ने 16वीं शताब्दी के दौरान व्यापार करने की सुविधाएं प्राप्त कर लीं। हालैंडवासी (डच) भी उनसे पीछे नहीं रहे और उन्होंने भी 19वीं शताब्दी के मध्य भाग तक जापानियों के साथ व्यापार करने का अनन्य अधिकार प्राप्त कर लिया। 17वीं शताब्दी के दौरान एक

फलता-फूलता वाणिज्यिक साम्राज्य स्थापित करने में डच व्यापारी अंग्रेजों के मुकाबले अधिक सफल रहे। 1602 में, डच ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई। इस कंपनी ने एशिया में स्थापित ईस्ट इंडिया कंपनी से मुकाबला करना शुरू कर दिया। डच कंपनी ने शीघ्र ही सुमात्रा, बोर्नियो और मलाया प्रायद्वीप के मसाले के टापुओं पर अपना पक्का नियंत्रण स्थापित कर लिया और उस क्षेत्र से पुर्तगाली व्यापारियों को निकाल बाहर किया।

भारत में यूरोपवासियों का आगमन

यूरोपवासी भारत में अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर लगाकर समुद्री मार्ग से पहुंचे। यह उनके लिए नया देश नहीं था। भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर सिंकदर के आक्रमण के दिनों से ही वे इस देश के साथ सीधे संपर्क में रहे थे और यह संपर्क रोमन साम्राज्य की अवधि में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। पूरे मध्य युग के दौरान अरब लोग भारतीयों के व्यापार तथा उनके गणित, खगोल तथा आयुर्वेद के ज्ञान और भारतीय साहित्य का यूरोप में प्रसार करने में एक माध्यम का काम करते रहे। किंतु यूरोपवासी भारतीयों के साथ सांस्कृतिक संपर्क की बजाय वाणिज्यिक संबंध बनाने में अधिक दिलचस्पी रखते थे। भारत पर आधिपत्य स्थापित करने में उनकी सैन्य शक्ति की श्रेष्ठता तथा उस समय देश में व्याप्त राजनीतिक फूट ने उनका साथ दिया।

भारतीय व्यापार पर नियंत्रण स्थापित करने की दौड़ में जिन चार यूरोपीय शक्तियों ने भाग लिया वे पुर्तगाल, हालैंड, इंग्लैंड और फ्रांस से संबंधित थीं। सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने भारत में अपनी व्यापारिक कंपनी स्थापित की। उनका उद्देश्य व्यापार में अपने अरब प्रतिद्वंद्वियों को परास्त करना तथा ईसाई धर्म का प्रचार करना था। इसके लिए उन्होंने मालाबार के राजाओं के साथ लड़ाई छेड़ दी क्योंकि मालाबार के राजा अरब व्यापारियों को संरक्षण दे रहे थे। इस प्रकार, पुर्तगालियों ने हिंद महासागर में अन्य देशों के समुद्री व्यापार के लिए संकट पैदा कर दिया। इसका मुकाबला करने के लिए मिस्र, तुर्की तथा गुजरात का भारतीय राज्य, पुर्तगालियों के विरुद्ध एकजुट हो गया। लेकिन पुर्तगालियों ने उन तीनों के सम्मिलित बेड़े को किसी तरह हरा दिया। इस जीत ने हिंद महासागर तथा एशिया के तटवर्ती राज्यों में पुर्तगालियों की नौसैनिक सर्वश्रेष्ठता का डंका बजा दिया। उन्होंने बीजापुर के सुल्तान से गोआ जीत लिया और उसे एक पुर्तगाली उपनिवेश बना लिया। 16वीं शताब्दीं में डचों, अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने पुर्तगालियों को चुनौती दी। अंततोगत्वा, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी विजयी हुई और उसने 18वीं शताब्दी के दौरान भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली।

17वीं तथा 18वीं शताब्दियों में यूरोप में राज्यों का निर्माण

17वीं तथा 18वीं शताब्दियों में पांच बड़े राज्यों ने यूरोप में अपनी-अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया और कम-से-कम प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने तक तो वहां की राजनीति में अपना प्रभुत्व बनाए रखा। ये राज्य थे : ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, ऑस्ट्रिया, प्रशा और रूस। अपने सैन्य बल, आर्थिक विकास और औपनिवेशिक साम्राज्य की बदौलत ये राज्य आधुनिक युग में विश्व के अन्य सभी देशों पर अपना प्रभाव डालने लगे।

यूरोप के महाद्वीप के भीतर भी ये राज्य एक-दूसरे पर अपना प्रभुत्व जमाने की कोशिश करने लगे।

यूरोप में, और उसके माध्यम से समस्त विश्व में शक्ति हथियाने की होड़ में वे ही राज्य सफल रहे जिन्होंने सबल केंद्रीय राजनीतिक सत्ता स्थापित कर ली थी। प्रभावकारी राजनीतिक सुदृढ़ीकरण के लिए तत्त्वत: दो ही आदर्श उनके सामने थे। पहला इंग्लैंड था जहां 17वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में सीमित सत्ताधारी राजतंत्र और एक सबल संसद के साथ सरकार चल रही थी। इस राजनीतिक ढांचे ने उत्तरी अमेरिका तथा अन्य महाद्वीपों में स्थित ब्रिटिश उपनिवेशों पर अपना गहरा प्रभाव डाला। दूसरा फ्रांसीसी मॉडल था, जहां परम सत्ताधारी राजतंत्र था, एक विशाल स्थायी सेना थी, सेना के भरण-पोषण के लिए कराधान की व्यापक व्यवस्था थी और उन करों को वसूल करने के लिए पर्याप्त संख्या में कर्मचारी तथा अधिकारी थे।

इंग्लैंड की गौरवमय क्रांति

इंग्लैंड में 1603 से 1714 तक का इतिहास अनेक उपद्रवों तथा आंदोलनों के कारण अशांत रहा। इस अवधि में शुद्धाचारवादियों (Puritans) ने एलिजाबेथ के धार्मिक समझौते का प्रतिरोध किया और संसद ने स्टुअर्ट सम्राट जेम्स प्रथम और चार्ल्स प्रथम के निरंकुश राजतंत्र का विरोध किया। 17वीं शताब्दी के इंग्लैंड में शुद्धाचारवाद (Puritanism) के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के धार्मिक समूहों का समावेश था जिनमें नरमदलीय यानी मॉडरेट ऐंग्लिकनों से लेकर अन्य अतिवादी या आमूल परिवर्तनवादी पंथ थे।

इस नाजुक अवधि में इंग्लैंड के राजसिंहासन पर विदेशी मूल के तीन सम्राटों का कब्जा रहा। यहां तक कि 1649 से 1660 तक की अवधि में तो इंग्लैंड में कोई सम्राट था ही नहीं। फिर भी इस संकटपूर्ण शताब्दी के अंत तक आते-आते इंग्लैंड ने यूरोप के सामने एक ऐसे सीमित राजतंत्र का आदर्श उपस्थित कर दिया जहां संसदीय सरकार और नपी-तुली धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान हो।

जेम्स प्रथम (1603-1625)

स्कॉटलैंड का जेम्स द्वितीय, इंग्लैंड के प्रथम विदेशी सम्राट के रूप में इंग्लैंड के राजसिंहासन पर बैठा। उसने स्टुअर्ट राजवंश के जेंम्स प्रथम के रूप में निस्संतान महारानी एलिज़ाबेथ का उत्तराधिकारी बनकर शासन की बागडोर संभाली। सम्राट के रूप में उसे विरासत में मिला शाही कर्ज़ा, एक विभाजित चर्च और एक ऐसी पार्लियामेंट यानी संसद जो शाही सत्ता पर दावों के बारे में पहले से परेशान थी। ये सभी समस्याएं उसके शासनकाल में और भी गंभीर हो गईं। सम्राट संसद की इच्छा के विरुद्ध स्वतंत्र रूप से राजस्व जुटाने के लिए प्रयत्नशील था और संसद उसके इन प्रत्यनों का विरोध कर रही थी। परिणामस्वरूप सम्राट तथा संसद के बीच संघर्ष छिड़ गया, जो लंबे अरसे तक चलता रहा। उसकी स्पेन-समर्थक विदेश नीति के कारण धार्मिक समस्याएं भी गंभीर हो गईं। इन सब परेशानियों के बावजूद, उसने बाइबिल का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करवाया, जिसके लिए उसे आज भी याद किया जाता है। उसके द्वारा कराया गया वह अनुवाद अब तक अंग्रेजी-भाषी लोगों द्वारा उपयोग में लाया जाता है।

चार्ल्स प्रथम (1625-1649)

चार्ल्स प्रथम (जेम्स प्रथम का पुत्र) के शासनकाल में संसद के साथ कलह और धार्मिक समस्याओं ने और भी गंभीर रूप धारण कर लिया। अपने पिता की तरह चार्ल्स प्रथम ने भी संसद से, परामर्श किए बिना, राजस्व जुटाने के अनेक नए उपाय लागू कर दिए। सीधे विरोध से बचने के लिए उसने 1629 में संसद को भंग कर दिया और 1640 तक उसका कोई अधिवेशन नहीं बुलाया, लेकिन 1640 में स्कॉटलैंड के साथ युद्ध छिड़ जाने पर उसे संसद को बुलाना पड़ा। चार्ल्स प्रथम ने अपने प्रधानमंत्री के साथ मिलकर एक नीति निर्धारित की, जिसका उद्देश्य इंग्लैंड पर सम्राट का निरंकुश नियंत्रण सुनिश्चित करना था। किंतु चार्ल्स प्रथम के पास निरंकुश शासन चलाने के लिए न तो वफादार नौकरशाही थी और न ही स्थायी सेना।

इसी बीच, स्कॉटलैंडवासियों ने इंग्लैंड पर आक्रमण कर दिया और अंग्रेज सेना को हरा दिया इसलिए चार्ल्स प्रथम ने संसद को उसकी शर्तों पर फिर बुलाया। इस बार संसद बहुत लंबे अरसे (1640-1653) तक चली; इसीलिए इसे 'लंबी संसद' (Long Parliament) कहा जाता है। इस संसद को व्यापक समर्थन मिला और उसने सामान्य मतैक्य के साथ अपना काम किया। चार्ल्स प्रथम ने जो नए उपाय किए थे उन सबको इस संसद ने समाप्त कर दिया। संसद की सहमति के बिना लगाए जाने वाले सभी नए करों को अवैध घोषित कर दिया गया। अंततः यह संकल्प पारित कर दिया गया कि संसद को उसकी अपनी सहमति के बिना भंग नहीं किया जा सकता। सांसदों के एक समूह ने यह कहा कि संसद को इंग्लिश शस्त्रधारी सेना को अपने नियंत्रण में रखना चाहिए। लेकिन अन्य समूह परंपरा से हटकर इतना बड़ा कदम उठाने से डरते थे। चार्ल्स प्रथम ने देखा कि संसद में मतभेद है और यही मौका है जब फिर से अपनी ताकत प्राप्त कर लें। इसलिए जनवरी 1642 में, उसने अपने सिपाहियों के साथ संसद पर धावा बोल दिया। सम्राट की इस कार्रवाई से घबराकर इंग्लैंड की लोकसभा ने सैन्य अध्यादेश (Malitia Ordinance) पारित कर दिया। इस अध्यादेश ने सेना का नियंत्रण संसद को सौंप दिया। अब सेना ऑलिवर क्रॉमवेल के अधीन फिर से संगठित की गई और उसे 'नवादर्श सेना' (New Model Army)का नाम दिया गया।

चार्ल्स प्रथम ने परवर्ती वर्षों में संसद पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए बहुत प्रयत्न किया, किंतु 30 जनवरी 1649 को एक विशेष न्यायालय द्वारा विचारण के बाद, उसे जन-अपराधी ठहराकर फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया और उसके बाद राजतंत्र, लॉर्ड सभा (House of Lords) और ऐंग्लिकन चर्च के शासन को खत्म कर दिया गया।

1649 से 1660 तक इंग्लैंड आधिकारिक तौर पर एक शुद्धिवादी गणतंत्र (Puritan Republic) बन गया। इस अवधि में, क्रॉमवेल की सेना ने आयरलैंड और स्कॉटलैंड को जीत लिया और उन्हें इंग्लैंड के साथ मिलाकर ग्रेट ब्रिटेन नाम से एक नई राजनीतिक इकाई की स्थापना कर दी। 1653 में जब हाउस ऑफ कॉमंस ने 50,000 सैनिकों की सेना को, जिसके भरणपोषण पर भारी खर्चा करना पड़ रहा था, भंग करने का आदेश पारित किया तो क्रॉमवेल गुस्से में आकर संसद पर चढ़ आया और उसने संसद को भंग कर दिया। तदोपरांत उसने रक्षक लॉर्ड (Lord Protector) के रूप में

व्हाइट्हॉल के इनिगो जोन्स हॉल के बाहर 30 जनवरी 1649 को चार्ल्स प्रथम को फांसी पर लटकाने का दृश्य

शासन किया। लेकिन उसकी सैनिक तानाशाही चार्ल्स प्रथम के शासन से अधिक लोकप्रिय साबित न हो सकी।

1658 में जब क्रॉमवेल की मृत्यु हुई तब तक अधिकांश अंग्रेज लोग इस शुद्धीवादी (Puritan) प्रयोग को समाप्त करके परंपरागत सरकारी संस्थाओं को वापस अपनाने के लिए तैयार हो चुके थे।

राजतंत्र की पुनःस्थापना

स्टुअर्ट राजतंत्र 1660 में फिर से उस समय सत्ता में आ गया जब चार्ल्स प्रथम का पुत्र चार्ल्स द्वितीय (1660-1685) इंग्लैंड लौट आया। यह एक *यथापूर्वस्थिति* का प्रतीक था क्योंकि इंग्लैंड के राजसिंहासन पर पुनः एक वंशानुगत सम्राट विराजमान हो गया था और धार्मिक मामलों में ऐंग्लिकन चर्च का शासन चलने लगा था।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय (1685-1688) राजगद्दी पर बैठा लेकिन उसने भी धार्मिक विवाद पर संसद को भंग कर दिया, सभी धार्मिक परीक्षण बंद कर दिए और अग्नि पूजा के लिए अनुमति दे दी। कैथोलिकवाद का समर्थक होने के नाते, उसने सात ऐंग्लिकन बिशपों को कैद में डाल दिया। किंतु सम्राट के विरुद्ध प्रत्यक्ष कार्रवाई अभिप्रेरणा 20 जून, 1688 को तब मिली जब जेम्स द्वितीय की दूसरी पत्नी, जो कैथोलिक मतावलंबी थी, ने एक बेटे को जन्म दिया। जेम्स द्वितीय का बेटा पैदा होने का मतलब यह हुआ कि राजगद्दी का अगला हकदार एक कैथोलिक होगा। इस स्थिति के फलस्वरूप संसद के समर्थकों, जिन्हें विग कहा जाता था और राजतंत्र के समर्थकों जिन्हें टोरी कहा जाता था और जो इंग्लैंड के चर्च को अनन्य विशेषाधिकार

देने के पक्ष में थे, दोनों के बीच राजनीतिक संधि हो गई। विग और टोरी सामंतों ने मिलकर जेम्स द्वितीय की सबसे बड़ी बेटी मैरी और उसके पति आरेंज के विलियम तृतीय को आमंत्रित किया कि वे इंग्लैंड पर आक्रमण करके उस पर कब्जा कर लें और वहां परंपरागत स्वतंत्रताओं, ऐंग्लिकन चर्च तथा संसदीय शासन की रक्षा करें।

आरेंज का विलियम तृतीय नवंबर 1688 में अपनी सेना के साथ आ गया। अंग्रेज लोगों ने उसका कोई विरोध नहीं किया, बल्कि स्वागत ही किया। जेम्स द्वितीय अपनी पराजय को अवश्यंभावी समझकर वहां से पलायन करके फ्रांस के लुई चौदहवें की शरण में चला गया। संसद ने राजसिंहासन को खाली बताते हुए अपने प्राधिकार से 1689 में विलियम तृतीय और मैरी को नए सम्राट घोषित कर दिए। इस प्रकार, 1688 की रक्तहीन गौरवमय क्रांति (Glorious Revolution) की संपूर्ण प्रक्रिया संपन्न हो गई। विलियम तृतीय और मैरी (1689-1702) ने, बदले में, 'बिल ऑफ राइट्स' को मान्यता प्रदान कर दी। इस बिल के द्वारा राजतंत्र की शक्तियों को सीमित कर दिया गया था और अंग्रेज समाज के विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों को नागरिक स्वतंत्रताओं की गारंटी दी गई थी। इस बिल में यह कहा गया कि इसके बाद से इंग्लैंड के सम्राट संसद की सहमति से ही शासन करेंगे और कानून के दायरे में रहेंगे। बिल ऑफ राइट्स ने स्पष्ट शब्दों में रोमन कैथोलिकों को इंग्लैंड के राजसिंहासन पर बैठने से सदा के लिए रोक दिया।

अमेरिका का स्वातंत्र्य युद्ध

अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध ने यूरोपीय उपनिवेशवाद के इतिहास में एक नया मोड़ ला दिया। उसने अफ्रीका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के राज्यों की भावी स्वतंत्रता के लिए एक पद्धति तैयार कर दी। इस प्रकार, अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध का परिणाम केवल इतना ही नहीं हुआ कि तेरह उपनिवेश 'मातृदेश' ब्रिटेन से अलग हो गए, बल्कि वे उपनिवेश, एक तरह से नए राजनीतिक विचारों तथा संस्थाओं की प्रयोगशाला बन गए।

ब्रिटेन ने अपना पहला उपनिवेश 1607 में वर्जीनिया में जेम्सटाउन के रूप में बसाया था। फिर तो अगले एक सौ सालों के भीतर संयुक्त राज्य की भूमि पर अंग्रेजी उपनिवेशों की शृंखला ही बस गई। 18वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों तक ब्रिटिश ताज (Crown) सीधे इन सभी उपनिवेशों पर शासन करता रहा। वहां के प्रशासन की देखभाल के लिए ब्रिटिश ताज, शाही गवर्नर नियुक्त करता था, हालांकि प्रत्येक उपनिवेश ने एक निर्वाचित विधान सभा, एक परिषद और उनकी अपनी सेनाएं होती थीं। अंग्रेजी भाषी सभी उपनिवेशों में कृषि ही सबसे बड़ी आर्थिक गतिविधि थी, जो बागानों पर आधारित थी और दास व्यापारियों द्वारा प्रबंधित थी। खेती की मुख्य फसलें थीं: तंबाकू, नील, चावल और चीनी। समुद्री किनारे के आस-पास बसे हुए मुख्य पत्तन नगर; जैसे - बोस्टन, न्यूपोर्ट, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया, बाल्टीमोर आदि इंग्लैंड के छोटे प्रांतीय नगरों जैसे ही दिखाई देते थे। वे प्राथमिक रूप से व्यापार के केंद्र थे जिनके माध्यम से माल उपनिवेशों तथा इंग्लैंड और वेस्टइंडीज के बीच आता-जाता था।

1760 के दशक तक अमेरिकी लोगों के राजनीतिक मूल्य बहुत कुछ इंग्लैंडवासियों जैसे ही थे। उपनिवेशवासी इंग्लैंड में घटने वाली घटनाओं से पूरी तरह परिचित थे। किंतु उनके विद्वेष ने उस

समय गंभीर रूप धारण कर लिया जब अमेरिका के अनेक राजनीतिक सिद्धांतवादियों ने उन राजनीतिक सिद्धांतों का जोरदार प्रचार किया, जिनके अनुसार मातृदेश के प्रति उपनिवेशों के प्रतिरोध का औचित्य प्रदर्शित किया गया। इन सिद्धांतवादियों में प्रमुख थे : बैंजामिन फ्रैंकलिन, थॉमस जैफरसन, जेम्स विल्सन और जॉन ऐडम्स। उनके राजनीतिक विचार उनके अपने यानी मौलिक नहीं थे; ये विचार जॉन लॉक और मोंटेस्क्यू के चिंतन से लिए गए थे; लेकिन ये विचार ऐसे सशक्त रूप से अभिव्यक्त किए गए थे कि उनसे अमेरिकी लोगों की स्व-शासन की मांग को बल मिलता गया।

1776 से पहले अमेरिकी संविधान के इन आदि-निर्माताओं में से किसी ने भी ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होने या संबंध-विच्छेद करने की बात नहीं सोची थी। उन्होंने साम्राज्य के भीतर रहते हुए स्वशासन की ही मांग की थी, स्वतंत्रता की नहीं। वे अपना विरोध व्यक्त करते हुए भी मातृदेश इंग्लैंड के प्रति पूरी तरह वफादार थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार का कोई भी नेता उनकी मांगों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। उनकी राय में अंग्रेज चाहे कहीं भी रहें, सर्वत्र अंग्रेजी राष्ट्र के सदस्य हैं, जो एक अभिन्न एवं अविभाज्य इकाई है। उपनिवेशों की समृद्धि ने भले ही उन्हें अंततः इंग्लैंड से अलग कर दिया हो लेकिन 1750 में कोई भी यह नहीं सोचता था कि यह 18वीं शताब्दी में घटित हो जाएगा, क्योंकि उपनिवेशों की स्वतंत्रता और लंदन से संचालित शासन के प्रति पूर्ण अधीनस्थता के बीच का कोई मार्ग निकल ही नहीं सकता था।

अमेरिकी उपनिवेशों में विद्रोह राजस्व संग्रह संबंधी समस्याओं से उत्पन्न हुआ था। ये समस्याएं उन सभी बड़ी शक्तियों के सामने उपस्थित थीं जिन्होंने सप्तवर्षीय युद्ध में भाग लिया था और इनका कारण यह भी था कि फ्रांस और ब्रिटेन के बीच झगड़ा अभी चल रहा था। सप्तवर्षीय युद्ध के बाद ब्रिटेन ने अपने क्षेत्र को पुनः संगठित करने के लिए धन की आवश्यकता महसूस की। चूंकि अमेरिकी उपनिवेश, इस युद्ध में ब्रिटेन की जीत के मुख्य लाभानुभोगी थे इसलिए यह उचित ही प्रतीत होता था कि वे उनकी रक्षा तथा प्रशासन पर हुए खर्च का कुछ भार अवश्य वहन करें। इस प्रयोजन से, ब्रिटिश संसद ने स्टैंप एक्ट पारित किया जिसके द्वारा कानूनी दस्तावेजों तथा कुछ अन्य मदों जैसे समाचारपत्र आदि पर कर लगा दिया गया। ब्रिटिश लोगों ने इन करों को वैध माना क्योंकि उन्हें वसूल करने का निर्णय वहां की संसद द्वारा अनुमोदित था और उन्होंने उसे न्यायोचित भी माना क्योंकि इकट्ठा किया गया धन उपनिवेशों में ही खर्च किया जाना था। अमेरिकियों ने इसका जवाब यह दिया कि विधानसभाओं के माध्यम से उन पर कर लगाने का अधिकार केवल उन्हें ही प्राप्त है, ब्रिटिश संसद को नहीं, क्योंकि ब्रिटिश संसद में उन्हें कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। उनकी मांग थी 'प्रतिनिधित्व नहीं तो कर भी नहीं।'

अक्तूबर 1765 में, अमेरिका में स्टैंप एक्ट कांग्रेस की बैठक हुई और उसमें 'ताज' यानी ब्रिटिश सम्राट के समक्ष पेश करने के लिए विरोध-ज्ञापन का प्रारूप तैयार किया गया। 'स्वातंत्र्य पुत्र' कहे जाने वाले समूहों के नेतृत्व में उपनिवेशों में काफी अव्यवस्था फैला दी गई। 1766 में, संसद ने स्टैंप एक्ट को वापस ले लिया। लेकिन घोषणात्मक अधिनियम (Diclaratory Act) के

माध्यम से उपनिवेशों के लिए कानून बनाने की शक्ति प्राप्त कर ली। स्टैंप एक्ट संकट ने ब्रिटेन और अमेरिकी उपनिवेशों के बीच के संघर्ष की पद्धति को अगले दस वर्षों के लिए निर्धारित कर दिया। प्रत्येक भिड़ंत के साथ अमेरिकी लोग राजनीतिक स्वतंत्रताओं के बारे में अपने विचारों में सुधार करते गएं। 18वीं शताब्दी के दौरान, अमेरिका वासी ब्रिटेन के अनेक राजनीतिक लेखकों, जिन्हें कॉमनवेल्थ मैन कहा जाता था, से परिचित होते गए और उनके विचारों को जानते रहे। इन लेखकों ने गणतंत्रवादी (Republican) राजनीतिक विचारों तथा स्वतंत्रताओं का समर्थन किया। ब्रिटेन में, इन लेखकों की अधिकतर उपेक्षा ही की गई क्योंकि अधिकांश ब्रिटिश जनता अपने आपको विश्व में सर्वाधिक स्वतंत्रजन मानती थी। लेकिन अमेरिका में ये आमूल परिवर्तनवादी पुस्तकें तथा पत्रिकाएं व्यापक रूप से पढ़ी जाती थीं और उनमें लिखी गई बातों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया जाता था।

उपनिवेशवासियों का दावा था कि 1763 से 1776 के बीच थोपे गए नियमों तथा कानूनों के माध्यम से सम्राट जार्ज तृतीय तथा ब्रिटिश संसद, दोनों मिलकर उन स्वतंत्रताओं पर प्रहार कर रहे हैं। और अमेरिकियों तथा ब्रिटिश लोगों के बीच विद्यमान उन नैतिक तथा राजनीतिक संबंधों को तोड़ रहे हैं, जिनसे दोनों समुदाय अपस में जुड़े हुए थे।

1773 में, ब्रिटिश संसद ने ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा चाय की बिक्री के संबंध में एक नया कानून बनाया। इस कानून के तहत अमेरिकी उपनिवेशों में चाय के सीधे आयात के लिए अनुमति दे दी गई। यद्यपि इस कानून के तहत चाय की कीमतों को वास्तव में घटा दिया गया लेकिन उपनिवेशवासियों की सहमति के बिना ही
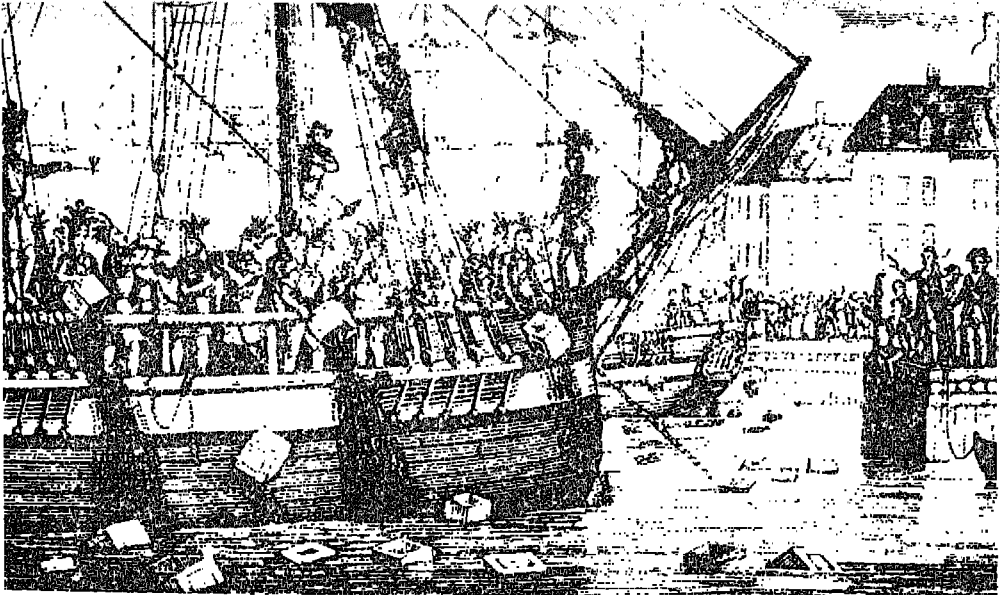
बोस्टन टी पार्टी – लोग चाय कर के प्रति अपना आक्रोश दर्शाने के लिए पेटियों में भरी चाय को समुद्र में फेंक रहे हैं

कर लागू रखा गया। कुछ नगरों में उपनिवेशवासियों ने चाय की लदान को अपने यहां नहीं उतरने दिया। बोस्टन में 16 दिसंबर 1773 को एक पूरे जहाज में भरी हुई सारी चाय को ही बंदरगाह में डाल दिया गया, अमेरिकी इतिहास में इस घटना को 'बोस्टन टी पार्टी' कहा जाता है।

लार्ड नार्थ का ब्रिटिश मंत्रिमंडल उपनिवेशों द्वारा किए जा रहे प्रतिरोध के विरुद्ध ब्रिटिश संसद की सत्ता को थोपने के लिए कृतसंकल्प था। 1774 के दौरान कानूनों की एक श्रृंखला पारित की गई; इन कानून को असह्य अधिनियम कहा जाता है। इन उपायों के अंतर्गत बोस्टन के पत्तन को बंद कर दिया गया, मैसाचुसेट्स की सरकार को पुनर्गठित किया गया और सैनिकों को निजी घरों में रखने की अनुमति दे दी गई। इन वर्षों के दौरान सभी उपनिवेशों में उन पत्राचार समितियों को स्थापित किया गया जिनके सदस्य ब्रिटेन की आलोचना करने वाले नागरिक थे। 1774 में, इन समितियों ने फिलाडेल्फिया में पहली महाद्वीपीय कांग्रेस (Continental Congress) का आयोजन किया। इस निकाय को यह आशा थी कि वह ब्रिटिश संसद को इस बात के लिए राजी कर लेगी कि उपनिवेशों में स्वशासन बहाल किया जाए और औपनिवेशिक मामलों के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण का प्रयास न किया जाए। ब्रिटिश सेनाओं के हाथों औपनिवेशिक सेनाओं की हार के बावजूद, औपनिवेशिक विधान सभाएं शीघ्र ही अपने आप अपनी सत्ता के अधीन अपनी बैठकें आयोजित करने लगीं। ऐसी परिस्थितियों में, द्वितीय महाद्वीपीय कांग्रेस मई, 1775 में, आयोजित की

4 जुलाई 1776 को फिलाडेल्फिया में स्वतंत्रता की घोषणा पर हस्ताक्षर किए जाने का दृश्य

गई। उसने उपनिवेशों की सरकार चलाने के लिए विधान सभा का नेतृत्व किया। अगस्त 1775 में सम्राट जार्ज तृतीय ने उपनिवेशों को विद्रोही घोषित कर दिया। सर्दियों में, थॉमस पैन की पुस्तिका *कॉमन सेंस* ने जनमत को ग्रेट ब्रिटेन से संबंध-विच्छेद करने के लिए उत्तेजित कर दिया। एक औपनिवेशिक सेना तथा जल सेना का गठन किया गया। अंततः 4 जुलाई 1776 को, महाद्वीपीय कांग्रेस ने स्वतंत्रता की घोषणा को अपना लिया, जिसके बाद अमेरिका का स्वातंत्र्य युद्ध 1781 तक चलता रहा, जब जार्ज वाशिंगटन की सेनाओं ने लॉर्ड कार्नवालिस की सेनाओं को यॉर्कटाउन में परास्त कर दिया। इस युद्ध में फ्रांस और स्पेन की सेनाओं ने भी ब्रिटेन की सेनाओं के विरुद्ध उपनिवेशों का साथ दिया। 1783 में पेरिस की संधि के साथ ही सारा झगड़ा खत्म हो गया। तब तक तेरह अमेरिकी उपनिवेश अपनी स्वतंत्रता स्थापित कर चुके थे।

स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद अमेरिकियों ने सर्वप्रथम अत्याचारी सम्राट और भ्रष्ट पार्लियामेंट के विरुद्ध अपनी परंपरागत अंग्रेजी स्वतंत्रताओं की रक्षा की ओर ध्यान दिया और फिर स्वतंत्रता की संपूर्ण नई भावना को विकसित करने का प्रयास प्रारंभ किया। 1787 में, जार्ज वाशिंगटन की अध्यक्षता में फिलाडेल्फिया में एक संवैधानिक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन (Convention) ने सरकार की संघीय प्रणाली (Federal System) अपनाने के लिए संविधान में व्यवस्था करने का प्रस्ताव पारित किया, इस प्रणाली के अंतर्गत राजनीतिक सत्ता को केंद्रीय सरकार तथा राज्यों के बीच विभाजित कर दिया गया। तदोपरांत अमेरिकी उपनिवेश संयुक्त राज्य अमेरिका के रूप में एक हो गए।

फ्रांसीसी क्रांति

कारण

आधुनिक युग में जिन महापरिवर्तनों ने पाश्चात्य सभ्यता को हिला दिया, उनमें फ्रांस की राजक्रांति सबसे अधिक नाटकीय और जटिल साबित हुई। इस क्रांति ने केवल फ्रांस के ही नहीं अपितु समस्त यूरोप के जनजीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया। यूरोपवासियों के फ्रांस की इस क्रांति के कारणों को 18वीं शताब्दी के फ्रांस की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा में और ज्ञानोदय के युग (Age of Enlightenment) में समस्त यूरोप में फैले हुए विचारों में खोजा जा सकता है। विद्वानों के बीच इस विषय में मतभेद है कि इन दोनों परिस्थितियों में से कौन-सी परिस्थिति फ्रांसीसी क्रांति लाने के लिए अधिक जिम्मेदार थी। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस क्रांति में ज्ञानोदय के विचारों की भूमिका गौण रही और पुरानी शासन व्यवस्था की बुराइयां इतनी अधिक गंभीर थीं कि इस क्रांति से बचा ही नहीं जा सकता था। कुछ अन्य विद्वानों का विश्वास है कि क्रांति प्राथमिक रूप से उन दार्शनिकों एवं चिंतकों के द्वारा लाई गई जो ज्ञानोदय के विचारों द्वारा प्रभावित थे और पुरानी शासन व्यवस्था (Ancien Regime) की कमजोरियों को तो सुधारों के जरिए भी दूर किया जा सकता था; उसके लिए इतनी बड़ी क्रांति लाने की जरूरत नहीं थी।

फ्रांसीसी क्रांति के दौरान उन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दशाओं का पुरानी व्यवस्था के रूप में उल्लेख करने का एक रिवाज-सा चल प्रड़ा था, जो फ्रांस में 1789 से पहले मौजूद थीं। पुरानी व्यवस्था शब्द का प्रयोग आमतौर पर क्रांति-पूर्व यूरोप के जनजीवन तथा संस्थाओं के लिए किया

जाता है। राजनीतिक दृष्टि से, इस शब्द का अभिप्राय है निरंकुश शासकों का नौकरशाहों तथा सेनाओं की सहायता से शासन। आर्थिक दृष्टि से, यह शब्द उस स्थिति का द्योतक है जिसमें खेती की प्रधानता हो, माल का अभाव हो, परिवहन धीमा हो, वित्तीय संस्थाएं अनुभवहीन एवं अकुशल हों, और कुछ मामलों में प्रतिस्पर्धात्मक समुद्रपार वाणिज्यिक साम्राज्य विद्यमान हो। सामाजिक रूप से, क्रांति-पूर्व यूरोप की विशेषताएं थीं: एक विशिष्ट अभिजात वर्ग, जिसे वंशानुगत रूप से अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे, सुस्थापित रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट चर्च, शहरी श्रमिक बल जो आमतौर पर श्रेणियों (Guild) में संगठित था, और एक ग्रामीण कृषकवर्ग जिस पर ऊंचे करों तथा सामंती लगानों का भारी बोझ था।

इस प्रकार, 18वीं शताब्दी के यूरोपीय समाज को परंपरावादी कहा जाता था। सरकारों से बाहर के कुछ व्यक्ति ही इन सुधारों का, जिन्हें प्रशंसात्मक शैली में ज्ञानोदय (enlightenment) कहा जाता था, समर्थन करते थे। ज्ञानोदय आंदोलन 18वीं शताब्दी के दौरान विकसित हुआ और इसमें अनेक लेखक शामिल थे, जो भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न देशों में हुए थे। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा समकालीन सामाजिक तथा राजनीतिक बुराइयों को उजागर करने का काम किया और यह बताया कि 'सुधार' आवश्यक ही नहीं बल्कि संभव भी है। उन्होंने राजनीतिक अत्याचारों, धार्मिक दंडादेशों और निहितस्वार्थ वर्गों द्वारा उत्पन्न की गई बाधाओं का सामना किया।

इन सब विघ्न-बाधाओं के बावजूद 18वीं शताब्दी के मध्य भाग तक आते-आते, ये दार्शनिक, चिंतक तथा साहित्यकार यूरोप की जनता के समक्ष अनेक रूपों में 'ज्ञानोदय' के विचार लाने में सफल हो गए। वे परस्पर पत्र-व्यवहार करते थे, जनता के लिए अपनी रचनाएं तैयार करते थे, आपस में भी उनका आदान-प्रदान करते थे और राजनीतिक तथा धार्मिक सत्ताधारियों के विरुद्ध एक-दूसरे का बचाव करते थे। उन्होंने यूरोपवासियों को इस बात के लिए आश्वस्त कर लिया कि परिवर्तन लाना वस्तुतः एक अच्छा विचार है और उनके आश्वस्त हो जाने के बाद उन्होंने यह सुझाव देना शुरू कर दिया कि कौन-कौन से परिवर्तन सर्वाधिक वांछनीय हैं। इस संपूर्ण प्रक्रिया के दौरान ये दार्शनिक-चिंतक सम्मानित व्यक्ति बन गए। उनमें से कुछ प्रमुख मनीषी थे: वॉल्तेयर, जॉन लॉक, मॉन्टेस्क्यू और रूसो। उनके प्रबुद्ध विचारों, सरकारों द्वारा शक्ति के दुरूपयोग, अत्याचारपूर्ण सामाजिक संरचना और फ्रांसीसी राजतंत्र तथा अभिजात वर्ग के बीच लंबे समय से चल रहे विवादों ने अंततः एक नया राजनीतिक संकट उत्पन्न कर दिया। इस प्रकार, ब्रिटिश तथा अमेरिकी क्रांतियों की तरह फ्रांसीसी क्रांति भी उन बुनियादी तनावों तथा समस्याओं के कारण प्रारंभ हुई थी जो तत्कालीन समाज में व्याप्त थीं।

फ्रांसीसी राजतंत्र अपने वित्त की व्यवस्था ठीक से नहीं कर पाया और सात-वर्षीय युद्ध (1756-1763) द्वारा उत्पन्न हुए संकट से उबर नहीं सका। अमेरिकी स्वातंत्र्य युद्ध को भी फ्रांस ने जो समर्थन दिया था उसने भी फ्रांस में वित्तीय संकट को और गंभीर बना दिया। यह समस्या और भी अधिक उलझ गई जब सरकार कर लगाकर अपने आंतरिक संसाधनों को बढ़ाने में असफल रही और अपना कर्जा नहीं चुका सकी। यह द्रष्टव्य है कि उस समय फ्रांस में बड़ी विरोधाभास स्थिति थी।

लुई सोलहवें का चित्र

वैसे तो फ्रांस स्वयं एक धनाढ्य राष्ट्र था पर वहां की सरकार कंगाल हो चुकी थी क्योंकि वहां का अभिजातवर्ग और सामंतवर्ग, जिनमें पैसा अदा करने की क्षमता थी, कर नहीं चुका रहे थे और कृषकवर्ग जिनके पास पैसा चुकाने का कोई साधन ही नहीं था, पैसा अदा करने में असमर्थ था।

क्रांति की पूर्व-संध्या को फ्रांस लुई सोलहवें के शासन में था (जिसने 1774 से 1792 तक राज किया)। ईमानदार, उत्साही, गंभीर पर फूहड़, ढुलमुल और जिद्दी व अड़ियल लुई सोलहवां जब घटिया किस्म के षड्यंत्रों या शिकार एवं खाने-पीने में लगा रहता था तो अपने आपको सुखी महसूस करता था क्योंकि वह ऐसे कामों में बड़ा माहिर था। उसके लिए उसकी पत्नी मैरी ऐंतोनेत जो महारानी मारिया थेरेसा के सोलह बच्चों में सबसे छोटी संतान थी, उसके लिए एक गंभीर बाधा बनी हुई थी। उसकी शिक्षा-दीक्षा अच्छी तरह नहीं हुई थी। वह फिजूलखर्ची करती थी और वर्साय के राजमहल के कृत्रिम वातावरण में अपने चाटुकारों से घिरी हुई शान से अपना जीवन बिताती थी, उसे सम्राट या जनता के दुख-दर्द की कोई चिंता नहीं थी। फ्रांस के देशभक्त लोगों को तो वह हमेशा सात-वर्षीय युद्ध के दौरान ऑस्ट्रिया के साथ की गई दुर्भाग्यपूर्ण मैत्री की याद दिलाती रहती थी।

1786-1788 के दौरान, लुई सोलहवें ने वित्तीय संकट से निपटने के लिए अनेक मंत्री नियुक्त किए। उनका काम फ्रांसीसी सामंतों तथा चर्च को इस बात के लिए राजी करने के उपाय खोजना था कि वे अधिक कर अदा करें। जब भी उन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया वे असफल ही रहे। जब कर लगाने के मामले में बातचीत लंबी खिंच रही थी तभी पेरिस की संसद ने यह स्थिति अपनाई कि उसे नए कर लगाने का प्राधिकार नहीं है; बल्कि 'ऐस्टेट्स जनरल' नाम की समिति ही ऐसा
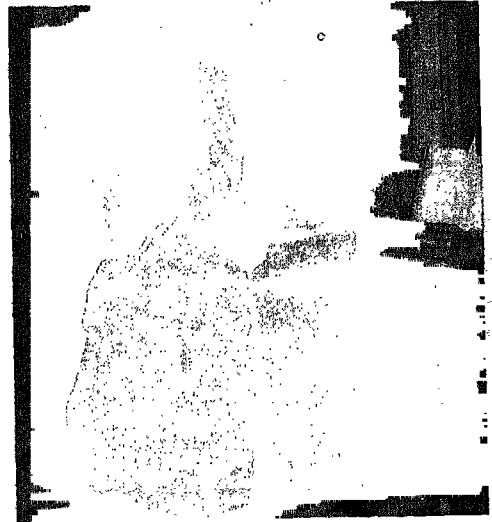
मैरी ऐंतोनेत

कर सकती है। ऐस्टेट्स जनरल समिति 1614 से एक बार भी नहीं बैठी थी। परिणामस्वरूप, परिस्थितियों के दबाव में आकर जुलाई 1788 में, लुई सोलहवां अगले वर्ष ऐस्टेट्स जनरल की बैठक बुलाने के लिए सहमत हुआ। अब ऐस्टेट जनरल की बैठक में बैठने की व्यवस्था के बारे में कठिनाइयां खड़ी हो गईं। इस निकाय में तीन वर्गों के सदस्य थे अर्थात् पादरी वर्ग (Clergy), सामंत वर्ग और मध्य वर्ग जो *बुर्जुआ* कहलाता था। इस तीसरे वर्ग को 'थर्ड एस्टेट' भी कहा जाता था। पहले दो वर्ग आमतौर पर तृतीय वर्ग के साथ बैठना पसंद नहीं करते थे।

एस्टेट्स जनरल की बैठक से पहले जनता में व्यापक रूप से चर्चा होती रही और उस चर्चा से यह स्पष्ट हो गया कि तृतीय एस्टेट या मध्य वर्ग राजतंत्र तथा अभिजात वर्ग को अकेले राष्ट्र का भविष्य निर्धारित करने की इजाजत नहीं देगा।

जब ऐस्टेट्स जनरल की बैठक बुलाई गई तो प्रथम तथा द्वितीय एस्टेटों ने अपनी बैठक अलग से की। तृतीय एस्टेट इस व्यवस्था को सहन करने के लिए तैयार नहीं था। इसलिए इसके नेताओं ने मांग की कि तीनों ऐस्टेट एक साथ बैठें और व्यक्तिशः मत (वोट) डालें। इसके अतिरिक्त, तृतीय एस्टेट के प्रतिनिधियों की संख्या प्रथम तथा द्वितीय ऐस्टट के सदस्यों की संख्या से दोगुनी होनी चाहिए। तृतीय एस्टेट के सदस्यों की संख्या दोगुनी करने के प्रश्न पर भंयकर वाद-विवाद हुआ लेकिन कोई निर्णय नहीं हुआ, समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। लुई सोलहवें ने फिर मई 1789 में एस्टेट्स जनरल की बैठक बुलाई। वर्साय में एस्टेट्स जनरल की बैठक का प्रारंभ होने के तुरंत बाद ही तृतीय एस्टेट ने सम्राट के रुख से क्रुद्ध होकर एस्टेट्स जनरल को छोड़ देने का क्रांतिकारी कदम उठाया और उसने अपने आपको फ्रांस की राष्ट्रीय विधान सभा (National Assembly) घोषित कर दिया। इसके बाद नेशनल एसेंबली के नेताओं ने यह शपथ ग्रहण की कि जब तक वे फ्रांस के संविधान का मसौदा तैयार नहीं कर लेंगे, अलग नहीं होंगे। 20 जून 1789 को टेनिस कोर्ट में ली गई इस शपथ ने वास्तव में फ्रांसीसी क्रांति की शुरुआत कर दी। उसके बाद राष्ट्रीय विधानसभा ने अपना नाम राष्ट्रीय संविधान सभा (National Constituent Assembly) रख लिया। इस संविधान सभा में सभी तीनों ऐस्टेटों के व्यक्ति थे, जिन्होंने देश के प्रशासनिक, संवैधानिक और आर्थिक सुधारों के लिए उदारवादी लक्ष्य अपनाए।

फ्रांसीसी क्रांति के दौरान आगे चलकर जुलाई से अक्तूबर 1789 के बीच जनता ने भारी उपद्रव किए। इन घटनाओं में शहरी या ग्रामीण, दोनों क्षेत्रों की जनता ने मिलकर हिस्सा लिया। इस अवधि की सर्वाधिक प्रसिद्ध घटनाओं में एक थी बस्तील का पतन। जुलाई में, पेरिस के चुनाव कर्ताओं ने एक नई नगर सरकार बनाई और उसी समय नेशनल गार्ड राष्ट्रीय सैन्य संगठन भी स्थापित किया गया, जो राष्ट्रीय विधान सभा के प्रति वफादार था।

राष्ट्रीय गार्ड को हथियारों की जरूरत थी। हथियार हथियाने का पक्का इरादा करके उन्होंने 14 जुलाई को बस्तील की ओर कूच किया। इसी समय नागरिक उपद्रवकारियों का भी झुंड जमा हो गया। बस्तील एक पुराना किला था जिसका उपयोग कई वर्षों से कारावास के साथ-साथ तोप-बंदूकों तथा गोला-बारूद के भंडारघर के रूप में भी किया जा रहा था। यह औशियां रेज़ीम (*Ancien Regime*-पुरानी शासन व्यवस्था) का प्रतीक था।

किले के गवर्नर ने भीड़ पर गोलियां चलाने का हुक्म दे दिया। इस गोलाबारी में 98 लोग मारे गए और सैकड़ों घायल हो गए। इसके बाद भीड़ ने किले को घेर लिया और उस पर कब्जा कर लिया। यह घटना पुरानी शासन व्यवस्था के विनाश का प्रतीक थी।

अन्य दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी डबलरोटी (Bread) की कमी जो सूखे तथा फसल के व्यापक विनाश के परिणामस्वरूप हुई थी। अक्तूबर 1789 में, औरतें डबलरोटी की ऊंची कीमतों के कारण क्रुद्ध हो गईं और उनके क्रोध की ज्वाला में सम्राट के बर्ताव के बारे में उड़ाई गई इस अफवाह ने घी का काम किया कि वह विधान सभा के साथ सहयोग करने के लिए तैयार नहीं हैं। बस फिर क्या था। औरतों ने वर्साय की ओर इस मांग के साथ कूच कर दिया कि सम्राट वापस पेरिस लौट आए। महारानी के बर्ताव के बारे में उड़ी अफवाहों ने भी उनको भड़का दिया। ऐसा कहा जाता है कि जब महारानी से यह कहा गया कि लोगों के पास खाने के लिए रोटी (ब्रेड) नहीं है तो उसने कठोरता से कहा कि 'उनके पास ब्रेड नहीं है तो केक खाएं'। यह कहानी पेरिस के उन समाचारपत्रों में बार-बार छापी गई जो महारानी की निंदा में मजा ले रहे थे। राष्ट्रीय गार्ड के सैनिक आंदोलनकारियों के प्रति सहानुभूति रखते थे और इसलिए वे सारी भीड़ को वापस पेरिस ले गए। इस प्रकार, पेरिस जो तब तक पुरानी शासन व्यवस्था का केंद्र था, अब वहां नई व्यवस्था का अरुणोदय हो गया।

इसी बीच अगस्त 1789 में, राष्ट्रीय संविधान सभा ने यह निश्चय किया कि नए संविधान को लिखने से पहले, वह स्थूल रूप से राजनीतिक सिद्धांतों का एक विवरण तैयार करे। 27 अगस्त को संविधान सभा ने *मानव तथा नागरिक के अधिकारों की घोषणा* (The Declaration of the Rights of Man and Citizen) जिसके द्वारा यह उद्घोषित किया गया कि सभी मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुए हैं और वे सदा स्वतंत्र और अधिकारों के मामले में एकसमान रहेंगे। इस प्रकार, जिन प्राकृतिक एवं स्वाभाविक अधिकारों की उद्घोषणा की गई थी वे थे : स्वतंत्रता, संपत्ति, सुरक्षा तथा अत्याचार का प्रतिरोध। इन सब अधिकारों की रक्षा करना सरकार का काम है, उसी के लिए उसका अस्तित्व है। संपूर्ण राजनीतिक प्रभुसत्ता राष्ट्र में और उसके प्रतिनिधियों में निहित है। अकसर अधिकारों की इस घोषणा को पुरानी शासन व्यवस्था की मृत्यु का प्रमाण-पत्र समझा जाता है। इसके बाद 1792 की गर्मियों तक फ्रांस में कुछ स्थिरता तथा शांति बनी रही।

1791 में राष्ट्रीय संविधान सभा ने देश के लिए एक नया संविधान तैयार करने का प्राथमिक कार्य पूरा कर लिया। संविधान में मध्य वर्ग के लिए एक प्रभावशाली स्थिति की व्यवस्था की गई। सरकार को एक सीमित राजतंत्र के रूप में बदल दिया गया जिसमें सम्राट के पास कोई शक्ति नहीं थी। यद्यपि सभी नागरिक, नागरिक अधिकारों के मामले में एक बराबर थे, लेकिन वोट (मत) देने का अधिकार उन्हीं को दिया गया जो करों के रूप में कतिपय धनराशि अदा करते थे अथवा जिनके पास एक निश्चित मात्रा में संपत्ति मौजूद थी। राष्ट्रीय विधान सभा स्थापित की गई और उसे युद्ध तथा संधि करने की शक्ति सौंपी गई। चर्च की जमीनें छीन ली गईं और बिशपों की शक्तियां काफी हद तक सीमित कर दी गईं। सर्वजनीन

पुरुष मताधिकार के आधार पर चुनावों के लिए विधान सभा का सत्र बुलाया गया। नए निर्वाचित निकाय को राष्ट्रीय सभागम (National Convention) कहा गया।

क्रांति के प्रारंभिक दिनों से ही, पेरिस में समान राजनीतिक विचारधारा के लोगों के अनेक क्लब संगठित हो गए थे। इनमें से सर्वाधिक सुगठित क्लब जैकोबिन लोगों का था जिसकी बैठक सेंट जैक्वेस के मठ में हुई थी और इसी कारण उसका यह नाम पड़ा था। यह क्लब प्रांतों में स्थित अन्य स्थानीय क्लबों से जुड़ा था। अन्य समूह थे जिरोंदिस और सौं-कुलोत (उग्र-क्रांतिकारी)। सौं-कुलोत पेरिस के आम लोग थे। वे अपने विचारों में सम्राट-विरोधी तथा आमूल परिवर्तनवादी थे, लेकिन जैकोबिन लोगों के साथ मिले हुए थे। राष्ट्रीय सभागम ने दिसंबर 1792 में लुई सोलहवें पर मुकदमा चलाया और उसे बहुत कम बहुमत से जनता की स्वतंत्रता तथा राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध षड्यंत्र करने का अपराधी ठहरा दिया गया। मतदान के बाद चौबीस घंटों के भीतर ही लुई सोलहवें को फांसी पर लटका दिया गया। उसने जिस साहस और गरिमा के साथ मृत्यु का आलिंगन किया उसे देखकर विरोधी भीड़ भी गदगद हो गई।

सम्राट को मृत्युदंड दिए जाने के बाद घटनाचक्र बहुत तेजी से घूमा। इग्लैंड, स्पेन, हालैंड, प्रशा और ऑस्ट्रिया ने फ्रांसीसी गणराज्य के विरुद्ध एक गठबंधन स्थापित कर लिया। इसी समय फ्रांस में गृहयुद्ध छिड़ गया। जक-ओ-बिन शासन के सर्वाधिक विवादग्रस्त पहलू थे : उसका आर्थिक कार्यक्रम और 'आतंक राज्य'। उसका 'आतंक राज्य' जो अक्तूबर 1793 में अपने चरमोत्कर्ष पर था, लगभग एक वर्ष तक रहा। इस दौरान सरकार का विरोध करने वाले लोगों पर मुकदमा चलाने
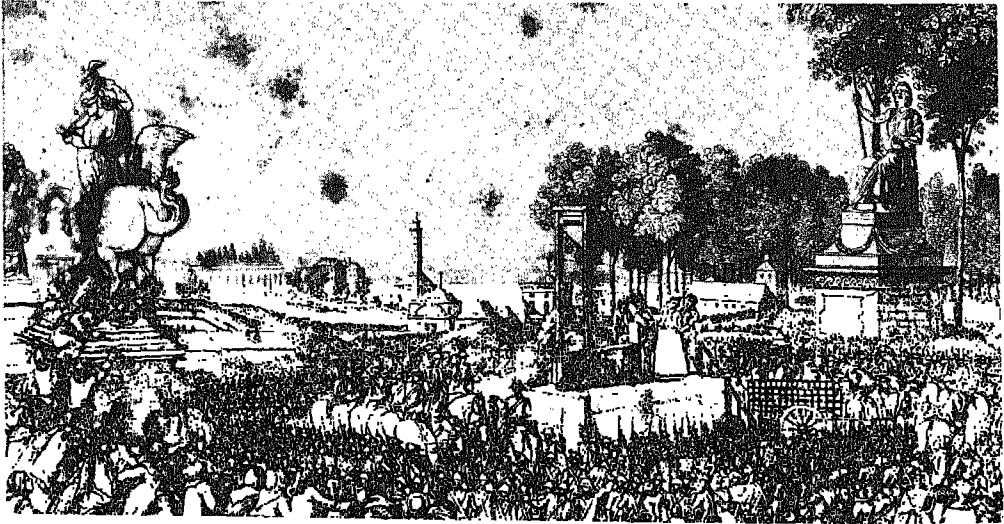
आतंक का शासन - महारानी मैरी ऐंतोनेत - फांसी पर चढ़ने से पहले

के लिए न्यायाधिकरण (Tribunals) स्थापित किए गए। अंततोगत्वा, 15,000 लोगों को जिनमें महारानी मैरी भी शामिल थी, मौत के घाट उतार दिया गया। किंतु दबाव के अंतर्गत आतंक-राज्य प्रतीक ये विशेष न्यायालय समाप्त कर दिए गए और जक-ओ-बिन क्लब बंद कर दिया गया।

1795 के प्रारंभिक दिनों में राष्ट्रीय सभागम ने एक नया गणतंत्रात्मक संविधान तैयार किया जिसके अंतर्गत उसे नए संसद का चुनाव करने और उसे समाप्त करने की शक्ति प्रदान की गई। नया संविधान 1795 से 1799 तक लागू रहा। उसके अंतर्गत गणतंत्रात्मक सरकार की एक प्रणाली स्थापित की गई जिसे 'निदेशिका' (Directory) कहा जाता है क्योंकि सरकार चलाने के लिए इसकी कार्यकारिणी में पांच निदेशक (Directors) थे। इस अवधि में, नेपोलियन बोनापार्ट ने राज सत्ता प्राप्त कर ली। नेपोलियन का जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था। उसने अपना सक्रिय जीवन सेना के तोपखाना प्रभाग में एक लेफ्टिनेंट के रूप में प्रारंभ किया था। उसने एक सैन्य नेता के रूप में अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया और चूंकि वह अपना विज्ञापन करने में भी बहुत चतुर था, इसलिए वह शीघ्र ही फ्रांस में एक लोकप्रिय वीर-नेता बन गया।

नेपोलियन बोनापार्ट 1794 में फ्रांस के प्रथम कांसुल के रूप में

नेपोलियन बोनापार्ट

1799 में, डायरेक्टरी शासन का तख्तापलट कर, नेपोलियन, प्रथम कांसुल (First Consul) बन गया और उसने एक तरह से तानाशाही शक्तियां ही हथिया लीं। उसने जनमत-संग्रह (Plebiscite) करवाया जिसमें 99.9 प्रतिशत मतदाताओं ने उसकी नई शासन व्यवस्था को अनुमोदित कर दिया। प्रारंभ में नेपोलियन की उपलब्धियों ने औसत फ्रांसीसी जन की आकांक्षाओं को पूरा कर दिया। अनेक विजयों की शृखंला के बाद वह फ्रांस के शत्रुओं के साथ भी शांति संधि स्थापित करने में सफल रहा। इन संधि तथा शांति स्थापना के कार्यों से प्रशासक के रूप में उसकी योग्यता सिद्ध हो गई। 1799 से 1804 तक, उसने अनेक सुधार लागू किए। वित्तीय उपायों की शृंखला के द्वारा बढ़ती हुई मुद्रास्फीति (मूल्यवृद्धि) को रोक दिया

गया। उनके बाद बैंक ऑफ फ्रांस की स्थापना हो गई। उसने पोप-शासन के साथ काफी समय से चल रहे उस विवाद को भी सुलझा लिया, जो 1789 में चर्च की जमीनों को जब्त किए जाने के कारण प्रारंभ हुआ था। इसके लिए उसने यह घोषित कर दिया कि कैथोलिकवाद ही बहुसंख्यक फ्रांसीसियों का धर्म है। फ्रांसीसी कानून को संहिताबद्ध करने का काम भी इसी समय पूरा किया गया, इसीलिए उस संहिता को नेपोलियन कोड (संहिता) के नाम से पुकारा जाता है। यह संहिता भविष्य में फ्रांसीसी कानून-प्रणाली का आधार बनी रही।

1804 तक आते-आते नेपोलियन प्रथम कांसुल के पद से संतुष्ट नहीं रहा। एक बार फिर जनमत-संग्रह कराया गया और उसने उसे वह सब बनने व करने का प्राधिकार दे दिया जो वह चाहता था और दिसंबर 1804 में एक दिन उसने पोप पिअस सप्तम की उपस्थिति में स्वयं अपने हाथों अपने सिर पर राजमुकुट धारण कर लिया और इस प्रकार अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया। इसी के साथ, बहुत-से गणराज्य जो फ्रांस द्वारा नियंत्रित थे वे अधीनस्थ राज्यों में बदल दिए गए जहां सत्ता की बागडोर नेपोलियन के भाइयों के हाथों में सौंप दी गई।

इसी बीच युद्ध फिर से शुरू हो गया। इंग्लैंड की संधि ने नेपोलियन को अपनी निजी योजना के अनुसार यूरोप के राजनीतिक ढांचे को पुनर्गठित करने की अनुमति नहीं दी। इसलिए 1803 में
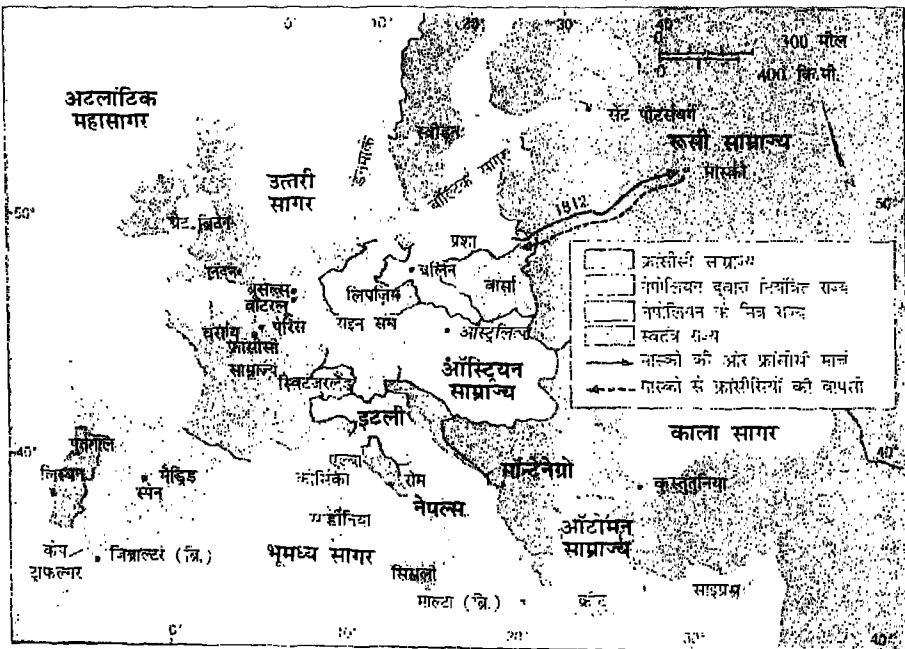
1810 में नेपोलियन का साम्राज्य

शांति का संक्षिप्त अंतराल समाप्त हो गया। नेपोलियन ने ऑस्ट्रिया, प्रशा, इटली और जर्मनी के विरुद्ध लड़ाइयों में जीत हासिल की। इंग्लैंड से अभी निपटना बाकी था। अंग्रेज़ों को हथियारों के जोर से परास्त करना कठिन समझकर उसने आर्थिक युद्ध के सहारे उन्हें काबू में करने का निश्चय किया। यह नीति 'यूरोपीय प्रणाली' (Continental System) के नाम से भी जानी जाती है। इस प्रणाली को लागू करने के लिए, कई आज्ञप्तियां जारी करके यूरोपीय देशों को कहा गया कि वे अंग्रेजी माल न खरीदें। लेकिन यूरोपीय प्रणाली में कई अपनी ही खामियां थीं क्योंकि यूरोप अंग्रेजी माल के बिना अपना काम नहीं चला सकता था। इसके परिणामस्वरूप तस्करी का धंधा जोर पकड़ गया और नेपोलियन को मजबूर होकर स्वयं इस ओर अपनी आंखें बंद करनी पड़ी। पुर्तगाल और स्पेन खुले तौर पर अंग्रेजी माल खरीदते रहे। इस प्रकार इस प्रणाली ने यूरोप के भीतर नेपोलियन के विरुद्ध आक्रोश उत्पन्न कर दिया।

नेपोलियन ने रूस पर आक्रमण करके अपने जीवन का सबसे बड़ा जुआ खेला। 1812 में, 5,00,000 सैनिकों की विशाल सेना के साथ उसने रूस पर चढ़ाई कर दी। उसकी सेना में नेपोलियन के साम्राज्य के सभी भागों से अनिवार्य रूप से भर्ती किए गए सैनिक भी शामिल थे। उसने मास्को में घुसकर अपनी विजय-पताका फहरा दी, लेकिन उसकी यह जीत जल्दी ही विश्व इतिहास की एक सर्वाधिक भयंकर सैन्य विपदा में बदल गई। अक्तूबर से दिसंबर तक के तीन ही महीनों में उसकी 5,00,000 सैनिकों की विशाल सेना, भोजन-वस्त्र के अभाव में और भयंकर सर्दी तथा बीमारियों के कारण, आधी ही रह गई।

नेपोलियन के मास्को अभियान ने उसके पतन की शुरुआत कर दी। संपूर्ण यूरोप फिर उसके विरुद्ध खड़ा हो गया। 1813 में, उसे लिपज़िग के समीप एक लड़ाई में करारी हार खानी पड़ी। लेकिन नेपोलियन बाल-बाल बच गया और उसने इटली के एल्बा द्वीप में शरण ली। मित्र शक्तियों ने लुई अठारहवें को राजगद्दी पर बैठाकर बूरबोन राजवंश का शासन पुनःस्थापित कर दिया। 1815 में, नेपोलियन ने वापस आने का निश्चय किया। किंतु इस बार फ्रांस के लोगों ने पूरे दिल से उसका साथ नहीं दिया। इसी बीच, मित्र शक्तियों ने फिर उसके साथ युद्ध छेड़ दिया। परिणामस्वरूप, वाटरलू की प्रसिद्ध लड़ाई में नेपोलियन ने अपनी आखिरी हार का मुंह देखा और उसने ब्रिटिश सेनाओं के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। उसे तुरंत दक्षिण अटलांटिक महासागर में स्थित सेंट हेलेना द्वीप में जहाज से भेज दिया गया, जहां छः वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई। लुई अठारहवें को फिर फ्रांस के सम्राट के रूप में राजसिंहासन पर विराजमान कर दिया गया।

इटली का एकीकरण

1848 से 1875 तक के पच्चीस वर्षों में, यूरोप में अनेक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हुए। ये राजनीतिक परिवर्तन तीन आदर्श शब्दों "स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व" पर आधारित थे। इन शब्दों का अर्थ था व्यक्तिगत राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक समानता और राष्ट्रीय एकता के आधार पर भ्रातृत्व यानी भाईचारे की भावना।

तब इटली देश एक भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र था और कई राज्यों में बंटा हुआ था। इटली के राष्ट्रवादी लोग बहुत समय से चाह रहे थे कि
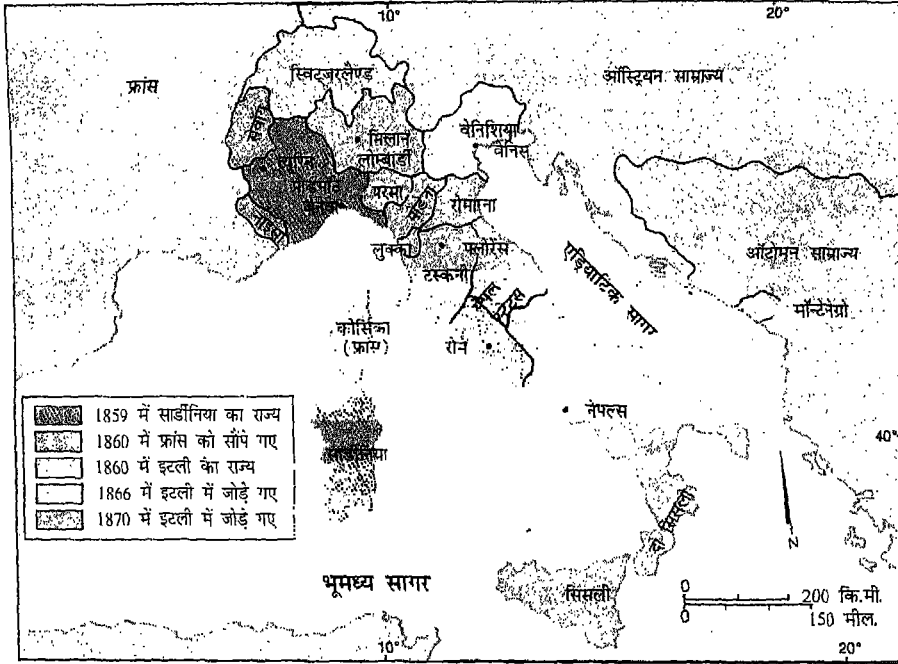
इटली का एकीकरण 1859-1870

इटली के प्रायद्वीप के छोटे-छोटे निरंकुशतावादी राजे-रजवाड़े एक बड़े राज्य के रूप में समेकित हो जाएं, लेकिन इस उद्देश्य को प्राप्त करने के साधनों के बारे में सहमति नहीं बन पा रही थी। धार्मिक विचारधारा वाले देशभक्तों के विचार से सबसे व्यावहारिक हल यह था कि पोप की प्रधानता में इटली के राज्यों का एक संघ बना दिया जाए। दूसरी ओर, उदार राष्ट्रवादी, एक संवैधानिक राजतंत्र का समर्थन कर रहे थे।

काउंट कैमिलो बेंस डि कैवूर, गिस्सेप्प माज़िनी और गैरिबाल्डी इस एकीकरण आंदोलन के नेता बन गए। कैवूर, पीडमोंट राज्य, जिसे सार्डीनिया राज्य भी कहा जाता था, का शाही मंत्री था।

गिस्सेप्प माज़िनी

उसकी नीति यह थी कि इटली को एक लोकतंत्रात्मक गणराज्य के रूप में एकीकृत किया जाए और उसकी इस नीति को उसके राजा विक्टर एम्मान्यूएल द्वितीय का भी समर्थन प्राप्त था। मैजिनी भी एक "स्वतंत्र, स्वाधीन और गणतंत्रात्मक इटली" का पक्षधर था। इसके लिए उसने इटली के युवकों को प्रेरित किया, जो यूरोप के अन्य देशों के लिए भी उदाहरण बन गए।

इटली के प्रायद्वीप के एकीकरण के लिए अभियान ऑस्ट्रियाइयों को बाहर निकालने के प्रयत्नों के साथ प्रारंभ हुआ। सार्डीनिया ने 1848-1849 में ऑस्ट्रिया के विरुद्ध लड़ा पर सफल नहीं हुआ। 1852 में, सार्डीनिया के नए राजा विक्टर एम्मान्यूएल द्वितीय ने कैमिलो कैवूर को अपना मंत्री चुना। कैवूर का विचार था कि यदि इटलीवासी अपने आपको कुशल एवं आर्थिक दृष्टि से प्रगतिशील साबित कर दें तो बड़ी शक्तियां इटली की स्वशासन की योग्यता को मान लेंगी। उसने मुक्त व्यापार, रेल निर्माण, आर्थिक विस्तार और कृषि की उन्नति के लिए काम किया। उसने एक राष्ट्रवादी समाज की भी स्थापना की और सार्डीनिया के नेतृत्व के अंतर्गत अन्य इतालवी राज्यों में इटली के एकीकरण का समर्थन करने के उद्देश्य से समाचारपत्रों के प्रकाशन के लिए एक मुद्रणालय (छापाखाना) भी स्थापित किया। कैवूर का यह भी विश्वास था कि इटली का एकीकरण फ्रांस की सहायता से ही संभव होगा। इसलिए, कैवूर ने रूस के विरुद्ध क्रीमिया के युद्ध में फ्रांस तथा ब्रिटेन का साथ इस आशा से दिया था कि शांति सम्मेलन में इटली के एकीकरण का प्रश्न उठाया जा सकेगा।

जून 1859 में, ऑस्ट्रिया और सार्डीनिया के बीच युद्ध छिड़ गया। जिसमें ऑस्ट्रिया की हार हुई और उसे उत्तरी इटली के अधिकांश भागों में से बाहर खदेड़ दिया गया। लेकिन इस अवसर पर, फ्रांस ने कैवूर के साथ धोखा किया और उसने अप्रत्यक्ष रूप से ऑस्ट्रिया का साथ दिया। यहां तक हुआ कि लम्बार्डी सार्डीनिया के नियंत्रण में आ गया और परमा, मोडेना, टस्कैनी और रोमाग्ना ने सार्डीनिया के साथ जुड़ने के लिए अपना मत दिया। 1860 में, गैरीबाल्डी के अधीन गणतंत्रात्मक (Republican) सेनाओं ने दक्षिणी इटली में सिसिली, पलेरमो और नेपल्स पर जीत हासिल कर ली। इसके अलावा, कैवूर दस्तों ने रोम के चारों ओर के क्षेत्र को छोड़कर जो सीधे पोप के नियंत्रण में रहा, पोप के शेष राज्यों पर अधिकार कर लिया।

गैरीबाल्डी का राष्ट्रवाद गणतंत्रवाद के सामने झुक गया और उसने अप्रसन्नतापूर्वक सार्डीनिया का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। 1860 के दशक के उत्तरार्द्ध में दक्षिणी इटली के राज्य सार्डीनिया द्वारा निर्मित उत्तरी संघ के साथ जुड़ गए। मार्च 1861 में विक्टर एम्मान्यूएल द्वितीय को एकीकृत इटली का राजा घोषित कर दिया गया। नया राज्य चार्ल्स एलबर्ट द्वारा 1848 में विख्यापित अनुदारवादी (Conservative) संविधान द्वारा शासित होने लगा। नए एकीकृत इटली के राज्यों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जो कुछ मामलों में 20वीं शताब्दी के दौरान भी राष्ट्र को प्रभावित करती रहीं। इटली के पास फ्रांस और जर्मनी जैसा संसाधनों का सुदृढ़ आधार नहीं था और ब्रिटेन जैसा समुद्रपार व्यापार भी नहीं था।

जर्मनी का एकीकरण

जर्मनी के एकीकरण से पहले उनतालीस जर्मन राज्य, जिन्होंने पुराने पवित्र रोम साम्राज्य का स्थान

ऑटो वॉन बिस्मार्क

ग्रहण किया था, एक संगठन के रूप में एक साथ बंधे, जिसे जर्मन परिसंघ (Confederation) कहा जाता था। इटलीवासियों की सफलता ने जर्मनी में भी राष्ट्रवादी आकांक्षाओं को सबल बना दिया। उनके एकीकरण का स्वरूप भी इटली जैसा ही था। जर्मनी में यह कार्य ऑटो वॉन बिस्मार्क (1815-1898) द्वारा संपन्न किया गया, जिसने यूरोप के अगले तीस वर्ष के इतिहास को रूप प्रदान किया। बिस्मार्क ने अपना राजनीतिक जीवन 1848 के विक्षुब्ध वर्ष में शाही विशेषाधिकार के प्रबल समर्थक एवं रक्षक के रूप में प्रारंभ किया। इसके पुरस्कारस्वरूप, राजा विल्हेल्म प्रथम ने उसे जर्मन परिसंघ की फ्रैंकफर्ट डायट में प्रशा के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया। फ्रैंकफर्ट के बाद उसने सेंट पीटर्सबर्ग और फिर पेरिस में प्रशा के राजदूत के रूप में अपनी सेवाएं प्रदान कीं। इसी बीच, अपने ही देश में राजा विल्हेल्म प्रथम को प्रशा की संसद में उदारवादियों (liberals) की ओर से तकलीफें सहनी पड़ रही थीं। संसद ने सेना में सुधार लाने के लिए धनराशि मंजूर करने से इनकार कर दिया था, जबकि सेना के जनरल बार-बार इसकी मांग कर रहे थे। जब विल्हेल्म प्रथम राजगद्दी छोड़ने ही वाला था, तभी उसने चांसलर के पद का कार्यभार संभालने के लिए बिस्मार्क को वापस बुला लिया।

प्रारंभ से ही बिस्मार्क ने उदारवादियों से मिलकर अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी। उसने घोषित किया कि वर्तमान बड़े प्रश्नों को न तो संसद द्वारा और न ही संसदीय उपायों द्वारा हल किया जाएगा बल्कि उन्हें 'खून और खड्ग' से यानी कठोरतापूर्वक सुलझाया जाएगा। सेना ने और अधिकांश नौकरशाही ने उसकी नीतियों का समर्थन किया।

1863 के नए चुनावों में संसद में उदारवादियों को फिर बहुमत मिल गया। इसलिए बिस्मार्क को उदारवादियों से जनता का समर्थन छीनकर राजतंत्र तथा सेना के पक्ष में करने के लिए कुछ और उपाय ढूंढ़ने पड़े। इसके लिए उसने प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण का लक्ष्य निर्धारित किया। इस कार्य में उसने जनता का ध्यान घरेलू मामलों से हटाकर विदेशी मामलों की ओर मोड़ने में सफलता प्राप्त की। 1864 में, उसने श्लेशविग और होल्स्टीन क्षेत्रों के प्रश्नों पर डेनमार्क के साथ युद्ध छेड़ दिया। ये दोनों क्षेत्र काफी लंबे समय से डेनमार्क के राजा द्वारा प्रशासित हो रहे थे। ऑस्ट्रियाइयों ने इस युद्ध में प्रशा का साथ दिया और डेनमार्क को हटाकर उन्होंने दोनों क्षेत्रों के प्रशासन में अपनी हिस्सेदारी प्राप्त कर ली। तत्पश्चात्, बिस्मार्क ने प्रशा तथा ऑस्ट्रिया के बीच युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में फ्रांस तथा इटली का

समर्थन प्राप्त करने के लिए उनसे अलग-अलग संधियां कर लीं। 1866 की गर्मियों में, श्लेशविग तथा होल्स्टीन के प्रशासन के विवाद को लेकर ऑस्ट्रिया तथा प्रशा के बीच लड़ाई छिड़ गई। इस लड़ाई में प्रशा की जीत हुई और उसके बाद प्राग की संधि के द्वारा ऑस्ट्रिया के हैब्सबर्गों को जर्मनी के मामलों से अलग कर दिया गया। अब प्रशा, जर्मन राज्यों में अकेला बड़ी शक्ति बन गया था। 1867 में, प्रशा ने मेन नदी के उत्तर में स्थित सभी जर्मन राज्यों को अपने में मिला लिया और उनके शासक राजवंशों को गद्दी से हटा दिया।

प्रशा और नए निगमित राज्यों ने मिलकर उत्तरी जर्मन परिसंघ (North German Confederation) बना लिया और प्रशा इस परिसंघ का निर्विवाद नेता बन गया। इस परिसंघ के संविधान में, जो 1871 के बाद जर्मन साम्राज्य का शासी दस्तावेज बन गया, निचले विधान सदन यानी राइख्सटाग की व्यवस्था की गई जिसका चुनाव सर्वजनीन पुरुष मताधिकार के द्वारा होता था। राइख्सटाग के पास वास्तव में कोई खास शक्ति नहीं थी और उसके सदस्य जानते थे कि सेना हमेशा राजा और उसके मंत्री का ही साथ देगी।

बिस्मार्क अब उस मौके का इंतजार कर रहा था जब दक्षिणी जर्मनी के राज्यों को परिसंघ में लाकर एकीकरण की प्रक्रिया को पूरा करे और वह मौका भी एक जटिल कूटनीति के फलस्वरूप
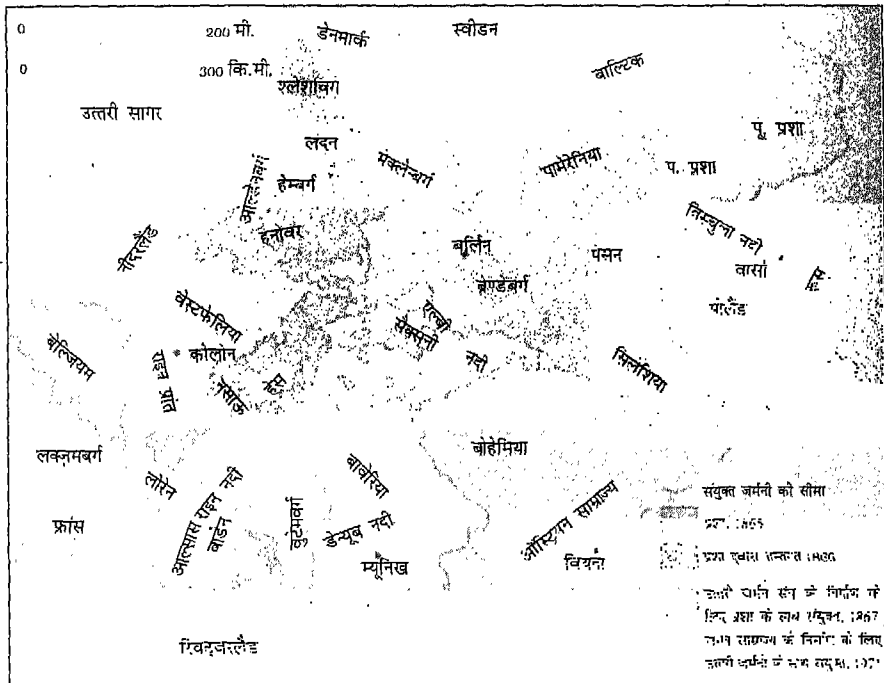
जर्मनी का एकीकरण, 1866-1871

आ गया जब प्रशा के विल्हेल्म प्रथम के चचेरे भाई को स्पेन का शासक बनाने की संभावना उत्पन्न हो गई। फ्रांस ने इस विचार का विरोध किया। बिस्मार्क ने इस बातचीत के बारे में तैयार की गई एक प्रेस विज्ञप्ति का स्वयं इस प्रकार संपादन किया कि जिससे यह प्रतीत हो कि विल्हेल्म प्रथम ने फ्रांसीसी राजदूत का अपमान किया है, हालांकि यह बात सच नहीं थी। नेपोलियन तृतीय (जो प्रसिद्ध नेपोलियन बोनापार्ट का भतीजा था) की फ्रांसीसी सरकार तुरंत बिस्मार्क के झांसे में आ गई और जुलाई 1870 में फ्रांस ने प्रशा के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। लेकिन जब एक बार युद्ध शुरू हो गया तो दक्षिणी जर्मनी के राज्य प्रशा के साथ हो गए। पहली सितंबर को, सेडान की लड़ाई में, जर्मनी ने न केवल फ्रांस की सेना को हराया बल्कि नेपोलियन तृतीय को भी पकड़ लिया। सितंबर के आखिरी दिनों में पेरिस को भी घेर लिया गया। अंततः 28 जनवरी 1871 को उसने घुटने टेक दिए। इससे दस दिन पहले, वर्साय के राजमहल के शीश-कक्ष में एकीकृत जर्मन साम्राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी गई। नए संघ के अंतर्गत, दक्षिणी राज्यों के शासकों ने अपने-अपने राज्य के अध्यक्ष का पद संभाले रखा।

19वीं शताब्दी में हुए जर्मनी के इस एकीकरण ने यूरोप के बीचोबीच एक प्रबल एवं संशक्त राज्य की स्थापना कर दी। इसमें उदारवादी सरकार के कुछ विशिष्ट लक्षण थे, लेकिन शक्ति का केंद्र राजतंत्र तथा सैन्य तंत्र ही बना रहा। बिस्मार्क की 'खून और खड्ग' की कठोर नीति की सफलता ने जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उसके परिणामस्वरूप जर्मनी में सैन्यवाद (militarism) और सत्तावाद (authoritarianism) को पोषण मिला।

अभ्यास

1. पुनर्जागरण से क्या तात्पर्य है? इसकी मुख्य विशिष्टताओं की चर्चा कीजिए और इटली में इसके उद्भव के कारण बताइए।
2. पुनर्जागरण की अग्रणी विभूतियां कौन थीं? कला, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जागरण की विभिन्न उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
3. 16वीं तथा 17वीं शताब्दियों के दौरान यूरोप में हुए प्रोटेस्टैंट आंदोलनों के कारणों तथा परिणामों की चर्चा कीजिए।
4. प्रतिसुधार आंदोलन से क्या तात्पर्य है? वह कैथोलिक चर्च में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में कहां तक सफल रहा?
5. उपनिवेशवाद क्या है? 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के दौरान एशिया, अफ्रीका और अमेरिका में उपनिवेशवाद के उत्थान और प्रसार के कारण बताइए। इसका कुल मिलाकर क्या प्रभाव पड़ा?
6. 15वीं शताब्दी के दौरान की गई उन भौगोलिक खोजों का वर्णन कीजिए जिनसे भारत पहुंचने के नए समुद्री मार्गों का पता चला। इसके अल्पकालीन और दीर्घकालीन परिणाम क्या हुए?

7. इंग्लैंड में गौरवमय क्रांति होने के कारण बताइए। वहां राजतंत्र की फिर से स्थापना क्यों और कैसे की गई?
8. अमेरिका के उपनिवेशों ने अपने मातृदेश (नियंत्रक देश) के विरुद्ध विद्रोह क्यों किया? उसके परिणाम क्या निकले?
9. फ्रांसीसी क्रांति के कारणों और परिणामों की चर्चा कीजिए। दर्शनिकों की भूमिका इसके लिए कहां तक उत्तरदायी थी।
10. प्रथम कांसुल के रूप में नेपोलियन बोनापार्ट के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।
11. इटली के एकीकरण में काउंट कैवूर की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
12. बिस्मार्क की 'खून एवं खड्ग' की (कठोर) नीति से आप क्या समझते हैं? इस नीति ने जर्मन राज्यों के एकीकरण में किस प्रकार सहायता दी?
13. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें:
    (i) मानवतावाद
    (ii) प्रतिसुधार आंदोलन
    (iii) अफ्रीकी दास व्यापार
    (iv) बोस्टन टी पार्टी
    (v) बुर्जुआज़ी (मध्यवर्ग)
    (vi) नेपोलियन संहिता

परियोजना कार्य

- पुनर्जागरण काल की कलाकृतियों की सूची तैयार करें और उनके कलात्मक गुणों का विवरण दें।

अध्याय 3
1900 से 1919 तक का विश्व

राजनीतिक परिदृश्य

राजनीतिक दृष्टि से देखा जाए तो 19वीं सदी के आरंभ का विश्व उससे पूर्ववर्ती दशकों से बहुत अधिक भिन्न नहीं था। पुराने विश्व के लोकाचार में रचे-बसे यूरोप का वर्चस्व विश्व-भर के मामलों में अभी भी बरकरार था। ग्रेट ब्रिटेन जैसी नौसैनिक श्रेष्ठता अभी तक किसी अन्य राष्ट्र के पास नहीं थी। अपनी औपनिवेशिक उपस्थिति के कारण एक बड़े साम्राज्य पर उसका नियंत्रण था। लेकिन उसकी कोई यूरोपीय प्रतिबद्धताएं नहीं थीं। इसके दो प्रमुख कारण थे- वर्ष 1837 में महारानी विक्टोरिया के राज्यारोहण के साथ हनोवरी जर्मनी के साथ उसका संबंध टूट गया। उसके बाद घरेलू और साम्राज्यिक राजनीति में व्यस्तता के कारण ब्रिटेन का ध्यान यूरोपीय राजनीति के जटिल विषयों से धीरे-धीरे हटता चला गया। वहीं दूसरी ओर जर्मनी को उस समय की सर्वश्रेष्ठ थल-शक्ति समझा जाता था। इटली, जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका तीन अलग-अलग महाद्वीपों में स्थित थे और अभी तक दुर्जेय शक्तियों के रूप में नहीं उभरे थे। ऐसी स्थिति में यूरोप में राइन नदी के पूर्व तक ऑस्ट्रिया, हंगरी, रूस और तुर्की के साथ-साथ जर्मनी का प्रभुत्व था, जबकि एशिया पर ब्रिटिश, रूसी और चीनी साम्राज्यों का प्रभुत्व कायम था। अफ्रीकी महाद्वीप पिछली सदी की ही भांति प्रभुत्वशाली औपनिवेशिक शक्तियों के हाथों विभाजन की प्रक्रिया से गुज़र रहा था। इस प्रकार, कुल मिलाकर यूरोपीय व्यवस्था की शुरुआत 20वीं शताब्दी के आरंभ से हुई। इस व्यवस्था को बनाए रखने के पीछे "परंपरा और भावुकता के विचारों की प्रबल शक्तियों" का कारण अधिक था क्योंकि इसमें किसी भी बदलाव को विश्व की शक्ति संरचना के लिए खतरे के रूप में देखा जाता था।

यूरोप के एक बड़े भाग में व्याप्त उदारवाद और राष्ट्रवाद के सिद्धांतों ने और अधिक प्रतिस्पर्धात्मक और घातक स्वरूप धारण कर लिया था। विभिन्न यूरोपीय देशों के लोग और सरकारें, दुनिया-भर में सुदूर देशों और प्राचीन सभ्यताओं को वहां अपने उपनिवेश स्थापित करने की दृष्टि से देखने लगे थे। इस नए सम्मोहित राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण अनेक नई और अधिक जटिल समस्याएं उत्पन्न हो गईं। इस राजनीतिक दृष्टिकोण को अपनाए जाने के पीछे एक प्रमुख कारण विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुआ आश्चर्यजनक विकास था। इस विकास का उपयोग न केवल उद्योग के क्षेत्र में किया गया, बल्कि उन्नत हथियारों को विकसित करने के लिए भी किया गया जिसके विध्वंसक परिणाम हुए। इसीलिए प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने से पूर्व के काल को 'सशस्त्र शांति का काल' कहा जाता है। शेष दुनिया पर यूरोप के नियंत्रण का विस्तार और इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली कट्टर प्रतिद्वंद्विता इस काल की सबसे प्रमुख विशेषता है।

इसमें संदेह नहीं है कि ऊपर बतायी गई यूरोपीय व्यवस्था दिखावे मात्र के लिए मौजूद थी। शक्ति का आवश्यक संतुलन एक ओर जर्मनी, ऑस्ट्रिया और हंगरी के तिहरे गठबंधन और दूसरी ओर फ्रांस और रूस के दोहरे गठबंधन के बीच बंटा हुआ था। यूरोप में सत्ता की राजनीति के संतुलन में बदलाव की धीमी-धीमी शुरुआत 1890 में ही हुई। इसी वर्ष युवा कैसर विल्हेल्म द्वितीय ने ऑटो वान बिस्मार्क को साम्राज्यिक चांसलर के पद से बर्खास्त कर दिया। उसकी बर्खास्तगी के साथ ही निकट-पूर्व के मामलों में सीधे हस्तक्षेप न करने की जर्मन नीतियों का भी त्याग कर दिया गया। इस प्रकार की नीति जर्मनी की इस आशंका से टकराती थी कि रूस, फ्रांस के साथ हो जाएगा। इसके अलावा, बिस्मार्क ग्रेट ब्रिटेन को नाराज़ न करने के उद्देश्य से नौसेना का गठन करने से बचता रहा था। जर्मनी के विदेश कार्यालय के अगुआ अधिकारियों के बदलाव के बाद यह देश निकट-पूर्व में अपने व्यापारिक और औपनिवेशिक हितों की रक्षा के लिए निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ा। इसमें जर्मन नौसेना द्वारा ब्रिटिश नौसैनिक शक्ति के साथ स्पर्धा की संभावना छिपी थी। कैसर विल्हेल्म द्वितीय स्वयं और जर्मन लोगों की वह पीढ़ी भी जिस पर उसका प्रभाव था, अपनी विजय के लिए लालायित थे। इसके अलावा, अब बर्लिन में जर्मन साम्राज्य की विदेश नीति अकेले किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं थी। इसके बजाय यह नीति कैसर, जो साम्राज्यिक चांसलर के पद पर आसीन था, और विदेश कार्यालय के विचारों के बीच एक अस्थायी समझौते के रूप में प्रस्तुत हुई।

शताब्दी के इस मोड़ पर यूरोप की राजनीति का विघटित स्वरूप विभिन्न शक्ति समूहों की राजनीतिक गतिविधियों में बाधक नहीं बना। 'कन्सर्ट ऑफ यूरोप' के नाम से विख्यात समूह के रूप में ऑस्ट्रिया-हंगरी, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, रूस और इटली संयुक्त रूप से कार्य करते रहे जिसके कारण कुछ वर्षों तक छोटे-मोटे झगड़ों ने विकराल रूप धारण नहीं किया। लेकिन यहां यह उल्लेख करना होगा कि 'कन्सर्ट' के सदस्य देश अन्य सदस्यों का उपयोग एक-दूसरे के खिलाफ करते

रहते थे। इसके कारण यूरोप में, और परिणामतः विश्व-भर में शांति बनाए रखने के प्रयास विफल हो गए।

प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बनने वाली घटनाएं

20वीं शताब्दी के आरंभ में ब्रिटेन और हालैंड दक्षिण अफ्रीका में अपना वर्चस्व कायम करने के लिए एक-दूसरे से जूझ रहे थे। संघर्ष की शुरुआत अक्तूबर 1899 में, सर्वप्रथम ट्रान्सवाल नामक डच गणराज्य और बाद में दूसरे डच गणराज्यों, जिन्हें बोअर गणराज्य भी कहा जाता है, द्वारा एंग्लो-सैक्सन मूल के आप्रवासियों को राजनीतिक अधिकार देने से इनकार किए जाने के कारण हुई। ब्रिटेन में अधिकतर लोग इस संघर्ष को एक न्यायसंगत संघर्ष के रूप में देखते थे क्योंकि बोअर गणराज्यों ने ब्रिटिश नागरिकों को उनके विधिसम्मत अधिकारों से वंचित किया था। ब्रिटेन में व्याप्त यह धारणा यूरोप के जनमत के बिल्कुल विपरीत थी जहां इस संघर्ष को ब्रिटिश आधिपत्य के एक और उदाहरण के रूप में देखा जा रहा था। विश्व के दूसरे भागों में भी जनमत इससे अलग नहीं था।

बोअर युद्ध

पूर्व में ब्रिटेन के खिलाफ सफलतापूर्वक संघर्ष कर चुके बोअर गणराज्यों को दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटेन की अपर्याप्त सैन्य उपस्थिति का भली-भांति आभास था। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस बार युद्ध समाप्त होने से पहले ही कुछ यूरोपीय शक्तियां उनकी सहायता के लिए आ जाएंगी। वहीं ब्रिटिश लोगों ने अपनी ही भूमि पर लड़ने वाले अनियमित लड़ाकों की गश्ती फौज की दृढ़ता और रणनीतिक कौशल को भली प्रकार से नहीं समझा था। दरअसल डच गणराज्यों के किसान, उच्च श्रेणी के अनियमित लड़ाकों की फौज के रूप में कार्य कर रहे थे। यदि उनमें अनुशासन, अत्यधिक सतर्कता और एक संगठित योजना के तहत लड़ने की क्षमता रही होती तो यह युद्ध अधिक लंबे समय तक खिंचता और उनके पक्ष में जाता और उन्हें इतनी जल्दी ब्रिटिश फौजों के सामने पराजय का मुंह न देखना पड़ता।

अनेक छोटी लेकिन दुर्भेद्य रक्षा पंक्तियों का सामना करते हुए कई छोटे-छोटे युद्धों के बाद ब्रिटिश घुड़सवार और पैदल सेना को धीरे-धीरे सफलताएं हासिल होने लगीं। अंततः हज़ारों वर्ग मील के युद्ध क्षेत्र में 4,50,000 ब्रिटिश सैनिकों की सहायता से लड़ा गया यह युद्ध 31 मई 1902 को समाप्त हुआ। यह सफलता तब हासिल हुई जब ब्रिटिश घुड़सवार सैन्य दस्तों ने युद्ध के क्षेत्र में बोअर प्रतिरोध को दबाते हुए उनकी गतिशीलता को खत्म कर दिया। यह एक लंबा और लगातार चलने वाला अभियान था जो ढाई वर्ष तक जारी रहा।

ब्रिटेन में 1905 में उदारवादियों (लिबरल पार्टी) के सत्ता में आने पर आर. बी. हाल्डेन, जो एक विचारशील व्यक्ति था, को युद्ध मंत्री बनाया गया। उसने न केवल ब्रिटेन के नौसैनिक आधिपत्य को बनाए रखने के लिए कदम उठाए, बल्कि बोअर युद्ध के अनुभवों के आधार पर सेना का पुनर्गठन भी किया। ब्रिटेन के बाहर विदेशी ताकतों को भी युद्ध के समय उभर कर आयी साम्राज्यिक एकता का आभास हो गया। हालांकि बोअर गणराज्यों को परास्त करने में प्रतिरोध के कारण अधिक समय लगने से ब्रिटेन की सैन्य प्रतिष्ठा को कुछ सीमा तक धक्का लगा था, लेकिन इस युद्ध ने

समुद्र पर ब्रिटेन के आधिपत्य को सिद्‌ध कर दिया। वस्तुतः ब्रिटेन की नौसैनिक शक्ति के भय से ही उसके यूरोपीय प्रतिद्‌वद्‌वी बोअर गणराज्यों की सहायता करने के लिए आगे नहीं आए।

गठबंधनों की राजनीति

20वीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रिटेन ने महसूस किया कि केवल नौसैनिक श्रेष्ठता को कायम रखना और 'शानदार अलगाव' की नीति को अपनाए रखना ही काफी नहीं था। देश के अंदर जानकार अब यह मानने लगे थे कि यूरोप के मुख्य भू-भाग में एक संधिबद्‌ध मित्र राष्ट्र की आवश्यकता थी। ब्रिटिश नौसैनिक और सैनिक आधिपत्य के लिए एक संभावित चुनौती के रूप में और बढ़ती जनसंख्या तथा सशक्त प्रगतिशील कूटनीति के कारण जर्मनी को एक ऐसे मित्र राष्ट्र के रूप में चुनना स्वाभाविक था। जर्मनी का कैसर महारानी विक्टोरिया का पौत्र था। इस देश ने वाटरलू में वेलिंगटन को बचाने में सहायता की थी। इसके अलावा, जर्मनी रूस के लिए एक प्रतिसंतुलनकारी शक्ति साबित हो सकता था क्योंकि रूस मध्य तथा सुदूर-पूर्व में ब्रिटेन का प्रमुख प्रतिद्‌वद्‌वी था। इसलिए बोअर युद्‌ध के
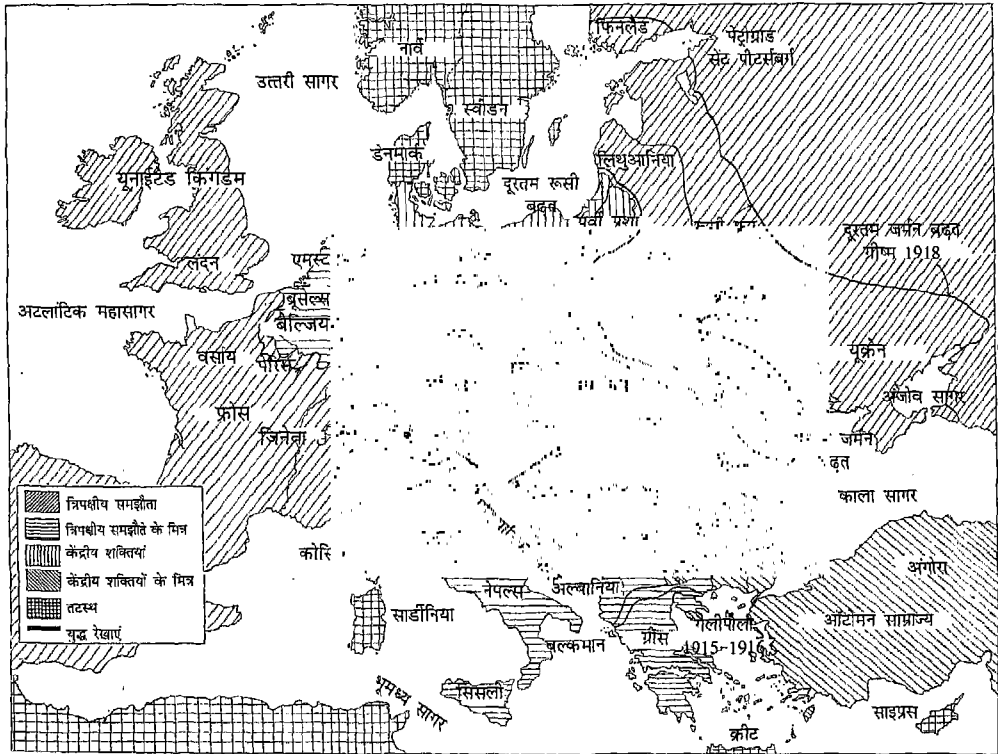
गठबंधन और प्रथम विश्वयुद्‌ध

दौरान ब्रिटेन के तत्कालीन उपनिवेश मंत्री जोसफ चैंबरलेन ने जर्मनी के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करने का प्रयास किया। इस दिशा में शुरुआत मोरक्को पर गुप्त समझौता करके की जा सकती थी, जहां जर्मनी के हित लगातार बढ़ रहे थे। लेकिन कैसर जर्मनी के विदेश मंत्रालय के एक अधिकारी बैरन वॉन होल्स्टीन की बात अधिक मानता था। होल्स्टीन, कैसर और साम्राज्यिक चांसलर बुलो को बार-बार यह समझाता रहा कि ब्रिटेन हमेशा अपने लाभ के लिए दूसरों का उपयोग करने की नीति अपनाता है, और ब्रिटेन की इस आदत के कारण जर्मनी उसके साथ मित्रता के एवज में और अधिक बड़े मूल्य की मांग कर सकता है। होल्स्टीन का विचार था कि ऐसे समय में ब्रिटेन और फ्रांस के बीच कोई दूसरा वैकल्पिक समझौता होने की संभावना बहुत कम थी।

जर्मनी के इस रवैये के आगे चैंबरलेन के धैर्य और सूझबूझ ने जवाब दे दिया। इसी दौरान ब्रिटिश प्रेस में यह मांग उठी कि रूस के साथ समझौता किया जाए चाहे इसके लिए चीन और फारस की खाड़ी में कोई बड़ा त्याग ही क्यों न करना पड़े। प्रेस ने जर्मनी की बढ़ती हुई नौसैनिक शक्ति की ओर भी ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। ऐसी स्थिति में फ्रांस ही यूरोप में दूसरी ऐसी शक्ति थी जो संधिबद्ध मित्र बन सके। लेकिन दोनों देशों के बीच बहुत कम समानताएं थीं। फ्रांस, यूरोप का एकमात्र देश था जिसे गणराज्य माना जाता था जबकि तत्कालीन ब्रिटेन मूलत: अभिजात-तंत्रीय राष्ट्र था। इसके अलावा फ्रांस, ब्रिटेन का पारंपरिक शत्रु था जिसने लगभग तीस वर्ष पहले ही जर्मन शक्ति के आगे ब्रिटेन की पराजय के समय दिखावटी सहानुभूति प्रदर्शित करने से अधिक कुछ नहीं किया था। इससे भी बड़ी बात यह थी कि दोनों देश 1898 में सूडान में ऊपरी नील नदी के पश्चिमी तट पर स्थित फशोदा (बाद में जिसका नाम कोडोक रख दिया गया) को लेकर युद्ध के कगार पर पहुंच गए थे। शताब्दी के आरंभ में औसत ब्रिटेनवासी के दृष्टिकोण से फ्रांस एक ऐसा देश था जो अंदर से बुरी तरह बंटा हुआ था। वहां की शासन व्यवस्था को बहुत कम जनसमर्थन हासिल था। इसके अलावा, वर्ष 1899 में, एलेक्ज़ेंडर मिलरैंड, जो किसी भी यूरोपीय देश के मंत्रिमंडल में प्रवेश पाने वाला पहला समाजवादी था, को फ्रांस के मंत्रिमंडल में शामिल किया जाना ब्रिटेन की अनुदार दल की सरकार के लिए कोई आश्वस्त करने वाली बात नहीं थी।

ब्रिटेन-फ्रांस समझौता

इन सभी बाधाओं के बावजूद 20वीं शताब्दी के आरंभ में फ्रांस और ब्रिटेन के संबंधों में नरमी आई। ऐसा मुख्यत: सम्राट एडवर्ड सप्तम के प्रयासों के कारण संभव हुआ और मई 1903 में, उसकी पेरिस यात्रा से तनाव में कमी आयी। इस राजकीय यात्रा के बाद ब्रिटेन और फ्रांस के विदेश मंत्रियों क्रमश: लेंसडाउन और डेलकैसे के बीच जो वार्ताएं हुईं उनके फलस्वरूप अप्रैल 1904 में, अनेक समझौते हुए जिन्हें सामूहिक रूप से ब्रिटेन-फ्रांस समझौते के नाम से जाना जाता है। यह 20वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों की सबसे महत्त्वपूर्ण राजनयिक घटना थी और यह समझौता द्वितीय विश्वयुद्ध में फ्रांस की पराजय होने तक लागू रहा।

पहले समझौते के तहत ग्रेट ब्रिटेन ने मिस्र की राजनीतिक स्थिति में कोई बदलाव न करने का वचन दिया। उस समय मिस्र तुर्की अर्ध-स्वतंत्र क्षेत्र होते हुए भी ब्रिटेन के कब्जे में था और फ्रांस ने उस क्षेत्र में ब्रिटेन के कार्यों में बाधा न डालने का वचन दिया। इसी प्रकार फ्रांस ने मोरक्को, जो फ्रांस के आधिपत्य में था, की राजनीतिक स्थिति में बदलाव न करने का वचन दिया और ब्रिटेन ने वहां फ्रांस की कार्रवाई में बाधा न डालने का वचन दिया। मिस्र और मोरक्को दोनों ही स्थानों पर कम से कम तीस वर्ष के लिए व्यापार-संबंधी स्वतंत्रता के लिए समझौता हुआ। इसके अलावा, यह भी तय हुआ कि ज़िब्राल्टर के सामने मूरिश तट पर किसी भी प्रकार की किलेबंदी नहीं की जाएगी। मोरक्को की स्थिति के बारे में फ्रांस, स्पेन के साथ एक अलग समझौता करने वाला था। मिस्र की सरकार को आर्थिक मामलों में स्वतंत्र रूप से कार्रवाई करने का अधिकार उस समय तक के लिए दे दिया गया था जब तक कि वह लिए गए ऋण पर ब्याज का भुगतान करती रहे। इसके अलावा, स्वेज नहर की कानूनी स्थिति भी फ्रांस की इच्छा के अनुरूप ही तय कर दी गई।

दूसरे समझौते के तहत फ्रांस ने न्यूफाउंडलैंड के तट के आस-पास मछली पकड़ने के अपने अधिकारों को छोड़ दिया। इसके बदले में उसे प्रादेशिक समायोजन के रूप में पश्चिमी अफ्रीका में नाइज़र नदी पर अपनी संपत्तियों से चाड झील में अपनी संपत्तियों तक निर्बाध पहुंचने के लिए मार्ग मिला।

तीसरे समझौते के अनुसार दोनों देशों ने मेनाम बेसिन में सैन्य हस्तक्षेप या विशेष अधिकारों का अधिग्रहण न करने की शर्त को स्वीकार किया। फ्रांस ने इस तटस्थ क्षेत्र के पश्चिम में स्थित समस्त सियामी (अब थाई) भू-भाग और मलय प्रायद्वीप और उसके नजदीकी टापुओं सहित सियाम (आधुनिक थाइलैंड) की खाड़ी पर ब्रिटेन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। वहीं दूसरी ओर ब्रिटेन ने तटस्थ क्षेत्र के पूर्व और दक्षिण-पूर्व स्थित समस्त सियामी भू-भाग पर फ्रांस के नियंत्रण को स्वीकार कर लिया। इसके अलावा, ब्रिटेन ने फ्रांस द्वारा 1896 में मेडागास्कर पर कब्ज़ा किए जाने के समय से वहां वसूले जाने वाले प्रशुल्क (tariff) के प्रति अपनी आपत्ति भी वापस ले ली। वर्ष 1906 में न्यू हेब्राइडीज़ द्वीप के मामले में एक विशेष समझौते की आवश्यकता को देखते हुए वहां विधिवत ब्रिटेन और फ्रांस का संयुक्त शासन स्थापित किया गया।

ब्रिटेन-फ्रांस मैत्री संबंधों से फ्रांस और ब्रिटेन के बीच बकाया समस्याएं ही हल नहीं हुईं बल्कि भविष्य में दोनों देशों के बीच बेहतर आपसी समझ बनाने का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। "यदि पीछे मुड़ कर देखें तो इसे युद्ध की दिशा में उठाया गया एक कदम कहा जा सकता है क्योंकि इसके कारण यूरोप दो सशस्त्र खेमों में बंट गया, और अब इसमें कोई संदेह नहीं रह गया था कि ब्रिटेन किस पक्ष में था"। लेकिन, जैसा कि उदारवादी पूर्व प्रधानमंत्री लार्ड रोज़बेरी ने संकेत दिया, मैत्री संबंधों के इस समझौते में मोरक्को के मुद्दे पर जर्मनी को, जो यूरोप की सबसे ताकतवर सैन्य शक्ति था, विश्वास में नहीं लिया गया था। निःसंदेह जर्मनी के प्रति ब्रिटेन का यह उपेक्षापूर्ण रवैया अंततः ब्रिटेन द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध का कारण बना।

फ्रांस-रूस मैत्री संधि

ब्रिटेन-फ्रांस समझौते का प्रभाव रूस और ब्रिटेन के संबंधों पर पड़ा। 19वीं शताब्दी के लंबे अरसे तक दोनों देशों के आपसी संबंध बहुत खराब रहे। बुल्गारिया में अपने कटु अनुभव के बाद रूस के ज़ार सुदूर-पूर्व की ओर आकृष्ट हो रहे थे। उन्हें बिखरते हुए चीनी साम्राज्य में अवसर दिखायी दे रहे थे। इसलिए, पश्चिम का समर्थन हासिल करने के उद्देश्य से रूस, फ्रांस के साथ मैत्री करना चाहता था। आर्थिक लेन-देन और सैनिक आदान-प्रदान के कारण 1880 के दशक के उत्तरार्ध से ही दोनों देशों के संबंध प्रगाढ़ होते जा रहे थे। राजनीतिक गतिविधियों में तालमेल रखने के लिए 1891 में दोनों देशों की सरकारों के बीच एक राजनीतिक समझौता हो चुका था। इसके अलावा, तिहरे गठबंधन की ओर से किसी भी हमले से पूर्व कार्रवाई करने के लिए दोनों देशों ने एक औपचारिक सैनिक समझौता किया था जिसकी आधिकारिक घोषणा 1895 के आरंभ में की गई।

इस फ्रांस-रूस मैत्री संधि को न तो बर्लिन में और न ही लंदन में पसंद किया गया। यह समझौता संधिबद्ध देशों की सैन्य तथा आंतरिक राजनीतिक कमजोरियों को छिपाने में भी सफल नहीं हो सका। ''दरअसल, जैसा कि अगले दस वर्षों में सिद्ध हो गया, दोनों ही शक्तियां जितना दिखायी देती थीं उससे कहीं अधिक कमज़ोर थीं, और ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति को शामिल किए जाने के बाद ही यह नया समूह अपने पुराने प्रतिद्वंद्वी से मुकाबले के योग्य बन सका।''

तिहरे गठबंधन की स्थिति

ऑस्ट्रिया-हंगरी का दोहरा राजतंत्र, जर्मनी के बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण यूरोपीय शक्ति और तिहरे गठबंधन का अभिन्न सदस्य था। लेकिन एक बहुजातीय राष्ट्र होने के कारण राष्ट्रवाद की उठती लहर से उत्पन्न होने वाली सभी प्रकार की समस्याएं उसके सामने थीं। वहां का सम्राट फ्रैंज जोसफ शांति की नीति का पक्का अनुयायी था। उसने बोहेमिया में सैनिक तानाशाही की स्थापना से इनकार कर दिया था। लेकिन उसके जर्मन मित्र राष्ट्र और हंगरी के नागरिकों ने मिलकर एक ऐसा गठबंधन तैयार कर लिया जिससे उसकी सत्ता का संतुलन बिगड़ गया। जर्मनी के लिए ऑस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य उसकी सेना में भर्ती के लिए रंगरूट ढूंढ़ने और रूसी दबाव को रोकने के साधन के रूप में ही था। जर्मन हितों की खातिर साम्राज्य को अपने लाखों स्लाव लोगों को निर्वासित करना पड़ा जो कि साम्राज्य के सबसे राजभक्त नागरिक थे। यह नीति हंगरीवासियों के लिए अनुकूल थी क्योंकि स्वयं उनके यहां भी अल्पसंख्यकों के साथ कोई अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था।

इटली, इस तिहरे गठबंधन का तीसरा सदस्य था जो अफ्रीका में फ्रांस की नीति की वजह से फ्रांस के प्रति अपने विरोध के कारण ऑस्ट्रिया से अपनी शत्रुता भुलाने के लिए तैयार हो गया था। इसके अलावा, इटली के भूमध्यसागरीय हित, फ्रांस के हितों के साथ टकराते थे। उसने फ्रांस द्वारा सेवॉय, नाइस और कोर्सिका जैसे क्षेत्रों पर कब्ज़ा किए जाने पर आपत्ति की।

ऑटोमन साम्राज्य की स्थिति

ऑटोमन साम्राज्य यूरोप के छोर पर बाल्कन पर्वतों के आरपार निकट-पूर्व और उत्तरी अफ्रीका के कुछ भाग तक फैला हुआ था। ज़ार निकोलस प्रथम द्वारा इसका उल्लेख "यूरोप का रूग्ण व्यक्ति" के रूप में किए जाने के बावजूद वह साम्राज्य इतना शक्तिशाली था कि विभिन्न जातियों और संप्रदायों की जनसंख्या वाली अपनी जर्जर रियासतों को एकजुट रख सकता था। 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में उसने आर्मीनिया में एक विद्रोह को कुचला था और यूनानियों को पूरी तरह परास्त कर दिया था।

मोरक्को का विवाद

ब्रिटेन-फ्रांस समझौता जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है, भूमध्यसागर और मोरक्को, बोस्निया, हरजेगोविना, त्रिपोली और बाल्कन प्रायद्वीप जैसे उन देशों से संबंधित समस्याओं पर केंद्रित था जो इस सागर के तटों पर स्थित थे। यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि इस समझौते के तहत फ्रांस को मोरक्को में खुली छूट हासिल थी। लेकिन, फ्रांस के विदेश मंत्री डेलकैसे ने मोरक्को के संबंध में जर्मनी को विश्वास में न लेकर एक बड़ी भूल की थी। जर्मनी के साम्राज्यिक चांसलर बुलो ने जर्मनी की ओर से दावा किया कि मोरक्को सिर्फ फ्रांस की चिंता का विषय न होकर अंतर्राष्ट्रीय चिंता का विषय है। उसने इस मुद्दे का प्रयोग समझौते की शक्ति को परखने के लिए भी किया था।

इस प्रकार मोरक्को के प्रश्न को कैसर विल्हेल्म द्वितीय ने मार्च 1895 में टैंजियर के जर्मन उपनिवेश में अपने एक भाषण के दौरान एक नए रूप में फिर से उठाया। सम्राट के भाषण के अधिकृत पाठ में कहा गया था कि ''मैं आज सुल्तान से उनकी स्वतंत्र शासक की हैसियत से मिलने के लिए आया हूं। मुझे आशा है कि उनके शासन में स्वतंत्र मोरक्को एकाधिकार या निरंकुश समानता की नीति को अपनाए बिना सभी राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण प्रतिस्पर्धा को स्वीकार करेगा।'' इसी वर्ष के अप्रैल माह में बुलो ने इस मामले को आगे बढ़ाते हुए मोरक्को के विषय पर मेड्रिड संधि (1880) पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया। इसी क्रम में मोरक्को के सुल्तान अब्दुल अजीज़ चतुर्थ ने टैंजियर में सभी संबंधित देशों को एक सम्मेलन के लिए आमंत्रित किया। फ्रांस के विदेश मंत्री डेलकैसे ने इस सम्मेलन का विरोध किया लेकिन बाद में अमेरिकी राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट के हस्तक्षेप के बाद वह इस सम्मेलन के लिए राज़ी हो गया। संयोगवश, किसी यूरोपीय विवाद में अमेरिका का यह पहला निर्णायक हस्तक्षेप था। इस सम्मेलन का आयोजन जनवरी से अप्रैल 1906 तक, अल्जेसिरास में हुआ। इसी दौरान ग्रेट ब्रिटेन में उदारवादी सरकार का स्थान अनुदार दल की सरकार ने ले लिया था और बाल्फोर के स्थान पर कैंपबेल बैनरमैन प्रधानमंत्री बन चुका था और लैंसडाउन के स्थान पर ग्रेव वहां का विदेश मंत्री बन चुका था। लेकिन इन बदलावों का ब्रिटेन-फ्रांस मैत्री पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। इसके विपरीत 1914 तक बीच-बीच में दोनों देशों के मध्य सैन्य परामर्श चलता रहा।

दूसरी ओर, इस सम्मेलन ने फ्रांस-जर्मनी की प्रतिस्पर्धा को बराबरी के स्तर पर पहुंचा दिया।

फ्रांस और स्पेन ने संयुक्त रूप से मोरक्को की पुलिस का नियंत्रण पा लिया और जर्मनी, मोरक्को के विवाद को एक अंतर्राष्ट्रीय मुद्दा बनाकर उछालने में सफल हो गया। जहां तक इसके कुल परिणाम का प्रश्न है, इस सम्मेलन ने अमेरिका को एक उभरती हुई विश्व-शक्ति के रूप में प्रकट करने के अलावा ब्रिटेन, फ्रांस और रूस को एक-दूसरे के करीब ला खड़ा किया था।

ब्रिटेन-रूस औपचारिक समझौता

ब्रिटेन-रूस के मध्य औपचारिक समझौता, जिस पर 31 अगस्त, 1907 को हस्ताक्षर हुए थे, दोनों देशों को पिछली आपसी शत्रुता भुलाने और फारस, अफगानिस्तान तथा तिब्बत के मुद्दों पर दोनों देशों के बीच आपसी समझ बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ। इस समझौते के तहत इस बात पर सहमति हुई कि फारस में रूसी प्रभाव का एक बड़ा क्षेत्र और ब्रिटिश प्रभाव का एक छोटा क्षेत्र बनाया जाए। इन दोनों क्षेत्रों के बीच एक ऐसा तटस्थ क्षेत्र हो जहां दोनों देशों को बराबर अधिकार प्राप्त हों। दोनों देश इस बात पर भी सहमत हुए कि फारस की खाड़ी की पूर्व स्थिति को बनाए रखा जाए। अफगानिस्तान के मामले में ब्रिटेन ने वचन दिया कि वह कोई भी ऐसा कदम नहीं उठाएगा जो रूस के विरुद्ध हो। दूसरी ओर, रूस ने काबुल के साथ अपने राजनीतिक संबंधों का संचालन ब्रिटिश विदेश कार्यालय के माध्यम से करने का वचन दिया। जहां तक तिब्बत का संबंध है, दोनों देशों ने उसकी प्रादेशिक अखंडता का सम्मान करने और उसके आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप न करने पर सहमति जतायी।

सुदूर-पूर्व में जागृति

19वीं शताब्दी के अंत तक विश्व में सुदूर-पूर्व का महत्त्व काफी बढ़ चुका था। इस क्षेत्र में शक्ति का संतुलन स्पष्टतः आक्रमणशील जापान की ओर झुक गया था, जो यूरोप की परस्पर प्रतिस्पर्धी शक्तियों के हितों के विरुद्ध इस संपूर्ण क्षेत्र में अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। उसका ध्यान मुख्यतः चीन और कोरियाई प्रायद्वीप पर केंद्रित था। कुछ समय तक विदेशियों का ध्यान चीन की आंतरिक गतिविधियों पर केंद्रित रहा जहां चीन की विधवा साम्राज्ञी (1835-1908) की प्रेरणा से अति-राष्ट्रवादी बॉक्सर सोसाइटी के सदस्यों ने चीन में विदेशियों के जीवन को असुरक्षित बना दिया था। इसलिए, यूरोपीय शक्तियों ने आपसी प्रतिद्वंद्विता को भुलाकर 1900 में बॉक्सर सोसाइटी के विद्रोह को कुचलने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय फौज सुदूर-पूर्व के लिए भेजी। इस अभियान के सफल होने के बाद सितंबर 1901 में हुए समझौते के तहत चीन को भारी कीमत चुकानी पड़ी। समझौते के तहत चीनी सम्राट क्वांग सी को जर्मन और जापानी राजनयिकों की हत्या के लिए बर्लिन और टोकियो से क्षमा प्रार्थना करनी पड़ी। सम्राट ने मुआवज़े के रूप में 45 करोड़ तेइल (चीनी मुद्रा) का भुगतान करने का भी वचन दिया। इसके अलावा, दो राजकुमारों को मौत के घाट उतारने की सज़ा सुनायी गई, तीन उच्च अधिकारियों को आत्महत्या करने का हुक्म दिया गया और तीन प्रमुख दफ्तरशाहों के सिर धड़ से अलग कर दिए गए।

बॉक्सर समझौते के बाद जनवरी 1902 में ब्रिटेन-जापान समझौता हुआ। इस समझौते के तहत

दोनों देश चीन और कोरिया में एक-दूसरे के विशेष हितों की रक्षा करने के लिए सहमत हुए। इस समझौते के हो जाने के बाद ब्रिटेन ऐसी स्थिति में आ गया था जब वह प्रशांत महासागर को छोड़कर उत्तरी सागर और अटलांटिक महासागर पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकता था, जहां उसे जर्मनी की बढ़ती हुई नौसैनिक शक्ति का सामना करना था। वहीं दूसरी ओर 1905 में जापान की प्रतिष्ठा उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई जब उसने एक निर्णायक युद्ध में रूस को परास्त कर दिया।

1905 का रूस-जापान युद्ध

शताब्दी के अंत तक उत्तरी चीन में रूस का प्रभाव बढ़ता रहा था। उसने न केवल मंचूरिया में अपने सैनिक तैनात कर रखे थे बल्कि वह पेकिंग की अनुमति से व्लादिवोस्तक और पोर्ट ऑर्थर को साइबेरियाई प्रणाली से जोड़ने के लिए रेल लाइनें भी बिछा रहा था। यह एक ऐसा मामला था जिसके प्रति जापान बहुत संवेदनशील था। 1902-03 की शीतऋतु में जापान की चिंता उस समय और अधिक बढ़ गई जब रूस ने चीनी सरकार से प्राप्त छूट के बाद यालू नदी के पास इमारती लकड़ियां काट रहे अपने नागरिकों की रक्षा के बहाने उत्तरी कोरिया में अपनी गतिविधियां बढ़ा दीं और यालू नदी की ओर अपने सैनिकों को आगे भेजना शुरू कर दिया। इसके परिणामस्वरूप रूस और जापान के बीच वार्ता शुरू हुई और जनवरी, 1904 में एक समझौता हुआ। इस समझौते के अंतर्गत जापान ने वचन दिया कि वह मंचूरिया पर अपना आधिपत्य छोड़ देगा और रूस को भी कोरिया के संबंध में इसी प्रकार का वचन देना था। लेकिन तीन हफ्ते की निर्धारित समय-सीमा के अंदर रूस से कोई उत्तर न मिलने पर जापान ने रूस के साथ अपने राजनयिक संबंध खत्म कर दिए। यूरोपीय सोच के विपरीत जापान की तैयारी बेहतर थी। उसने अपनी सेना को काफी विस्तृत, पुनर्गठित और पुन:सज्जित कर लिया था। उसकी नौसेना भी समरूप, कुशल और सुसंगठित थी। इसके अलावा युद्ध स्थल के नजदीक होने के कारण जापान बेहतर स्थिति में था, जबकि रूस के लिए इतनी दूरी से अपने सुदूर-पूर्वी सैन्य बलों को भेजना कठिन कार्य था। दोनों देशों ने दूसरे देशों से आर्थिक सहायता मांगी। जहां जापान सहायता के लिए लंदन और न्यूयार्क पर निर्भर था, वहीं रूस फ्रांस पर निर्भर था। जापान की फौजों ने 20 फरवरी से 10 मार्च, 1905 के बीच लिआओयांग, शाहो और मुकदन के युद्धों में रूस की सेना को पराजित किया। एडमिरल टोगो के उत्कृष्ट नेतृत्व में जापान की नौसेना ने प्रशांत महासागर में पोर्ट ऑर्थर में रूसी नौसैनिक शक्ति को भी ध्वस्त कर दिया। टोगो ने 27-28 मई को त्सुशिमा के युद्ध में रूस के बाल्टिक बेड़े को भी बुरी तरह परास्त कर दिया।

जापान 1905 की ग्रीष्म ऋतु तक युद्ध में अपने लक्ष्य हासिल कर चुका था। इसलिए अमेरिका की मध्यस्थता से 5 सितंबर, 1905 को पोर्ट्समाउथ की संधि के माध्यम से रूस और जापान के बीच एक समझौता हुआ। इस संधि के तहत रूस ने कोरिया में जापान के हितों को स्वीकार करते हुए लिआओ-तुंग और पोर्ट ऑर्थर से चांगचुन तक चीन की पूर्वी रेलवे की दक्षिणी शाखा को चीनी सहमति के अधीन जापान के पक्ष में स्थानांतरित कर दिया। इसके अलावा रूस ने सखालिन द्वीप का दक्षिणार्ध भी जापान को सत्तांरित कर दिया।

दोनों ही पक्ष मंचूरिया से अपनी फौजें हटाने के लिए राजी हो गए और उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी-अपनी रेलवे का प्रयोग सामरिक उद्देश्य से न करने की घोषणा की।

पोर्ट्समाउथ की संधि के ज़ारवादी शासन पर दूरगामी प्रभाव पड़े। युद्ध में उसकी पराजय के परिणामस्वरूप देश में विद्रोह शुरू हो गया। हालांकि उस समय इसे दबा दिया गया, लेकिन इस विद्रोह ने 1917 की बोल्शेविक क्रांति का बीज बो दिया था। इस संधि ने अप्रत्यक्ष रूप में यूरोप में शक्ति के संतुलन को भी प्रभावित किया। इसके बाद जर्मनी में सैन्य बल के प्रयोग के पक्षधरों की दृष्टि में दो मोर्चों पर युद्ध अब कोई विकट समस्या नहीं था, जैसा कि 1914 में घटित हुआ। एक यूरोपीय शक्ति पर जापान की विजय से भारत, तुर्की, फारस और अन्य कई देशों में राष्ट्रवाद की उठती हुई लहर को बल मिला। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, जापान की विजय के परिणामस्वरूप ब्रिटेन और जापान के बीच एक संधि हुई। इस नई संधि में ब्रिटेन ने कोरिया में जापान के परम हितों को स्वीकार किया और जापान ने भी भारतीय सीमांत क्षेत्र में ब्रिटेन के अधिकारों को इसी प्रकार की मान्यता दे दी।

मंचूरियाई संकट

जापान ने इस संधि के तुरंत बाद 17 नवंबर, 1905 को कोरिया के साथ एक समझौता किया और राजकुमार इतो को सियोल में रेजीडेंट-जनरल नियुक्त किया। लेकिन 1909 में एक कोरियाई ने राजकुमार इतो की हत्या कर दी जिसका आंशिक कारण यह था कि अपने हित साधने के लिए कोरिया आने वाले जापानियों के उद्दंड और अनैतिक व्यवहार के कारण कोरियाई जनता के मन में उनके प्रति द्वेष पैदा हो गया था। लेकिन जापान की आगे बढ़ने की नीति प्रभावित नहीं हुई। 22 अगस्त, 1910 को उसने रूस और ब्रिटेन के परोक्ष समर्थन से कोरिया पर कब्ज़ा कर लिया। कोरिया के अलावा, जापान ने चीन के मामले में भी उद्दंडता की नीति अपनायी। रूस पर उसकी विजय के कारण वह मंचूरिया तक पहुंच चुका था। इसलिए चीन ने विवश होकर पोर्ट्समाउथ समझौते की शर्तों को स्वीकार कर लिया। इसके अलावा, 22 दिसंबर 1905, को चीन-जापान समझौते के तहत चीन, मंचूरिया में सोलह नगरों को विदेशी व्यापार और आवास के लिए खोलने के साथ-साथ कोरियाई सीमा पर स्थित अंतुंग को मुकदन से जोड़ने के लिए युद्ध के समय जापान द्वारा निर्मित हल्की रेलवे के पुनर्निर्माण के लिए भी सहमत हो गया। लेकिन 1911 में निर्माण का कार्य पूरा होते-होते दोनों पक्षों के बीच काफी तनाव उत्पन्न हो गया। चीन ने इस क्षेत्र में ब्रिटिश और अमेरिकी हितों को रेलवे संबंधी रियायतें देकर जापान को ब्रिटेन और अमेरिका के साथ विवाद में फंसाने का प्रयास किया। 1909 में अमेरिका ने चीन के सामने अंतर्राष्ट्रीय ऋण का प्रस्ताव रखा ताकि चीन विदेशी नियंत्रण वाले मंचूरियाई रेल तंत्र को खरीद कर इस पर विदेशी नियंत्रण को निष्प्रभावी बना सके। लेकिन रूस और जापान ने एकजुट होकर उस योजना को अस्वीकार कर दिया। अमेरिकी पहल को अस्वीकार कर दिए जाने से यह बात स्पष्ट हो गई कि अमेरिका को विश्व-शक्ति बनने में अभी काफी समय लगने वाला था। इसके अलावा, अप्रवास के मुद्दे को लेकर अमेरिका और जापान के बीच संघर्ष के अनुमानों के दौर में, 1911 में,

ब्रिटेन और जापान के बीच एक तीसरी संधि पर हस्ताक्षर किए गए। इस संधि ने सुदूर-पूर्व में जापान की बढ़ती हुई ताकत को उजागर कर दिया। वहीं दूसरी ओर चीन के सभी प्रांतों में शासनतंत्र छिन्न-भिन्न हो गया। अंततः युआन शिह-काइ ने 1912 में मांचू सत्ता में परिवर्तन कर दिया और एक नए राजवंश की स्थापना की।

निकट-पूर्व का संकट

1878 की बर्लिन संधि के माध्यम से की गई सामान्य व्यवस्था के समय से मिस्र को सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए ब्रिटेन के अधीन सौंपे जाने को छोड़कर निकट-पूर्व की स्थिति में और कोई बदलाव नहीं आया था। बाल्कन पर्वतीय क्षेत्रों में सक्रिय सशक्त विखंडनकारी ताकतों के बावजूद जीर्ण-शीर्ण ऑटोमन साम्राज्य इस अवसर का लाभ उठाने की स्थिति में नहीं था। साइप्रस पर कब्जा हो जाने और बर्लिन संधि के माध्यम से मिस्र पर आधिपत्य स्थापित कर लेने के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के लिए ऑटोमन तुर्की का कोई सामरिक महत्त्व नहीं रह गया था। इसी प्रकार पोट्सर्माउथ संधि के बाद रूस का ध्यान भी
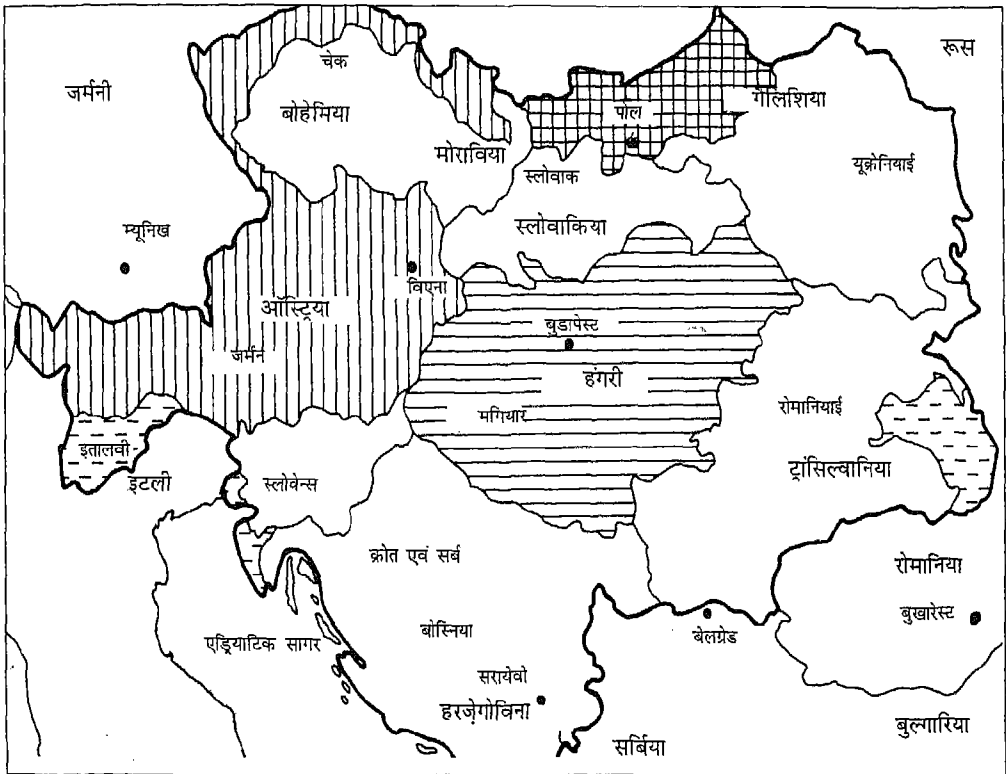
आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य में राष्ट्रीय समुदाय (1914)

निकट-पूर्व से हटकर मध्य-पूर्व पर केंद्रित हो गया था। ऐसी स्थिति में जर्मनी के प्रवेश के लिए मैदान खुला था। इस संबंध में कैसर विल्हेल्म का इरादा 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में हुए आर्मीनियाई जनसंहारों के समय प्रकट हुआ। ब्रिटेन की एक पूरी पीढ़ी जर्मनी में साठ लाख यहूदियों के नृशंस कत्लेआम और साइबेरिया के श्रम शिविरों में लाखों राजनीतिक बंदियों की हत्याओं से अवगत थी। ज़ाहिर है सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय की पूर्ण सहमति से धर्मांध 'मुस्लिम' और नियमित सैनिकों द्वारा किए गए उरफा (सितंबर, 1895) और कुस्तुंतुनिया (अगस्त, 1896) के नरसंहारों के खिलाफ ब्रिटिश सरकार और आम जनता की ओर से कड़ी प्रतिक्रिया हुई। लेकिन उदारवादी रोजबेरी की उदार दल वाली सरकार इस संबंध में कोई कार्रवाई नहीं कर सकी क्योंकि जैसा कि सेल्सिबरी ने घोषणा की थी 'एकाकी कार्रवाई का अर्थ होगा यूरोपीय युद्ध'। इस आर्मीनियाई संकट के परिणामस्वरूप कुस्तंतुनिया में जर्मनी की स्थिति मजबूत हुई और ब्रिटेन की स्थिति कमजोर हो गई। इसका सर्वाधिक प्रभाव प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने पर महसूस किया गया।

20वीं शताब्दी के आरंभ में मकदूनिया में तुर्की कुशासन के कारण एक और संकट उत्पन्न हो गया। अक्तूबर, 1903 में ऑस्ट्रिया और रूस की सरकारें मुर्जस्टेग कार्यक्रम नाम के एक सुधार कार्यक्रम पर सहमत हुईं जिसमें यह प्रावधान किया गया था कि मकदूनिया को अलग-अलग खंडों में बांट दिया जाए, जिनमें से प्रत्येक पर दोनों में से किसी एक का शासन हो। लेकिन जनवरी 1908 में ऑस्ट्रिया-हंगरी की सरकार द्वारा नोविबाजार के संजाक से होकर गुजरने वाले रेलमार्ग के लिए सर्वेक्षण की घोषणा के कारण रूस को संदेह हो गया जिसके परिणामस्वरूप बाल्कन संबंधी मुद्दों पर सेंट पीटर्सबर्ग और विएना के बीच सहयोग समाप्त हो गया। इसी वर्ष के जुलाई माह में एक तख्तापलट में, जिसे 'युवा तुर्क क्रांति' के नाम से जाना जाता है, अधिकारियों के एक समूह ने सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय से सत्ता छीन ली। इन अधिकारियों का अगुआ अनवर पाशा था। संपूर्ण ऑटोमन साम्राज्य की संसद की बैठक की उसकी पहली कार्रवाई में बोस्निया और हरजेगोविना के गंभीर मुद्दे को उठाया गया। औपचारिक रूप से ऑस्ट्रिया-हंगरी के कब्ज़े में होने के बावजूद ये दोनों रियासतें सैद्धांतिक दृष्टि से ऑटोमन साम्राज्य का हिस्सा थीं और ऐसी स्थिति में तुर्की की नई संसद में अपने प्रतिनिधि भेज सकती थीं। इससे विएना में समस्या उत्पन्न हो गई। इसके अलावा सर्बिया अपने नए शासक पीटर प्रथम की अधीनता में सभी दक्षिणी स्लावों का एक संघ बनाना चाहता था। इसलिए विएना ने स्थिति को नियंत्रण में लाने के लिए सितंबर, 1908 में रूस के साथ एक गुप्त समझौता किया। यह समझौता मुख्यतः इस शर्त पर हुआ था कि बॉस्फोरस और दारदेनल को रूसी युद्धपोतों के लिए खोलने की रूसी मांग का समर्थन करने के एवज़ में ऑस्ट्रिया-हंगरी को बोस्निया और हरजेगोविना पर कब्ज़ा करने की छूट होगी। इसके अलावा, विएना ने राजकुमार फर्डिनैंड को यह आश्वासन देकर बुल्गारिया का समर्थन हासिल करने की कोशिश की कि वह बुल्गारिया की स्वाधीनता की घोषणा कर सकता है। इसी क्रम में 5 अक्तूबर, 1908 को

टिर्नोवो में बुल्गारिया को एक स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया गया और उसके अगले ही दिन फ्रैंज़ जोसफ ने बोस्निया और हरजेगोविना को हैब्सबर्ग के आधिपत्य में शामिल किए जाने की घोषणा कर दी। किसी बड़ी शक्ति के द्वारा इस पर आपत्ति न किए जाने के कारण सर्बों की स्थिति अवांछनीय हो गई। लेकिन सर्बिया अकेले लड़ सकने की स्थिति में नहीं था। विएना की कूटनीति ने उसे प्रभावी ढंग से अलग-थलग कर दिया। अंततः मार्च, 1909 के अंत में सर्बिया ने इस कब्ज़े को मान्यता दे दी और ऑस्ट्रिया-हंगरी के दोहरे शासन के साथ मित्रवत पड़ोसी का व्यवहार करने का वचन भी दे दिया। इस संबंध में जर्मनी के साम्राज्यिक चांसलर बुलो ने लिखा : 'ऑस्ट्रिया-जर्मन गठबंधन ने पहली बार एक वास्तविक संघर्ष में अपनी शक्ति को सिद्ध किया। शक्तियों के जिस समूह की ताकत को अल्जेसिरास में आवश्यकता से अधिक आंका गया था वह यूरोपीय नीति की कठिन समस्याओं का सामना करते ही टूटकर बिखर गया।'

किंतु प्रतिद्वंद्वी ताकतें इस दौरान भारी पैमाने पर हथियार जमा करती रहीं। संघर्ष की शुरुआत होने वाली थी। मोरक्को में 1908 में अब्दुल अज़ीज चतुर्थ को उसके भाई मुलाई हफीद द्वारा सत्ता से उखाड़ फेंके जाने के बाद एक बार फिर ऐसा हुआ। लेकिन नया सुल्तान भी अपने सिंहासन पर सुरक्षित नहीं था। 1909 में रिफ कबीले ने स्पेन के खिलाफ विद्रोह कर दिया जिसे दबाने के लिए स्पेन को 50 हज़ार सैनिकों की फौज भेजनी पड़ी। 1911 में फैज़ के आसपास के कबीलों ने भी विद्रोह कर दिया और राजधानी को घेर लिया। हताशा में मुलाई हफीद को फ्रांस के पास मदद के लिए गुहार लगानी पड़ी जिसके बाद फ्रांस ने फैज़ पर कब्जा कर लिया। इसी दौरान स्पेन ने भी अपनी एक फौज लराशे भेज दी। इन घटनाओं से क्रुद्ध जर्मनी ने अपने नागरिकों और आश्रितों के साथ-साथ उस क्षेत्र में जर्मनी के हितों की रक्षा करने के लिए पैंथर नाम के युद्धपोत को अगादीर भेज दिया। इसके अलावा, अपने इस कदम को उचित ठहराने के लिए बर्लिन ने अल्जेसिरास की संधि को समाप्त किए जाने की घोषणा कर दी। पैंथर के अगादीर पहुंचने पर लंदन में पेरिस से अधिक हिंसक प्रतिक्रिया हुई जहां मोरक्को में खुली छूट दिए जाने के एवज में फ्रांस द्वारा दिए जाने वाले मुआवजे के विषय पर जर्मन सरकार के साथ वार्ता हुई। जर्मनी ने फ्रांस-ब्रिटेन की संयुक्त कार्रवाई की संभावना को भांपते हुए अपनी मांगों में संशोधन कर लिया। इसके परिणामस्वरूप फ्रांस ने 1912 में प्रशुल्क की समानता को स्वीकार करते हुए मोरक्को में संरक्षित राज्य (Protectorate) की स्थापना कर दी। इसके अलावा फ्रांस ने फ्रैंच कांगो का लगभग एक लाख वर्ग मील का क्षेत्र भी सौंप दिया। मोरक्को के झगड़े ने उत्तरी सागर के दोनों ही ओर अपनी कड़वी यादें छोड़ दीं।

इसी दौरान सितंबर 1911 में इटली ने तुर्की द्वारा अपने नागरिकों के साथ अच्छा व्यवहार न किए जाने और इटली के व्यापार में हस्तक्षेप करने को बहाना बनाकर तुर्की के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया। दरअसल इटली, मोरक्को में फ्रांस की स्थिति की बढ़ती मजबूती को लेकर आशंकित था क्योंकि फ्रांस वहां से अपनी नज़र त्रिपोली पर डाल सकता था। त्रिपोली की सहायता करने के लिए तुर्की के

सैनिकों को ब्रिटिश सरकार द्वारा मिस्र से होकर गुजरने की अनुमति न दिए जाने के कारण इटली ने आसानी से त्रिपोली पर कब्ज़ा कर लिया। इसके परिणामस्वरूप जब अक्तूबर, 1912 में ऊची में शांति समझौता हुआ तो तुर्की ने त्रिपोली, इटली को सौंप दिया। इस झगड़े का यूरोप की राजनीति पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा क्योंकि इसके दौरान इटली तिहरे गठबंधन से निकल कर तिहरे मैत्री समझौते में शामिल हो गया, जो प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने के बाद महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

बाल्कन लीग के गठन और उसकी विजय के कारण युद्धविराम संभव हो सका। इस लीग के गठन के पीछे बुल्गारिया के प्रधानमंत्री गिशॉफ और बुल्गारिया के सम्राट फर्डिनैंड की सोच शामिल थी। उनका मानना था कि बुल्गारिया की आकांक्षाएं केवल दूसरे बाल्कन राज्यों के सहयोग से ही पूरी हो सकेंगी। इसलिए वे अस्थायी तौर पर सर्बिया के साथ अपने मतभेदों को भूलने के लिए तैयार थे। इसके फलस्वरूप मार्च, 1912 में रूस के सहयोग से सर्बिया और बुल्गारिया के बीच एक संधि पर हस्ताक्षर किए गए। मई के महीने में यूनान की सरकार भी इस गठबंधन में शामिल हो गई। अगस्त माह में मॉन्टेनेग्रो का साथ भी हासिल कर लिया गया। इसके बाद सितंबर में एक सैन्य समझौता किया गया। ज़ाहिर है, इन दस्तावेज़ों का प्रयोग आपसी समर्थन के लिए ऐसी स्थिति में किया जाना था जब कोई बड़ी शक्ति तुर्की के शासन के अधीन किसी बाल्कन क्षेत्र पर अपना कब्ज़ा जमाने का प्रयास करे। संधि के दस्तावेज़ में एक गुप्त खंड भी जोड़ा गया था जिसमें यह प्रावधान था कि ऑटोमन साम्राज्य में आंतरिक उथल-पुथल की स्थिति में बड़े राष्ट्र रूस की सहमति से तुर्की के खिलाफ साझा कार्रवाई कर सकते थे।

लेकिन जल्दी ही तुर्की के द्वारा अल्बानिया में सुधार के वायदों के खिलाफ सोफिया और बेलग्रेड की ओर से शिकायतें आने लगीं और मॉन्टेनेग्रो ने अपनी फौजों को एकजुट करना शुरू कर दिया। 7 अक्तूबर को सुधारों को लागू करने के लिए ऑस्ट्रिया-हंगरी और रूस द्वारा दिया गया आश्वासन मोंटेनेग्रो और दूसरे ईसाई बाल्कन राज्यों को विद्रोह में हथियार उठाने से नहीं रोक सका। बुल्गारिया की ओर से स्वयं कुस्तुंतुनिया के लिए उत्पन्न हुए खतरे के कारण तुर्की ने 3 नवंबर को शक्तियों से हस्तक्षेप करने के लिए आग्रह किया। चारों ओर व्याप्त अस्त-व्यस्तता के इस दौर में शक्तिसंपन्न राष्ट्रों के राजदूतों का एक सम्मेलन लंदन में बुलाया गया जहां आक्रामक देशों के प्रतिनिधियों ने दिसंबर, 1912 में एक संधि पर हस्ताक्षर किए। लेकिन अनवर पाशा ने इस संधि को अस्वीकार कर दिया जिसके कारण एक नया झगड़ा शुरू हो गया। बुल्गारिया और सर्बिया के संयुक्त हमले में एड्रियानोपल की पराजय हुई। यूनानियों ने ज़ेनिना पर कब्ज़ा कर लिया। आखिरकार मई 1913 में विवश होकर तुर्की ने एक संधि पर हस्ताक्षर कर दिए जिसके अंतर्गत सलोनिका, दक्षिण मकदूनिया और क्रीट, यूनान को सौंप दिए गए। सर्बिया को उत्तरी मकदूनिया और बुल्गारिया को थ्रेस और एजियन तट सौंप दिए गए। इसके बदले में बुल्गारिया ने सिलिर्स्ट्रिया को रोमानिया के सुपुर्द कर दिया। तुर्की को कुस्तुंतुनिया पुनः प्राप्त हो गया और पूर्वी थ्रेस में एक आधार भी मिल गया।

इस समझौते को हुए अभी मुश्किल से एक महीना ही बीता था कि बुल्गारिया ने मकदूनिया में सर्बिया की फौजों पर धावा बोल दिया और सलोनिका पर भी हमला कर दिया। सर्बिया और यूनान ने बुल्गारिया के इस हमले का सामना किया और बुल्गारिया के आधिपत्य को रोकने के लिए रोमानिया ने अपनी एक फौज डेन्यूब नदी के पार भेज दी। तुर्कों ने भी स्थिति का लाभ उठाते हुए एड्रियानोपल पर पुन: कब्ज़ा कर लिया। इस हिंसक उथल-पुथल का परिणाम बुखारेस्ट की संधि (अगस्त, 1913) के रूप में सामने आया। इस संधि के कारण बुल्गारिया को एजियन समुद्र तक पहुंच मार्ग और मकदूनिया में प्राप्त हुए लाभों से हाथ धोना पड़ा। बुल्गारिया को 3,40,000 की जनसंख्या के लिए रोमानिया को कुछ भूमि भी सौंपनी पड़ी। एड्रियानोपल तुर्कों के कब्ज़े में बना रहा। 1913 के आते-आते स्वतंत्र अल्बानिया की स्थापना भी हो गई।

इस संकट ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटेन और जर्मनी के बीच सहयोग से युद्ध को टाला जा सकता है। लेकिन जर्मनी की सैन्य शक्ति बढ़ रही थी। पेरिस में भी यही भावना व्याप्त थी। विएना स्थित फ्रांस के राजदूत ने रिपोर्ट भेजी कि 'यह भावना दिनोंदिन बलवती होती जा रही है कि किसी अप्रतिरोध्य शक्ति की प्रेरणा से राष्ट्र संघर्ष की ओर बढ़ रहे हैं। संघर्ष को भड़काने के लिए केवल एक चिंगारी की आवश्यकता थी जो 28 जून 1914 को हैब्सबर्ग के सिंहासन के उत्तराधिकारी आर्चड्यूक फ्रांसिस फर्डिनैंड की बोस्निया के सरायेवो में हत्या के साथ भड़क उठी। इस घटना के साथ जो सिलसिला शुरू हुआ वह पांच सप्ताह बाद प्रथम विश्वयुद्ध के रूप में परिणत हो गया। लेकिन किसी न किसी कारण से किसी भी राष्ट्राध्यक्ष ने इसे रोकने का प्रयास नहीं किया। 23 जुलाई 1914 को ऑस्ट्रिया ने दस मुद्दों को लेकर बेलग्रेड को अंतिम चेतावनी देते हुए उसे 48 घंटों में अपना उत्तर देने को कहा। इसके तुरंत बाद 31 जुलाई को जर्मनी ने रूस को अंतिम चेतावनी देते हुए उसे 12 घंटे के अंदर अपनी फौजों को जमा होने से रोकने के लिए कहा। अगले ही दिन जर्मनी और रूस के बीच युद्ध छिड़ गया। 3 अगस्त को जर्मनी ने फ्रांस के खिलाफ भी युद्ध की घोषणा कर दी और उसकी फौज बेल्जियम की सीमा में जा घुसी। यह कार्रवाई ब्रिटेन को भड़काने के लिए काफी थी और उसने जर्मनी को बेल्जियम से अपनी फौजें हटा लेने की चेतावनी दे दी। चेतावनी का कोई प्रत्युत्तर न मिलने पर ब्रिटेन ने 4-5 अगस्त की मध्यरात्रि को युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी। मूलत: संघर्ष का प्रमुख कारण निकट-पूर्व में निहित था। ''मैं विश्वयुद्ध को नहीं देखूंगा'', बिस्मार्क ने 1891 में बर्लिन से कहा था, ''लेकिन आप देखेंगे, और इस युद्ध की शुरुआत पूर्व से होगी।''

प्रथम विश्वयुद्ध के कारण

आर्चड्यूक फ्रांसिस फर्डिनैंड की हत्या के रूप में तात्कालिक उकसावे के अलावा दूसरे कारण भी प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत के लिए जिम्मेदार थे। ये कारण एक पीढ़ी से भी अधिक समय से उभर रहे थे। सर्वप्रथम तो कट्टर राष्ट्रवाद की भावना ने विभिन्न देशों के लोगों में जातीय श्रेष्ठता को भड़काया था। इसके अलावा, राष्ट्रों के बीच कड़ी प्रतिद्वंद्विता ने एशिया, अफ्रीका और बाल्कन

क्षेत्रों में उनकी औपनिवेशिक संपत्तियों के झगड़ों के कारण कटुता उत्पन्न कर दी थी। अंततः बाल्कन क्षेत्रों के लोगों की अपूर्ण राष्ट्रवादी आकांक्षाओं ने इस प्रायद्वीप को एक ऐसे लाक्षागृह में परिवर्तित कर दिया था जो पूरे यूरोप को भस्म कर सकता था। दूसरे, परस्पर शंकालु समूहों के बीच शक्तियों का बंटवारा विश्व शांति के लिए खतरे का कारण बन सकता था। सैन्यवाद की भावनाओं से ओतप्रोत और गुप्त वार्ताओं और समझौतों पर चलने वाले इन शक्तिशाली गठबंधनों ने ही वस्तुतः परस्पर प्रतिद्वंद्विताओं को बढ़ावा देकर युद्ध का मंच तैयार किया था। तीसरे, औपनिवेशिक महत्वाकांक्षाओं के उस युग में बाज़ारों और कच्चे माल के स्रोतों तथा अतिरिक्त पूंजी के निवेश के लिए क्षेत्रों की तलाश जैसे आर्थिक लाभों के कारण राष्ट्रों के बीच प्रायः प्रतिद्वंद्विता होती थी। दरअसल उपनिवेशों के लिए जर्मनी की अधूरी तलाश 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत का पूर्वाभास थी।

प्रथम विश्वयुद्ध का स्वरूप और घटनाक्रम

जब यह युद्ध अंततः शुरू हुआ तो यह विस्तार और अपनाई गई प्रक्रिया की दृष्टि से अद्वितीय था। इस युद्ध में विश्व के लगभग प्रत्येक ज्ञात राष्ट्र ने भाग लिया और इसे विश्व के लगभग हर हिस्से में लड़ा गया। इस युद्ध में पनडुब्बियों और ज़ेपलिन (परिचालनीय गुब्बारे) से लेकर विषाक्त गैस, टैंक और बख्तरबंद गाड़ियों जैसे हर उस घातक हथियार का प्रयोग किया गया, जिसका वैज्ञानिकों ने उस समय तक आविष्कार कर लिया था । इस युद्ध में हताहत होने वाले मनुष्यों की संख्या अब तक लड़े गए युद्धों में सबसे अधिक थी। लेकिन पूर्व में लड़े गए अधिकांश यूरोपीय युद्धों की भांति यह युद्ध भी 'शक्ति के संतुलन' के लिए लड़ा गया था। इस ऐतिहासिक युद्ध में एक ओर जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी, बुल्गारिया और तुर्की थे तो दूसरी ओर फ्रांस, इंग्लैंड, जापान और इटली थे।

युद्ध के शुरुआती साढ़े तीन वर्षों तक युद्ध में जर्मनी का पलड़ा भारी रहा। बोल्शेविकों के द्वारा ज़ारशाही को उखाड़ फेंके जाने के बाद 1917 में रूस के जर्मनी के साथ मिल जाने से जर्मनी की स्थिति और भी मज़बूत हो गई। मित्र राष्ट्र, युद्ध को हारने के कगार पर दिखाई देने लगे थे। जर्मनी द्वारा शुरू किए गए पनडुब्बी युद्ध, जिसे यू-बोट की धमकी भी कहा जाता है, के कारण मित्र राष्ट्रों का गहरे समुद्र में टिक पाना भी संभव नहीं रहा। अंततः एक जर्मन पनडुब्बी द्वारा लुसिटानिया नाम के एक अमेरिकी नागरिक जहाज को डुबो दिए जाने के बाद इस महत्त्वपूर्ण मौके पर अमेरिकी हस्तक्षेप के बाद मित्र राष्ट्रों ने राहत की सांस ली। अमेरिका और मित्र राष्ट्रों की संयुक्त शक्ति का सामना करने में असमर्थ जर्मनी ने नवंबर, 1918 में समर्पण कर दिया। उस समय तक मित्र राष्ट्र क्रमशः तुर्की को सीरिया में पराजित कर चुके थे। उन्होंने बुल्गारिया को समर्पण के लिए मजबोअर कर दिया था और ऑस्ट्रिया को परास्त किया जा चुका था।

इसी दौरान अमेरिकी राष्ट्रपलि वुडरो विल्सन ने अपने प्रसिद्ध 'चौदह बिंदुओं' के रूप में शांति समझौते के आधार की रूपरेखा घोषित कर दी थी। एक नौसैनिक विद्रोह के बाद जर्मनी की स्थिति अचानक बदल गई थी। कैसर ने भाग कर हालैंड में शरण ले ली। इसके बाद जर्मनी में एक

गणराज्य की स्थापना की गई जिसने 11 नवंबर 1918 को युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर किए। इस प्रकार चार वर्ष के भीषण रक्तपात के बाद प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति हुई।

1919 का पेरिस शांति सम्मेलन

युद्ध समाप्ति के बाद शांति स्थापना की शर्तों को तय करने के लिए पेरिस में 1919 में एक सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें विजयी राष्ट्रों ने हिस्सा लिया। अनेक कारणों से ऐसा प्रतीत होता था कि शांति सम्मेलन के स्थान का चुनाव प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर किया गया था। इसके अलावा, इस सम्मेलन में शत्रु राष्ट्रों की क्षेत्रीय संपत्तियों के बंटवारे के संबंध में ऐसी अनेक गुप्त संधियों पर विचार किया जाना था जिन पर युद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किए थे। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि फ्रांसीसी प्रधानमंत्री क्लीमेंक्यू द्वारा तय किए गए कठिन राजनीतिक लक्ष्यों और जर्मनी को युद्ध की कीमत चुकाने के लिए बाध्य करने के ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज के चुनावी आश्वासन के दबाव में राष्ट्रपति विल्सन को अपने चौदह मुद्दों में से अनेक पर समझौता करना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप पेरिस में और उसके आसपास विभिन्न स्थानों पर पांच श्रृंखलाबद्ध संधियों पर हस्ताक्षर किए गए।

वर्साय की संधि, 1919

28 जून 1919 को मित्र राष्ट्रों और जर्मनी के बीच वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर किए गए, जिसमें जर्मनी के साथ शांति स्थापना की शर्तें निर्धारित की गई थीं। इस संधि के तहत जर्मनी ने अल्सास-लोरेन फ्रांस को सौंप दिया और उत्तर में फ्रांसीसी कोयला क्षेत्र को हुए नुकसान के मुआवज़े के रूप में फ्रांस को 15 वर्ष तक सार घाटी में स्थित अपने कोयला क्षेत्र का प्रयोग करने देने का वचन भी दिया। जर्मनी ने एक जनमत-संग्रह के बाद यूपेन और मालमेडी के क्षेत्र बेल्जियम को समर्पित कर दिए। उत्तर में भी एक जनमत-संग्रह के बाद श्लेशविग पुनः डेनमार्क के सुपुर्द कर दिया गया। बाल्टिक की पश्चिमी सीमा पर एक पोलिश गलियारा बनाने के लिए जर्मनी को पश्चिमी प्रशा का एक भाग गंवाना पड़ा। मेमेल शहर लिथुआनिया को प्राप्त हुआ जबकि प्रशा के नियंत्रण वाले पोलैंड को, पोलैंड के नवसृजित राज्य के साथ जोड़ दिया गया। डेंज़िग के बंदरगाह को अंतर्राष्ट्रीय बंदरगाह बना दिया गया। इसे राष्ट्र संघ (League of Nations) के नियंत्रण के अधीन एक मुक्त शहर के रूप में रखा गया।
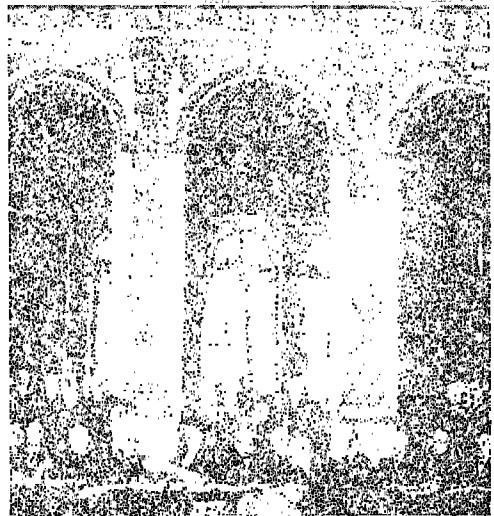
वर्साय के हाल ऑफ मिरर्स में विल्सन, क्लीमेंक्यू और लॉयड जॉर्ज

यूरोपीय मुख्य भूभाग में क्षेत्रीय नुकसान उठाने के अलावा जर्मनी को अपने अफ्रीकी उपनिवेशों पर अधिकारों से वंचित होना पड़ा और चीन में भी अपनी सभी संपत्तियां और अधिकार गंवाने पड़े। मित्र राष्ट्र इन्हें राष्ट्र संघ के 'अधिदेश-प्राप्त' राज्य (mandatories) मानते थे।

जर्मन सैन्यवाद को नियंत्रित करने के उद्देश्य से, संधि में जर्मनी से यह वचन लिया गया कि वह अपनी फौज में सैनिकों की संख्या को घटाकर 1,00,000 करेगा, अनिवार्य सैन्य भर्ती को बंद करेगा और युद्ध सामग्री के उत्पादन को नियंत्रित करेगा तथा उसके आयात-निर्यात को बंद कर देगा। उसे अपने पास पनडुब्बी रहित छोटी नौसेना को छोड़कर जर्मन बेड़े को ब्रिटेन को समर्पित करना था। राइन नदी के पूर्व की ओर 30 मील चौड़ी एक भूक्षेत्रीय पट्टी को असैनिक क्षेत्र घोषित किया गया जबकि कीव नहर को सभी राष्ट्रों के उपयोग के लिए खोल दिया गया।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जर्मनी को 'युद्धारंभ-दोष' को स्वीकार करना पड़ा जिसके लिए उस पर युद्ध के कारण क्षति का मुआवजा भरने का भारी जुर्माना भरने का दंड लगाया गया।
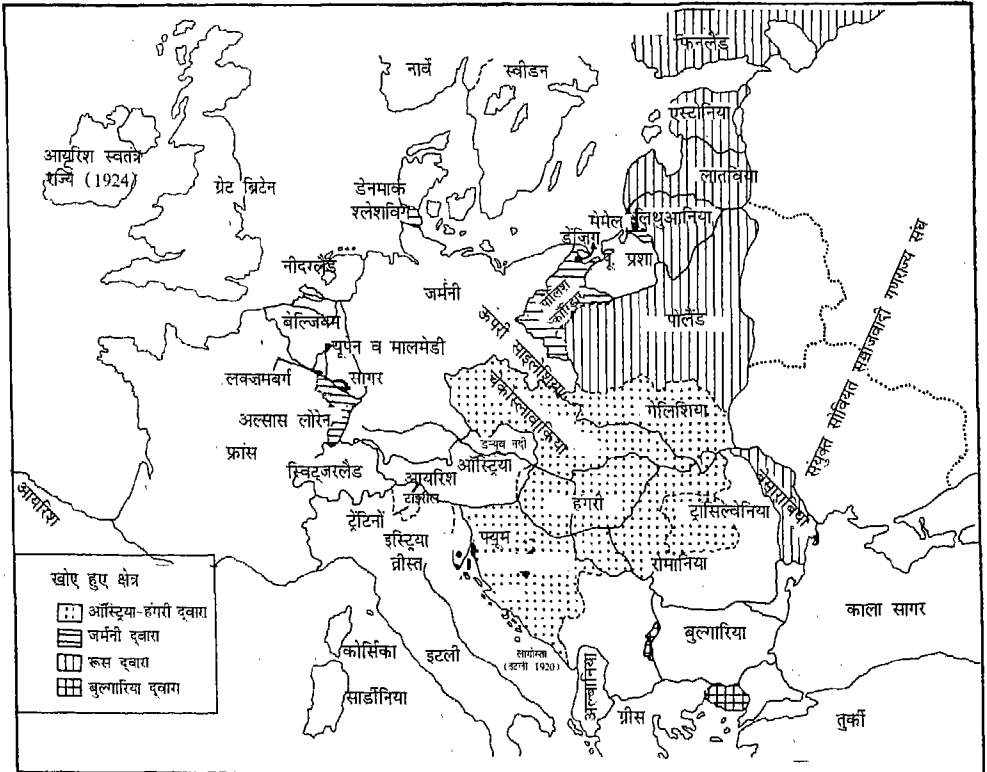
प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोपीय देशों की सीमाओं में परिवर्तन

उसे मित्र राष्ट्रों की नागरिक आबादी और उनकी संपत्ति को पहुंचे नुकसान के लिए आर्थिक क्षतिपूर्ति करनी पड़ी। यह निश्चय किया गया कि संधि की शर्तों को पूरा किए जाने तक मित्र राष्ट्रों की फौजें राइन नदी के बाएं तट पर कब्ज़ा किए रहेंगी।

वर्साय की संधि एक 'थोपी गई शांति' थी क्योंकि जर्मन प्रतिनिधियों को संधि की शर्तों पर एकांत में चर्चा करने की अनुमति नहीं थी, बल्कि उन्हें केवल संधि की शर्तें प्राप्त करने और बाद में उन पर हस्ताक्षर करने के लिए ही बुलाया जाता था।

सेंट जरमेन संधि, 1919

सेंट जरमेन की संधि मित्र राष्ट्रों और ऑस्ट्रिया-हंगरी के बीच हुई थी। इस संधि के तहत पुराने साम्राज्य को राष्ट्रीयता के सिद्धांत के आधार पर विभाजित कर दिया गया था। इसके फलस्वरूप बोहेमिया और मोराविया ने मिलकर चेकोस्लोवाकिया के नए राज्य का गठन किया। इसी प्रकार बोस्निया और हरज़ेगोविना को सर्बिया के साथ मिलाकर यूगोस्लाविया का नया राज्य गठित किया गया। दक्षिणी टाइरोल का ऑस्ट्रियाई भू-क्षेत्र, त्रीस्त और इस्ट्रिया सहित ट्रेंटिनो और ऐड्रियाटिक के उत्तर में स्थित तटीय पट्टी इटली को प्राप्त हुए। वहीं दूसरी ओर पोलैंड को गैलिशिया प्राप्त हुआ और अंततः हंगरी को ऑस्ट्रिया से अलग कर दिया गया।

न्यूली संधि, 1919

इस संधि के तहत बुल्गारिया ने पश्चिमी थ्रेस यूनान को, मकदूनिया का एक भाग यूगोस्लाविया को और डोब्रिया, रूमानिया को सौंप दिया।

ट्रिअनॉन संधि, 1920

ट्रिअनॉन की संधि के माध्यम से हंगरी ने ट्रांसिल्वेनिया, रूमानिया को और स्लोवाकिया, चेकोस्लोवाकिया को सत्तांतरित कर दिया। यूगोस्लाविया को क्रोएशिया मिल गया और ऑस्ट्रिया की ही भांति हंगरी का भी समुद्र तक पहुंच मार्ग खत्म हो गया।

सेव्रे संधि, 1920

सेव्रे की संधि मित्रराष्ट्रों और तुर्कों के बीच हुई थी। इस संधि के तहत तुर्की के खिलाफ भी उतनी ही कठोर कार्रवाई हुई और उसे अफ्रीका और मध्यपूर्व में अपने समस्त अधिकार गंवाने पड़े। यूनान ने पूर्वी थ्रेस के एक भाग, स्मिरना और एशिया माइनर में तट के आस-पास के क्षेत्र पर कब्ज़ा कर लिया। इस संधि के अनुसार आर्मीनिया को एक अलग स्वंतत्र राज्य बनाया जाना था और दारदेनल और बास्फोरस के जलडमरूमध्यों को क तटस्थ अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र बनाया जाना था। लेकिन मुस्तफा कमाल के नेतृत्व वाली तुर्की की राष्ट्रवादी पार्टी ने इस संधि को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इसके विपरीत उसने एक विद्रोह का नेतृत्व करते हुए यूनानियों को एशिया माइनर से बाहर खदेड़ दिया। इसलिए शक्तिसंपन्न राष्ट्रों ने लुसान की नई संधि की, जो तुर्की के हितों के अधिक अनुकूल थी।

युद्ध के परिणाम

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद विश्व में नई और अधिक शक्तिशाली राजनीतिक-सैद्धांतिक शक्तियां उभर कर सामने आईं। विश्व के चार

शक्तिशाली साम्राज्यों के साथ-साथ पुराने राजवंश समाप्त हो गए और उनका स्थान नए और छोटे राष्ट्रों ने ले लिया जो गणतांत्रिक शासन-व्यवस्था के पक्षधर थे। कुछ समय तक लोकतंत्र अपने पंख पसारता दिखाई दिया। लेकिन युद्ध के बाद की समस्याओं से निपटने में कई नई सरकारों की अक्षमता के कारण जल्दी ही लोकतंत्र के प्रति अनास्था का भाव प्रकट होने लगा। इस विफलता के कारण बोल्शेविकवाद, फासीवाद और नाज़ीवाद जैसी तानाशाही प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ। लेकिन, फिर भी ऐसा लगता था कि पूरा विश्व राष्ट्र संघ के माध्यम से विवादों को हल करने के लिए प्रतिबद्ध है। शांति और लोकतांत्रिक अधिकारों की स्थापना के लिए प्रयासों के साथ ही अनेक नई घटनाएं भी घटीं। श्रम का महत्त्व बढ़ गया। बड़े पैमाने पर महिलाओं को मताधिकार दिए गए। चिकित्सा, विमानन और पिछली शताब्दी की ही भांति विनाश की मशीनों के निर्माण के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रगति भी हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध और भारत पर उसका प्रभाव

राष्ट्रवादी भावना की लहर केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रही। इसने चीन और तुर्की दोनों को ही जागृत कर दिया। ब्रिटेन को मिस्र के राष्ट्रवाद के आगे झुकना पड़ा और 1922 में वहां के संरक्षित राज्य से बाहर निकलना पड़ा।

इसके विपरीत, भारत के प्रति ब्रिटेन का रवैया विश्वासघात का ही रहा। भारत ने ब्रिटेन की सबसे मुश्किल घड़ी में उसकी सहायता की थी। युद्ध के पहले चरण में लगभग 3,00,000 भारतीय सैनिक पश्चिम एशिया, अफ्रीका और यूरोप में युद्ध के कई मोर्चों पर लड़े थे। उसके बाद के चरणों में युद्ध में लड़ने के लिए 80,00,000 सैनिकों की भर्ती की गई थी। युद्ध साम्रगी, हथियार, गोला-बारूद के अलावा भारत ने युद्ध की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बड़ी मात्रा में गेहूं, चावल, चाय, कपास, जूट, रबड़, इस्पात और पेट्रोलियम की आपूर्ति की थी। इसके अलावा, भारत ने युद्ध पर व्यय करने के लिए ब्रिटेन को 10 करोड़ पाउंड की राशि भी दी थी। भारत की अपनी फौजों के युद्ध में शामिल होने पर लगभग 30 करोड़ पाउंड प्रतिवर्ष खर्च हुआ था। इसके बदले में भारत को युद्ध समाप्त हो जाने पर अपनी स्थिति में सुधार की बड़ी आशा थी। ये अपेक्षाएं उस समय और बढ़ गईं जब भारत के लिए विदेश मंत्री एडविन मॉन्टेग्यू ने 20 अगस्त 1917 को ब्रिटेन के हाउस ऑफ कॉमंस में घोषणा की कि ''महामहिम की सरकार की नीति, जिससे भारत सरकार पूरी तरह सहमत है, यह है कि प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों की भागीदारी बढ़े और ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न अंग के रूप में एक उत्तरदायी भारत सरकार के निर्माण के लिए स्वशासी संस्थाओं का चरणबद्ध विकास किया जाए।''

नवंबर 1917 में, मॉन्टेग्यू स्वयं भारत आया और उसने भारत के वायसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड के साथ मिलकर शासकीय सुधारों की एक योजना तैयार की जिसे भारत सरकार अधिनियम, 1919 या मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के नाम से जाना जाता है। लेकिन ये सुधार 1909 के इंडियन कांउसिल्स एक्ट या मॉर्ले-मिंटो सुधारों में किए गए कुछ सुधार मात्र ही थे। सांप्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र के सिद्धांत को यथावत रखा गया था। सिर्फ विधानमंडलों को पहले की अपेक्षा कुछ और

अधिकार दे दिए गए थे। प्रांतों में भारतीय मंत्रियों को कुछ शक्तियां देने के लिए द्वैध शासन (Dyary) नाम की एक नई व्यवस्था लागू की गई थी। रॉलेट अधिनियम (राजनीतिक मुकदमों में न्यायालयी प्रक्रिया का संक्षिप्तीकरण और बिना विचारण के लोगों को गिरफ्तार करने के लिए कार्यपालिका को व्यापक अधिकार दिया जाना), जलियांवाला बाग जनसंहार (जहां जनरल डायर ने एक शांतिपूर्ण भीड़ पर गोलिया चलाईं जिसमें हजारों लोग मारे गए थे) और खिलाफत संबंधी ज्यादतियों (मुस्लिमों की भावनाओं को ठेस पहुंचाने के लिए तुर्की के सुल्तान को दंडित किया जाना) जैसी दमनकारी कार्रवाइयों के बाद आए इन सुधारों ने भारतीयों की आशाओं को पूरा नहीं किया। इसके परिणामस्वरूप भारत के स्वाधीनता संग्राम में एक जन-आंदोलन के युग की शुरुआत हुई। इस जनजागृति के प्रमुख नेता मोहनदास करमचंद गांधी थे। उनके नेतृत्व में देश ने अंतत: 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

रूसी क्रांति, 1917

प्रथम विश्वयुद्ध के काल के दौरान वर्ष 1917 में दो प्रमुख घटनाएं घटीं। एक तो संयुक्त राज्य अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेते हुए युद्ध में प्रवेश किया, जिससे युद्ध का भाग्य निर्धारित हो गया। दूसरी घटना जो युद्ध के परिणाम की दृष्टि से किसी भी प्रकार पहली घटना से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, रूसी क्रांति थी। इस क्रांति ने सदियों से चली आ रही रूसी जारशाही व्यवस्था को उखाड़ फेंका और 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व' का सूत्रपात कर दिया। अपनी प्रकृति और प्रभाव के कारण यह क्रांति फ्रांस की क्रांति के बाद सबसे बड़ी सामाजिक बदलाव की घटना बन गई।

रूसी क्रांति के कारण

जिस रूसी क्रांति का प्रकटीकरण 7 नवंबर 1917 को पेट्रोग्राड में बोल्शेविकों द्वारा सत्ता पर कब्ज़ा किए जाने के रूप में हुआ, उसके लिए वातावरण लंबे समय से तैयार हो रहा था। 1905 के रूस-जापान युद्ध ने ज़ारशाही व्यवस्था की सक्षमता में लोगों के विश्वास को झकझोर कर रख दिया था। इसके बाद रूसी सेना को मिली पराजयों ने लोगों के मन में पुरानी शासन व्यवस्था के प्रति और अधिक अविश्वास पैदा कर दिया। इन पराजयों से तत्काल इस भावना ने जन्म लिया कि इस निरंकुश और अकुशल शासन-व्यवस्था की कोई उपयोगिता नहीं रह गई है, इसलिए इसे समाप्त कर दिया जाए।

पहली क्रांति

रूस पूरे उत्साह के साथ युद्ध में शामिल हुआ था। शुरुआत में उसे कुछ सफलताएं भी मिलीं। लेकिन 1915 में जर्मनी के हाथों उसकी हार ने उसकी शासन-व्यवस्था की दुर्बलता को उजागर कर दिया। गोला-बारूद और अन्य युद्ध सामग्री का बेहद अभाव था। ज़ार निकोलस द्वितीय केवल कमजोर शासक ही नहीं था बल्कि वह अपने मंत्रियों के प्रभाव में रहता था जिनमें से अधिकांश अकुशल थे और कुछ बेहद बेईमान और भ्रष्ट थे। इससे भी बुरी बात यह थी कि ज़ार द्वारा जर्मनी के साथ एक अलग शांति समझौता करने की इच्छा व्यक्त किए जाने की अफवाह

ज़ोरों पर थीं। ज़ारिना एलेक्जेंड्रा फियोदोरोवना और उसके मार्गदर्शक ग्रिगोरी एफिमोविच रैस्पुतिन, जो कट्टर फासीवादी और 'धार्मिक गुरु' था, के नेतृत्व में रूस के अंदर ही एक प्रतिक्रियावादी समूह की मौजूदगी से यह अफवाह तेजी से फैली। राज्य परिषद् या ड्यूमा के सदस्य और स्वयं सेना के अधिकारियों को शिकायत थी कि सरकार युद्ध के संचालन में बाधाएं खड़ी कर रही है। इसलिए जनाक्रोश के विस्फोट में रैस्पुतिन की हत्या कर दी गई। ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों ने उपद्रव शुरू कर दिया। शहरों में कामगारों ने हड़ताल कर दी। सेना में सिपाही सेना को छोड़ कर भागने लगे। इतना ही नहीं डबलरोटी का अभाव होने के कारण आम जनता की कठिनाइयां भी बढ़ गईं। इसके परिणामस्वरूप मार्च 1917 में स्थानीय शासन के दायित्वों को पूरा करने के लिए राजधानी पेट्रोग्राड में सैनिकों और मजदूरों के एक 'सोवियत' या परिषद् का गठन किया गया। इसके साथ ही ड्यूमा ने एक अंतरिम सरकार का गठन किया और ज़ार को अपनी सत्ता को इस सरकार को सौंपने के लिए विवश कर दिया।

इस अंतरिम सरकार में केवल 'बुर्जुआ' या मध्य वर्ग के प्रतिनिधियों को ही शामिल किया गया था। पी. एन. मिलियुकोव के नेतृत्व वाली इस सरकार में मुख्यत: नरमपंथी गणतंत्रवादियों, जो 'कादेत' कहलाते थे, को शामिल किया गया था। इस अंतरिम सरकार ने पश्चिमी यूरोप में प्रचलित उदारवादी सुधारों; जैसे- प्रेस की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, वाणी तथा विचारों की स्वतंत्रता और सामाजिक स्वतंत्रता जैसे उदारवादी सुधारों को लागू करने की घोषणा करने के साथ-साथ यह घोषणा भी की कि वह रूस की स्थायी सरकार के स्वरूप को तय करने के लिए जल्दी से जल्दी राष्ट्रीय संविधान सभा का चुनाव कराएगी। इसके साथ ही अंतरिम सरकार ने भ्रमपूर्ण स्थिति को स्पष्ट करते हुए घोषणा की कि युद्ध जारी रहेगा। इस घोषणा के पीछे सोच यह थी कि जनसाधारण की राष्ट्रप्रेम की भावना का लाभ उठाया जाए। लेकिन आम जनता के लिए शांति, भूमि और रोटी के मुद्दे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। वे आमूल सामाजिक और आर्थिक बदलाव देखने के लिए उत्सुक थे। इस प्रकार, जो क्रांति एक उदारवादी सामाजिक आंदोलन के रूप में शुरू हुई थी, वह धीरे-धीरे समाजवाद की ओर बढ़ने लगी। रूस में जगह-जगह स्थानीय 'सोवियत' बन गए जो प्रचार और जन-आंदोलन के केंद्र थे। इसके परिणामस्वरूप औद्योगिक मजदूरों ने अधिक मजदूरी और काम के घंटों में कटौती की मांग को लेकर हड़ताल कर दी। किसानों ने कुलीन वर्ग के लोगों से उनकी जागीरें छीन लीं और उन्हें छोटे-छोटे टुकड़ों में आपस में बांट लिया। सैनिक विद्रोही हो गए और जर्मन सैनिकों के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करने लगे। फिनलैंड और पोलैंड मूल के अल्पसंख्यक नागरिक अपनी स्वतंत्रता के लिए रूस से अलग होने की मांग करने लगे।

दूसरी क्रांति

ऊपर बताई गई घटनाओं के परिणामस्वरूप 'कादेतों' को अंतरिम सरकार से निकाल बाहर किया गया। इसके बाद एलेक्जेंडर केरेंस्की के नेतृत्व में नरमपंथी समाजवादी, जिन्हें 'मेंशेविक' कहा जाता था, सत्ता में आए। जहां तक युद्ध का संबंध है, उनकी नीति उदार गणतंत्रवादियों से कोई भिन्न नहीं थी।

वे चाहते थे कि युद्ध को शीघ्र लेकिन सम्मानजनक ढंग से समाप्त किया जाए। कुछ समय के लिए तो केरेंस्की ने गैलिशिया में जर्मनी के खिलाफ एक सनसनीखेज आक्रमण-अभियान चलाया। लेकिन सैनिकों के बोल्शेविक प्रचार के प्रभाव में आ जाने से यह विजय शीघ्र ही हार में बदल गई। घरेलू मोर्चे पर मेंशेविकों ने लोगों को यह आश्वासन भी दिया था कि वे सामाजिक सुधारों के साथ-साथ राजनीतिक लोकतंत्र भी लागू करेंगे। लेकिन इस मामले में भी उन्होंने संवैधानिक प्रक्रिया की रट दोहराई। बोल्शेविकों ने इसका समर्थन नहीं किया। व्लादिमीर इल्यिच लेनिन और लियोन ट्रॉट्स्की जैसे क्रांतिकारियों के नेतृत्व वाली समाजवादियों की यह चरमपंथी शाखा तुरंत ही सर्वहारा (Proletariat) या श्रमजीवी वर्ग का शासन स्थापित करना चाहती थी और इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर हिंसक उपायों के प्रयोग का भी समर्थन करती थी। इसके लिए उन्होंने युद्ध के खिलाफ अभियान चलाया और वे बिना कोई कब्ज़ा किए और बिना कोई मुआवज़े के भुगतान के आधार पर शांति स्थापित करना चाहते थे।

मेंशेविकों ने इस आंदोलन के खिलाफ एक अन्य आंदोलन छेड़कर सफलता हासिल करने का प्रयत्न किया लेकिन वे असफल रहे। रिगा पर जर्मनों की विजय के बाद स्वयं पेट्रोग्राड के लिए खतरा उत्पन्न हो गया था। इससे बोल्शेविकों को अपेक्षित अवसर मिल गया। उनके सदस्यों की संख्या इतनी बढ़ गई कि उन्होंने पेट्रोग्राड के सोवियत पर कब्ज़ा कर लिया। अंततः नवंबर 1917 में उन्होंने विप्लव करके अंतरिम सरकार को उखाड़ फेंका। केरेंस्की देश छोड़ कर भाग गया। इस प्रकार, दूसरी क्रांति सफल हुई और सत्ता अब बोल्शेविकों के हाथ में आ गई।

नवंबर 1917 में बोल्शेविकों द्वारा पेट्रोग्राड के विंटर पैलेस पर आक्रमण

बोल्शेविक शासन का सुदृढ़ीकरण

बोल्शेविकों के सामने अब सबसे पहला कार्य बाहर से शांति स्थापित करना था। इसलिए, सत्ता पर काबिज़ होते ही लेनिन ने केंद्रीय शक्तियों से वार्ता की और ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि (1918) पर हस्ताक्षर किए। इस संधि के परिणामस्वरूप रूस को उस अधिकांश भू-क्षेत्र से हाथ धोना पड़ा जो उसने पीटर महान के समय से अर्जित किया था। लेकिन सामाजिक क्रांति को सफल बनाने के लिए कटिबद्ध बोल्शेविकों के लिए यह मूल्य चुकाना आवश्यक था।

इस प्रकार, एक बार जर्मन आक्रमण के खतरे से सुरक्षित होते ही बोल्शेविक साम्यवादी सिद्धांतों

के आधार पर रूस के सामाजिक और आर्थिक जीवन का पुनर्निर्माण करने में जुट गए। किसी भी प्रकार की निजी संपत्ति पर रोक लगा दी गई। राज्य के हित में, भूमि खेती के लिए किसानों को सौंप दी गई। कारखानों और कार्यशालाओं के प्रबंधन का कार्य मजदूरों के हाथों में सौंप दिया गया। श्रम, सभी नागरिकों के लिए अनिवार्य कर दिया गया। पिछली रूसी सरकारों द्वारा लिए गए सभी सार्वजनिक ऋणों का भुगतान करने के दायित्व को अस्वीकार कर दिया गया। रूस के परंपरावादी चर्च को लूटकर खत्म कर दिया गया। इससे भी बढ़कर, इन सुधारों का किसी भी रूप में विरोध करने वालों को 'चेका' नाम के भयानक न्यायाधिकरण के माध्यम से कारावास और मृत्युदंड की सजाएं सुनाई जाने लगीं। इस आतंक के शिकारों में ज़ार निकोलस द्वितीय और उसके परिजन प्रमुख थे, जिनकी जुलाई, 1918 में गोली मार कर हत्या कर दी गई। मित्र राष्ट्रों की ओर से इस संबंध में बेमन से किया गया हस्तक्षेप असफल रहा। बाहरी सैन्य सहायता के अभाव और आपसी फूट से त्रस्त बोल्शेविक विरोधी, ट्रॉट्स्की द्वारा संगठित लाल सेना से मुकाबला करने में अक्षम थे। इसके परिणामस्वरूप बोल्शेविक 70 वर्षों से अधिक समय तक तब तक शासन करते रहे जब तक कि उनके द्वारा बड़ी मेहनत से तैयार किया ढांचा 1991 में अपने ही बोझ तले चरमरा कर ध्वस्त नहीं हो गया।

रूसी क्रांति के कारण

इससे पहले किए गए उल्लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 1917 में बोल्शेविकों द्वारा सत्ता हथियाए जाने से पहले भी काफी समय से रूसी जनता के सभी वर्गों में ज़ारशाही शासन-व्यवस्था के खिलाफ असंतोष पनप रहा था। किसान वर्ग, जो सामाजिक ढांचे में सबसे निचले स्तर पर था, सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक सुरक्षा की मांग कर रहा था। उनकी जनसंख्या में वृद्धि के कारण उनकी छोटी-छोटी जोतों पर दबाव बहुत अधिक बढ़ गया था। इसके विपरीत कुलीन वर्ग के पास बड़ी-बड़ी जागीरें थीं और वे गरीब किसानों की मेहनत पर वैभवपूर्ण जीवन जीते थे। इसलिए समय आने पर सामाजिक क्रांतिकारी पार्टी के अधिकांश सदस्यों के रूप में किसान ही शामिल हुए। इसी प्रकार बेहद कम मजदूरी और कमरतोड़ कामकाज, लंबे घंटों के अत्याचार से पिसते हुए मजदूर बड़ी संख्या में मजदूरों की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के सदस्य बन गए। सामाजिक ढांचे में बीच के सोपान पर आने वाले बुर्जुआ (मध्य वर्ग) के लोगों के प्रति एक जवाबदेह सरकार का गठन करके निरंकुश जारशाही शासन पर लगाम कसने का प्रयास किया। इन जन-आकांक्षाओं का नेतृत्व ऐसे 'बुद्धिजीवी' कर रहे थे जो व्यक्ति की स्वतंत्रता और आमूल राजनीतिक सुधार के पक्षधर थे। अंत में, यहूदी समुदाय तथा पोलैंड और फिनलैंड मूल के ऐसे नागरिक भी थे जो जारों द्वारा चलाई जा रही 'रूसीकरण' की नीति का कड़ा विरोध करते थे और किसी भी क्रांतिकारी संगठन से जुड़ने के लिए तैयार थे। इस प्रकार जन-असंतोष के विभिन्न तत्त्वों ने नरमपंथी गणतंत्रवाद और मार्क्सवादी समाजवाद की मिलीजुली विचारधाराओं के साथ मिलकर ज़ारशाही शासन को समाप्त कर दिया।

1. प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बनने वाली परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।
2. 'मैं विश्वयुद्ध को नहीं देखूंगा, लेकिन आप देखेंगे, और यह युद्ध निकट-पूर्व से शुरू होगा।' बिस्मार्क के इस कथन को निकट-पूर्व के उस संकट के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए जो प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बना।
3. 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति तक एक विश्व शक्ति के रूप में जापान के विकासक्रम का उल्लेख कीजिए।
4. प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने से ठीक पहले यूरोपीय शक्तियों के राजनीतिक संबंधों का उल्लेख कीजिए।
5. स्पष्ट कीजिए कि यूरोप के बाहर हुई घटनाओं ने प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने से पहले यूरोप की राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया।
6. प्रथम विश्वयुद्ध के प्रभावों की सामान्य तथा भारत के विशेष संदर्भ में चर्चा कीजिए।
7. 1919 के पेरिस शांति सम्मेलन और मित्र राष्ट्रों द्वारा पराजित केंद्रीय शक्तियों के साथ की गई विभिन्न संधियों का उल्लेख कीजिए।
9. उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनके कारण रूस में ज़ारशाही शासन का अंत हुआ।
10. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
    (i) बोअर युद्ध
    (ii) ब्रिटेन-फ्रांस समझौता
    (iii) मोरक्को का विवाद
    (iv) प्रथम विश्वयुद्ध के कारण
    (v) वर्साय की संधि (1919)
    (vi) पहली रूसी क्रांति
    (vii) रूसी क्रांति के कारण

- 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने तक विश्व में हुई विभिन्न घटनाओं की एक क्रमिक तालिका बनाइए।
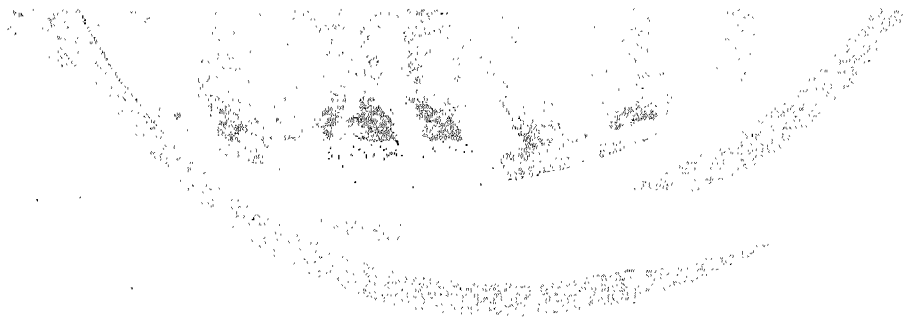
अध्याय 4

1919 से 1939 तक का विश्व

प्रथम विश्वयुद्ध को उस समय महायुद्ध कहा जाता था, तब यह समझा जाता था कि इसके साथ ही सब प्रकार के युद्धों की समाप्ति हो गई है। यह महायुद्ध तब तक का मानव इतिहास में सर्वाधिक तबाही मचाने वाला युद्ध था। सभी देशों के 3.7 करोड़ से भी अधिक सैनिक इसमें मारे गए और युद्ध के मूल पक्षकारों में से किसी को भी कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं हुई। फिर भी यह युद्ध एक उम्मीद के साथ समाप्त हुआ। चारों ओर यह आशा की जा रही थी कि इस युद्ध की विभीषिका से मानवता सबक लेगी। यह आशा की गई कि भू-भागों को लेकर अब इसके बाद जो भी विवाद होंगे वे एक सुनिश्चित विवाद समाधान प्रक्रिया के माध्यम से हल किए जाएंगे। यह भी आशा की गई थी कि अब विश्व 'लोकतंत्र के लिए सुरक्षित' हो जाएगा और इसमें सबके लिए न्याय और प्रगति के समान अवसर उपलब्ध होंगे।

लेकिन हुआ इसके ठीक विपरीत। यूरोप जो अमेरिका के साथ-साथ विश्व का राजनीतिक और आर्थिक आलंब था, शीघ्र ही एक बार फिर अनाचार और मोहभंग के दलदल में जा फंसा। उपनिवेश अखंड रहा। विश्व की आधी से अधिक जनसंख्या को उपनिवेशवाद ने बेड़ियों में जकड़े रखा। विश्वयुद्ध से पहले की सभी प्रतिगामी एवं ह्रासोन्मुख संस्थाएं– कुलीनतंत्र, सामंतवाद, अधिराष्ट्रवाद और सैन्यवाद– यथावत् बनी रहीं जबकि फासीवाद और साम्यवाद नई ताकतों के रूप में उभरे, जिन्होंने यूरोप को और यूरोप के माध्यम से पूरे विश्व को, एक ही पीढ़ी के अंतराल में एक अन्य अनर्थकारी युद्ध में धकेल दिया। इसलिए 1919 और 1939 के बीच की अवधि के विश्व को युद्धों के बीच की अवधि का विश्व कहना उचित होगा। इस अध्याय में हम इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण दौर में विश्व-शक्तियों और उनके घनिष्ठ मित्र राष्ट्रों की गतिविधियों का

विश्लेषण करेंगे और यह जानने का प्रयास करेंगे कि विश्व को द्वितीय विश्वयुद्ध की ओर धकेलने में इनकी अलग-अलग क्या भूमिका रही।

राष्ट्र संघ (League of Nations)

मानवजाति के सशस्त्र युद्ध के विरुद्ध एक भूमंडलीय किलाबंदी के निर्माण के प्रथम प्रयास - राष्ट्र संघ का सूक्ष्म अवलोकन किए बिना हम दो विश्वयुद्धों के बीच के विश्व पर चर्चा आरंभ नहीं कर सकते। यह विश्व के राष्ट्रों का पहला मंच था जिस पर इस सामूहिक इच्छा को वहन करने का दायित्व था कि राष्ट्रों के बीच के विवादों में, राष्ट्रीय संप्रभुता की अनदेखी किए बिना, एक स्वीकार्य मध्यस्थ होना चाहिए।

राष्ट्र संघ मूलत: अमेरिकी राष्ट्रपति वूड्रो विल्सन (1913-1921) का सपना था। विल्सन ने इसकी कल्पना को अपने उन प्रसिद्ध 14 सूत्रों में शामिल किया था, जो 18 जनवरी, 1918 को प्रस्तावित किए गए थे। विजेता शक्तियों ने राष्ट्र संघ के प्रसंविदा (Covenant) को उन अंतिम संधियों में शामिल किया था जिन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध का पटाक्षेप किया। यह एक ऐसा फोरम बनाया जाना था जिसमें विश्व के छोटे-बड़े सभी देशों को शांति बनाए रखने और अपनी युद्धकारी क्षमताओं को घटाने के लिए परस्पर सहयोग करना था।

राष्ट्र संघ का प्रसंविदा ऐसे नियमों की सूची था जिनके द्वारा राष्ट्र संघ को चलाया जाना था। ये नियम एक अंतर्राष्ट्रीय समिति द्वारा तैयार किए गए थे, जिसमें ब्रिटेन के लॉर्ड रॉबर्ट सेसिल, दक्षिण अफ्रीका के जेन स्मट्स और फ्रांस के लिओन बुर्जोइस जैसे अग्रणी राजनीतिज्ञ शामिल थे। अमेरिका के राष्ट्रपति वूड्रो विल्सन ने आग्रह किया कि प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर हस्ताक्षरित होने वाली प्रत्येक पृथक् शांति संधि में इस प्रसंविदा को शामिल किया जाना चाहिए। इससे यह सुनिश्चित हो गया कि राष्ट्र संघ वास्तव में अस्तित्व में आएगा न कि केवल चर्चा का विषय ही बना रहेगा।

तथापि आरंभ से ही राष्ट्र संघ अंतर्विरोधों से ग्रस्त रहा। इसके चार्टर में उपनिवेशवाद के विरुद्ध कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं था। वास्तव में इसने भारत जैसे उपनिवेशित देशों के अपमान को और लंबा बना दिया क्योंकि इसने 'अभिभावकता' के सृजन या अधिदेश (Mandate) प्रणाली की स्थापना की व्यवस्था की, जिसके द्वारा उपनिवेशों को किसी एक महाशक्ति की देख-रेख में रखा जाएगा और धीरे-धीरे उन्हें उनकी स्वतंत्रता की राह दिखायी जाएगी। यह व्यवस्था न केवल अस्पष्ट थी बल्कि इसमें तटस्थ प्रवर्तनकारी तंत्र का भी अभाव था। राष्ट्र संघ ने इस संबंध में अनेक समझौते भी किए थे। उस समय जापान एक उभरती हुई शक्ति था, उसे अपना सदस्य बनाने के उद्देश्य से राजी करने के लिए राष्ट्र संघ ने टोकियो को चीन में पूर्व जर्मन रियायतों को अपने अधिकार में लेने की अनुमति दे दी। फ्रांस को संतुष्ट करने के लिए जर्मनी और रूस को राष्ट्र संघ से बाहर रखा गया और इस प्रकार राष्ट्र संघ का प्रभाव काफी कम हो गया। अमेरिका ने राष्ट्र संघ का सदस्य बनने से मना कर दिया। इस प्रकार, विश्व की तीन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्तियों का राष्ट्र संघ के साथ कोई संबंध न था।

राष्ट्र संघ का मुख्यालय जिनेवा, स्विट्जरलैंड में था, इसके अपने अधिकारी एवं कर्मचारी थे और शीघ्र ही इसने अंतर्राष्ट्रीय विधान के निर्माण

में अनेक परंपराओं का विकास कर लिया। इसके मुख्य अंग थे : आम सभा, परिषद् जिसमें चार स्थायी सदस्य (ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान) थे, नीदरलैंड में हेग में स्थित अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, एक सचिवालय, अधिदेश तैयार करने, विवाद निपटाने और निःशस्त्रीकरण जैसे महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर ध्यान देने के लिए बहुत-सी समितियां। राष्ट्र संघ का एक शांति स्थापक स्कंध भी था। राष्ट्र संघ के एक अधिदेश के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का गठन किया गया जो अभी भी मौजूद है। इसका एक शरणार्थी संगठन और स्वास्थ्य संगठन भी था, जिन्हें मौजूदा संयुक्त राष्ट्र के संगठनों का पूर्ववर्ती रूप समझा जा सकता था। इनके कार्यों का स्वरूप भी आज के संगठनों के कार्यों के समान था।

इसलिए राष्ट्र संघ के प्रभाव को स्थायी कहा जा सकता है क्योंकि इसने संयुक्त राष्ट्र के लिए एक मॉडल तैयार किया था जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अस्तित्व में आया। किंतु अपने छोटे-से कार्यकाल में राष्ट्र संघ ऐसे किसी भी विवाद के संबंध में कोई प्रभाव नहीं छोड़ सका, जिन विवादों में अनेक देश उलझे हुए थे। जब फ्रांस का समर्थन पाकर पोलैंड ने 1920 में लिथुआनिया से विलना क्षेत्र अपने कब्जे में लिया तो राष्ट्र संघ ने कोई कार्रवाई नहीं की। 1923 में इटली और यूनान, युद्ध के कगार पर आ गए। यह स्थिति कुख्यात कोर्फू घटना से पैदा हुई जिसमें इटली के तीन अधिकारियों जो बाउंडरी कमीशन पर कार्य कर रहे थे, की हत्या कर दी गई थी। इटली के तानाशाह बेनिटो मुसोलिनी ने यूनानियों पर दोषारोपण किया और मुआवजे की बहुत बड़ी रकम की मांग की। जब यूनानियों ने भुगतान नहीं किया तो इटली की वायु सेना ने कोर्फू के यूनानी टापू पर बमबारी की। जब यूनान ने राष्ट्र संघ से अपील की तो राष्ट्र संघ ने कोई भूमिका अदा नहीं की। इसके बजाए ब्रिटेन और फ्रांस ने मध्यस्थ की संयुक्त भूमिका निभाई। 1931 में जापान ने चीन से मंचूरिया को अपने कब्जे में लेकर राष्ट्र संघ का मज़ाक उड़ाया। जब इटली ने 1936 में इथियोपिया को जीत लिया तब भी राष्ट्र संघ ने कुछ नहीं किया। वास्तव में एडोल्फ हिटलर समूचे यूरोप के लिए खतरा बन कर उभरा था उस समय तक गुप्त समझौतों और शक्ति-संतुलनकारी संधियों की पुरानी व्यवस्था लौट आई थी। राष्ट्र संघ पूर्णतया अप्रासंगिक हो गई थी। अब हम अपना ध्यान इस बात पर ले जाते हैं कि कठिन अंतर-युद्ध काल में भिन्न-भिन्न देशों ने कैसे स्थिति का सामना किया और कैसे इस अवधि को विश्व इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवधियों में स्थान दिलाने में अपनी छोटी-छोटी भूमिकाएं निभाईं।

जर्मनी

वर्साय संधि के प्रावधानों ने जर्मन लोगों के गौरव पर स्थायी रूप से धब्बा लगा दिया। कई बार यह भी कहा जाता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज वर्साय में ही बो दिए गए थे, आखिर अपमानित और पराजय से टूट चुके लोग कभी-कभी बदला तो लेंगे ही। इस तर्क को जिसने और प्रचंड रूप दिया वह जर्मनों में व्यापक रूप से फैली यह भावना थी कि जर्मनी के लोगों की पीठ में जर्मनी के जनरलों और साम्यवादियों ने प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम चरणों में छुरा घोंप दिया था। किंतु सत्य इससे बिल्कुल भिन्न है। इतिहास में कम से कम इस सीमा तक तो प्रतिशोधात्मक कार्रवाई यूरोप

की युद्धोत्तर स्थितियों में कोई अनोखी बात नहीं थी। विएना कांग्रेस (1815) ने फ्रांस से नेपोलियन के युद्धों के लिए भारी धनराशि हर्जाने के रूप में वसूल की थी। जर्मनी ने स्वयं फ्रांस के साथ 1871 में अनुचित कठोरता से व्यवहार किया था। और यह नहीं भूलना चाहिए कि जब मार्च 1918 में रूस ने शांति के लिए अनुनय-विनय की थी, तब विजेता जर्मन सर्वोच्च कमान ने उस पर ब्रेस्ट लिटोव्स्क संधि थोप दी थी, जिसके अंतर्गत रूस को ऑस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की, तीनों के लगभग बराबर का भू-भाग छोड़ देने को बाध्य किया गया था, जिसमें 5.6 करोड़ लोग रहते थे, उसका एक-तिहाई रेल नेटवर्क था, उसका 73 प्रतिशत लौह अयस्क भंडार था, 89 प्रतिशत कोयला भंडार था, और 5000 से अधिक फैक्ट्रियां थीं। इसके अलावा क्षतिपूर्ति के रूप में 60 लाख मार्क से अधिक की राशि वसूल की गई थी। इसकी तुलना में वर्साय संधि ने तो जर्मनी को बहुत सस्ते में छोड़ दिया था। कम से कम उसे भौगोलिक तथा आर्थिक दृष्टि से तो बहुत कुछ अखंडित ही छोड़ दिया गया। इस प्रकार, जर्मनी एक महान राष्ट्र के रूप में अपनी राजनीतिक एकता और संभावित क्षमता को परिरक्षित रख सका।

सूक्ष्म सत्य भले ही कुछ भी हो, पर मोटे तौर पर अंतर-युद्ध काल में जर्मनी पुराने प्रशियाई सैन्यवाद की गाथा को पुनः प्रवर्तित कर सका, जिसका झुकाव सर्वाधिकारवाद यानी एकदलीय शासन प्रणाली (Totalitarianism) की ओर था। 1918 के बाद जर्मनी की हालत एक विभाजित मकान जैसी थी। देश की हालत सुधारने के लिए जब जनता पर भारी बोझ डाला गया तो लोगों में असंतोष फैल गया, यह एक ऐसी भावना थी जिस पर रुढ़िवादी शक्तियां बहुत अधिक निर्भर थीं। जर्मनी के चांसलर फिलिप शीडमान ने इस संधि को 'जर्मनी के लोगों के लिए कारावास' बताया; किंतु इसे स्वीकार करने के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं था। सोशल डेमोक्रेट और कैथोलिक सेंटर पार्टी ने एक नई सरकार का निर्माण किया और उनके प्रतिनिधियों ने संधि पर हस्ताक्षर किए। इन पार्टियों ने वाइमार गणतंत्र (Republic) का निर्माण किया। 'वाइमार' नाम उस कस्बे के नाम पर पड़ा जिसमें 1919 में नए जर्मनी का संविधान लिखा गया था। 1933 में हिटलर के सत्ता में आने तक वाइमार गणतंत्र बना रहा और वर्साय की संधि के कलंक को ढोता रहा किंतु उनके पास और कोई विकल्प नहीं था क्योंकि विजेता मित्रराष्ट्र संधि को पूर्णतया स्वीकार न किए जाने की स्थिति में जर्मनी पर पूरी तरह से सैनिक शासन स्थापित करने की धमकी दे रहे थे।

वाइमार संविधान काफी हद तक एक उदार दस्तावेज था और इसमें जर्मनी के लिए एक नए युग का सूत्रपात करने का आश्वासन दिया था, क्योंकि सरकार में विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति शामिल थे। सभी जर्मनों को नागरिक स्वतंत्रताएं दी गई थीं। सरकार का गठन सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार द्वारा किया जाना था। तथापि कुछ अंतर्विरोध भी थे। राइख्सटाग (Reichstag) यानी जर्मन संसद में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था थी। इससे छोटी पार्टियों को सीटें प्राप्त करने और अपनी इच्छानुसार गठजोड़ में फेरबदल करने की अपनी प्रवृत्ति द्वारा सरकार को अस्थिर करना सरल हो गया। इसके अलावा, हालांकि मंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी थे फिर भी चांसलर, जो कि मंत्रिमंडल का अध्यक्ष होता था, को राष्ट्रपति ही

नियुक्त करता था और पद से हटाता था। इस प्रकार, राष्ट्रपति को अपनी तानाशाही चलाने की काफी गुंजाइश थी क्योंकि राष्ट्रपति को राष्ट्रीय आपात स्थितियों में आदेश द्वारा शासन चलाने का अधिकार प्राप्त था।

वाइमार रिपब्लिक को आरंभ से ही समस्याओं का सामना करना पड़ा। मास्को के बोल्शेविकों से समर्थन प्राप्त करके यहां के साम्यवादी लोग देश की अस्थिरता का लाभ उठाकर यहां रूस-जैसी क्रांति लाने का सपना देखते थे। इसे स्पार्टासिस्ट उपद्रव कहा गया। रोजा लक्ज़मबर्ग और कार्ल लाइबनेख्ट के नेतृत्व में उन्होंने 1919 में एक सर्वहारा क्रांति करने की कोशिश की। किंतु सेना ने इस प्रयास को कुचल दिया। लक्ज़मबर्ग और लाइबनेख्ट को बंदी बनाने के तुरंत बाद गोली मार दी गई। अगले वर्ष दक्षिणपंथियों द्वारा बर्लिन में 'काप पुश' (Kapp Putsch–सशस्त्र विद्रोह) की कोशिश की गई। यह रूढ़िवादियों की देश को पुराने प्रशा के कुलीन तंत्र के प्रभुत्व की ओर ले जाने की चेष्टा थी। यह चेष्टा असफल रही किंतु सभी महत्त्वपूर्ण सरकारी अधिकारी बर्लिन छोड़कर भाग गए और पीछे एक शून्य स्थिति छोड़ गए जिसे श्रमिकों ने भर दिया। इसके बाद सभी शहरों में हड़तालें हुईं जिनका दमन करने के लिए सेना बुलायी गई। वामपंथ और दक्षिणपंथ, दोनों की ओर से आने वाला यह अतिवाद वाइमार सरकार को उसके शासन काल के दौरान प्रेत की तरह सताता रहा। जर्मनी के कष्टों और दु:खों में कुछ और वृद्धि की महत्त्वपूर्ण रिपब्लिकन नेताओं की सिलसिलेवार हत्याओं ने, इनमें से कुछ नेता काफी प्रगतिशील थे।

सर्वाधिकारवाद की इस एकदलीय शासन प्रणाली को सर्वाधिक प्रेरित किया देश की शोचनीय आर्थिक स्थिति ने। जब सरकार ने अपने कार्यक्रमों के वित्तपोषण के लिए विशाल मात्रा में करेंसी छापी तो मुद्रास्फीति फैल गई। 1921 में मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को युद्ध-क्षति की पूर्ति के लिए कुल 33 अरब डालर से भी अधिक का बिल थमा दिया। इसे वाइमार सरकार को हमले की आशंका के मद्देनजर मजबूरन स्वीकार करना पड़ा। जनवरी 1923 में रूह्र बेसिन पर फ्रांसीसी हमले का वाइमार सरकार ने उदासीनता से प्रतिरोध किया, यह हमला फ्रांस ने युद्ध-क्षतिपूर्ति का भुगतान पाने के लिए किया था। वाइमार सरकार ने रूह्र श्रमिकों को सब्सिडी के भुगतान के बदले में हड़ताल पर चले जाने को कहा। हालांकि इस संकट पर कुछ ही महीनों में काबू पा लिया गया, तथापि इसने देश में आमूल सुधारवादी शक्तियों को फ्रांसीसी कब्जे का विरोध करने की प्रेरणा दी। इनकी प्रेरणा को और पुष्ट करने के लिए चारों ओर फैली बेरोजगारी ने साथ दिया (1920 के दशक के मध्य में अनुमानत: 60 लाख लोग बेरोजगार थे)। जिनके पास नौकरी थी उनकी स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं थी क्योंकि मूल्यवृद्धि के अनुपात में उनका वेतन नहीं बढ़ता था। सबसे ज्यादा कष्ट उन्हें उठाना पड़ा, जिनका वेतन नियत था। जब अमेरिका में 1929 में ग्रेट वॉल स्ट्रीट क्रैश घटित हुआ तब जर्मनी की अर्थव्यवस्था को सर्वाधिक हानि पहुंची क्योंकि इसकी अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार मुख्यत: डावेस समिति की सिफारिशों के अनुसार सस्ते निर्यात पर निर्भर करता था। डावेस योजना (1924) और 'यंग प्लान' (1929)

से प्रेरित होकर 1920 के दशक के अंतिम वर्षों में अमेरिकियों ने जर्मनी में विशाल निवेश किया था। कृषि उत्पादन के दाम गिर गए, किसान गुस्से में आ गए। बढ़ती बेरोजगारी से विश्वविद्यालयों के छात्रों का भी मोहभंग हो गया।

वाइमार रिपब्लिक का नेतृत्व विलक्षण प्रतिभा वाले व्यक्तियों ने किया। 1923 में गुस्ताव स्ट्रेसमन की अल्पावधिक चांसलरशिप में देश ने राजनीतिक स्थिरता प्राप्त की। उसने एक योग्य अर्थशास्त्री याल्मर शाट को ऐसे समय भर्ती किया जब मार्क का मूल्य निम्नतम था। शाट ने 'रेंटेनमार्क' नामक एक नई करेंसी चलाई जिससे जर्मनी की मौद्रिक स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ हो गई। 1924 में जर्मनी और मित्रराष्ट्रों ने क्षतिपूर्ति भुगतानों की एक नई पद्धति पर सहमति बनाई। रुह्र क्षेत्र से फ्रांसीसी सेना हट गई। स्ट्रेसमन जिसने विदेश मंत्री बनने के लिए चांसलर के पद से त्यागपत्र दे दिया था, ने अपने पूर्व शत्रुओं *ब्रिटेन और फ्रांस के साथ मेल-मिलाप* करने की नीति अपनाकर जर्मनी को अंतर्राष्ट्रीय सम्मान पुन: दिलाया। जर्मनी भी राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया। स्ट्रेसमन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी ब्रिटेन और फ्रांस को लोकार्नो संधि (1926) के लिए राजी करना। इस संधि के अंतर्गत वे पश्चिम में जर्मनी की सीमा को औपचारिक आकार देने पर सहमत हो गए जबकि पूर्व की स्थिति अस्पष्ट ही छोड़ दी गई। बाद वाली व्यवस्था जर्मनी के हितों के लिए उपयुक्त रही क्योंकि इस समय तक वर्साय की संधि में पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया को दिए गए भू-भागों को पुन: प्राप्त करने के पक्ष में उल्लेखनीय जनमत बन चुका था। किंतु जर्मनी के अधिकांश राजनीतिक दलों, जिनमें एडोल्फ हिटलर की नाज़ी पार्टी भी शामिल थी, ने लोकार्नो संधि को वर्साय संधि का विस्तार कहकर खारिज कर दिया। तथापि 1920 के दशक के अंत तक वाइमार सरकार एक नए उदारवाद द्वारा निरंतर जर्मनों का दिल जीत रही थी और अपने सुधार कार्यक्रम द्वारा देश को एक मजबूत आर्थिक आधार प्रदान कर रही थी। अमेरिका में महामंदी और उसके यूरोप खासकर जर्मनी की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले विनाशकारी प्रभावों के कारण प्रतिगामी ताकतों को सर्वाधिकारवाद के एजेंडा के साथ राजनीति के केंद्र में लौटने का बहुत बड़ा मौका मिला।

नाज़ीवाद का उदय

जर्मनी के राजनीतिक मंच पर एडोल्फ हिटलर ने अपना प्रथम पदार्पण 1923 में किया। इस शख्सियत के सत्ता तक पहुंचने की कहानी अनोखी है जिसकी दूसरी मिसाल नहीं मिल सकती। प्रसिद्ध *अमेरिकी पत्रकार-इतिहासकार विलियम एल.शिरर* के शब्दों में "उसके (हिटलर के) उद्गम और आरंभिक जीवन पर विचार करते हुए यह कल्पना करना कठिन होगा कि बिस्मार्क, होहेनजोलेर्न शासकों और राष्ट्रपति हिंडनबर्ग की विरासत को ऑस्ट्रिया के किसान वंश का यह व्यक्ति संभालेगा।" वह 1889 में ऑस्ट्रिया के सीमा-शुल्क विभाग के एक सामान्य कर्मचारी के घर पैदा हुआ था। उसकी औपचारिक शिक्षा अधूरी थी और उसने अपनी जवानी का अधिकांश समय विएना की सड़कों पर आवारागर्दी करते हुए बिताया था। प्रथम विश्वयुद्ध में वह जर्मन सेना में एक साधारण सैनिक की हैसियत से लड़ा और उसने असाधारण वीरता का प्रदर्शन किया जिसके लिए उसे सर्वोच्च सैनिक सम्मान मिले। जब युद्ध

समाप्त हुआ तो उसका जीवन फिर उद्देश्यहीन हो गया, लेकिन अपमान और प्रतिशोध की ज्वाला उस समय उसके सीने में धधक रही थी। अधिकांश जर्मन लोगों के सीने में भी यह ज्वाला धधक रही थी। इसलिए वह राजनीति में कूद पड़ा।

1919 में जर्मनी के सेना के गुप्तचर एजेंट के तौर पर उसने छोटे राष्ट्रवादी और यहूदी–विरोधी समूह की एक बैठक में भाग लिया। उसने इसमें किसी विश्वास के आधार पर नहीं बल्कि उत्सुकतावश भाग लिया था। 1920 में इसने राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन कामगार पार्टी (National Socialist German Workers Party) या 'नाज़ी' पार्टी नाम अपनाया। अपने मूल राजनीतिक वक्तव्य में, जिसे '25 सूत्र' कहा गया, पार्टी ने वर्साय की संधि को अस्वीकार करने, ऑस्ट्रिया और जर्मनी का एकीकरण करने, जर्मनी की नागरिकता से यहूदियों को वंचित रखने और कृषि सुधार करने की मांग की। कृषि सुधारों में भूमि की सट्टेबाजी के निषेध की मांग की गई और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के व्यापक कार्यक्रम का समर्थन किया गया।

अपनी स्थापना के समय से ही नाज़ी पार्टी ने सैनिक तूर्यघोष के साथ अपनी गतिविधियों का आयोजन किया। इसके समर्थकों को अर्धसैनिक बलों के रूप में रेजीमेंटबद्ध कर दिया गया। जिन्हें 'स्टर्म अबताइलुंग' (SA) कहा जाता था, ये भूरी कमीज पहनते थे। इस प्रकार से उन्होंने उस आम जर्मन को लुभाया जो प्रथम विश्वयुद्ध से पहले के सैन्यवादी समाज को बहुत याद करता था। 1923 में फ्रांस द्वारा रूह्र घाटी को अपने कब्जे में लिए जाने से नाज़ियों को अपने उद्धत राष्ट्रवादी भावावेश को व्यक्त करने का मौका मिल गया। वाइमार रिपब्लिक द्वारा अपनायी गई उदासीन प्रतिरोध की नीति का उन्होंने मजाक उड़ाया।

इस समय तक हिटलर का नाज़ी पार्टी पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो चुका था। 9 नवंबर 1923 को उसने उस समय अपने अनुयायियों के एक जत्थे को लेकर सत्ता का तख्ता पलटने की कार्रवाई का नेतृत्व किया, जिस समय म्यूनिख में बावेरियन विधानमंडल के नेता बीयर हाल में एक बैठक कर रहे थे। स्थानीय प्राधिकारियों ने सत्ता परिवर्तन की कोशिश को कुचल दिया और हिटलर को पांच वर्ष के कारावास का दंड दे दिया गया। जेल में उसने अपनी आत्मकथा, *माइन काम्फ* (Mein kamp–मेरा संघर्ष) लिखी। वह अभी मुश्किल से एक साल भी जेल में नहीं रहा कि उसे पैरोल पर रिहा कर दिया गया। बीयर हाल विद्रोह ने हिटलर को एक मूल्यवान सबक सिखाया। इसके बाद उसने सत्ता हथियाने के कानूनी तरीके अपनाने शुरू कर दिए।

किंतु जिस समय हिटलर को जेल से रिहा किया गया उस समय तक अतिवादी राष्ट्रवाद का प्रचार करने वाली पार्टियां अप्रासंगिक हो चुकी थीं क्योंकि वाइमार सरकार के अंतर्गत सुधार की एक नई भावना की बयार देश में बह रही थी। नाज़ियों के लिए इसका अर्थ था बेकारी का एक लंबा समय, तथापि उन्हें कुछ कर गुजरने का तब मौका मिला जब 1929 के वाल स्ट्रीट के अधःपतन के परिणामस्वरूप जर्मनी में अमेरिका ने निवेश करना बंद कर दिया और जर्मनी दूसरी बार आर्थिक संकट में फंस गया। एक बार फिर बेरोजगारी और आर्थिक गतिरोध ने देश की अर्थव्यवस्था को पंगु बना दिया। इसकी पृष्ठभूमि में राजनीतिक अस्थिरता भी थी। केंद्रीय दलों और सोशल डेमोक्रेट की

मिली-जुली सरकार 1928 से सत्ता में थी। जब महामंदी का वज्रपात हुआ तो पार्टियों ने सही आर्थिक नीति अपनाने के मुद्दे पर टाल-मटोल की। सोशल डेमोक्रेट ने यह मांग की कि सामाजिक कल्याण के बजट में कोई कटौती नहीं होनी चाहिए जबकि केंद्रीय दल संतुलित बजट चाहते थे। इस पर मार्च 1930 में मिली-जुली सरकार भंग हो गई। कोई भी एक दल केवल अपने बलबूते पर सरकार बनाने के लिए पर्याप्त रूप से सक्षम नहीं था। राष्ट्रपति वॉन हिंडनबर्ग, जो कि पूर्व फील्ड मार्शल और प्रथम विश्वयुद्ध के सर्वोच्च कमान का सदस्य था, ने हेनरिक ब्रूनिंग को चांसलर नियुक्त किया और स्वयं राष्ट्रपति के आदेशों द्वारा शासन करता रहा।

किंतु जर्मनी का आर्थिक संकट बना रहा, टला नहीं। 1932 में वॉन हिंडनबर्ग ने ब्रूनिंग को पद से हटा दिया और फ्रेंज वॉन पापेन को उसके स्थान पर नियुक्त किया। पापेन आरंभ से ही नाज़ियों का समर्थन पाने को इच्छुक था क्योंकि इस समय तक जर्मनी की राजनीति में उनकी प्रमुख भूमिका थी। 1930 के चुनावों में नाज़ियों को 30.1 प्रतिशत वोट मिले। जिस पार्टी की 1928 में राइख्सटाग चुनाव में केवल 12 सीटें ही मिली थीं, उसके पास अब 107 सीटे थीं। राइख्सटाग में उनके विपक्षी दल ने सरकार के लोकतांत्रिक काम-काज को असंभव बनाए रखा।

अत: पापेन की सलाह पर राष्ट्रपति ने नाज़ियों द्वारा रैलियां निकालने और जनसभाएं करने पर लगे प्रतिबंधों को हटा दिया। जुलाई 1932 में चुनाव कराए गए। नाज़ियों को 230 सीटें और 37.2 प्रतिशत वोट मिले। हिटलर ने स्वयं को चांसलर बनाने की मांग की किंतु हिंडनबर्ग ने इनकार कर दिया। नवंबर में एक और चुनाव की घोषणा की गई। किंतु गतिरोध बना रहा। अगले माह पापेन ने त्यागपत्र दे दिया। कुर्त वॉन श्लाइशर को नियुक्त किया गया। इस व्यक्ति की नीतियां हिंडनबर्ग को अस्वीकार्य थीं क्योंकि श्लाइशर ने रूढ़िवादी समूहों और मजदूर संघों के प्रतिनिधियों का मिला-जुला गठबंधन बनाने की कोशिश की थी। अगर इस योजना को प्रयोग में लाया जाता तो यह बहुत बड़ा खतरा पैदा करता। इसलिए वॉन श्लाइशर को हिंडनबर्ग ने पद से हटा दिया और 30 जनवरी 1933 को, हिटलर को चांसलर नियुक्त किया।

हिटलर ने नाज़ियों को सत्ता में मजबूत बनाने के लिए एक तिहरी योजना बनाई। इसमें शासन करने का कानूनी प्राधिकार प्राप्त करना, देश में राजनीतिक विरोधियों को कुचलना और अपनी ही पार्टी के भीतर शत्रुओं को समाप्त करना शामिल था। इस कार्य को उसने बड़े पाशविक किंतु सुनियोजित तरीके से अंजाम दिया। सत्ता में आने के एक माह के भीतर ही उसने साम्यवादियों को कुचलने के लिए राइख्सटाग अग्निकांड का इस्तेमाल किया। बाद में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस बात के सबूत मिले कि राइख्सटाग को नाज़ी एजेंटों ने ही जलाया था और दोष साम्यवादियों के मत्थे मढ़कर सोवियत यूनियन जैसी क्रांति के लिए साम्यवादियों द्वारा बनायी गई योजना से जर्मनों को सावधान किया था। स्वयं को आपातकालीन शक्तियों से सज्जित करके उसने महत्त्वपूर्ण साम्यवादी नेताओं को जेलों में डाल दिया, मरवा डाला और नागरिक स्वतंत्रताओं का दमन किया। उस वर्ष मार्च में जर्मन राइख्सटाग ने हिटलर को एक समर्थकारी अधिनियम (Enabling Act) द्वारा अधिकारसंपन्न बना दिया,

जिसके अनुसार उसे आदेशों के माध्यम से शासन करने की अनुमति दे दी गई।

इस प्रकार अब शासन करने के सभी कानूनी प्राधिकार हिटलर के पास थे। इसके बाद वह विरोधी राजनीतिक दलों की ओर उन्मुख हुआ। उसने समस्त मौजूदा और संभावित विरोधी संस्थाओं को अवैध घोषित कर दिया। जुलाई 1933 तक जर्मनी में केवल नाज़ी ही एकमात्र वैध पार्टी के रूप में बचे थे। जर्मनी के प्रांतों की सरकारें भी नाज़ी हितों के अनुरूप बनाई गईं। विरोधी राजनीतिज्ञों को कारावास में डाल दिया गया, बंदी शिविरों में भेज दिया गया या मौत के घाट उतार दिया गया। नाज़ी पार्टी के स्वयंसेवकों ने आम जर्मनवासी का जीना दूभर कर दिया। आम आदमी पर जासूस छोड़ने की व्यवस्था शुरू की गई और जर्मनी एक पुलिस राज्य बन गया। लोगों को हिटलर के प्रति अपनी व्यक्तिगत निष्ठा की शपथ लेने के लिए विवश किया गया, हिटलर को 'द फ्यूहरर' (Der Feuhrer-The Leader) कहकर संबोधित किया जाता था। एक-दूसरे का अभिवादन करने के लिए नाज़ी सलाम करना अनिवार्य हो गया। स्वतंत्र प्रेस को समाप्त कर दिया गया। यहूदीवाद के प्रति विरोध या यहूदियों के प्रति घृणा को खुलेआम व्यवहार में लाया गया। मई 1933 में यहूदियों के विरुद्ध अपमान का एक ज़ोरदार प्रदर्शन आयोजित किया गया। बर्लिन की गलियों में बहुत विशाल अलाव जलाए गए और उन अलावों में यहूदी बुद्धिजीवियों द्वारा लिखित पुस्तकों को आग के हवाले कर दिया गया। न्यूरेमबर्ग कानून के अंतर्गत 1935 में जर्मन यहूदियों को नागरिकता से वंचित कर दिया गया। यहूदियों को जबरन नौकरियों से निकाला गया और उनके काम-धंधे जब्त कर लिए गए। नवंबर 1938 में हिटलर ने यहूदियों के घरों, दुकानों और उपासना गृहों पर हमला करने का आदेश दिया। इतिहास में यह कार्रवाई *क्रीस्टाल नाख्ट* (Kristallnacht-टूटे कांच की रात) के नाम से कुख्यात है।

सत्ता के शिखर पर पहुंचने के लिए हिटलर का तीसरा काम था नाज़ी पार्टी के भीतर संभावित प्रतिद्वंद्वियों को समाप्त करना। हिटलर के सत्ता में आने के प्रथम वर्ष के अंत तक एस.ए. में 10 लाख से अधिक सदस्य हो चुके थे। इसका नेता हिटलर का एक पुराना साथी अर्नस्ट रोहेम था। जर्मन आफिसर कोर को इस बात की चिंता थी कि एस.ए. ने समानांतर सेना की प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और इससे उनकी अपनी स्थिति को खतरा पैदा हो गया था। हिटलर ने अनुभव किया कि अपनी भावी योजनाओं के लिए उसे नियमित सेना की आवश्यकता थी। इसलिए उसने रोहेम पर गद्दारी का आरोप लगाया। 30 जून 1934 को उसने रोहेम तथा कई महत्त्वपूर्ण एस.ए. नेताओं की हत्या का आदेश दिया और अगले तीन दिनों में पूर्व चांसलर श्लाइशर सहित सैकड़ों लोगों को मार दिया गया। राष्ट्रपति वॉन हिंडनबर्ग की मृत्यु इसके एक माह बाद हुई और हिटलर ने राष्ट्रपति और चांसलर दोनों का पद भार संभाल लिया।

अब सर्वोच्च तानाशाह होने के नाते हिटलर जर्मनी का सक्रिय रूप से सैन्यीकरण करने को स्वतंत्र था। उसने थल सेना, नौसेना और लुफ्तवाफ (वायु सेना) का एकदम नए सिरे से पुनर्निर्माण आरंभ किया। यह वर्साय संधि की शर्तों का उल्लंघन था किंतु किसी भी मित्रराष्ट्र ने इसका विरोध नहीं किया क्योंकि वे भी इस समय अपने घरेलू मामलों में उलझे हुए थे। 1936 में हिटलर ने

अपनी सेना को राईनलैंड में घुसने का आदेश दिया। हालांकि उस समय यूरोप में फ्रांस की थलसेना सबसे मजबूत थी और उसे जर्मनों को वहां से बाहर निकालने का कानूनी अधिकार भी प्राप्त था क्योंकि हिटलर ने वर्साय और लोकार्नो संधियों का उल्लंघन किया था, फिर भी फ्रांस ने कोई कार्रवाई नहीं की। इससे हिंटलर के हौसले और बुलंद हो गए। उसने पूर्व में जर्मन विस्तारवाद की एक नई भावना को व्यक्त किया। इसे उसने 'राइट टू लेबेनस्रॉम' या जर्मनों के लिए रहने के स्थान का अधिकार कहा।

इस प्रकार, प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के दो दशकों के भीतर ही जर्मनी ने पूरा चक्कर काट लिया था। यूरोप में शांति के लिए यह फिर एक बार खतरा बन कर उभरा। मित्रराष्ट्र अपनी घरेलू समस्याओं में इतने उलझे हुए थे कि उन्हें हस्तक्षेप करने की फुर्सत ही नहीं थी। इधर जर्मनी में हिटलर ने जर्मनों के दिमाग में जाति भेद की भावनाएं और विचार भर दिए जिससे वे इस बात के प्रति आश्वस्त हो गए कि वे 'आर्य' हैं यानी उच्च जाति के लोगों की ऐसी नस्ल हैं जिन्हें पूर्वी यूरोप में निचली जाति के लोगों पर और यहूदियों पर शासन करने का अधिकार है। इससे जर्मनी मजबूती से एक अन्य युद्ध की ओर अग्रसर होता गया। किंतु इस पर प्रकाश डालने से पूर्व हम एक अन्य देश की घटनाओं पर विचार करते हैं जहां फासीवाद (Fascism) का उदय हुआ, वह देश था इटली।

इटली

फासिज्म या फासीवाद एक ऐसी राजनीतिक विचारधारा थी जो लोकतंत्र संसदीय शासन-प्रणाली व्यक्तिगत स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति स्वतंत्रता और व्यापार पर राज्य के नियंत्रण की विरोधी थी। व्यापार पर राज्यनियंत्रण के संबंध में यह बिना सोचे-विचारे साम्यवाद से भिड़ गया जो एक अन्य एकदलीय शासन-प्रणाली थी। फासीवाद इतालवी शब्द 'फासेज़' से बना है जिसका अर्थ होता है सभी वस्तुओं पर राज्य का नियंत्रण। फासीवादी यह मानते थे कि लोकतांत्रिक राजनीति राष्ट्रों को कमजोर बनाती है क्योंकि संकीर्ण दलगत हित प्रायः राष्ट्रीय मुद्दों पर हावी रहते हैं। विश्व के पहले फासीवादी तानाशाह बेनिटो मुसोलिनी, जो 1922 में इटली में सत्ता में आया, ने घोषित किया कि "फासीवादी संकल्पना में सब-कुछ समाहित है और राज्य से बाहर कोई भी मानवीय या आध्यात्मिक मूल्य अस्तित्व में नहीं रह सकते।" इसलिए इटली, जर्मनी व स्पेन में सत्ता में आने वाली फासीवादी सरकारें अनिवार्यतः सर्वाधिकारवादी एकदलीय सरकारें थीं, जिसकी प्रमुख विशेषताएं थीं : आतंक, समाज के कठोर अनुशासन और दरअसल हर नागरिक पर पुलिस की नजर।

मुसोलिनी का जन्म 1883 में हुआ था, वह एक लुहार का बेटा था। 1912 में एक समाजवादी के रूप में उसने राजनीति में सक्रिय भाग लेना शुरू किया। 1914 में उसने समाजवादियों का साथ छोड़ दिया और सेना में भर्ती हो हुआ (युद्ध में इटली मित्र राष्ट्रों की ओर था) और युद्ध में घायल हो गया। युद्ध के बाद उसने 1919 में मिलान में फासी डि कॉम्बेट्टिमेंटो (Band of Combatants-जुझारू दल) का गठन किया। इटली में अधिराष्ट्रवाद के उदय के लिए आधार प्रदान करने के पीछे आम भावना यह थी कि हालांकि प्रथम विश्वयुद्ध में इटली विजेता पक्ष की ओर

था किंतु इसने जो भू-भाग जीते थे मित्रराष्ट्रों ने इटली को वे भू-भाग देने से इनकार कर दिया। उस समय देश की संसदीय प्रणाली एकदम निष्क्रिय थी। देश आंतरिक खलबली में घिरा हुआ था। हड़तालें होती थीं और जन-असंतोष व्याप्त था। अनेक इतालवी लोगों को यह भय था कि स्थिति साम्यवादियों द्वारा कब्जा किए जाने के अनुकूल हो रही थी।

मुसोलिनी ने अपने अनुयायियों को 'ब्लैक शर्ट्स' (काली कमीजों) में संगठित किया और उन्हें समाजवादियों को आतंकित करने के लिए कहा, जो कि उस समय देश में एकमात्र सर्वाधिक शक्तिशाली दल था। 'ब्लैक शर्ट्स' ने हड़तालियों और खेत मजदूरों पर हमला किया। इससे उन्हें रूढ़िवादियों (Conservative) और उद्योगपतियों का समर्थन मिला। 1921 में मुसोलिनी और उसके 34 अनुयायी 'इटैलियन चैम्बर ऑफ डेपुटीज' (प्रतिनिधि सभा) में चुने गए। इससे उन्हें पार्टी की सदस्यता बढ़ाने में मदद मिली। अक्तूबर 1922 में उसने 'रोम चलो' अभियान (March to Rome) का आयोजन किया जिसमें हजारों 'ब्लैक शर्ट्स' ने भाग लिया। इससे राजा विक्टर एमानुएल तृतीय के लिए खतरे की घंटी बज गई और 29 अक्तूबर को उसने मुसोलिनी को तार भेजकर प्रधान मंत्री का पद ग्रहण करने के लिए कहा।

हालांकि मुसोलिनी को प्रधानमंत्री बना दिया गया था किंतु उसके फासीवादी सदस्य प्रतिनिधि सभा में अल्पसंख्या में ही रहे। उसने राजा को स्पष्ट कर दिया कि जब तक उसे तानाशाही शक्तियां नहीं दे दी जातीं तब तक वह कुशलतापूर्वक शासन नहीं कर सकता। चूंकि मुसोलिनी को देश के बड़े व्यापारिक घरानों का समर्थन प्राप्त था अतः राजा को परिस्थितियों से विवश होकर 23 नवंबर 1922 को उसे तानाशाही शक्तियां देनी पड़ी। किंतु यह केवल एक वर्ष के लिए ही किया गया और इस दौरान उसे अच्छी तरह से शासन करके दिखाना था। मुसोलिनी ने इसका प्रयोग करते हुए सरकार के निचले स्तरों से समस्त निर्वाचित प्रतिनिधियों को हटाकर उनके स्थान पर फासीवादियों को रखा। 1924 में उसने देश के निर्वाचन कानून बदल डाले जिसके तहत सबसे अधिक जनमत पाने वाले दल को स्वतः ही संसद में दो-तिहाई सीटें मिल जातीं। इसलिए मिली-जुली सरकारों का चलन नहीं रहा। यह 1925 के चुनावों में उपयोगी सिद्ध हुआ जब प्रतिनिधि सभा पर फासीवादियों का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया। इस बहुमत का प्रयोग देश में संसदीय राजनीति की संस्था की समाप्ति के लिए किया गया। 1925 और 1926 में ऐसे अनेक कानून पारित किए गए जिन्होंने मुसोलिनी के आदेश के माध्यम से शासन करने और अन्य सभी राजनीतिक दलों को भंग करने का अधिकार दे दिया।

मुसोलिनी हालांकि विरोधियों के लिए बड़ा बेरहम था किंतु उसने इटली की आम जनता में विशाल सार्वजनिक परियोजनाएं शुरू करके लोकप्रियता प्राप्त की। उसने श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा दी और उनकी छुट्टियों के लिए आर्थिक सहायता दी। 1929 में उसने वेटिकन पर पोप की संप्रभुता को मान्यता देकर कैथोलिक चर्च को अपने पक्ष में कर लिया और रोमन कैथोलिकवाद को देश का राजधर्म बनाया। हालांकि 1920 के दशक के अंत तक मुसोलिनी इटली को मजबूत आर्थिक धरातल पर खड़ा करने में सफल रहा किंतु महामंदी के संकट से वह निपट नहीं सका।

1930 के दशक के मध्य तक इस तानाशाह को अपनी स्थिति बचाने के लिए विदेशों में हो रहे सैनिक विकास का सहारा लेना पड़ा। इस प्रकार इटलीवासियों ने यूरोप के अस्थिर सुरक्षा वातावरण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जो इस दशक के अंत तक विश्व को एक और महायुद्ध की ओर ले गया।

स्पेन का गृहयुद्ध

राजा अलफांसो तेरहवें के शासन में स्पेन में संवैधानिक राजतंत्र था, अलफांसो वहां 1885 से राज कर रहा था। 1923 में जनरल प्राइमो डि रिवेरा ने शासन का तख्ता पलट दिया और राजा के अनुमोदन से सात वर्ष तक शासन करता रहा। हालांकि डि रिवेरा एक तानाशाह था लेकिन वह फासीवादी नहीं था। वस्तुत: वह बहुत प्रगतिशील था और उसके कार्यकाल में अनेक लोक निर्माण कार्य संपन्न किए गए और कुछ उद्योग-धंधे भी स्थापित किए गए। 1925 में उसने मोरक्को में देश की समस्या भी हल कर दी। जब तक महामंदी के दौर ने स्पेन की अर्थव्यवस्था को छुआ नहीं तब तक वहां हर कार्य सुचारू रूप से चलता रहा। लेकिन बाद में वित्तीय संकट के कारण बर्बाद हो गया और बेरोजगारी बढ़ गई। डि रिवेरा से सेना ने अपना समर्थन वापस ले लिया और उसने त्यागपत्र दे दिया। राजा को भी गद्दी छोड़नी पड़ी और इस प्रकार स्पेन को गणतंत्र घोषित कर दिया गया।

किंतु नए स्पेन गणराज्य को कुछ गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। कैटालोनिया और बास्क प्रांतों ने अलग होने के अधिकार का दावा किया। रोमन कैथोलिक चर्च गणराज्य के सख्त खिलाफ था और राजा की पुन: बहाली चाहता था। आर्थिक संकट ने स्पेन के शराब और जैतून निर्यात बाज़ार को नष्ट कर दिया। लोहे और इस्पात का उत्पादन कम हो गया। बेरोजगारी बढ़ गई और देश के नए शासकों के प्रति आम तौर पर घृणा पैदा हो गई। सामाजिक क्रांति के भय से देश की दक्षिणपंथी पार्टियों (रूढ़िवादियों) ने, जो 'कोर्तेज़' (स्पेनी संसद) को नियंत्रित करती थीं और जिन्हें समाजवादियों और मध्यवर्गीय सुधारवादियों का समर्थन प्राप्त था, कैटालोनिया को रियायत देते हुए उसे कुछ स्वायत्तता दे दी। इसने कामगारों का वेतन बढ़ाने के प्रयास किए, विशाल भू-संपदा का राष्ट्रीयकरण किया और चर्च को राज्य से औपचारिक तौर पर पृथक् किया। किंतु इससे चीजें और उलझ गईं क्योंकि इन कदमों से दक्षिणपंथी स्कंध के भीतर दरारें पड़ गईं। चर्च की समर्थक सेडा पार्टी ने चर्च का बचाव किया और अमीर भूस्वामियों का भी पक्ष लिया। 1932 में कुछ सैन्य अधिकारियों ने प्रधानमंत्री मैनुअल अज़ाना को अपदस्थ करने की कोशिश की लेकिन यह प्रयास सफल न हो सका। वामपंथी स्कंध (साम्यवादियों की छाया) की पार्टियों ने गणराज्य को कमजोर करने के लिए एक आंदोलनात्मक कार्यक्रम आरंभ किया।

1933 के चुनावों में अज़ाना सरकार की हार हुई, किंतु सेडा के प्रभुत्व वाली दक्षिणपंथी सरकार का गठन हुआ। किंतु देश में शांति की पुन: स्थापना करने में यह सरकार विफल रही। जोंस अंतोनियो डि रिवेरा के नेतृत्व में 'फैलेंज' नामक एक फासीवादी पार्टी का गठन हुआ। अंतोनियो पूर्व तानाशाह का पुत्र था। इस पार्टी को सेना से मदद मिली, जिसने 1936 में मोरक्को के उपनिवेश में सरकार के लिए समस्या पैदा कर दी।

फिर शुरू हुआ स्पेन का गृहयुद्ध, जो 1939 तक चला। दोनों ओर से भीषण और भयावह अत्याचार किए गए और हज़ारों निर्दोष लोग मारे गए। विश्व शक्तियों के लिए यह अभ्यास युद्ध था। जनरल फ्रैंको, जिसने फासीवादियों का नेतृत्व संभाला था, को हिटलर और मुसोलिनी से मदद मिली। उन्होंने जनरल फ्रैंको की मदद के लिए हथियार, आदमी, खाद्य सामग्री और गोला बारूद भेजा। रिपब्लिकनों को रूस से सीधी सहायता और ब्रिटेन तथा फ्रांस से गैर-सरकारी तौर पर समर्थन मिला जिन्होंने युद्ध लड़ने के लिए 'स्वयंसेवक' (Volunteers) भेजे। अंतत: 1939 में फ्रैंको ने मैड्रिड पर कब्जा कर लिया और स्वयं को तानाशाह के रूप में स्थापित किया। फ्रैंको ने स्पेन को द्वितीय विश्वयुद्ध से बाहर रखा और 1975 तक शासन किया। अत: गृहयुद्ध होते हुए भी इसे 'लघु विश्वयुद्ध' कहा गया क्योंकि यूरोप की सभी बड़ी ताकतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसमें शामिल थीं।

ब्रिटेन और फ्रांस

हालांकि ब्रिटेन प्रथम विश्वयुद्ध में विजेता बन कर उभरा था तथापि वह अब विश्व की अग्रणी औद्योगिक शक्ति न रहा। यह दर्ज़ा उसे अब अमेरिका को सौंपना पड़ा था। शेष यूरोप की भांति ब्रिटेन भी आर्थिक गतिरोध से प्रभावित था। इस स्थिति से निपटने के लिए सरकार ने अनेक उपाय किए, जैसे मजदूरी कम करना और यह आशा की कि इससे ब्रिटिश वस्तुएं अब अपने किफ़ायती दामों के कारण विश्व बाजार में अधिक प्रतिस्पर्धात्मक हो जाएंगी। किंतु इस नीति की आलोचना की गई क्योंकि श्रमिकों ने हड़तालें कर दीं और औद्योगिक क्षेत्र में असंतोष फैल गया। उनके असंतोष ने अनुदारवादियों (Conservatives) का राजनीतिक प्रभुत्व समाप्त कर दिया और 1924 व 1929 में लेबर पार्टी को सत्ता में आने में मदद की। महामंदी का ब्रिटिश अर्थव्यवस्था पर अनर्थकारी प्रभाव पड़ा। 1931 में राष्ट्रीय सरकार सत्ता में आई जिसमें अनुदारवादी, उदारवादी और लेबर पार्टियों के प्रतिनिधि शामिल थे।

ब्रिटेन ने अंतर-युद्ध काल में अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का सामना किया। ब्रिटेन की महिलाओं को लंबे समय तक मताधिकार से वंचित रखा गया। 1918 में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम पारित करके इस स्थिति को सुधारा गया। महिलाओं को मताधिकार तो दे दिया गया किंतु उनके लिए इसकी आयु-सीमा 30 वर्ष रखी गई जबकि पुरुषों के लिए यह 21 वर्ष थी।

1920 में ब्रिटिश विदेश व्यापार में मंदी आई जिसने हजारों लोगों को बेरोजगार कर दिया। लेबर पार्टी ने एक अभियान शुरू किया जिसमें समाजवादी विचारधारा के अनुरूप औद्योगिक प्रणाली को नया रूप देने की मांग की गई। रेल और कोयले के क्षेत्रों में व्यापक हड़तालें हुईं जिससे देश हिल गया।

आयरिश समस्या ने ब्रिटिश समाज को बीचों-बीच दो भागों में विभक्त कर दिया। ब्रिटिश सरकार की नीतियों से अनुदारवादी और उदारवादी, दोनों में असंतोष फैल गया। 1918 के चुनावों में पुरानी आयरिश नेशनलिस्ट पार्टी की हार हुई और इसका स्थान 'सिन फेन' ने लिया। सिन फेन के नेता माइकल कॉलिन्स और आर्थर ग्रिफिथ गणतंत्रवाद (Republicanism) के लिए प्रतिबद्ध थे और उन्होंने आयरलैंड में रिपब्लिकन सरकार

की स्थापना की। ब्रिटेन की हुकूमत को अनदेखा कर दिया गया। नई सरकार ने लोगों को लंदन के आदेशों के प्रति बगावत करने के लिए उकसाया। ब्रिटिश सरकार ने इससे निपटने के प्रयासस्वरूप दो पृथक सरकारें बनाने की पेशकश की जिनमें से एक की संसद डब्लिन में और दूसरी की बेल्फास्ट में होती। इस प्रस्ताव की व्यापक रूप से निंदा की गई किंतु ब्रिटिश सरकार ने नृशंस तरीके से जनमत का दमन किया। आयरिश लोगों की स्थिति बहुत शोचनीय थी। हर रात हजारों लोग इस भय से झाड़ियों में छिप जाते थे कि कहीं रात को जब वे सो रहे हों, ब्रिटिश बल उन पर हमला न कर दें। इससे भी ब्रिटेन में घरेलू जनमत सरकार के खिलाफ़ हो गया। डेविड लायड जार्ज की सरकार ने अमेरिका के दबाव में आकर समझौता-वार्ता करने का निर्णय लिया। दिसंबर 1921 में एक संधि पर हस्ताक्षर किए गए जिसके अंतर्गत एक आयरिश स्वतंत्र राज्य की स्थापना की गई जिसे ब्रिटिश अधिराज्य (dominion) का दर्जा दिया गया। हालांकि ग्रिफिथ और कॉलिन्स ने इसे स्वीकार कर लिया तथापि अधिक सुधारवादी नेता एमान डि वालेरा ने इसे नामंजूर कर दिया। 1922 में रिपब्लिकनों और ब्रिटेन के साथ 1921 की संधि को मंजूर करने वालों के बीच गृहयुद्ध छिड़ गया।

19वीं सदी में ब्रिटेन आर्थिक दृष्टि से बहुत मजबूत हो गया था लेकिन अंतर-युद्धावधि में उसकी आर्थिक शक्ति में उल्लेखनीय कमी आ गई। हड़तालों और औद्योगिक कामबंदी के बावजूद देश राजनीतिक दृष्टि से स्थिर था, फिर भी ब्रिटेन औद्योगीकृत विश्व में अपना नेतृत्व खो चुका था। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले, लगभग सभी देश ब्रिटिश कपड़े, भारी इंजीनियरी उत्पादों और निर्मित वस्तुओं के ग्राहक थे। किंतु अमेरिका और जर्मनी ने जल्द ही इन बाज़ारों पर कब्ज़ा कर लिया। एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशों ने अपने औद्योगिक उत्पादों का प्रयोग करना शुरू कर दिया। अमेरिका और यूरोप के लाभप्रद बाज़ारों द्वारा अपनी घरेलू कंपनियों की सुरक्षा के लिए खड़ी की गई प्रशुल्क-सीमाओं ने ब्रिटिश वस्तुओं को निर्यात बाजार में प्रतिस्पर्धा से बाहर कर दिया। जब अमेरिकी मंदी शुरू हुई तो ब्रिटेन भी संकट से घिर गया। जेम्स रैम्जे मैकडॉनल्ड की सरकार कठिन स्थिति में फंस गई क्योंकि इसके पास बजट को संतुलित करने के लिए करों को बढ़ाने के अलावा और कोई विकल्प नहीं था। किंतु इस समय कराधान राजनीतिक दृष्टि से बड़ा खतरनाक था क्योंकि लोग पहले ही बेरोजगारी और मूल्यवृद्धि की मार झेल रहे थे। अतः एक राष्ट्रीय सरकार बनाने का प्रयोग पहली बार किया गया जिसमें सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि शामिल थे, लेकिन प्रधानमंत्री मैकडॉनल्ड ही बना रहा। इस सरकार ने 1931 में चुनाव जीते और अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए सशक्त प्रयास किए भले ही इसके लिए कर बढ़ाने और मजदूरी घटाने जैसे अलोकप्रिय कदम उठाने पड़े। कनाडा और आस्ट्रेलिया के साथ एक अधिमानी व्यापार व्यवस्था तैयार की गई जिसने निर्यात में दोबारा वृद्धि की। 1934 के बाद से ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में एक बार फिर सुधार के संकेत दिखाई देने लगे।

अंतर-युद्ध अवधि में फ्रांस भी घरेलू मोर्चे पर जटिल आर्थिक समस्याओं से घिर गया। फासीवादियों और साम्यवादियों द्वारा सत्ता हथिया लिए जाने का खतरा भी था। फ्रांस ने भी यूरोपीय

कूटनीति में अग्रणी भूमिका निभाई थी क्योंकि मास्को में बोल्शेविकों द्वारा कब्ज़ा किए जाने से जर्मनी के खतरे को प्रतिसंतुलित करने के लिए वह एक मित्र की सहायता से वंचित हो गया था। बोल्शेविकों के विरुद्ध साम्यवाद-विरोधी ताकतों की मदद करने के लिए फ्रांस ने सेना भेजी किंतु श्वेत रूसियों (जैसा कि साम्यवाद विरोधियों को कहा जाता था) की बगावत विफल हो गई। 1920 में जब पोलैंड और रूस में युद्ध छिड़ा तो फ्रांस ने रूस को पराजित करने में पोलैंडवासियों की मदद की। इससे फ्रांस सीधे ही दोनों शक्तिशाली यूरोपीय देशों जर्मनी और रूस के विरोध में आ खड़ा हुआ। बाद में फ्रांस ने स्वयं को ब्रिटेन द्वारा भी उस समय अलग किया हुआ पाया जब ब्रिटेन ने बाद में ऐंग्लो-जर्मन नौसैनिक समझौते पर 1935 में हस्ताक्षर किए। इस समझौते के अनुसार जर्मनी को वर्साय संधि का उल्लंघन करते हुए पनडुब्बियों का निर्माण करने की अनुमति दी गई। इस घटना ने गंभीर रूप से एडोल्फ हिटलर द्वारा पुनः वर्साय की संधि का उल्लंघन करते हुए राइनलैंड के पुनः सैन्यीकरण का विरोध करने की फ्रांसीसी संभावना को दुर्बल बना दिया।

अंतर-युद्ध काल में फ्रांस ने अपनी आर्थिक स्थिति में उल्लेखनीय सुधार किया। लेकिन ब्रिटेन की भांति यहां भी राष्ट्रीय प्रगति में वर्ग-संघर्ष प्रमुख बाधा बन गया। रेमंड पोइनकेयर (1922-24) और एडपियर्ड जेरोप्ट (1924-26) की सरकारों ने यह सुनिश्चित किया कि उद्योगों की खूब उन्नति होनी चाहिए, भले ही इसके लिए श्रमिक अधिकारों को कुचलना क्यों न पड़े।

अमेरिका का उदय

19वीं सदी के अंत तक आते-आते संयुक्त राज्य अमेरिका आर्थिक क्षेत्र में एक विश्व-शक्ति बन चुका था। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत इस बात में कोई संदेह नहीं रह गया था कि यह देश अपनी अपार औद्योगिक क्षमताओं और घरेलू बाजार के कारण विश्व व्यापार में निर्णायक भूमिका निभाएगा। प्रथम विश्वयुद्ध में अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों को 5 प्रतिशत ब्याज दर पर 12 अरब डालर से अधिक का ऋण दिया था। 1920 के दशक में अमेरिकी सरकार ने यूरोप, कनाडा और केंद्रीय तथा दक्षिण अमेरिका में अमेरिकी निगमों द्वारा मुनाफा अर्जन को प्रोत्साहन दिया। रिपब्लिकन पार्टी जो अमेरिका में 1921 से 1933 के बीच सत्ता में रही, यूरोपीय राजनीति से अलग रहने की नीति में विश्वास रखती थी। हालांकि अमेरिका राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बना किंतु उसकी सरकार ने स्वयं को विश्व घटनाक्रम से अलग रखना असंभव पाया क्योंकि अमेरिकी पूंजी पूरे विश्व में लगी हुई थी और अमेरिका को इस पूंजी को सुरक्षित रखना था। इसके अलावा अमेरिकी जनता ब्रिटेन और फ्रांस को दिए गए ऋण की चुकौती चाहती थी।

किंतु घरेलू मोर्चे पर अंतर-युद्ध की अवधि के दौरान एक के बाद एक आने वाले राष्ट्रपतियों ने सामाजिक सुधार की उपेक्षा की और विशाल व्यापार हितों की हिमायत की। जब कभी देश का कोई राज्य कोई कानून या सामाजिक रूप से कोई प्रगतिशील कानून पारित करता था तो सर्वोच्च न्यायालय पुनरीक्षा (review) की अपनी शक्ति का प्रयोग करके उस कानून को रद्द कर देता था।

अमीरों और गरीबों के जीवन-स्तर में बहुत अधिक अंतर आ गया था। हालांकि उद्योग और निजी व्यवसाय फले-फूले किंतु देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ वास्तव में श्रम अधिकारों या मज़दूरी की दरों में कोई वृद्धि नहीं हुई।

जर्मनी के 1923 के वित्तीय संकट के दौरान अमेरिकी हस्तक्षेप ने एक अनोखा रूप धारण कर लिया। डावेस और यंग योजनाओं (1924 और 1929) के अंतर्गत 'जर्मन बांड' अमेरिका के निजी निवेशकों को बेचे गए, इससे जर्मनी को ब्रिटेन और फ्रांस को हरजाना भरने में सहायता मिली और ब्रिटेन और फ्रांस ने इस राशि का उपयोग अमेरिका को ऋण-चुकौती करने के लिए किया।

1920 के दशक के दौरान अमेरिकी अर्थव्यवस्था उत्कर्ष पर थी क्योंकि इसका उद्योग बहुत उत्पादक था और उसमें वित्तीय क्षमताएं थीं। अमेरिकी उपभोक्ताओं ने घरेलू रूप से निर्मित उत्पादों की विशाल मांग सृजित की। इस लाभकारी बाजार में प्रतिस्पर्धा करना यूरोपीय उत्पादकों ने बहुत कठिन पाया क्योंकि अमेरिकी उद्योग को सुरक्षा प्रदान करने के लिए प्रशुल्क (tariff) की ऊंची-ऊंची दीवारें खड़ी कर दी गई थीं। किंतु 1927 तक आते-आते उपभोक्ता मांग अपनी उच्चतम सीमा पर स्थिर हो चुकी थी, उसके बाद अगले दो वर्षों में यह घटने लगी। शेयर बाजार स्फीत शेयर-मूल्यों और प्रचुर मुनाफा-मांगों के कारण अत्यधिक फैलाव ले चुका था। इसके परिणामस्वरूप अक्तूबर 1929 में 'द ग्रेट वॉल स्ट्रीट क्रैश' का सूत्रपात हुआ जिसका विश्व की अर्थव्यवस्था पर व्यापक रूप से हानिकारक प्रभाव पड़ा। महामंदी का दौर शुरू हुआ क्योंकि बाजार सिमट कर अपने मूल्य के दसवें भाग तक सीमित हो गया था। अब अमेरिकी लोग जर्मन बांड नहीं खरीद रहे थे। बैंक चौपट हो गए और उद्योग बंद हो गए। चारों ओर बेरोजगारी फैल गई (1933 तक 1 करोड़ 40 लाख लोग बेरोजगार थे) और जिनके पास नौकरी थी, उनके वेतन की राशि गरीबी के स्तर तक आ गई थी।

अमेरिका ने महामंदी के संकट पर किन उपायों द्वारा काबू पाया, इसकी चर्चा करने से पूर्व हमें कुछ विस्तार से इस महामंदी के कारणों को जान लेना चाहिए।

महामंदी के कारण

महामंदी (Great Depression) विश्व को अपनी चपेट में लेने वाला सबसे भयंकर आर्थिक संकट था। यह अमेरिका में शुरू हुआ और समूचे औद्योगीकृत विश्व में फैल गया। इसके उद्भव में अनेक कारणों ने अपनी भूमिका निभाई। किंतु इसका एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण था 1920 के दशक में संपत्ति का असमान वितरण। जीवनशैलियों और खपत की पद्धतियों के बीच यह अंतराल बहुत अधिक था। हालांकि अमेरिका की कुल वसूल हुई आय जो 1923 में 74.3 अरब डालर थी, 1929 में बढ़ कर 89 अरब डालर हो गई थी किंतु यह संपत्ति सभी अमेरिकियों के हिस्से में नहीं आई। सबसे ऊपर की 0.1 प्रतिशत जनसंख्या की आय कुल मिलाकर सबसे नीचे की बयालीस प्रतिशत जनसंख्या की कुल आय के बराबर थी। सबसे ऊपर की दूरी 0.1 प्रतिशत अमेरिकी जनता ने 34 प्रतिशत बचत को नियंत्रित कर रखा था जबकि देश के 80 प्रतिशत लोगों की कोई बचत थी ही नहीं।

उद्योग में उत्पादकता तो बढ़ती जा रही थी किंतु लोगों की मजदूरी उस अनुपात में नहीं बढ़ रही थी। उद्योगपतियों को अधिक मजदूरी नहीं देनी पड़ती थी इसलिए उन्होंने अकूत मुनाफा कमाया किंतु अगर मजदूरी कम होगी तो उत्पाद खरीदेगा कौन? किसी भी अर्थव्यवस्था के समुचित रूप से कार्य करने के लिए यह जरूरी है कि मांग और पूर्ति के संतुलन को कायम रखा जाए। 1920 के दशक के अंत तक वस्तुओं की आपूर्ति आवश्यकता से अधिक हो गई किंतु उन्हें खरीदने के लिए पर्याप्त पैसा नहीं था।

चूंकि अधिसंख्य अमेरिकियों के पास अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए पर्याप्त धनराशि नहीं थी अत: वे इन वस्तुओं को उधार पर खरीदने लगे। 'खरीदो अभी, भुगतान बाद में' की संकल्पना जोर पकड़ने लगी। 1920 के दशक के अंत तक 60 प्रतिशत कारें और 80 प्रतिशत रेडियो सेट किस्तों पर खरीदे गए। 1925 और 1929 के बीच बकाया किस्तों की कुल 1.38 अरब डालर की राशि दोगुनी होकर 3 अरब डालर से भी अधिक हो गई। यह एक खतरनाक स्थिति थी क्योंकि लोगों को अपनी कम आय का अधिकांश भाग विवश होकर अपने पिछले ऋणों की चुकौती के लिए रखना पड़ता था।

अमेरिकी अर्थव्यवस्था विलास-व्यय और अमीर व्यक्तियों के निवेश पर बहुत अधिक निर्भर थी। यह स्थिति तभी तक चल सकती थी जब तक कि अमीर लोगों को अर्थव्यवस्था पर विश्वास हो। अमेरिकी उद्योग के अनेक क्षेत्र गरीब थे। केवल 200 निगमों ने आधी से भी अधिक निगमित संपत्ति को नियंत्रित कर रखा था। आटोमोबाइल क्षेत्र उन्नति कर रहा था और कृषि क्षेत्र की उपेक्षा हो रही थी। अधिकांश उद्योग, जो 1920 के दशक में फले-फूले, किसी-न-किसी रूप में आटोमोबाइल या रेडियो उद्योगों, इस्पात, शीशा, रबर टायर, पेट्रोल उत्पादों, होटलों, निर्माण कार्यों आदि के साथ जुड़े हुए थे। स्वाभाविक रूप से यह एक खतरनाक स्थिति थी क्योंकि लोग अनगिनत कारें और रेडियो तो खरीद नहीं सकते थे। जो चीजें रोज खरीदी जाती थीं वे थीं खाद्य वस्तुएं। 1929 तक अमेरिका की कृषि बर्बाद हो चुकी थी।

अमेरिका की अस्थिरता का एक अन्य कारण था अंतर्राष्ट्रीय संपत्ति या धन-दौलत के वितरण की समस्या। जब 1920 के दशक में अमेरिका समृद्ध हुआ तो यूरोपीय देश प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत अपने पुनर्निर्माण के संघर्ष में जुटे हुए थे। युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपने यूरोपीय मित्र राष्ट्रों को लगभग 7 अरब डालर का ऋण दिया था। 1920 के दशक के दौरान उसने लगभग 3.3 अरब डालर का ऋण और दिया। 1924 की डावेस योजना के अंतर्गत अमेरिका ने जर्मनी को ऋण देना शुरू कर दिया। अमेरिका की 90 प्रतिशत से अधिक ऋण-राशि का प्रयोग यूरोपवासियों ने अमेरिकी माल खरीदने के लिए किया। इसी के साथ-साथ, अमेरिका ने यूरोपीय उत्पादों पर सीमा-शुल्क की अत्यधिक ऊंची दर लगाकर स्वयं को सुरक्षित भी किया। परिणाम यह हुआ कि यूरोप कभी समृद्ध नहीं हो सका और अमेरिकी ऋण नहीं चुका सका।

अमेरिका में जल्द ही सट्टेबाजी की संस्कृति पनपने लगी। लोगों ने भारी मुनाफा कमाने की आशा में स्टॉक एक्सचेंजों में निवेश करना शुरू कर दिया, जबकि इस राशि से वे अपने पुराने ऋण चुकता कर सकते थे। वेतन-वृद्धि के अभाव

में वे कर भी क्या सकते थे? जल्दी ही लोगों ने अपने ही दलालों से, शेयर खरीदने के लिए पैसा उधार लेना शुरू कर दिया। कोई भी व्यक्ति अपने दलाल से 65 डालर उधार लेकर 75 डालर मूल्य के शेयर खरीद सकता था, इसके लिए उसे 10 डालर ही अपने जेब से देने होते थे। इस प्रकार की चौतरफा खरीद से शेयरों के दाम बढ़ गए। एक वर्ष के भीतर ही खरीदार व्यक्ति उन्हीं शेयरों को 420 डालर में बेच सकता था और ब्याज सहित अपने दलाल को ऋण चुका सकता था और पर्याप्त राशि घर ले जा सकता था। किंतु सट्टेबाजी में आया यह उछाल मजबूत आधारों पर नहीं टिका था। अनेक निगम, जिनके शेयरों की कीमत बहुत ज्यादा बढ़ी हुई थी, वास्तव में अच्छी स्थिति में नहीं थे।

1929 के मध्य तक दलालों को देय कुल बकाया ऋण 7 अरब डालर से अधिक था। अगले तीन माह में यह बढ़कर 8.5 अरब डालर हो गया। अचानक शेयरों के दाम गिरने लगे। फिर ये दाम इतने गिर गए कि लोगों के पास जो भी शेयर थे वे उन्हें बेचने लगे। 'काले मंगलवार' (Black Tuesday) यानी 29 अक्तूबर 1929 के दिन दाम इतने अधिक गिर गए कि शेयरों को किसी भी दाम पर खरीदने के लिए कोई भी खरीदार नहीं बचा था।

स्टॉक मार्केट के यों ढह जाने से अमेरिका के चंद 'धनाढ्य' लोगों का अर्थव्यवस्था में विश्वास जाता रहा। उन्होंने विलासिता की वस्तुओं पर खर्च करना बंद कर दिया और निवेश धीमा कर दिया। मध्य वर्ग और गरीब वर्ग तो अपने पुराने ऋण भी नहीं चुका पा रहा था; बहुत ही कम लोगों ने कार और रेडियो खरीदने के लिए नए ऋण लिए। मांग की कमी से सभी उद्योग प्रभावित हुए और इस प्रकार औद्योगिक उत्पादन में नाटकीय तरीके से गिरावट आ गई। परिणामत: भारी संख्या में मजदूरों की छंटनी कर दी गई। छंटनी की यह प्रक्रिया जल्द ही यूरोप तथा विश्व के अन्य भागों में भी शुरू हो गई जो निवेश के लिए अमेरिका पर निर्भर थे। 1930 में बेरोजगारी की संख्या 50 लाख थी वह 1932 में बढ़कर 130 लाख हो गई। देश जल्द ही महाविपत्ति की चपेट में आ गया। इसे 'ग्रेट डिप्रेशन' यानी महामंदी के नाम से जाना जाता है।

नया सौदा (The New Deal)

महामंदी के कारण अमेरिका में 11 वर्ष लंबे रिपब्लिकन सरकार के शासन की समाप्ति हो गई। रिपब्लिकन सरकार का शासन-काल वारेन हार्डिंग के समय (1921-23) से शुरू हुआ और काल्विन कूलीज (1923-29) तथा हर्बर्ट सी. हूवर (1929-33) के समय तक चला। नए डेमोक्रेट राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट ने देश को पुनरुत्थान की राह पर लाने के लिए नई नीतियां शुरू की जिन्हें 'न्यू डील' या नई सौदेबाजी के रूप में जाना जाता है।

शारीरिक रूप से विकलांग होते हुए भी रूजवेल्ट में अपार ऊर्जा थी - पोलियो के कारण उसकी दोनों टांगों को पूरी तरह से लकवा मार गया था। अद्भुत संकल्प शक्ति के कारण उसने किसी प्रकार अपनी इस अशक्तता पर काबू पा लिया था किंतु वह कभी भी बिना सहारे के नहीं चल सकता था। लेकिन बातचीत में वह बहुत तेज था और अपने विचारों को श्रोताओं तक प्रभावशाली ढंग से पहुंचा सकता था। मंदी के कठिन वर्षों के दौरान उसने अमेरिकी जनता को अनेक बार रेडियो

द्वारा संबोधित किया। इससे वह बहुत लोकप्रिय हो गया। वह पहला (और अब तक का अंतिम भी) राष्ट्रपति था जिसने चार कार्यकाल राष्ट्रपति के पद पर बिताए। उसके कार्यकाल के दौरान एक कानून पारित किया गया कि राष्ट्रपति अपने पद के लिए दो बार से अधिक चुनाव लड़ने के लिए अधिकृत नहीं है।

इस नए सौदे या सौदेबाजी के मुख्यत: तीन उद्देश्य थे - राहत, पुनरुद्धार और सुधार। राहत से आशय था गरीबी से ग्रस्त लाखों भूखों और बेघरों को सीधे सहायता देना। पुनरुद्धार का अर्थ था कि सरकार ने बेरोजगारी घटाने और नई मांग पैदा करने का प्रण किया था ताकि इससे अर्थव्यवस्था दोबारा आगे बढ़ सके। अंत में, सुधार से राष्ट्रपति का आशय था वाल स्ट्रीट के पतन की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाने का संकल्प।

नए सौदे में बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को सरकार द्वारा अस्थायी तौर पर अपने अधिकार में लेना और निवेशकों और जमाकर्ताओं को उनका पैसा लौटाने की गारंटी देना शामिल था। एक प्रतिभूति विनिमय आयोग की 1934 में स्थापना की गई ताकि शेयर बाजार को सुधारा जा सके। उसके बाद निवेशकों के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे शेयरों के मूल्य की कम से कम 50 प्रतिशत राशि का नकद भुगतान करके ही शेयर उधार पर खरीद सकते थे। किसानों की सहायता के लिए सरकार ने किसान राहत अधिनियम पारित किया जिसके अंतर्गत किसानों को अपना उत्पादन कम करने के लिए मुआवजे का भुगतान किया गया। इससे कीमतें बढ़ गईं। 1937 तक किसानों की आय लगभग दोगुनी हो गई थी। किंतु इसी के साथ-साथ अनेक खेत-मजदूर भी बेकार हो गए क्योंकि भूस्वामियों को कम उत्पादन के लिए मुआवजा दिया जाता था।

नागरिक संरक्षण कोर, रूज़वेल्ट की सर्वाधिक लोकप्रिय योजना थी जिसने युवाओं को नौकरी दिलाने में सहायता की। देश भर में संरक्षण परियोजनाएं आरंभ की गईं। इससे 1940 तक 25 लाख नौकरियां पैदा करने में मदद मिली। कामगारों को 30 डालर प्रतिमाह का भुगतान किया जाता था जिसमें से 25 डालर सरकार द्वारा काट लिए जाते थे और सीधे उनके परिवारों को भेज दिए जाते थे। कामगारों को भोजन, कपड़े और अन्य आवश्यक वस्तुएं मुफ्त उपलब्ध कराई जाती थीं।

नए सौदे का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग था 1933 का राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम, जो लोगों को दोबारा स्थायी नौकरियों पर लाने के विचार को ध्यान में रखकर बनाया गया था ताकि वे खरीददारी करते समय स्वयं को सुरक्षित अनुभव करें और खरीद से अंतत: अर्थव्यवस्था दोबारा पटरी पर आ सके। इस अधिनियम ने लोक निर्माण प्रशासन आरंभ किया, जिसके अंतर्गत बांध, पुल, सड़कें, अस्पताल, स्कूल, हवाई अड्डे और सार्वजनिक भवन बनाने की बड़ी-बड़ी परियोजनाओं को संगठित करना शामिल था। इस विचार के पीछे एक अर्थशास्त्री जॉन मेनर्ड कीन्स का दिमाग था। उसने विश्व को 'काइनीज़ियन अर्थशास्त्र' दिया जो व्यापक सार्वजनिक व्यय को आर्थिक गतिरोध दूर करने के लिए रामबाण मानता है।

अधिनियम की एक अन्य धारा के अंतर्गत राष्ट्रीय पुनरुत्थान प्रशासन का सृजन किया गया जिसने बाल मजदूरी को समाप्त किया, श्रमिकों के लिए प्रतिदिन आठ कार्य-घंटे लागू किए और

रोजगार के अधिक अवसर पैदा किए। इसका एक उल्लेखनीय पहलू यह था कि नियोक्ताओं को इसे अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया गया, बाध्य नहीं। व्यापक उपभोक्ता जागरूकता ने इसे बनाए रखने में मदद की, क्योंकि उत्पादों पर जो छोटे-छोटे स्टिकर लगे होते थे, उन पर उन उत्पादों की उत्पादन-प्रक्रिया में नए कानूनों का अनुपालन किए जाने की घोषणा को सम्मिलित करने को प्राथमिकता दी जाने लगी। दो विशेष अधिनियम पारित किए गए। वैगनर अधिनियम (1935) ने श्रमिक संघों को कानूनी मान्यता प्रदान की और राष्ट्रीय श्रम संबंध बोर्ड की स्थापना की जिसमें मजदूर अपने प्रबंधकों के अन्यायपूर्ण व्यवहारों के विरुद्ध अपील कर सकते थे। उचित श्रम मानक अधिनियम 1938 में पारित किया गया जिसमें अधिकतम 45 घंटे का कार्य-सप्ताह और न्यूनतम मजदूरी नियत की गई। सामाजिक सुरक्षा अधिनियम 1935 में पारित हुआ जिसके द्वारा वृद्धावस्था पेंशन और बेरोजगार बीमा योजनाएं लागू की गईं।

अपने आरंभिक वर्षों में नए सौदे ने लाखों ऐसे लोगों को राहत पहुंचाने में सहायता की, जो मंदी के कारण कंगाली और भुखमरी का शिकार हो गए थे। लाखों अतिरिक्त नौकरियां सृजित की गईं और 1937 तक बेरोजगारी घटकर 8 प्रतिशत तक आ गई। लोगों का सरकार में विश्वास लौट आया और इससे क्रांति की साम्यवादी योजनाओं को समाप्त करने में मदद मिली। निष्पादित किए गए लोक निर्माण कार्य-विशेष रूप से टेनिसी घाटी प्राधिकरण परियोजना ने अमेरिका के लिए स्थायी आधारभूत ढांचा प्रदान किया। पहली बार अमेरिका एक कल्याणकारी राज्य दिखाई देने लगा।

इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि रूजवेल्ट ने अमेरिका के लोकतंत्र को जीवित बचाए रखा और संकट की अंधकारमयी घड़ी में भी मुक्त उद्यम की भावना को जलाए रखा। अमेरिका पर फासीवादियों या साम्यवादियों द्वारा अपना अधिकार स्थापित किए जाने की पूरी आशंका थी। किंतु इतिहासकार इस बात पर भी अनिर्णय की स्थिति में हैं कि किस कारण से अमेरिका को अधिक स्थायी समृद्धि मिली – नए सौदे से या द्वितीय विश्वयुद्ध से। अनेक विशेषज्ञों की राय है कि नए सौदे ने अमेरिका को मंदी से नहीं बचाया। द्वितीय विश्वयुद्ध और परिणामी युद्ध प्रयास ने ही वास्तव में अमेरिका की आर्थिक शक्ति को बढ़ाया। अमेरिका का युद्ध-उत्पादन, अमेरिका के इस युद्ध में शामिल होने से पूर्व ही शुरू हो गया था। अमेरिका सितंबर 1939 से ही यूरोप को टैंक, हवाई जहाज, समुद्री पोत और शस्त्रास्त्र सप्लाई कर रहा था। जून 1940 और पर्ल हार्बर घटना (दिसंबर 1941) के बीच अमेरिका ने ब्रिटेन को 23000 लड़ाकू विमान सप्लाई किए। पर्ल हार्बर के आक्रमण के पश्चात् शस्त्रास्त्र उत्पादन में तेजी आई। 1942 के अंत तक अमेरिका में 100 प्रतिशत रोजगारी थी, जो कि एक अभूतपूर्व घटना थी। 1939 और 1945 के बीच अमेरिका का सकल राष्ट्रीय उत्पाद लगभग दोगुना हो गया। आर्थिक दृष्टि से द्वितीय विश्वयुद्ध अमेरिका के लिए वरदान साबित हुआ। इसने अमेरिका को एक ऐसी ठोस और मजबूत जमीन पर ला खड़ा किया जहां से वह आने वाले लंबे समय तक विश्व-मामलों में निर्णायक भूमिका निभा सकता था।

अभ्यास

1. प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर विश्व की स्थिति की चर्चा करें। राष्ट्र संघ ने इसमें क्या भूमिका निभाई?
2. प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद के वर्षों में जर्मनी की स्थिति की चर्चा करें। नाजियों के सत्ता में आने के लिए यह स्थिति कहां तक उत्तरदायी थी?
3. जर्मनी और इटली में क्रमशः नाजियों और फासीवादियों के सत्ता में आने का विवेचन कीजिए।
4. स्पेन के गृहयुद्ध पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें। इसे 'लघु विश्वयुद्ध' क्यों कहा जाता है?
5. दो विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में विश्वशक्ति के रूप में अमेरिका के उदय की चर्चा करें।
6. 1929 में अमेरिका में आई महा-आर्थिक मंदी के क्या कारण थे? राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी.रूजवेल्ट ने इस पर काबू पाने के लिए क्या कदम उठाए?
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए:
   (i) राष्ट्र संघ की विफलता के कारण
   (ii) वाइमार रिपब्लिक ऑफ जर्मनी
   (iii) ब्लैक शर्ट्स
   (iv) द सिन फेन और आयरिश गृहयुद्ध
   (v) अक्तूबर 1929 का 'द ग्रेट वॉल स्ट्रीट क्रैश'
   (iv) नया सौदा

परियोजना कार्य

- नए सौदे के कानूनों की एक सूची बनाएं और प्रत्येक अधिनियम के प्रयोजन को स्पष्ट करें।

अध्याय 5

साम्यवाद, सर्वाधिकारवाद और द्वितीय विश्वयुद्ध की ओर प्रयाण

पिछले अध्याय में हम इटली में फासीवाद और जर्मनी में नाज़ीवाद के उदय की चर्चा कर चुके हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कई दशकों तक लगभग सभी देशों में विद्वानों पर उनकी सरकारों द्वारा यही दबाव डाला जाता रहा कि वे एडोल्फ हिटलर के विश्वविजयी होने के सपनों को ही विश्वयुद्ध का कारण मानें और उससे आगे कोई अन्य कारण खोजने का प्रयास ही न करें। किंतु सोवियत संघ (USSR) के पतन के बाद युद्ध के कारणों के बारे में सच्चाई अधिक उजागर होकर सामने आ गई। अब तक सोवियत शासनव्यवस्था ने इस संबंध में जो महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ दबा रखे थे उनके प्रकट हो जाने से और भूतपूर्व नेताओं के संस्वीकृति सूचक वक्तव्यों (इकबालिया बयानों) से यह स्पष्ट होते देर नहीं लगी कि फासीवाद (Fascism) की तरह साम्यवाद (Communism) ने भी द्वितीय विश्वयुद्ध भड़काने में बराबर की भूमिका निभायी थी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं समझ लेना चाहिए कि बुद्धिजीवी युद्ध के लिए स्वयं हिटलर को अथवा मानवता के विरुद्ध उसके आदेशों से किए गए अपराधों के लिए हिटलर के उत्तरदायित्व को कम करके आंक रहे हैं। नाज़ी तानाशाह हिटलर अब तक का सर्वाधिक कुख्यात युद्धोत्तेजक माना जाता है। लेकिन अब सोच में कुछ फर्क आ गया है। समकालीन विद्वानों का अनुमान है कि युद्ध भड़काने की बदनामी में जोसेफ स्टालिन बराबर का हकदार था।

व्लादिमीर इल्यिच लेनिन

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, यूरोप के विभिन्न देशों की राजधानियों में मार्क्सवादी समाजवाद ही राजनीतिक वाद-विवाद का प्रमुख विषय बना रहा था। इस संबंध में भिन्न-भिन्न मत थे कि क्या समाजवाद को स्वीकार किया जाए या अस्वीकार, अथवा समाजवाद और पूंजीवाद के मिले-जुले
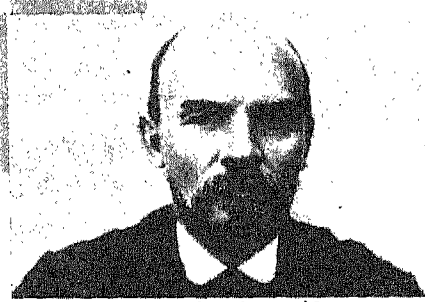
व्लादिमीर इल्यिच लेनिन

स्वरूप को अपनाया जाए जिससे कि राज्य का चेहरा कुछ अधिक कोमल दिखायी दे। लेकिन समाजवाद और साम्यवाद, जो 1917 के बाद विश्व के मनोमस्तिष्क पर छा गए थे, तत्त्वत: दो भिन्न-भिन्न वाद थे।

जैसा कि सर्वविदित है, साम्यवाद का जन्म उस समय हुआ जब रूसी समाजवादियों के व्लादिमीर लेनिन के गुट ने अक्तूबर-नवंबर 1917 में, केरेन्स्की के नेतृत्व वाली ज़ारोत्तर सामाजिक लोकतांत्रिक सरकार का तख्ता पलट कर शासन-सत्ता हथिया ली थी। इसके बाद जार के गोरे (श्वेत) समर्थकों और लेनिन के 'लाल' अनुयायियों के बीच घमासान गृहयुद्ध हुआ।

यह संघर्ष लेनिन के पक्ष में समाप्त हुआ। सत्ता हस्तगत करने पर उसकी पहली प्राथमिकता पूंजीवाद को दूर करना था। लेनिन द्वारा अपनायी गई मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार, निजी पूंजी असमानता और शोषण का प्रमुख कारण है। दूसरे, उसने रूस का तेजी से औद्योगीकरण करने का निश्चय किया। उसने अर्थव्यवस्था को सेना की तरह संगठित किया। राज्य द्वारा नियुक्त प्रबंधक एक उच्च कमान के आदेशों के अंतर्गत अर्थव्यवस्था के विभिन्न कार्यों को संपन्न करते थे। लेनिन को आशंका थी कि रूस को अपनी साम्यवादी प्रणाली की रक्षा के लिए युद्ध करना होगा। इस आशंका के समर्थन के लिए स्पष्ट साक्ष्य मौजूद थे। गृहयुद्ध के दौरान, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, फ्रांस और ब्रिटेन ने 'गोरे' रूसियों की सहायता के लिए अपनी सैनिक टुकड़ियां भेजी थीं। अगस्त 1918 में लेनिन की हत्या करने का प्रयास किया गया जिससे बोल्शेविक लोग अपने 'लाल' आतंक की पहली कार्रवाई करने के लिए भड़क उठे। बोल्शेविकों का विरोध करने वाले हजारों समाजवादियों को घेर कर गोलियों से उड़ा दिया गया।

गृहयुद्ध के बाद, लेनिन ने अपनी नई आर्थिक नीति लागू की। किसानों को यह इजाजत दे दी गई कि वे कर चुका देने के बाद बची हुई उपज को अपने पास रख सकते हैं। एक सीमित मात्रा में निजी व्यापार की भी अनुमति दे दी गई। कामानेव तथा ज़िनोवीव जैसे कठोर विचारधारा वाले नेताओं ने इसका विरोध किया क्योंकि उनका विचार था कि *कुलक वर्ग* (धनी किसान) साम्यवाद के संभावित शत्रु हैं। लेकिन लेनिन ने नई आर्थिक नीति को एक अस्थायी उपाय बताया और कहा कि उसका दीर्घकालीन उद्देश्य तो सामूहिक फार्मों के माध्यम से कृषि पर राज्य का संपूर्ण नियंत्रण स्थापित करना है। उसने सोचा था कि *कुलकों* को इस बात के लिए राजी कर लेना आसान होगा कि वे अपनी जमीनें राज्य को दे दें और जरूरत होगी तभी बलप्रयोग किया जाएगा। नई आर्थिक नीति से निस्संदेह रूस की अर्थव्यवस्था फिर से पटरी पर आ गई और जनसाधारण की हालत में सुधार आ गया।

लेकिन राजनीतिक स्तर पर लेनिन ने अपनी नीतियों का कुछ अधिक निष्ठुरता से पालन करवाया। मार्च 1921 में, उसने साम्यवादी पार्टी में 'गुटवाद' पर रोक लगा दी। जो भी व्यक्ति पार्टी की आधिकारिक विचारधारा से अलग मत रखता था उसे या तो पार्टी से निकाल दिया जाता था या गोली से उड़ा दिया जाता था। 1921 के उत्तरार्द्ध में, पार्टी के एक-तिहाई सदस्यों का या तो शुद्धीकरण कर दिया गया अथवा उन्हें लेनिन की भयंकर गुप्त पुलिस 'चेका' की सहायता से निष्कासित कर दिया गया।

लेकिन लेनिन जनवरी 1924 में 53 वर्ष की कम उम्र में ही चल बसा। वह विश्व के प्रथम साम्यवादी राज्य की स्थापना करने में सफल तो हुआ लेकिन अभी उसका काम पूरा नहीं हुआ था। उसे आशा थी कि विश्व के अन्य देशों में भी साम्यवादियों के विद्रोह शुरू हो जाएंगे, पर ऐसा नहीं हुआ। इससे रूस, जिसे अब सोवियत संघ (यू.एस.एस.आर.) कहा जाने लगा था, विश्वस्तरीय मामलों में अलग-थलग पड़ गया। लेकिन उसकी जल्दी ही मृत्यु हो जाने से, पार्टी के भीतर सत्ता के लिए संघर्ष छिड़ गया। अब 'लाल' आतंक का सबसे बुरा दौर शुरू होने जा रहा था।

जोसेफ स्टालिन

लोगों को आशा थी कि लिओन ट्रॉट्स्की लेनिन का उत्तराधिकारी होगा, किंतु सत्ता के लिए संघर्ष पांच वर्ष से भी अधिक समय तक चलता रहा और अंततः जोसेफ स्टालिन उभर कर सबसे ऊपर आ गया। उसका वास्तविक नाम जोसेफ़ जुगान्शविली (Djugashvili) था, लेकिन उसने बोल्शेविकों से मिलने के बाद अपना नया नाम स्टालिन रखा जिसका मतलब है 'स्टील का आदमी' यानी लौह पुरुष। सोवियत अर्थव्यवस्था अनेक आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं से घिरी थी। नवजात साम्यवादी राज्य को डर था कि कहीं कोई विदेशी आक्रमण न हो जाए। स्टालिन ने इन समस्याओं पर काबू पाने के लिए संकल्पपूर्वक प्रयास किए। उसने जो प्रयत्न किए उनमें प्रमुख थे: अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों, विशेष रूप से उद्योग धंधों को फिर से जीवन शक्ति प्रदान करने के लिए पंचवर्षीय योजनाएं; कृषि का सामूहिकीकरण और एक सर्वाधिकारी राज्य व्यवस्था का सूत्रपात।

औद्योगीकरण एक सुनियोजित प्रक्रिया के माध्यम से संपन्न किया गया। प्रथम योजना (1928-1932) में कोयला, लोहा, इस्पात, तेल और भारी इंजीनियरी जैसे भारी उद्योगों पर ध्यान केंद्रित किया गया। दूसरी और तीसरी योजनाओं में भी भारी उद्योगों पर बल दिया जाता रहा पर उनमें उपभोक्ता वस्तुओं को भी शामिल कर लिया गया। 1940 तक आते-आते सोवियत संघ लोहे और इस्पात के उत्पादन में ब्रिटेन से आगे निकल गया और उसका कोयले का उत्पादन जर्मनी के कोयला उत्पादन के लगभग बराबर आ गया। ऐसे नए-नए नगरों में हज़ारों कारखाने लगाए गए जो स्टालिन के विचार में विदेशी आक्रमण की मार से बाहर थे। द्वितीय विश्वयुद्ध की घटनाओं को देखते हुए स्टालिन का यह सोचना बिल्कुल सही निकला। मैग्नीतोगोर्स्क के लोहे तथा इस्पात के कारखाने खारकोव व गोर्की स्थित ट्रैक्टर फैक्टरियां और काकेशस पर्वतों में स्थित तेल-शोधक कारखाने उसकी इस नीति के उदाहरण हैं।

लेकिन यह सोचना गलत होगा कि सोवियत संघ मजदूरों या कामगारों के लिए आनंदधाम यानी

स्वर्ग था। कामगारों को निष्ठुरतापूर्वक अनुशासन में रखा जाता था। हालांकि उच्च उत्पादकता के लिए उन्हें पदकों से विभूषित किया जाता था, पर उत्पादन कम होने पर कठोर से कठोर दंड की व्यवस्था थी। यदि लोग समय पर लक्ष्यों को पूरा नहीं कर पाते थे तो उन्हें क्रांति के विरोधियों के रूप में मृत्युदंड तक दे दिया जाता था। हजारों कामगारों को उनके प्रबंधकों द्वारा निर्धारित उच्च मानकों को प्राप्त न करने पर बेगार शिविरों में भेज दिया जाता था। कामगार पुराने जमाने की आवास परिस्थितियों में रहते थे जबकि पार्टी के कार्यकर्ता तथा उनके परिवार शानदार मकानों में विलासपूर्ण जीवन का आनंद लेते थे और अकसर अवकाश स्थलों पर प्रेमकुटियों *(dachas–दाचाज़)* में मौज–मस्ती करते थे। सोवियत मामलों के प्रसिद्ध इतिहासकार रिचर्ड फ्रीबोर्न ने लिखा है: ''संभवत: यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि पहली पंचवर्षीय योजना एक तरह से राज्य तंत्र द्वारा उन कामगारों तथा किसानों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा ही थी जो अब पूंजीवाद के मुकाबले इस नई व्यवस्था के अंतर्गत अधिक शोषण का शिकार बन गए थे।''

नई आर्थिक नीति में *कुलकों* के प्रति अनुकूल रुख अपनाया गया था। इस मामले में स्टालिन, लेनिन के विचारों से सहमत नहीं था। उसने निश्चय किया कि छोटे फार्मों तथा जोतों को मिलाकर 'कोलख़ोज' (सामूहिक फार्म) बना दिए जाएं जो संयुक्त रूप से किसानों के कब्जों में रहें। यह नीति 1929 में प्रारंभ की गई और इसे अभूतपूर्व बर्बरता के साथ लागू किया गया। हजारों किसानों ने इस योजना का विरोध किया तो उन्हें श्रम शिविरों में ले जाकर गोलियों से उड़ा दिया गया। 1991 में सोवियत संघ के बिखराव के बाद, *कुलकों* के भीषण हत्याकांड के बारे में पूरे तथ्यों का पता तब चला जब पुराने सरकारी अभिलेखागार जो अब तक बंद थे, खुल गए। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा 1999 में प्रकाशित *दि ब्लैक बुक ऑफ कम्युनिज्म-क्राइम्स, टैरर, रिप्रेशन* (साम्यवाद की काली किताब – अपराध, आतंक, दमन) के अनुसार, 20 लाख से ज्यादा लोगों को निर्वासित कर दिया गया, 60 लाख लोग भूख से मर गए और लाखों लोग निर्वासन के प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप अपनी जान गंवा बैठे। बलात् सामूहिकीकरण के अंतर्गत, सोवियत संघ की खाद्य सुरक्षा और भी अधिक बिगड़ गई। 1934 में खद्यान्न का कुल उत्पादन 1928 के मुकाबले कम रहा। 1932–33 में देश के अनेक भागों में अकाल पड़ा। सरकार ने अपने कार्यक्रम की सफलता का दावा करने के लिए 20 लाख टन खाद्यान्न निर्यात किया, लेकिन 50 लाख किसान भूख से प्राण गंवा बैठे। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि स्टालिन ने तो उलटे अकाल का स्वागत किया क्योंकि इससे किसानों की कमर टूट गई और उनका प्रतिरोध समाप्त हो गया।

स्टालिनवादी सर्वाधिकारवाद

स्टालिन का विश्वास था कि उसके सर्वाधिकारवादी शासन के अंतर्गत, सभी राजनीतिक कार्यकलाप नियंत्रित हो जाएंगे। वह अपने लिए संपूर्ण एवं निर्विरोध शक्ति प्राप्त करना चाहता था और आलोचना को बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर सकता था। दिसंबर 1934 में उसने पार्टी के शुद्धिकरण की प्रक्रिया प्रारंभ की जब उसने अपने एक समर्थक सर्गेई किरोव की हत्या के दंडस्वरूप अपने अनेक प्रत्यक्ष निंदकों को मौत के घाट उतार दिया। यह शुद्धिकरण

की एक अत्यंत घृणित एवं कुख्यात घटना थी। हाल में हुए अनुसंधान से पता चला है कि स्टालिन ने खुद किरोव की हत्या कराई थी ताकि उसे उसका झूठ-मूठ बदला लेने के बहाने अपने विरोधियों का सफाया करने का मौका मिल जाए। स्टालिन के उत्तराधिकारी निकिता खुश्चेव ने स्वयं आगे दो दशकों के बाद इस बात को स्वीकार किया था। इस समय तक उसका प्रमुख विरोधी ट्रॉट्स्की देश छोड़कर निर्वासित जीवन बिता रहा था। तभी मैक्सिको में स्टालिन के एक एजेंट ने उसकी हत्या कर डाली। अगले चार वर्षों के दौरान, साम्यवादी पार्टी के सैकड़ों पदाधिकारियों को गिरफ्तार करके उन पर दिखावटी मुकदमे चलाए गए जिनमें न्यायाधीशों ने उन सबको मृत्युदंड दे दिया। ज़िनोवीव, कामानेव, बुखारिन और रादेक जैसे बहुत से बोल्शेविकों को जिन्होंने 1917 की तख्ता-पलट क्रांति के दौरान लेनिन का साथ दिया था, और अधिकांश चोटी के सेना अधिकारियों को मौत के घाट उतार दिया गया। दिसंबर 1934 और फरवरी 1935 के बीच 6,500 से भी अधिक बड़े लोगों को गोलियों से उड़ा दिया गया और उससे भी अधिक को साइबेरिया में निर्वासित कर दिया गया अथवा मध्य एशियाई गणराज्यों में भेज दिया गया।

किंतु, 1936-38 के महाभीषण आतंक (Great Terror) ने, जिसे सोवियत इतिहास में एझोवश्चाइना (Ezhovshchina) कहा जाता है, इतने बड़े पैमाने पर कहर ढाया जिसका उदाहरण मानव इतिहास में कहीं नहीं मिलता। इस राज्य-प्रायोजित भीषण आतंक के इतिहास के पूरे तथ्यों का शायद ही कभी पता चले। ख्रुश्चेव ने अक्तूबर 1961 में हुई सी.पी.एस.यू.(CPSU) के 22वें अधिवेशन में यह स्वीकार किया था कि ये अपराध बहुत बड़े पैमाने पर अत्यंत व्यापक रूप से किए गए थे। तब तक, हर खबर को 'पूंजीवादी प्रॉपगैंडा' (प्रचार) ही कहा जाता था। इतिहासकारों का अंदाजा है कि महा भीषण आतंक के दौरान, कम से कम 60 लाख लोग गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिए गए अथवा साइबेरिया या मध्य एशिया भेज दिए गए। इसके अतिरिक्त 30 लाख लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया और अन्य 20 लाख लोग शिविरों में मर गए। किंतु संशोधनवादियों (Revisionists) का कहना है कि ये आंकड़े बढ़ा-चढ़ाकर पेश किए गए हैं। लेकिन यह बता देना भी आवश्यक होगा कि लगभग इतने ही लोग यह कहते हैं कि नाजियों द्वारा ऐसा सर्वनाश किया ही नहीं गया।

स्टालिन के सर्वाधिकारवाद ने उस नए संविधान को प्रभावित किया जो 1936 में लागू किया गया। उसमें लोकतंत्र का आभास दिखाई देता है। प्रत्येक नागरिक को सर्वोच्च यानी सुप्रीम सोवियत नामक राष्ट्रीय सभा के सदस्यों का चुनाव करने के लिए गुप्त मतदान करने का अधिकार दिया गया था।

लेकिन इस निकाय की बैठक वर्ष में केवल दो सप्ताह के लिए ही होती थी जब वह 'प्रेसीडियम' नामक छोटे से दल का चुनाव करती थी। सुप्रीम सोवियत मंत्रियों के एक छोटे-से समूह, जिसे सोवियत कॉमिसार संघ कहा जाता था, को भी चुनती थी, जिसमें स्टालिन, सेक्रेटरी (सचिव) था।

स्टालिन, सोवियत संघ के लेखकों, कलाकारों और संगीतज्ञों से यह आशा करता था कि वे उसे महिमा-मंडित करेंगे। प्रसिद्ध लेखक, मैक्सिम गोर्की, स्लोवेत्स्की द्वीप समूह में गया जहां स्टालिनवादियों के निकृष्टतम बंदी शिविरों में से एक मौजूद था

और वहां से लौटकर उसने उस शिविर तथा उसके अधिकारियों की प्रशंसा में एक पुस्तक लिखी। एक संगीतकार दिमित्री शोस्ताकोविच को उस समय दंडित किया गया जब उसका ओपेरा, *लेडी मैक्बेथ ऑफ मतसेन्स्क* स्टालिन को खुश न कर सका। लेकिन उसकी एक उल्लेखनीय असफलता यह रही कि वह रूसी प्राच्य चर्च के प्रभाव को रोक न सका। यद्यपि उसने चर्च को दबाने के लिए कठोर कदम उठाए और पादरियों तथा धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों को बिना सोचे-समझे यों ही मरवा डाला, फिर भी सोवियत जनता के विशाल जनसमुदाय परमेश्वर के प्रति निष्ठावान बने रहे। मध्य एशियाई गणराज्यों में, उसने अधिकतर इस्लाम धर्मी जनता का दमन किया, मस्जिदों को जला डाला और उनकी सदियों पुरानी सभ्यता का नामोनिशान मिटा दिया। फिर भी, लोगों का विश्वास डिगा नहीं।

नाज़ी सर्वाधिकारवाद

एडोल्फ हिटलर के किस्म का फासीवाद बहुत-कुछ वैसा ही था जैसा कि मुसोलिनी ने इटली में चलाया था। चूंकि वह मुसोलिनी और स्टालिन के बाद सत्ता में आया था, उसने शासन की एक ऐसी शैली लागू की जो पहले दोनों तानाशाहों द्वारा अपनाए गए सर्वाधिकारवाद और बर्बरता के स्तरों पर पहुंचने की आकांक्षा रखती थी। लेकिन साम्यवादियों के विपरीत, फासीवादी लोकतंत्र का बहाना बनाने की परवाह नहीं करते थे। नाज़ी जर्मनी में शासन के विरोधियों का बलपूर्वक दमन किया गया, प्रेस पर सेंसर लागू कर दिया गया, विदेशी पत्रकारों को देश की सीमाओं के भीतर काम करने के लिए निरुत्साहित किया गया, राज्य के प्रचार साधनों का पूरी तरह इस्तेमाल किया गया, राज्य द्वारा विद्रोह-भड़काऊ समझी गई पुस्तकों को जला दिया गया और बहुत-कुछ सोवियत संघ की तरह ही, प्रत्येक नागरिक पर कड़ी नजर रखने के लिए गुप्त पुलिस रखी गई।

जर्मनी में नाज़ीवाद ने यहूदी-विरोधवाद (anti-semitism) का राज्य की नीति के साधन के रूप में प्रयोग किया और हिटलर के विशेष बलों 'एसएस' ने उन देशों में यहूदियों का पूरी तरह सफाया कर देना अपना कर्तव्य समझा, जो देश द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी के कब्जे में आ गए थे। यूरोप में यहूदियों के प्रति घृणा का बर्ताव कोई नई बात नहीं थी। ईसाइयों में यह अंधविश्वास सदियों से चला आ रहा था कि यहूदियों ने ईसा मसीह के साथ धोखा किया था, इसलिए वे यहूदियों को एक अवांछनीय नस्ल मानते थे। यहूदी समुदाय के राज्य-प्रायोजित उत्पीड़न को सदियों से कैथोलिक चर्च का समर्थन मिल रहा था। हिटलर में यहूदियों के विरुद्ध एक खास तरह की दुर्भावना उत्पन्न हो गई थी जो सभी ऑस्ट्रियाई लोगों में विद्यमान थी और जिन दिनों हिटलर विएना में एक कलाकार के रूप में स्थापित होने के लिए संघर्ष कर रहा था। वह यहूदी-विरोधी प्रचार के प्रभाव में आ गया था, लेकिन यह सब कहने का यह मतलब नहीं है कि नाजियों ने ईसाइयत को बढ़ावा दिया हो। यद्यपि हिटलर नाम के लिए तो कैथोलिक था, लेकिन उसने चर्च को राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करने से रोक दिया था। हजारों कैथोलिक पादरियों तथा ननों को बंदी शिविरों में डाल दिया गया था और बहुतों को तो मौत के घाट उतार दिया गया था। फिर भी वह पोप को चुप रखने

में सफल हो गया और यहूदियों तथा अन्य जातियों के विरुद्ध कत्लेआम करता रहा।

हिटलर के शासन का सबसे अधिक घृणित और अत्याचारपूर्ण पक्ष यह था कि वह जर्मनों की प्रजातीय श्रेष्ठता के सिद्धांत को मानता था। उसके अनुसार जर्मन 'आर्य' थे। उसके मतानुसार इस प्रभु-प्रजाति (मालिक-नस्ल) को निम्न श्रेणी के लोगों पर शासन करने का दैवी अधिकार प्राप्त है। इस निम्न श्रेणी में उसने सभी पूर्वी यूरोपवासियों और गोरों से भिन्न सभी लोगों को रखा था। (उसने अपने इस सिद्धांत में उस समय थोड़ा-सा परिवर्तन कर लिया जब द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उसे जापान को अपने मित्र के रूप में साथ लेना पड़ा)। किंतु युद्ध और विजय का महिमामंडन और सत्तावादी राज्य की निरंकुश शक्ति का गुणगान और आर्यों के शासन की स्थापना जैसे विचार हिटलर के अपने नहीं थे। ऐसी विचारधारा की जड़ें पश्चिमी मानव के मनोमस्तिष्क में बहुत गहराई तक बैठी हुई थीं। ब्रिटिश लोग एशिया तथा अफ्रीका में उपनिवेशों पर अपने शासन को इसी सिद्धांत के आधार पर मूल रूप से न्यायोचित ठहराने का प्रयास करते थे।

पूर्ववर्ती अध्याय में हम देख चुके हैं कि हिटलर का शासन अपने प्रारंभिक वर्षों में किस तरह से यहूदियों पर अत्याचार करने लगा था। यहूदियों को नौकरी या रोजगार देने पर पाबंदी थी; वे अपना खुद का कारोबार भी नहीं चला सकते थे। उन्हें अपनी बांह के चारों ओर एक पट्टी लगानी पड़ती थी, जिस पर डेविड का सितारा अंकित रहता था। जिससे तुरंत यह पता चल सके कि वह यहूदी है। उन्हें सार्वजनिक रूप से नीचा दिखाया जाता था, उन्हें खेल-कूद तथा कलाओं में भाग लेने की मनाही थी। संक्षेप में, उन्हें 'अवमानवीय' (Subhumans) यानी आम आदमी से नीचा समझा जाता था। शनैः-शनैः उनके उत्पीड़न में बढ़ोतरी होती गई और वह असह्य हो गया। *क्रीस्टाल नाख्ट* (Kristallnacht) यानी 9 नवंबर 1938 की स्फटिक रात्रि को जब ढेरों गिलास तोड़कर शीशों के टुकड़ों का अंबार लगा दिया गया, नाजी पार्टी ने मदमस्त होकर तृतीय राइख (जर्मन साम्राज्य) के पाशविकतापूर्ण कार्यकाल की शुरुआत की जो द्वितीय विश्वयुद्ध के साथ समाप्त तो हो गया, पर अपनी समाप्ति से पूर्व उसने 60 लाख यहूदियों और 'अवमानव' समझे जाने वाली अन्य प्रजातियों के लाखों लोगों की योजनाबद्ध तरीके से जानें लीं। 'यहूदी प्रश्न का अंतिम हल' 1942 से कार्यान्वित किया गया जिसने एक ऐसे 'सर्वनाश' (सर्वदाह) का दृश्य उपस्थित किया जो मानव इतिहास की सबसे अधिक शर्मनाक घटना है। यद्यपि साम्यवादियों ने हिटलर से पहले और बाद में भी, इससे कहीं ज्यादा निरपराधों की निर्मम हत्या कर डाली थी, लेकिन नाज़ियों ने तो अपने संपूर्ण विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल बड़े पैमाने पर नर-संहार करने के लिए ही किया।

यह जान लेना जरूरी होगा कि जर्मनी से बाहर की दुनिया के देश नाज़ी शासन के बर्बर पक्ष को पूरी तरह नहीं जानते थे। इसलिए उन्होंने नाज़ी जर्मनी के साथ ठीक सितंबर 1939 यानी युद्ध छिड़ने के समय तक, व्यापारिक तथा राजनयिक संबंध बनाए रखे। अलबत्ता, वे यह तो जानते ही थे कि जर्मनी में यहूदियों के खिलाफ भेदभाव का बर्ताव किया जा रहा है और इस कारण संयुक्त राज्य अमेरिका सहित कई देशों ने जर्मनी की कटु आलोचना एवं निंदा भी की।

अमेरिका सहित कई देशों ने यह धमकी भी दी कि यदि हिटलर का शासन अपना यहूदी-विरोधी कार्यक्रम नहीं छोड़ेगा तो वे 1936 के बर्लिन ओलंपिक खेलों का बहिष्कार कर देंगे। उन्हें धोखा देने के लिए नाजियों ने इन खेलों की अवधि के दौरान यहूदियों के प्रति अत्यंत सहिष्णुता दिखलायी, लेकिन खेल समाप्त हो जाने के बाद तुरंत ही उन्होंने फिर अपना मूल कार्यक्रम प्रारंभ कर दिया। अत्याचारों से पीड़ित यहूदियों ने दूसरे देशों में जाकर बसने के लिए उन देशों की सरकारों को अर्जियां दीं। यहूदियों के अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने भी इन अर्जियों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के लिए बेतहाशा दलीलें दीं, पर उन सरकारों ने यहूदियों की अर्जियों पर कोई ध्यान नहीं दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी. रूजवेल्ट ने, वस्तुतः बर्लिन स्थित अपने राजदूतावास को यहां तक निर्देश दे दिया कि शरण मांगने वाले यहूदियों की अर्जियों पर वीसा (Visa) देने की कार्रवाई में वे 'धीमा चलें'। युद्ध के दौरान भी, जब यहूदियों को बड़े पैमाने पर पूर्वी यूरोप में स्थित बंदी शिविरों में गोलियों से उड़ाने या गैस से दमघोंट कर मार डालने की जासूसी रिपोर्टें मिलने लगीं तब भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने उन हत्या केंद्रों को नष्ट करने के लिए उन पर हवाई हमले करने अथवा वहां अपने विशेष कमांडो दल भेजने से साफ इनकार कर दिया।

जापान और कॉमिन्टर्न-विरोधी समझौता

जापान एशिया में आक्रामक नीति पर चल रहा था। 1931 में, उसने चीन के एक प्रांत, मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया जिसकी आबादी 3 करोड़ लोगों की थी। लेकिन राष्ट्र संघ ने कोई प्रतिक्रिया नहीं जतायी। 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों से जापान एक प्रमुख शक्ति बन गया था। उसके पास एक शक्तिशाली समुद्री बेड़ा था जिसकी सहायता से वह पूर्वी एशिया पर अपना प्रभुत्व कायम किए हुए था। 1929 में प्रारंभ हुए विश्व आर्थिक संकट के दौरान जापान के निर्यात में भारी कमी आयी और इसके प्रमुख उत्पाद कच्चे रेशम की कीमत में इतनी तेजी से गिरावट आयी कि वह 1923 की कीमत के मुकाबले 20 प्रतिशत से भी कम रह गई। इससे जापान में सर्वत्र गरीबी फैल गई और आक्रोश उत्पन्न हो गया। चीन के साथ झगड़ा तब शुरू हुआ जब मंचूरिया में रहने वाले जापानी व्यापारियों तथा कारोबारियों पर दबाव डालकर उन्हें मंचूरिया से बाहर निकाला जाने लगा। जापानी सेना के फासीवादी समूहों ने सरकार से अनुमति लेने की परवाह किए बिना ही मंचूरिया पर धावा बोल दिया। जब प्रधान मंत्री इनुकाई ने इस कदम की आलोचना की तो उसकी हत्या कर दी गई। उसी समय से जापान की सरकार सेना के हाथों में खेलने लगी और उसकी हां में हां मिलाने लगी। मंचूरिया की जीत से उत्साहित होकर जापानी सेना ने 1937 में चीन पर आक्रमण कर दिया और देश को द्वितीय विश्वयुद्ध में खींच लाई।

लेकिन हिटलर जापान के नजदीक क्यों आया? इसलिए कि उसे साम्यवाद का डर था। जापान और जर्मनी दोनों ही देशों को यह डर था कि कॉमिन्टर्न यानी कम्युनिस्ट इंटरनेशनल नामक संस्था, जो समस्त विश्व में साम्यवादी क्रांतियां प्रायोजित करने के लिए 1919 में लेनिन द्वारा स्थापित की गई थी, देश में स्टालिन की पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा सकारात्मक परिणाम दिखाए जाने के बाद कहीं

अपनी नीति कार्यान्वित करना न प्रारंभ कर दे। इसलिए जर्मनी तथा जापान द्वारा 25 नवंबर 1936 को कॉमिन्टर्न-विरोधी समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। यह समझौता सरसरी तौर पर एक ऐसे प्रचारात्मक दांव-पेंच से अधिक नहीं था जिसके द्वारा दोनों देश साम्यवाद के प्रति विश्व स्तर पर फैली घृणा का लाभ उठाना चाहते थे। यहां यह बता देना महत्त्वपूर्ण होगा कि इससे पिछले वर्ष, ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने मिलकर 'स्टेस्सा फ्रंट' नाम का एक मैत्री संघ बनाया था, जिसका उद्देश्य हिटलर के पुनर्शस्त्रीकरण कार्यक्रम की निंदा करना था। फ्रांस ने भी जर्मनी के पुनरुत्थान से डरकर सोवियत संघ के साथ अपने राजनयिक संबंधों को मजबूत करने के लिए कदम उठाए थे। इन दो घटनाओं ने हिटलर को विचलित कर दिया और इसलिए उसने साम्यवाद के विरोधी के रूप में भूमंडलीय स्तर पर अपने पक्ष में जनमत बटोरने के लिए प्रयत्न तेज कर दिए। किंतु कॉमिन्टर्न-विरोधी समझौते में एक गुप्त खंड था जिसके अंतर्गत यह सुनिश्चित किया गया था कि यदि सोवियत संघ द्वारा जर्मनी या जापान पर कोई आक्रमण किया गया तो दोनों राष्ट्र परस्पर 'यह परामर्श करेंगे कि अपने सामान्य हितों की रक्षा के लिए वे क्या-क्या उपाय करें' और 'ऐसे कोई उपाय नहीं करेंगे जिनसे सोवियत संघ के लिए स्थिति सरल होने की संभावना होगी।' यह भी सहमति व्यक्त की गई कि इस संधि का कोई भी पक्ष, बिना पारस्परिक सहमति के सोवियत संघ के साथ द्विपक्षीय संधियां नहीं करेगा।

तुष्टीकरण की नीति

इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में छल-कपट का बोलबाला था। हिटलर को उस 'खामोशी के षड्यंत्र' से फायदा पहुंचा जो मित्र शक्तियों ने किया था। स्टेस्सा मोर्चा जल्दी ही छिन्न-भिन्न हो गया। क्योंकि ब्रिटेन ने फ्रांस तथा इटली से परामर्श किए बिना ही, जून 1935 में आंग्ल-जर्मन नौसैनिक समझौता कर लिया। मुसोलिनी ने, जर्मन तथा जापानी सफलताओं से उत्साहित होकर उसी वर्ष अक्तूबर में एबिसीनिया पर आक्रमण कर दिया।

अब तो यह तथ्य सबको स्पष्ट हो गया कि न तो जापान और न ही फासीवाद बल्कि साम्यवाद ही 1930 के दशक में पश्चिमी दुनिया के लिए सबसे बड़ा खतरा बना हुआ था। हिटलर सोवियत संघ के अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम पर अपने हित को दृष्टिगत रखते हुए ध्यान केंद्रित रखने में सफल रहा। पेरिस, वाशिंगटन और लंदन के अनुदारदलीय राजनीतिज्ञ हिटलर को यदाकदा पश्चिम की ओर बढ़ती हुई स्टालिन की शक्ति को रोकने में सक्षम प्राचीर के रूप में देख रहे थे। इस विचार से प्रेरित होकर उन्होंने तुष्टीकरण की नीति अपनायी। सर्वप्रथम ब्रिटेन और फिर फ्रांस, जर्मनी की बढ़ती हुई मांगों के सामने झुकते गए। जब मई 1937 में चैंबरलेन ब्रिटेन का प्रधान मंत्री बना तो वह तुष्टीकरण को एक नए स्तर पर ले गया। इतिहासकार नॉर्मन लोव के अनुसार "चैंबरलेन पहले यह पता लगा लेता था कि हिटलर क्या चाहता है और फिर उसे यह बता देता था कि युक्तियुक्त दावों को बलपूर्वक नहीं, बल्कि बातचीत द्वारा पूरा किया जा सकता है।"

तुष्टीकरण की नीति के अंतर्गत, जर्मनी के पुनर्शस्त्रीकरण को रोकने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की गई थी। आंग्ल-जर्मन नौसैनिक समझौता,

फ्रांस से परामर्श किए बिना ही 1935 में हस्ताक्षरित किया गया। इससे ब्रिटेन के प्रति फ्रांस के विश्वास को झटका लगा और फ्रांसीसी सरकार ने जर्मनी तथा इटली के साथ, तुष्टीकरण की नीति के आधार पर ही, खुद समझौते कर लिए। जब हिटलर ने राइनलैंड को फिर से अपने कब्जे में लेने के लिए अपनी सेनाएं भेजीं तो फ्रांसीसी आसानी से जर्मन सेनाओं को बाहर निकाल सकते थे। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया और जब ब्रिटेन से कोई सहायता नहीं आयी तो फ्रांसीसी, वर्साय संधि का उल्लंघन करते हुए, चुपचाप देखते रहे। जब नाजियों ने स्पेन के गृहयुद्ध में भाग लिया और जनरल फ्रैंको का समर्थन किया, तो न तो फ्रांस ने और न ही ब्रिटेन ने कोई हस्तक्षेप किया। मार्च 1938 में जब हिटलर ने अपनी स्वप्निल परियोजना 'आँशलुस' यानी जर्मनी और ऑस्ट्रिया के एकीकरण को कार्यान्वित किया तो ब्रिटेन में बहुतों ने इसे 'स्वाभाविक सम्मिलन' के रूप में देखा। चैंबरलेन ने तुष्टीकरण का सबसे घटिया काम तब किया जब सितंबर 1938 में म्यूनिख में उसने हिटलर को व्यावहारिक रूप से, चेकोस्लोवाकिया को अपने कब्जे में लेने के लिए प्रोत्साहित किया। यदि चैंबरलेन ने कड़ा रुख अपनाया होता तो हिटलर निस्संदेह वापस हट जाता क्योंकि उस समय चेकोस्लोवाकिया के पास भी यूरोप में सबसे ताकतवर फौज थी और यदि इंगलैंड, फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया के बीच मैत्री संधि हो जाती तो जर्मनी अवश्य ही घबरा जाता। फिर भी, चैंबरलेन झुक गया। वह यह दावा करते हुए लंदन लौट गया कि उसने 'वर्तमान के लिए शांति' प्राप्त कर ली है।

एक ही वर्ष में, द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। मार्च 1939 तक चेकोस्लोवाकिया को पूरी तरह अपने कब्जे में लेने के बाद, हिटलर ने अपना ध्यान पोलैंड की ओर मोड़ा। वर्साय की संधि के अंतर्गत पोलैंड को दाँज़िग पत्तन दिया जाना जर्मन राजनीति में 1919 से ही एक अप्रिय विषय बना हुआ था। अप्रैल 1939 में हिटलर ने दाँज़िग वापस जर्मनी को सौंपने की मांग की और साथ ही यह भी कहा कि पूर्वी प्रशा को शेष जर्मनी के साथ जोड़ने के लिए पोलैंड के बीच से एक सड़क-रेल गलियारा भी दिया जाए। पोलैंड ने इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया क्योंकि उसे विश्वास था कि ब्रिटिश उसका पक्ष लेंगे। लेकिन एक बार फिर चैंबरलेन हिचक गया। ब्रिटेन, रूस की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकता था क्योंकि पोलैंड में जर्मनी के विस्तारवाद को रोकने के लिए, ब्रिटिश सेनाओं का उस देश के पड़ोस में एक अड्डा चाहिए था। चैंबरलेन ने इस मुद्दे को सुलझाने के लिए एक समझौता तैयार करने के उद्देश्य से 11 अगस्त 1939 को एक प्रतिनिधि मंडल मास्को भेजा। लेकिन दोनों पक्ष किसी सहमति पर नहीं पहुंच सके।

द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ जाने के पीछे तुष्टीकरण कहां तक कारण था? अनेक विद्वानों की राय है कि जर्मनी द्वारा अपनी सशस्त्र सेनाएं फिर से मजबूत बनाए जाने से पहले ही, ब्रिटेन और फ्रांस को सुदृढ़ कदम उठाना चाहिए था। जब हिटलर ने राइनलैंड पर फिर से कब्जा किया था उस समय ब्रिटेन और फ्रांस को तुरंत एक निर्णायक युद्ध छेड़ने का मौका मिला था, जिससे हिटलर की युद्ध छेड़ने की इच्छाशक्ति खत्म हो जाती। यह भी संभव था कि उससे शक्ति छीन ली जाती। इतिहासकार ऐलन बुलक का मत है कि ''प्रतिरोध के अभाव में हिटलर की हिम्मत बढ़ गई थी

जिससे वह जोखिम उठाने के लिए प्रेरित होता गया"। यह सच है कि हिटलर ने सचमुच विश्वयुद्ध के लिए पासा नहीं फेंका था। अपनी आत्मकथा में उसने स्वीकार किया है कि उसका ब्रिटेन के साथ कोई वैर-भाव नहीं था बल्कि उसने यह स्वीकार किया था कि इतने बड़े साम्राज्य का मालिक होने के नाते ब्रिटेन की योग्यता की तो प्रशंसा की जानी चाहिए। उसने सोचा था कि पश्चिमी शक्तियां अंतत: उसका समर्थन करेंगी क्योंकि उनका और जर्मनी का एक साझा शत्रु है – साम्यवाद। इसके अतिरिक्त, 1939 में जर्मन फौज इतनी ज्यादा ताकतवर भी नहीं थी जितनी कि ब्रिटेन और फ्रांस की फौजें। हिटलर के सेनानायक तो हमेशा उसे ही सलाह दे रहे थे कि 1940 के दशक के मध्य भाग से पहले, जबकि उसका आधुनिकीकरण का कार्यक्रम पूरा होने जा रहा था, वह कोई बड़ा युद्ध न भड़काए। किंतु म्यूनिख के बाद, हिटलर को यह पक्का विश्वास हो गया था कि चैंबरलेन की तुष्टीकरण की नीति तो सदा बनी ही रहेगी। लेकिन चैंबरलेन के पक्षधरों का कहना है कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री तो कुछ और समय लेने के लिए चाल चल रहा था क्योंकि उसकी सशस्त्र सेनाओं के पुनर्निर्माण का कार्यक्रम चल रहा था। लेकिन उसे इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उसने पोलैंड के संकट को सुलझाने के लिए सच्चे मन से कोशिश की थी और इसी हेतु उसने सोवियत संघ के साथ एक ऐसा समझौता करने का प्रयास किया था जो हिटलर को उसके रास्ते में ही रोक देता। लेकिन स्टालिन का विश्वासघात अंतिम तिनका साबित हुआ जिसने ऊंट की कमर तोड़ दी।

एक संयुक्त गठबंधन बनाने के ब्रिटेन के राजनयिक प्रयत्नों का आदर करने के बजाय, साम्यवादी तानाशाह ने नाजियों को गले लगाया। यदि ब्रिटेन के साथ उसका गठबंधन हो जाता तो उससे निश्चित रूप से हिटलर ठंडा पड़ जाता और वह आंग्ल-रूसी-फ्रांसीसी प्रतिक्रिया के डर से पोलैंड पर आक्रमण नहीं करता। 24 अगस्त 1939 को दुनिया यह जानकर हक्की-बक्की रह गई कि कल ही नाजियों और रूसियों ने एक अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर कर दिए हैं। दो विरोधी विचारधाराओं को मानने वाले दो देशों के बीच ऐसी घनिष्ठता इतिहास में अभूतपूर्व थी। इस अनाक्रमण संधि की शर्तों के तहत, जर्मनी को यह आश्वासन दिया गया था कि जब वह पोलैंड पर आक्रमण करेगा तब सोवियत संघ तटस्थ रहेगा। इस समझौते के कई गुप्त खंड थे जो 1989 में आकर ही प्रकट हुए।

गुप्त खंडों के अंतर्गत नाज़ी और साम्यवादी दोनों समस्त पूर्वी यूरोप को अपने बीच बांटने पर सहमत हुए थे। पोलैंड का पूर्वी आधा हिस्सा सोवियत संघ के नियंत्रण में रहना था जबकि पश्चिमी हिस्सा जर्मनी को मिलना था। लिथुआनिया जर्मनी को और एस्टोनिया, लातविया, फिनलैंड बेसाराबिया, यूक्रेन और बेलारूसिया, सोवियत संघ को मिलने थे।

इसके आठ दिन बाद, जर्मन सेनाओं ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया। 3 सितंबर से जर्मनों को पोलैंड से बाहर आने के लिए दो दिन देने के बाद, ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। फिर तो द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ हो ही गया।

अभ्यास

1. 1917 के बाद के काल में रूस के पुनर्निर्माण में लेनिन की भूमिका की चर्चा कीजिए।
2. स्टालिन के सर्वाधिकारवाद की प्रमुख विशेषताएं क्या थीं? उसकी नीतियों के संदर्भ में चर्चा कीजिए।
3. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि नाज़ी सर्वाधिकारवाद जर्मनों की प्रजातीय श्रेष्ठता के सिद्धांत पर आधारित था? अपने उत्तर के समर्थन में कारण बताइए।
4. जापान और जर्मनी 1936 में कॉमिन्टर्न-विरोधी समझौते में शामिल क्यों हुए? इस समझौते के उद्देश्य क्या थे?
5. आप 'तुष्टीकरण की नीति' से क्या समझते हैं? यह नीति द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने के लिए किस सीमा तक जिम्मेदार थी?
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए:
   (i) लेनिन की नई आर्थिक नीति
   (ii) स्टालिन का नया संविधान (1936)
   (iii) यहूदी-विरोधवाद
   (iv) आँशलुस

परियोजना कार्य

- व्लादिमीर लेनिन और जोसेफ स्टालिन द्वारा 1917 के बाद के काल में सोवियत संघ के सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अपनाई गई नीतियों के विषय में अतिरिक्त जानकारी इकट्ठी करें।

अध्याय 6

एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिका में घटनाचक्र

हम प्रायः भ्रमवश यूरोपीय इतिहास को 'विश्व इतिहास' मान बैठते हैं। 20वीं शताब्दी के विद्वानों में यह प्रवृत्ति रही कि वे विश्व के घटनाचक्र को यूरोप तथा अमेरिका के चश्मे से देखते रहे। निस्संदेह 19वीं तथा 20वीं शताब्दियों के यूरोपेत्तर विश्व पर महाद्वीप से निकलने वाली राजनीतिक-सामाजिक धाराओं का गहरा प्रभाव पड़ा था तथापि इसके विपरीत अन्य महाद्वीपों के यूरोप पर पड़ने वाले प्रभाव को अनदेखा करके हम एक बहुत बड़ी भूल करेंगे। वास्तव में, कभी-कभी एशियाई, अफ्रीकी तथा दक्षिण अमेरिकी घटनाचक्र ने यूरोपीय राष्ट्रों के बीच के राजनीतिक संबंधों को प्रभावित किया। और स्थानीय इतिहास की भूमिका क्या रही जिसने इन महाद्वीपों में रहने वाली 60 प्रतिशत से अधिक मानव जाति के जीवन को आकार दिया?

19वीं शताब्दी के अधिकांश उत्तरार्ध तथा 20वीं शताब्दी में इन महाद्वीपों के देशों के भाग्य का निर्णय यूरोपीय और अमेरिकी सामरिक तथा उपनिवेशी हितों ने किया। किंतु इन देशों के लोग भी अपनी चेतना विकसित कर रहे थे, जिससे 20वीं शताब्दी का आरंभ होने तक उनके स्वदेशी मोर्चों पर परिवर्तन हो रहे थे। इन परिवर्तनों ने यूरोपीय मामलों को प्रभावित किया और उसके परिणामस्वरूप अमेरिका मंच पर आ गया। इस अध्याय में हम इस संबंध में गहराई से विचार करेंगे। किंतु पहले हम शुरूआत जापान से करते हैं जो कि प्राचीन सभ्यता वाला एक ऐसा देश है, जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध में अकेले ही यूरोप तथा अमेरिका की ताकत का सामना किया।

जापान

जापान की ताकत का आधार क्या था? सतही तौर पर कोई ऐसी बात नहीं थी जो ताकत के प्रति जापान के दावे को विशिष्टता प्रदान करती हो। उस समय जापान द्वीपों का एक छोटा-सा समूह था जिसमें लोगों की अत्यधिक भीड़-भाड़ थी और जिसके पास कोई बुनियादी संसाधन नहीं थे, जो

अधिकांश देशों की सफलताओं का मूल आधार होते हैं। तथापि 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में जापान एक जानी-मानी ताकत बन गया। 1854 में, कोमोडोर मैथ्यू सी.पेरी के अधीन संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर किए जिसमें जापान को लाभदायक अमेरिकी बाजार के साथ व्यापार करने का अवसर मिल गया। इससे देश में उद्योगों का तेजी से विकास करने में सहायता मिली, जिसके परिणामस्वरूप जापान के अपने पड़ोस में स्थित अन्य बाजारों पर भी कब्जा करने के सपनों को बढ़ावा मिला। 1894-95 में, जापान के साम्राज्यवादी इरादों के कारण चीन के साथ युद्ध हुआ, जिसकी समाप्ति पर फारमोसा द्वीप (आज का ताइवान) उसके नियंत्रण में आ गया। 1904 में सखालिन द्वीपों पर विवाद के कारण रूस के साथ जापान का युद्ध हुआ। इस युद्ध में जापान की विजय ने एशिया पर यूरोपीय सैनिक श्रेष्ठता की सभी कल्पनाओं को झुठला कर रख दिया। इससे प्रोत्साहित होकर जापान ने 1910 में कोरिया को अपने राज्य में मिलाने का प्रयास किया।

1902 की आंग्ल-जापानी मैत्री-संधि की बदौलत ब्रिटेन का मित्र तथा मित्र राष्ट्र होने के कारण जापान ने प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों का साथ दिया। इसकी कंपनियों का एशियाई देशों, विशेषकर चीन में अत्यधिक प्रभाव था और ब्रिटेन तथा अमेरिका के साथ मिल कर जापान विश्व-शक्तियों के युद्ध प्रयासों में माल भेजने के लिए लाभदायक आर्डर प्राप्त कर सकता था। अपने ब्रिटिश तथा अमेरिकी मित्र राष्ट्रों की नौसेना के साथ अभ्यासों में भाग लेकर जापान की शक्तिशाली नौसेना ने अच्छा अनुभव प्राप्त किया। इनकी वाणिज्यिक नौसेना ने मित्र राष्ट्रों को सामग्री की आपूर्ति करके ही नहीं, बल्कि ऐसे ठेके प्राप्त करके भारी मुनाफा कमाया जो कि शांति के समय में उसे प्राप्त न हुआ होता। अतिरिक्त लाभ के रूप में, प्रशांत महासागर में जर्मनी के कब्जे वाले द्वीप जापान के पास चले गए, जैसा कि चीन में शैनदांग पर जर्मनी का पूर्व नियंत्रण जापान के पास चला गया था।

इसलिए 1918 तक आते-आते जापान बहुत समृद्ध देश बन गया था। अब वह अत्यंत उदारवाद की अवधि की प्रतीक्षा कर रहा था। लोकतंत्र आरंभ करने की मांग उस समय पूरी कर दी गई जब 1925 में सभी पुरुष वयस्कों को मताधिकार दे दिया गया। परंतु इसके साथ प्रतिगामी शक्तियां भी काम कर रही थीं। सेना अपना प्रभाव बढ़ाती जा रही थी। 1929 में इंग्लैंड के शेयर बाजार में सहसा गिरावट के साथ आरंभ हुई विश्वव्यापी मंदी ने जापान में संवृद्धि के लिए सैन्यवाद को एक नया अवसर प्रदान किया। रूढ़िवादी राजनीतिज्ञों के साथ-साथ, सेना भी सरकार की नीतियों को नकारने में हर तरह से सक्रिय रही थी। ऐसी बात नहीं थी कि जापान का लोकतंत्र बिलकुल सही तरीके से चल रहा हो। चारों तरफ भ्रष्टाचार व्याप्त था। जब वाल स्ट्रीट के शेयर बाजार में सहसा गिरावट आयी तो अमेरिका ने जापान के मुख्य निर्यात के लिए सबसे बड़े बाजार अर्थात कच्चे सिल्क में अपनी खपत कम कर दी। इससे जापान के किसान जबरदस्त गरीबी में धकेल दिए गए। बहुत बड़ी संख्या में किसान सेना की ओर उमड़ पड़े और इससे महत्वाकांक्षी जनरलों को अपने विस्तार के लिए एक मार्ग के रूप में सैन्यवाद का प्रयोग करने का अवसर प्राप्त हुआ। वे चाहते थे कि जापान चीन को एक उपनिवेश की तरह चलाए और जब वहां गृहयुद्ध उफान पर था तो वे उसके कार्यों में हस्तक्षेप करना चाहते थे।

1931 के मंचूरियाई संकट ने सेना को मनचाही चाल चलने का अवसर प्रदान किया। चीन के इस प्रांत की जनसंख्या 3 करोड़ के आस-पास थी। जापान की कंपनियों का वहां अच्छा-खासा प्रभाव था। किंतु जब चीन की राष्ट्रीय सरकार ने उनकी शक्तियों में रुकावट डालने का प्रयास किया तो टोकियो में सैन्यवादियों ने रूढ़िवादी राजनीतिज्ञों के प्रभाव में आकर आगे कदम बढ़ाया और चीन के इस हिस्से पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने वहां मंचकुओ नाम की एक कठपुतली सरकार भी स्थापित की। इस साहसी कदम के संबंध में दिल दहलाने वाली बात यह थी कि प्रधान मंत्री इनुकई की सरकार से परामर्श तक नहीं किया गया। जब इनुकई ने विरोध किया तो उसकी हत्या कर दी गई और सेना ने शासन अपने हाथ में ले लिया।
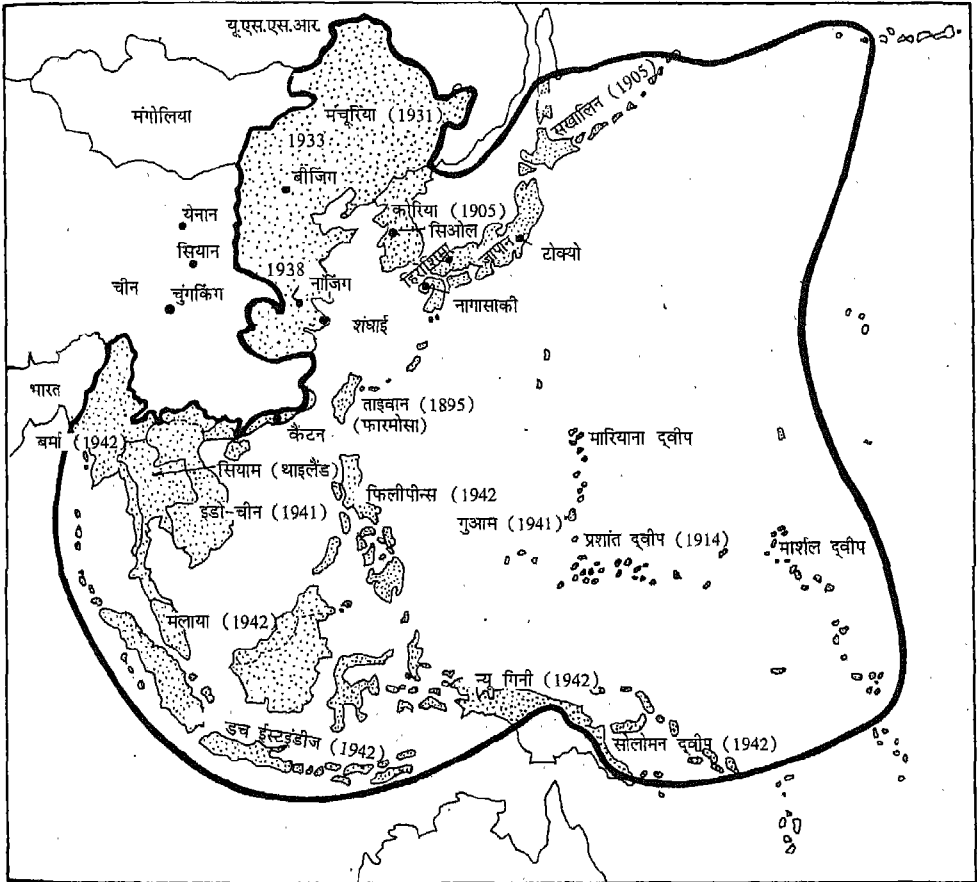
जापान द्वारा जीते गए क्षेत्र (1942 तक)

तब से लेकर दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त होने तक जापान की कहानी जर्मनी तथा इटली की कहानी को प्रतिबिंबित करती रही। राज्यतंत्र के क्रूर सैनिक आधिपत्य में (सम्राट केवल नाममात्र का अध्यक्ष था), सभी प्रकार के विरोध को सख्ती से कुचला गया। जिन लोगों में विरोध करने की क्षमता थी उन्हें 'साम्यवादी' करार देकर गोली मार दी गई। शिक्षा और विचारों की मुक्त अभिव्यक्ति पर रोक लगा दी गई। शेष एशिया को शीघ्रता से उपनिवेश बनाने और ब्रिटिश तथा अमेरिकी हितों की अवहेलना करते हुए अपनी ओर ध्यानाकर्षित करने के स्पष्ट उद्देश्यों के साथ एक आक्रामक विदेश नीति अपनायी गई। इसके परिणामस्वरूप पहले 1937 में चीन पर आक्रमण किया गया जिसमें नांजिंग नगर में निर्दोष लोगों का एक सबसे बड़ा ऐतिहासिक नरसंहार किया गया। दुःखद बात यह है कि सम्राट हिरोहितो ने इसका विरोध नहीं किया। इतिहासकार रिचर्ड स्टोरी को विश्वास है कि यदि सम्राट ने अपना हक जतलाया होता तो सेना नियंत्रित तरीके से कार्य करने के लिए बाध्य होती। और जब जापान द्वितीय विश्वयुद्ध में कूद पड़ा तब तो उसने अपने विनाश का मार्ग ही अपना लिया। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद जापान ने आधुनिक औद्योगिक शक्ति के रूप में मानो पुनर्जन्म ले लिया। इस विषय पर बाद के एक अध्याय में चर्चा की जाएगी।

चीन

आज चीन एक विश्व शक्ति है, किंतु एक शताब्दी पहले यह एक अत्यंत ग़रीब राष्ट्र था (यद्यपि प्रकृति ने इसे जबरदस्त क्षमताएं प्रदान की थीं) जो कि सामंतवादी प्रणाली में फंसा हुआ था। यह विश्व की सबसे पुरानी सभ्यताओं में से एक है, जिसका मांचू अथवा चिंग वंशों के शासन काल में राष्ट्रीय एकता का एक लंबा इतिहास रहा है। परंतु 1840 के दशक में चीन में यूरोपीय शक्तियों और बाद में पड़ोसी जापान का लालच प्रवेश कर गया, और इन सभी ने इसके आंतरिक कार्यों में हस्तक्षेप करना, गृहयुद्ध भड़काना और फूट को प्रोत्साहित करना आरंभ कर दिया। अंग्रेज़ जिन्होंने 1839-42 के अफीम-युद्धों में चीन को परास्त किया था, उन्होंने हांगकांग द्वीप पर कब्जा कर लिया। शीघ्र ही यूरोपीय तथा अमेरिकी लोग भी वहां प्रवेश कर गए। 19वीं शताब्दी समाप्त होने तक चीन को गंभीर राजनीतिक तथा सामाजिक संकटों का सामना करना पड़ा, जिसका विदेशियों ने अपने हित में भरपूर लाभ उठाया। 1894-95 में जापान के हाथों हुई पराजय ने इसे फारमोसा द्वीपों के क्षेत्र (आज का ताइवान) को छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध असंतोष खौल रहा था। अधिकांश चीनी यूरोपीय लोगों को 'बर्बर' मानते थे किंतु उन्हें, उनके हाथों अपमान सहन करना पड़ता था। 1898-1900 में प्रसिद्ध बक्सर विद्रोह हुआ। इसे कुचलने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय सेना गठित की गई। उन्होंने साम्राज्ञी सू-ह को भारी मुआवजे का भुगतान करने के लिए बाध्य किया। मांचू वंश के अंतिम प्रभावी सम्राट का 1911 में निधन हो गया। एक पांच वर्ष के बच्चे पुयी को सिंहासन पर बिठाया गया और उसके नाम से एक महत्त्वाकांक्षी जनरल युआन शिहकाई ने शासन किया। चार वर्षों तक प्रांतीय सेनापतियों में जबरदस्त संभ्रांति व्याप्त रही, जिन्होंने अपना-अपना प्राधिकार जतलाया। युआन शिहकाई ने उनके साथ सख्ती से काम लिया, किंतु इस प्रक्रिया में वह स्वयं महत्त्वाकांक्षी बन गया। 1915 में वह बाल सम्राट को हटाकर स्वयं सिंहासन पर बैठ गया। इसके कारण सेना ने उसका

समर्थन करना छोड़ दिया और उसे गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1916 और 1928 के बीच के सेनापति शासनकाल में जबरदस्त अस्त-व्यस्तता रही। आज के छात्र इस अवधि की मनोदशा तथा ज्यादतियों की तुलना तालिबान के अधीन अफ़गानिस्तान में अभी हाल तक घटी घटनाओं के साथ कर सकते हैं। बहुत से सामंतों तथा जनरलों ने देश को आपस में बांट लिया था और जालिमों की तरह शासन करते थे। कोई भी व्यक्ति इतना शक्तिशाली नहीं था जो थोड़ी-सी एकता भी बहाल कर सके। केंद्रीय सरकार भी इस स्थिति को ठीक न कर सकी।

1919 में चीनी लोगों ने वर्साय की संधि की शर्तों पर खुलेआम असंतोष प्रदर्शित किया, जिसके कारण शांतुंग प्रांत में जर्मनी के कब्जे वाले क्षेत्र

सन यात-सेन

जापान को दे दिए गए थे। 'चार मई का आंदोलन' (May the Fourth Movement) नाम के तथाकथित आंदोलन के सबसे आगे रहने वाले दल का नाम 'कोमिंतांग' (अथवा राष्ट्रीय दल) था। इसका गठन सेनापतियों की शक्ति पर अंकुश लगाने के लिए सन यात-सेन तथा चियांग काई-शेक के नेतृत्व में हुआ था।

सन यात-सेन को भारत के महात्मा गांधी तथा तुर्की के मुस्तफा कमाल अतातुर्क जैसे महान एशियाई नेताओं के साथ स्थान प्राप्त है, जो विदेशी शासन का विरोध करते हुए भी अपनी जनता को सुधारना चाहते थे। वह अमेरिका में प्रशिक्षित डाक्टर था और हांगकांग में उसका अच्छा काम चल रहा था। 1911-1915 में अराजकता के दौरान चीन में वापस आने पर उसे यह सब कुछ देख कर बहुत निराशा हुई। उसने तीन उद्देश्यों को ध्यान में रख कर कैंटोन प्रांत में 'कोमिंतांग' का गठन किया, जो इस प्रकार थे : चीन को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त करना, चीन को एक आधुनिक लोकतंत्र बनाना, तथा भू-सुधार लागू करके किसानों को सामंतों के नियंत्रण से मुक्त करना। सन यात-सेन के नेतृत्व में 'कोमिंतांग' की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। 1921 में गठित चीन के साम्यवादी दल ने इस संबंध में राष्ट्रवादियों के प्रयासों में सहयोग दिया। परंतु शीघ्र ही 'कोमिंतांग' तथा साम्यवादियों के बीच मतभेद उत्पन्न हो गए। 1925 में सन यात-सेन की मृत्यु के बाद चियांग ने साम्यवादियों को झकझोरा और उनके साथ कठोरता से निपटना शुरू किया। इन सभी घटनाओं ने इसके नेता माओ जेदांग को उत्तरी चीन में सत्ता का एक नया आधार स्थापित करने के लिए अपने अनुयायियों के साथ 6,000 मील 'लंबी पदयात्रा' करने के लिए बाध्य किया।

चियांग काई-शेक तथा माओ जेदांग के चित्र

चियांग काई-शेक

सन यात-सेन की मृत्यु के पश्चात, चियांग काई-शेक ने 'कोमिंतांग' की बागडोर अपने हाथों में ले ली। उसने इस कार्य में सोवियत संघ के साम्यवादियों की सहायता मांगी। सोवियत संघ ने यह सोचा कि अंततः उसे साम्यवाद में लाया जा सकेगा और उसने 'कोमिंतांग' सेना को बनाने में उदारतापूर्वक सहायता की, जिसे चतुर चियांग ने प्रभावी ढंग से सेनापतियों तथा चीनी साम्यवादियों के विरुद्ध प्रयोग किया। उसे, विशेषकर चीन में, साम्यवादियों की शक्ति बढ़ने पर संदेह था। 1927 में उसने 'कोमिंतांग' के भीतर शुद्धीकरण आंदोलन आरंभ किया और उन सभी लोगों को बाहर कर दिया जिन्हें वह साम्यवादी मानता था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि चियांग ने इस अभियान के दौरान कम-से-कम 250,000 लोगों को फांसी पर चढ़ा दिया।

यद्यपि इसके पश्चात चियांग ने 'कोमिंतांग' शासन को और मजबूत बनाया, तथापि उसने चीन को सामाजिक और आर्थिक समानता वाला मजबूत देश बनाने में सन यात-सेन के सपने को पूरा करने के लिए कुछ नहीं किया। वस्तुतः, चियांग ने जमींदारों के एक नए वर्ग को भूमि प्राप्त करने में सहायता दी और भू-सुधार या लोकतंत्र लागू करने के लिए उसने कोई उपाय नहीं किए।

माओ जेदांग का उदय

माओ को आधुनिक इतिहास के अत्यंत चमत्कारी नेताओं में गिना जाता है। उसका जन्म 1893 में दक्षिण-पूर्वी चीन के हुनान प्रांत में हुआ था। शुरू में उसने बीजिंग विश्वविद्यालय में पुस्तकालय अध्यक्ष के रूप में कार्य किया और यह विश्वविद्यालय साम्यवादी गतिविधियों का सक्रिय केंद्र था। हुनान वापस आकर उसने सेनापतियों से लड़ने के लिए साम्यवादी दल में एक शक्तिशाली ट्रेड यूनियन बनाई और कृषक आंदोलन चलाया। जब 1930 में साम्यवाद से छुटकारा पाने का काम आरंभ हुआ तो माओ उस समय दल की केंद्रीय कार्यकारिणी का निर्वाचित अध्यक्ष था, वह पहाड़ों में छिप गया और उसने वहां 'लाल सेना' (Red Army) का गठन किया। 1934 में 'कोमिंतांग' की सोवियत समर्थित सेना ने साम्यवादियों को करारी मात दी। इसने माओ को चीन के उत्तरी भाग की ओर खदेड़ दिया। लगभग 100,000 साम्यवादी ऐतिहासिक 'लंबे मार्च' पर चल पड़े जो आज विश्व कथा का एक हिस्सा है। उन्होंने अकथनीय कठिनाइयों का सामना किया, किंतु शेंसी और कंसु के उत्तरी प्रांतों तक पहुंचने के लिए उन्होंने 368 दिनों में 6,000 मील की दूरी तय कर ली। मार्ग में उन्होंने 18 पर्वतमालाएं तथा 24 नदियां पार कीं, 12 प्रांतों के बीच से गुजरे, 62 शहरों पर कब्जा किया और 10 प्रांतीय सेनापतियों से लड़ाई की और उन्हें पराजित किया। अंततः, केवल 20,000 लोग अपने गंतव्य पर पहुंचे। अगले 10 वर्षों में,

उन्होंने चियांग के नेतृत्व में 'कोमिंतांग' की अलोकप्रियता का फायदा उठाकर धीरे-धीरे इस क्षेत्र पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया।

चियांग के अधीन चीन में स्थिति तेजी से बिगड़ी क्योंकि न तो वह सुधारवादी था और न ही सच्चा राष्ट्रवादी। उसके लिए साम्यवादी उन जापानियों की तुलना में एक बड़ा खतरा थे जिन्होंने 1931 में मंचूरिया पर कब्जा कर लिया था और देश में चल रहे गृहयुद्ध ने उनके हौसले इतने बढ़ा दिए कि उन्होंने 1937 में चीन की मुख्य भूमि पर आक्रमण कर दिया। एक बार एक अजीब घटना घटी। चियांग दक्षिण में साम्यवादियों के विरुद्ध अपनी सेनाओं का नेतृत्व कर रहा था। उसके सेनापति उसकी अंतर्दर्शी नीतियों से तंग आ चुके थे। उन्होंने उसे गिरफ्तार कर लिया और उससे मांग की कि वह पहले जापानियों के विरुद्ध लड़े। इसलिए उसे जापानियों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा स्थापित करने के लिए साम्यवादी नेता चाऊ एनलाई के साथ एक समझौता करना पड़ा।

साम्यवादियों के लिए नया समझौता 'कोमिंतांग' की अपेक्षा अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। शेंसी में वे सुरक्षित थे, जहां उनकी शक्ति निर्विवाद थी। 1937 में पूर्ण युद्ध छिड़ जाने के बाद साम्यवादियों ने जापानियों के विरुद्ध एक लंबा संघर्ष चलाया। इसके विपरीत 'कोमिंतांग' का प्रभाव समूचे देश में बहुत कम व्याप्त था। उन्हें शीघ्र परास्त कर दिया गया और अधिकांश पूर्वी चीन पर जापान का कब्जा हो गया। साम्यवादियों के पास उत्तरी प्रांत ज्यों-के-त्यों सुरक्षित थे। इसलिए उन्हें राष्ट्रवादी समझा जाने लगा। हजारों की संख्या में 'कोमिंतांग' के सैनिक उनके शिविर में जा मिले। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापानियों की घोर पराजय होने तक माओ के 10 करोड़ से अधिक अनुयायी बन चुके थे। बाद के एक अध्याय में हम माओ के जीवन की अगली अवस्था और चीन के आधुनिक राष्ट्र के रूप में उदय पर एक नजर डालेंगे।

जब अमेरिका द्वितीय विश्वयुद्ध में शामिल हुआ तो इसने 'कोमिंतांग' की सहायता के लिए आदमियों और सामग्री के रूप में काफी मदद भेजी, किंतु उन्होंने आम तौर पर यह पाया कि चियांग, जापानियों के साथ लड़ने के लिए इच्छुक नहीं था। इसकी सेनाएं जमींदारों तथा स्थानीय अधिकारियों के माध्यम से कार्य करती थीं, किंतु माओ की सेनाओं को आम जनता का समर्थन प्राप्त था। जनता ने माओ को सन यात-सेन के उत्तराधिकारी के रूप में देखा और यहां तक कि अमेरिकी लोगों ने भी आरंभ में भ्रांतिवश उसे केवल एक कृषि सुधारक ही समझा। जब 1945 में युद्ध समाप्त हुआ तो सोवियत संघ ने चीनी साम्यवादियों को मंचूरिया अपने अधिकार में लेने की अनुमति दे दी, जिसे उसकी सेनाओं ने जापानियों से मुक्त कराया था। इसके परिणामस्वरूप युद्धेत्तर चीन में इस बात को लेकर भ्रांति उत्पन्न हो गई कि असली शासक कौन है—'कोमिंतांग' या साम्यवादी। संबद्ध शक्तियों ने 'कोमिंतांग' को मान्यता दी और उनके समक्ष जापानियों से आत्मसमर्पण भी करवाया। अमेरिका की सहायता से 'कोमिंतांग' सेना ने मुख्य पूर्वी नगरों को अपने अधिकार में ले लिया। फिर तो गृहयुद्ध छिड़ गया जो 1949 तक चला। साम्यवादी सेनाओं ने चियांग और उसके अनुयायियों को हांगकांग भाग जाने के लिए बाध्य किया। बाद में उसने फारमोसा द्वीप में एक 'कोमिंतांग' गणतंत्र की स्थापना की।

तुर्की

तुर्की की, एक साम्राज्य-निर्माता और किंचित धार्मिक दृष्टि से कट्टर राष्ट्र से एक आधुनिक गणतंत्र के

रूप में परिवर्तित होने की कहानी, संपूर्ण विकासमान विश्व, विशेषकर इस्लामी देशों के लिए एक उदाहरण का काम देती है। जब प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ तो तुर्की, जिसने केंद्रीय (धुरी) शक्तियों का साथ दिया था, के साथ वर्साय में कड़ा व्यवहार किया गया। इस अवस्था में तुर्की का भाग्य चमकाने वाला व्यक्ति था मुस्तफा कमाल अतातुर्क (1881-1938), जिसे अभी भी इतिहास के बड़े राष्ट्र निर्माताओं में स्थान दिया जाता है।

मुस्तफा कमाल ('अतातुर्क' अथवा 'तुर्कों के पिता' की सम्मानसूचक उपाधि उसे बाद में प्राप्त हुई) को तब एक राष्ट्रीय नायक के रूप में देखा गया, जब उसने एक छोटी-सी और कम साधनों से लैस सेना का नेतृत्व करते हुए डगमगाते सुल्तान की सेनाओं तथा वर्साय की संधि को लागू करवाने वाली पश्चिमी सेनाओं को कुचल डाला। 1922 में, उसकी सेनाओं ने इस्तंबुल पर अधिकार कर लिया और अगले वर्ष तुर्की को गणतंत्र (republic) घोषित कर दिया गया। मित्र राष्ट्र नए तुर्की शासन के लिए जन-समर्थन से प्रभावित हुए और वे स्विट्जरलैंड में लाउसेन की संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए सहमत हो गए जिसके अधीन तुर्कों को वे सभी भू-क्षेत्र अपने पास रखने की अनुमति दी गई जो उन्होंने मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में जीते थे। नए तुर्की देश में एनातोलिया, अर्मीनिया तथा पूर्वी थ्रेस शामिल थे, किंतु मेसोपोटामिया, अरब, फिलिस्तीन और सीरिया के भूतपूर्व क्षेत्र शामिल नहीं थे।

कमाल ने 1938 में अपनी मृत्यु तक एक उदार तानाशाह के रूप में शासन किया। विधिक दृष्टि से उसकी हैसियत विधान सभा में निर्वाचित राष्ट्रपति के समान थी। परंतु आजीवन राष्ट्रपति के रूप में उसने अपने अधिकांश शासन काल में विरोधी दलों को बढ़ने की अनुमति नहीं दी। वह सदैव अपने शासन काल को 'अस्थायी' अथवा 'संक्रांतिकालीन' कहता रहा। उसे विश्वास था कि तुर्की के लोग अभी स्व-शासन के लिए तैयार नहीं हैं। पश्चिमी राष्ट्रों ने उसके अलोकतांत्रिक तरीकों को बर्दाश्त किया क्योंकि उसने तुर्की को अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों से बाहर रखा। यद्यपि उसने 1930 में कुर्दिश विद्रोह का दमन किया, फिर भी हिटलर या स्टालिन की तरह कोई गुप्त पुलिस नहीं रखी।

विश्व का सबसे अधिक ध्यान कमाल के सुधार कार्यक्रमों की ओर आकर्षित हुआ, जिन्होंने तुर्की को आधुनिक राज्य में बदल डाला। उसने सार्वजनिक शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली की नींव डाली और महिलाओं को इस्लामी शरियत की बेड़ियों से मुक्त किया। उसने खलीफा का पद और धार्मिक न्यायालयों जैसी संस्थाएं और विधि संहिताएं समाप्त कर दीं। मदरसे बंद कर दिए गए और उनके स्थान पर आधुनिक विद्यालय स्थापित कर दिए गए। तुर्की भाषा पहले अरबी लिपि में लिखी जाती थी,अब उसके स्थान पर रोमन लिपि को अपना लिया गया। कमाल ने स्वयं समूचे देश की यात्रा की और लोगों को नई लिपि का प्रयोग करना सिखाया।

तुर्की की महिलाओं ने अतातुर्क में असली मुक्तिदाता का रूप देखा। उसने उन्हें बुर्का छोड़कर पश्चिमी परिधान पहनने के लिए प्रोत्साहित किया। लड़कियों के लिए आधुनिक विद्यालय स्थापित किए गए और महिलाओं के लिए सभी कैरियर तथा व्यवसाय खोल दिए गए। महिलाओं को सभी चुनावों में मताधिकार भी दिया गया। तुर्की की महिलाओं ने अब तक पुरुषों के लिए आरक्षित रहे व्यवसायों में प्रवेश करके और सरकार के लगभग प्रत्येक स्कंध में महत्त्वपूर्ण पदों पर पहुंच कर समूचे विश्व को

आश्चर्यचकित कर डाला। विश्व भर में किसी राष्ट्रीय उच्चतम न्यायालय की प्रथम महिला अध्यक्ष तुर्की की महिला थी।

अतातुर्क के आर्थिक सुधारों ने अन्य विकासशील देशों के मार्गदर्शन के लिए आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया। यद्यपि तुर्की को प्रकृति ने प्रचुर मात्रा में खनिज संसाधन प्रदान किए थे, तथापि देश के तीन-चौथाई लोग अपनी आजीविका खेतीबाड़ी से ही प्राप्त करते थे। इसलिए अतातुर्क ने कृषि के विकास के लिए बड़े कदम उठाए। उसने किसानों की भलाई के लिए कृषि महाविद्यालय, आदर्श फार्म और बैंक स्थापित किए। उसने किसान वर्ग को दमनकारी जमींदार से मुक्त किया और छोटी जोतों को बढ़ावा दिया। छोटे किसानों को अपनी जमीन खरीदने और तत्पश्चात उस पर लाभदायक तरीके से काम करने के लिए राज्य की ओर से सहायता प्रदान की गई।

1938 में अतातुर्क की मृत्यु के पश्चात, उसके उत्तराधिकारियों इस्मत इनोनु और सिलाल बयार ने धीरे-धीरे तुर्की को एक आधुनिक गणतंत्र में बदल डाला। द्वितीय विश्वयुद्ध में तुर्की तटस्थ रहा।

उपनिवेशीकरण के तहत अफ्रीका

1880 से 1945 की अवधि के दौरान अफ्रीका में कई परिवर्तन हुए। इस अवधि के दौरान उप-सहाराई अफ्रीका, उत्तरी अफ्रीका तथा मिस्र को ऑटोमन साम्राज्य तथा यूरोप की राजनीति से जोड़ दिया गया। महाद्वीप के मध्य, पूर्वी तथा ज्यादातर अन्य हिस्से पूर्णतया उपनिवेशी आधिपत्य में थे। अब हम एक ऐसे काल में इस महाद्वीप के अनुभवों को देखते हैं, जिसमें भारी खून-खराबा और शोषण हुआ और लोगों को भारी कष्ट उठाने पड़े।

1850 से पहले, अफ्रीका में उपनिवेशों के लिए महत्त्वपूर्ण संघर्ष केंद्र दक्षिण अफ्रीका और अल्जीरिया ही थे। दक्षिण अफ्रीका में हालैंड के उपनिवेशियों का स्थानीय बंतू जनजातियों के साथ संघर्ष छिड़ गया। 1830 में फ्रांस ने अल्जीरिया पर आक्रमण कर दिया और शीघ्र ही यूरोपीय उपनिवेशियों तथा स्थानीय विरोधकर्ता लड़ाकुओं के बीच झगड़ा शुरू हो गया। किंतु यूरोप की राजधानियों में सरकारें तथा कंपनियां बड़े पैमाने पर विदेशी जमीनों पर अधिकार का सपना देख रही थीं और उनकी नजर मुख्य रूप से वहां के प्राकृतिक संसाधनों के भंडारों पर थी। ईसाई मिशनरी भी लोगों को अपने धर्म में परिवर्तित करने के लिए उतावले हो रहे थे। बाजारों के लिए यूरोपीय लालसा और सत्ता तथा प्रतिष्ठा पाने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों में चल रही आपसी प्रतियोगिता ने एक के बाद एक यूरोपीय राष्ट्र को इस इच्छा के साथ इस महाद्वीप की ओर धकेल दिया कि वे इसके जितने भी हिस्सों पर अपना अधिकार जमा सकते हों जल्दी से जल्दी उन्हें अपने अधिकार में ले लें। इस महाद्वीप में उनके प्रवेश को, उनके पास उपलब्ध बढ़िया आर्थिक, प्रौद्योगिकीय तथा सैनिक शक्ति ने सहज बना दिया।

अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों ने अफ्रीका में यूरोपीय उपनिवेशी आक्रामक कार्रवाई आरंभ की। अंग्रेजों ने हालैंड से दक्षिण अफ्रीका का अधिकांश भाग पहले ही अपने अधिकार में ले लिया था और 1882 से मिस्र में एक संरक्षित राज्य (protactorate) स्थापित कर लिया था। ब्रिटेन महाद्वीप के पश्चिमी भाग में अपना विस्तार करके अपनी उपलब्धियों को विविध रूप प्रदान कर रहा था। परंतु वे इसमें प्रत्यक्ष रूप से शामिल नहीं होना चाहते थे। फ्रांसीसी इस कार्य में अपेक्षाकृत अधिक संलग्न थे। उनके पास सेनेगल

स्पेनी मोरक्को
केनारी द्वीप
मोरक्को
रियो डि जनेरो
अल्जीरिया
ट्यूनिशिया
भूमध्य सागर
लीबिया
मिस्र
लाल सागर
फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका
गाम्बिया
पुर्तगाली गिनी
सियरा लियोन
लाइबेरिया
गोल्ड कोस्ट
टोगोलैंड
नाइजीरिया
फ्रांसीसी इक्वेटोरियल अफ्रीका
एंग्लो-इजिप्शियन सूडान
इरीट्रिया
फ्रांसीसी सोमालीलैंड
ब्रिटिश सोमालीलैंड
इथियोपिया
इटैलियन सोमालीलैंड
कैमरून
रियो मुनी
कांगो नदी
युगांडा
ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका
फ्रांसीसी कांगो
बेल्जियन कांगो
अटलांटिक महासागर
हिंद महासागर
जर्मन पूर्वी अफ्रीका
न्यासालैंड
अंगोला
उत्तरी रोडेशिया
दक्षिणी रोडेशिया
जर्मन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका
बेचुआनालैंड
ट्रांसवाल
दक्षिण अफ्रीका संघ
ऑरेंज फ्री स्टेट
नटाल
केप कालोनी
मेडागास्कर

ब्रिटिश
फ्रांसीसी
इटैलियन
बेल्जियन
जर्मन

कि.मी.
मील

1914 में अफ्रीका में यूरोपीय उपनिवेशीय कब्जे।

तथा पश्चिमी अफ्रीका के अन्य भागों में सरकार द्वारा समर्थित व्यापारिक चौकियां थीं। इस महाद्वीप में अल्जीरिया सबसे पहला यूरोपीय उपनिवेश था जिस पर 17 वर्ष के संघर्ष के पश्चात फ्रांसीसियों ने अपना कब्जा जमाया था। 1880 के दशक में ट्यूनिशिया और आइवरी कोस्ट, फ्रांसीसी संरक्षित राज्य बन गए। शीघ्र ही दहोमी को भी अपने साथ मिला लिया गया और इसके बाद इसे फ्रांसीसी विषुवतीय (Equatorial) अफ्रीका का उपनिवेश उद्घोषित कर दिया गया।

बेल्जियम के राजा लियोपोल्ड द्वितीय तथा जर्मनी के बिस्मार्क ने दक्षिणी, मध्य तथा पूर्वी अफ्रीका में अपने अधिकार स्थापित कर लिए। निचले कांगो में व्यापारिक केंद्रों का वित्त पोषण करने के लिए, लियोपोल्ड द्वितीय ने अपना धन लगाया और इस हिस्से को उसने उपनिवेशों में बदल डाला। पुर्तगाल के इस क्षेत्र में पहले से ही कुछ अधिकार थे। अंग्रेज लोग फ्रांसीसी इरादों पर पानी फेरना चाहते थे। इसलिए उन्होंने पुर्तगाल के अधिकारों को स्वीकार कर लिया और यह उम्मीद की कि वे व्यापार करने के लिए फिर वहां आएंगे। इस पर यूरोपीय शक्तियों विशेषकर बिस्मार्क को गुस्सा आ गया। जर्मन चांसलर ने 1884 में दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका, कैमरून तथा टोगो के उपनिवेशीकरण के लिए प्राधिकार दे दिया।

1884-85 के बर्लिन सम्मेलन ने कांगो स्वतंत्र राज्य के लिए बेल्जियम के दावों को स्वीकार कर लिया (बाद में बेल्जियन, कांगो और जायरे), विषुवतीय अफ्रीका में फ्रांसीसी अधिकार स्वीकार कर लिए और महाद्वीप में मुक्त व्यापार के मार्ग में आने वाली सभी रुकावटें दूर कर दीं। अंग्रेजों ने नाइज़र के ऊपरी-क्षेत्रों में फ्रांस की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली और फ्रांसीसियों ने इसका बदला इस नदी के निचले हिस्सों पर अंग्रेजी अधिकार को स्वीकार करके दिया। बर्लिन सम्मेलन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह रहा कि इसने यह निर्धारित कर दिया कि अफ्रीकी क्षेत्र पर भावी-यूरोपीय दावे उस औपचारिक पूर्व-आधिपत्य की तुलना में अधिक व्यावहारिक होने चाहिए, जो ब्रिटेन को इससे पहले अपनी नौसेना और वाणिज्यिक शक्ति के बल पर प्राप्त हो गया था।

इसे लागू करने के लिए, बिस्मार्क ने जंजीबार के सामने की मुख्य भूमि पर एक संरक्षित राज्य घोषित कर दिया, जहां पर पहले जर्मन कंपनियों ने व्यापारिक अधिकार स्थापित कर रखे थे। ब्रिटेन जो अभी तक स्थानीय शासक के माध्यम से जंजीबार पर अप्रत्यक्ष प्रभाव का प्रयोग करके संतुष्ट था, उसने 1886 में इस क्षेत्र का विभाजन कर दिया। एक आंग्ल-जर्मन संधि पर हस्ताक्षर किए गए जिसके अंतर्गत आधुनिक कीनिया ब्रिटेन को तथा मुख्य भू-भाग तंजानिया जर्मनी को दे दिया गया। ब्रिटेन ने 1890 में एक संधि के माध्यम से युगांडा में अपने हितों को सुरक्षित कर लिया; इससे उसे इस देश में निरंकुश अधिकार प्राप्त हो गए क्योंकि इस पर कब्जा, मिस्र की सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण था। इटली भी इरीट्रिया, सोमालीलैंड, इथियोपिया और लीबिया में रुचि रखने लगा। परंतु इथियोपिया के लोगों ने एक आधुनिक सेना बनाई और 1896 में इतालवियों को कुचल दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ होने तक अफ्रीका के लिए छीना-झपटी लगभग समाप्त हो चुकी थी। किंतु इस समय तक यूरोपीय शक्तियों ने लाइबेरिया और इथियोपिया को छोड़कर पूरे अफ्रीका महाद्वीप का आपस में विभाजन कर लिया था, लेकिन ये दोनों

देश आधुनिक हथियारों के साथ अपना बचाव करने में सफल हो गए। फिर भी धरातल पर, कई बड़े और दूरस्थ क्षेत्र अभी भी यूरोपीय नियंत्रण से बाहर थे।

यहां पर यह बता देना अत्यंत आवश्यक है कि अफ्रीका में यूरोपीय उपनिवेशी शासन विश्व इतिहास के सबसे घृणित अध्यायों में से एक है। सभी उपनिवेशी शक्तियों अर्थात् अंग्रेज, इतालवी, फ्रांसीसी, जर्मन, पुर्तगाली, बेल्जियन, डच, स्पेन के लोगों ने अत्याचार करने में एक-दूसरे के साथ मानो प्रतियोगिता की। विश्व ने निर्लज्ज जातिवाद को राज्य नीति के रूप में अपनाए जाने की घटना पहली बार देखी। हर जगह गोरे अल्पसंख्यकों ने स्थानीय लोगों के जीवन पर अपनी बेमेल ताकतों का इस्तेमाल किया। यूरोपीय उपस्थिति की सबसे बुरी याद गोरी जाति का दक्षिण अफ्रीका राज्य था जिसने 1990 में जाति-भेद समाप्त होने तक विश्व को दहलाना जारी रखा।

इस प्रकार, संक्षेप में इस तरह से एक महाद्वीप के भीतर व्यवस्थित रूप से पुनः सीमाएं निर्धारित की गईं जिसका निर्णय देश के अपने लोगों द्वारा नहीं; अपितु इसके उपनिवेशियों द्वारा किसी दूसरे महाद्वीप की राजधानियों और शिखर वार्ताओं में किया गया। 19वीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों के दौरान यूरोपीय शक्तियों ने अफ्रीका के मानचित्र का तेजी से अपने बीच विभाजन कर लिया। इस मानचित्र को व्यावहारिक रूप से धरातल पर कार्यान्वित कर पाना बहुत कठिन था क्योंकि इस महाद्वीप का भूगोल बाहरी लोगों के प्रतिकूल था। परंतु यूरोपीय लोगों के पास सैनिक शक्ति और प्रौद्योगिकी थी। इसलिए वे प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने तक अफ्रीका में छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने में सफल हो गए, जिनमें से प्रत्येक को धीरे-धीरे विश्व बाजार के लिए विशिष्ट उत्पादक का दर्जा मिल गया और उसने 20वीं शताब्दी के मध्य तक एक राष्ट्र के रूप में जीवित रहने के लिए राजनीतिक और सामाजिक प्रणालियां भी विकसित कर लीं।

यद्यपि मूल अफ्रीकी बंटे हुए थे और उन्हें कूटनीति अथवा शासन कला की बहुत ही कम जानकारी थी और उनके पास प्रौद्योगिकीय अथवा आर्थिक शक्ति भी नहीं थी, तथापि उन्होंने उपनिवेशियों का जबरदस्त प्रतिरोध किया, भले ही यह प्रतिरोध थोड़े समय के लिए ही चला हो।

जो आधुनिक युगांडा है उसमें बागंडन राजा मुतेसा ने 1870 के दशक में यूरोपीय कब्जे का प्रतिरोध किया। इथियोपियावासियों ने इटली के आक्रमण के एक प्रयास को विफल कर दिया। हेहे लोगों ने जर्मन लोगों के विरुद्ध स्वतंत्रता के लिए एक जबरदस्त युद्ध किया, जिसमें जर्मन लोगों ने उन्हें अभूतपूर्व बर्बरता से कुचल डाला। अंग्रेजों ने हजारों लोगों को उनके बंदी शिविरों में मौत के घाट उतारकर दक्षिण अफ्रीका में जनसंहार का अत्यंत वीभत्स दृश्य उपस्थित कर दिया। सर्वत्र हाहाकार मच गया। उपनिवेशी शासन के विरुद्ध शिकायतें सर्वत्र गूंजने लगीं थीं। इसलिए राज्यविहीन लोगों तथा मुखिया सामंतों ने कई स्थानिक विद्रोह किए। किंतु उनमें आम तौर पर यूरोपीय नियंत्रण को ख़तरा पहुंचाने वाले संगठन का अभाव था।

लातिन अमेरिका

दक्षिण अमेरिका में स्थापित स्पेनी तथा पुर्तगाली उपनिवेशों ने 1820 के दशक के मध्य भाग तक अपनी स्वतंत्रता पक्की कर ली थी। दक्षिण अमेरिकी स्वतंत्रता के लिए युद्ध अधिकांशतः उपनिवेशी व्यापारिक एकाधिकार समाप्त करने और मौजूदा सामाजिक ढांचे को यथासंभव सुरक्षित रखने के लिए

लड़े गए थे। किंतु इन युद्धों ने महाद्वीप के आर्थिक ढांचे को तहस-नहस कर दिया था। खानों में पानी भर चुका था, लड़ाइयों के कारण श्रमिक बल कम हो गया था, पशु-धन गायब हो चुका था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि दक्षिण अमेरिकी देश, जो पहले बाजारों तथा उधार के लिए स्पेन पर निर्भर करते थे, अब अमेरिका तथा ब्रिटेन के नियंत्रण में चले गए।

लातिन अमेरिका के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण पहलू का उल्लेख करना आवश्यक है और वह है इसकी विलक्षणता। इसकी राजभाषाएं मुख्यतः यूरोपीय हैं, हालांकि इसके अधिकतर लोग स्वदेशी अमेरिकी भाषाएं बोलते हैं। मुख्य धर्म रोमन कैथोलिक धर्म है। इसके राष्ट्रों ने यूरोप तथा अमेरिका की संवैधानिक परंपराओं को अपनाया है। इसके कई संभ्रांत वर्गों के लोगों ने अमेरिका तथा यूरोप के देशों में शिक्षा पाई है। परंतु इन महत्त्वपूर्ण समानताओं के बावजूद, दक्षिण अमेरिका का आर्थिक और राजनीतिक विकास बिलकुल भिन्न किस्म का रहा है और इसके लिए कारण निर्धारित करना आसान नहीं है। लगभग सभी दक्षिण अमेरिकी देशों में राजनीतिक अस्थिरता रही है, जहां आकस्मिक राज्य परिवर्तन होते रहे हैं और रहन-सहन के स्तर गिरते रहे हैं। इसके अतिरिक्त, इस महाद्वीप के राजनीतिक नेताओं ने यह सोचा कि एक या दो किस्म के कच्चे माल या आधे तैयार माल के निर्यात पर आधारित अर्थव्यवस्थाएं विकसित करना पर्याप्त रहेगा। किंतु इससे वे मांग में विश्व-व्यापी उतार-चढ़ाव आने पर असुरक्षित हो सकते हैं और उन पर यूरोपीय तथा अमेरिकी बैंकिंग तथा कार्पोरेट हितों द्वारा अनुचित बाहरी राजनीतिक प्रभाव भी डाला जा सकता है।

इसलिए 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दक्षिण अमेरिका का इतिहास यूरोप की तुलना में एशिया तथा अफ्रीका के इतिहास से अधिक मिलता-जुलता रहा है। इन सभी तीन क्षेत्रों में राष्ट्रों ने उस समय भी विशेष उत्पादों में विशेषज्ञता प्राप्त की जब भूमंडलीय अर्थव्यवस्था एकीकृत हो रही थी। एशिया में रबड़, दक्षिण अमेरिका में कोको और कॉफी तथा अफ्रीका में कोको और इनके साथ-साथ इनके खनन उद्योग यूरोपीय हितों के नियंत्रण में आ गए।

इन मोटे तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, अब हम इस अवधि में (1945 से पूर्व) दक्षिण अमेरिका के सबसे बड़े तीन देशों के विशिष्ट अनुभवों पर विचार करते हैं।

अर्जेन्टीना

अर्जेन्टीना ने स्पेन के साथ अपने स्वतंत्रता संग्राम में 1816 में विजय प्राप्त की। 1945 तक इसके इतिहास को तीन स्पष्ट चरणों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम अवधि उसके स्वतंत्रता संग्राम के दिनों से लेकर 19वीं शताब्दी के मध्य तक चली। इस अवधि में सबसे अधिक विवादास्पद एवं जटिल प्रश्न यह था कि राष्ट्र के कौन-से क्षेत्र का देश की राज्य व्यवस्था और अर्थव्यवस्था पर प्रभुत्व होगा। 1853 से 1916 तक अर्जेन्टीना में असाधारण रूप से आर्थिक विस्तार हुआ और यूरोप से बड़ी संख्या में लोग आकर यहां बस गए, जिससे इसे विश्व में अद्वितीय स्थिति प्राप्त हुई। 1916 से 1943 तक लोकतंत्र के लिए भयंकर संघर्ष हुआ और अत्यधिक आर्थिक कठिनाइयां उपस्थित हुईं।

अपने प्रारंभिक वर्षों में, केंद्रीय और क्षेत्रीय बलों के बीच हुए संघर्ष ने अर्जेन्टीना को हिला कर रख दिया। 1821 और 1827 के बीच बर्नारडीनो रिवैडेविया ने एक उदारवादी राजनीतिक राज्य स्थापित करने के लिए संघर्ष किया किंतु वह ब्यूनस आयर्स में 'जुंता'

तथा प्रांतों के बीच हुए संघर्ष में फंस कर रह गया। 1827 में, उसके त्यागपत्र के बाद जुआन मैनुएल डि रोसाज के तानाशाही शासन का काल आरंभ हुआ। 1831 में लिट्टोरल समझौते के तहत ब्यूनस आयर्स को यह निर्णय करने की जिम्मेदारी सौंप दी गई कि अर्जेन्टीना की विदेश नीति क्या होनी चाहिए और साथ ही इसकी व्यापारिक तथा सीमा शुल्क संबंधी नीतियां क्या हों। शेष शासन कार्य प्रांतों पर छोड़ दिए गए। किंतु रोसाज की तानाशाही शैली के कारण लोगों में रोष उत्पन्न हो गया। 1852 में, जस्टो जोस डि उर्क्विज़ा ने उसका तख्ता पलट दिया और अर्जेन्टीना के लिए एक संघीय संविधान स्थापित किया। 1880 में ब्यूनस आयर्स को एक अलग संघीय प्रांत बना दिया गया।

इसके बाद की अवधि में अर्जेन्टीना ने महत्त्वपूर्ण आर्थिक प्रगति की। इसकी अर्थव्यवस्था अधिकांशतः कृषि आधारित थी और निर्यात किए जाने वाले मुख्य उत्पाद ऊन, पशु चर्म, चरबी (tallow) और गो-मांस थे। 1876 में, मालवाहक जहाजों में प्रशीतन सुविधाओं ने अर्जेन्टीना के लिए अपना गो-मांस यूरोप को निर्यात करना संभव बना दिया। ब्रिटेन, जो अर्जेन्टीना के विदेशी व्यापार में मुख्य भागीदार था, उसने ऐसे रेल मार्गों में निवेश किया जो देश की गेहूं की फसल को भीतरी भागों से समुद्र तट तक ला सकें, जहां से इसे निर्यात किया जाता था। पैंपास (चरागाहों) के विकास ने गो-मांस और गेहूं का उत्पादन बढ़ा दिया, जिससे अर्जेन्टीना दक्षिण अमेरिका का एक सबसे अधिक धनवान देश और अमेरिका का प्रतिद्वंद्वी बन गया। 19वीं शताब्दी के समाप्त होने तक, यूरोपीय देशों से बड़े पैमाने पर आप्रवास ने अर्जेन्टीना को अमेरिका की एक प्रतिकृति का रूप दे दिया। यह देश अत्यधिक शहरीकृत व औद्योगीकृत था और जातीय विविधताओं से भरा था। परंतु लोकतंत्र का दमन किया जाता था।

1890 के दशक में अर्जेन्टीना के परिवर्तनवादी दल (Radical Party) का उदय अर्जेन्टीना के मध्यम वर्गों की प्रथम राजनीतिक अभिव्यक्ति थी जिन्हें देश के शासन में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं था। 1912 में, इसमें अनुदार दल (Conservative Party) की 'सान पेना कानून' ने सहायता की, जिसने मताधिकार का विस्तार किया और गुप्त मतदान की व्यवस्था की। 1892 से परिवर्तनवादी दल के नेता रहे हिपोलितो इरिगोयेन को 1916 में राष्ट्रपति के रूप में चुन लिया गया। परंतु एक बार सत्ता में आ जाने पर उसने भी सत्ताधारी हथकंडे अपनाए। जिन भूमि सुधारों और श्रम सुधारों के लिए उसने वचन दिया था उनकी बजाय उसकी सरकार ने वास्तव में अमीर जमींदारों को अधिक लाभ प्रदान किए। इसलिए इसमें आश्चर्यचकित होने की बात नहीं थी कि परिवर्तनवादी दल 1920 के दशक तक एक भ्रष्ट और दिशाहीन दल में बदल गया।

1930 में सेना ने वृद्ध इरिगोयेन के विरुद्ध तख्ता पलटने की चाल चली जो कि 1928 में दूसरी बार देश का राष्ट्रपति बन गया था। इस समय अर्जेन्टीना भारी मंदी के दौर से गुजर रहा था। इस अवस्था में अर्जेन्टीना के कार्यों में हस्तक्षेप करने के लिए अमेरिका की संभावनाएं बढ़ गईं और वह अंग्रेजों के साथ सीधी प्रतियोगिता में शामिल हो गया। इससे अर्जेन्टीना में दक्षिणपंथी 'नैशियोनैलिज्मो' (Nacionalismo) आंदोलन आरंभ हो गया। इसने अमेरिका तथा ब्रिटेन का कड़ा विरोध किया और सामाजिक सुधारों के पक्ष में जबरदस्त वकालत की।

द्वितीय विश्वयुद्ध का छिड़ जाना अर्जेन्टीना के लिए विपत्तिपूर्ण साबित हुआ क्योंकि इससे

उसके यूरोपीय बाजार बंद हो गए। देश के राजनीतिक संस्थान इस संकट से निपटने के लिए सक्षम नहीं थे। 1943 में, सेना ने सरकार के नियंत्रण पर पुनः कब्जा कर लिया। सेना के अधिकांश अधिकारी पहली या दूसरी पीढ़ी के आप्रवासियों में से थे और उन्होंने नैशियोनैलिज्मों के विचारों का जबरदस्त समर्थन किया। उनका नेतृत्व कर्नल जुआन पेरॉन ने किया। उसने सामाजिक असंतोष और सत्तावादी राजनीतिक दृष्टिकोणों को मिलाकर पेरॉनवाद नामक आंदोलन का रूप दिया, जो कि तानाशाही होने के बावजूद सामाजिक दृष्टि से प्रगतिवादी और साम्यवाद-विरोधी था। उसने ट्रेड यूनियनों का समर्थन जुटाया और इस प्रक्रिया में साम्यवादियों का लबादा छीन लिया। उसकी पत्नी पूर्व-अभिनेत्री ईवा डुआर्ट राजनीतिक जीवन में एक चमत्कारी महिला थी और उसने अपने पति के लिए व्यापक समर्थन जुटाया। पेरॉनवाद ने अर्जेन्टीना को स्थायित्व प्रदान किया जिसकी उसे बहुत जरूरत थी। परंतु 1956 में पेरॉन को अपदस्थ कर दिया गया जिसके पश्चात देश को लंबे समय तक अस्थिरता, कुशासन और आर्थिक मंदी का सामना करना पड़ा।

ब्राज़ील

पेड्रो अल्वैरिस कैब्राल एक समुद्री यात्री था जो 1500 में ब्राज़ील पहुंचने वाला पहला यूरोप निवासी था। इस देश की जनसंख्या बहुत कम थी और यहां अमेरिंडियन जनजातियों के लोग रहते थे जिनमें से अधिकांश लोगों को देश से निकाल दिया गया था। लेकिन कुछ हजार लोग अमेजन के जंगलों में रह गए थे। अगली तीन शताब्दियों में पुर्तगालियों ने मूल वासियों की जनसंख्या कम की और वे लाखों की संख्या में अफ्रीकी दासों को यहां ले आए (1888 तक दास प्रथा समाप्त नहीं हुई थी)। नेपोलियन के हमलों से भाग कर पुर्तगाल का राजा 1808 में सरकार की राजधानी बदल कर ब्राज़ील में ले आया। तत्पश्चात ब्राज़ील डॉन जोआओ षष्ठम् द्वारा शासित एक राज्य बन गया। उसके पुर्तगाल वापस आ जाने के बाद उसके पुत्र पेड्रो ने ब्राज़ील की स्वतंत्रता उद्घोषित कर दी। 1822 में उसे ब्राज़ील का सम्राट घोषित किया गया। द्वितीय सम्राट डॉम पेड्रो द्वितीय को 1889 में गद्दी से उतार दिया गया और गणतंत्र घोषित कर दिया गया जिसे संयुक्त राज्य ब्राज़ील का नाम दिया गया। एक सैनिक 'जुंता' (शासक गुट) ने 1930 में नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया। गेटुलिओ वेरगास ने तानाशाही शक्तियां ग्रहण कर लीं किंतु उसे भी 1945 में सेना ने गद्दी छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया तत्पश्चात लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित की गई।

अमेरिका महाद्वीप के ब्राज़ील में दास-प्रथा सबसे लंबे समय तक फलती-फूलती रही। यह इसलिए फली-फूली क्योंकि अर्थव्यवस्था के मुख्य आधार चीनी के बागान थे जो पूरी तरह से सस्ती मजदूरी पर निर्भर करते थे। उनके मालिक रूढ़िवादी थे और उत्पादन प्रणालियों में परिवर्तनों का विरोध करते थे। लगभग 1850 से लेकर, देश के दक्षिणी प्रांतों में कॉफी की खेती होने लगी। इससे ब्राज़ील की कृषि में भारी बदलाव आया। कॉफी के काश्तकारों ने भारी लाभ अर्जित किए और इसलिए वे श्रम प्रणाली में सुधार लाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक तैयार थे। इसके अतिरिक्त, ब्राज़ील की कॉफी का सबसे बड़ा ग्राहक ब्रिटेन, ब्राज़ील की सरकार पर दासों का व्यापार बंद करने के लिए दबाव डाल रहा था। 1850 तक ब्राज़ील ने अफ्रीका से दासों का आयात करना बंद कर दिया था। परंतु अनेक समस्याओं

के कारण दासता के प्रश्न पर संकल्प को आगे टाल दिया गया। इन समस्याओं में 1865-1870 का पैराग्वे का युद्ध भी शामिल था, जिसमें ब्राज़ील, अर्जेन्टीना तथा उरूग्वे की सेनाओं ने मिलकर पैराग्वे के साथ युद्ध किया और यह वास्तव में प्रथम दक्षिण अमेरिकी युद्ध था।

युद्ध के पश्चात पुर्तगाली सम्राट, जिसके मन में तब तक दासों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो चुकी थी, ने रियो ब्रैंकों विधि (1871) पारित की जिसने 'क्राउन' के स्वामित्व वाले दासों को मुक्त कर दिया और मुक्त किए गए दासों की भावी पीढ़ियों के लिए आजादी दे दी। किंतु 1870 तथा 1880 के दशकों में बहुत बड़ी संख्या में दास मध्ययुगीन परिस्थितियों में घोर परिश्रम करते रहे, हालांकि दासता उन्मूलन आंदोलन समूचे देश में फैल चुका था। अंततः जब सम्राट पेड्रो द्वितीय अपने इलाज के लिए यूरोप में था तो उसकी पुत्री क्रिस्टीना, जो रीजेंट थी, ने ब्राज़ील की संसद को, दास स्वामियों को कोई मुआवजा दिए बगैर दासता समाप्त करने वाला कानून पारित करने के आदेश दे दिए। जब कानून पारित हो गया तो उसने तुरंत इस पर हस्ताक्षर कर दिए और अंततः ब्राज़ील में दास-प्रथा समाप्त कर दी गई। क्रिस्टीना को इसके लिए भारी कीमत चुकानी पड़ी। सेना, बागान मालिकों तथा चर्च ने उसके दासता समाप्त करने के इस कृत्य का विरोध किया और तख्ता पलटने का षड्यंत्र रचा, जिसने अंततः साम्राज्य का अंत कर दिया। तत्पश्चात गणतंत्र की स्थापना हो गई।

ब्राज़ील की राजनीति में कॉफी उद्योग का प्रभुत्व एक महत्त्वपूर्ण कारक था। 19वीं शताब्दी के समाप्त होने के समय ब्राज़ील संपूर्ण विश्व की लगभग तीन-चौथाई कॉफी का उत्पादन कर रहा था। आवश्यकता से अधिक उत्पादन होना भी एक समस्या था। इस समस्या का समाधान करने के लिए सरकार ने विदेशी बैंकों से कर्ज लिए। इस नीति ने विश्व में कॉफी की कीमतों को ऊंचा बनाए रखा। इसके परिणामस्वरूप अन्य दक्षिण अमेरिकी देश ब्राज़ील की आंतरिक आर्थिक सहायता (सब्सिडी) प्रणाली पर निर्भर हो गए क्योंकि इसके बगैर उनके कारोबार खतरे में पड़ गए थे। बढ़ते हुए कर्ज चुकाने के लिए ब्राज़ील को गैर-कॉफी क्षेत्रों से भी कर जुटाने का सहारा लेना पड़ा। इसलिए अन्य उद्योगों को तो कष्ट उठाने पड़े जबकि कॉफी उद्योग समृद्ध हुआ, भले ही ऐसा कृत्रिम रूप से था। इसलिए 1891 से 1930 तक ब्राज़ील के क्रमिक गणतंत्रवादी शासनों ने देश की अर्थव्यवस्था को कॉफी पर अत्यधिक निर्भर बना दिया परंतु उन्होंने घरेलू खपत की बहुत-सी अन्य वस्तुओं के उत्पादन की ओर ध्यान नहीं दिया। लगभग सभी अन्य पण्यों और उत्पादों के लिए देश, उनके आयात पर निर्भर रहता था जिनके लिए भुगतान, कॉफी से हुई आमदनी से किया जाता था। इस कृत्रिम व्यवस्था को देर-सवेर तो खत्म होना ही था। 1929 की महामंदी ब्राज़ील के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई। विदेशी बाजार अब पुरानी दरों पर कॉफी नहीं खरीद सकते थे। केवल कॉफी की कीमतों में ही भारी गिरावट नहीं आयी अपितु विश्व भर में अन्य मुद्राओं का भी यही हाल हुआ। सरकार अब कर्ज के माध्यम से कीमतों को सहारा देने में असमर्थ थी। देश का आर्थिक ढांचा ध्वस्त हो गया। अक्तूबर 1930 में, एक सैनिक कार्रवाई ने गणतंत्र का तख्ता पलट दिया।

वेरगास के शासन काल में कॉफी पर ब्राज़ील की निर्भरता कम करने के लिए वास्तविक उपाय किए गए। उसने नए उद्योग लगाए जो देश की

आयात पर निर्भरता को कम या खत्म कर सकते थे। इसके सकारात्मक परिणाम निकले। 1930 के दशक की समाप्ति तक ब्राज़ील का विनिर्माण आधार पक्की तरह से स्थापित हो गया था। वेरगास द्वारा लागू किए गए नए संविधान में, श्रम कल्याण के लिए एक कानूनी ढांचा शामिल किया गया। वेरगास ने उद्योगों के सरकारी नियंत्रण पर विश्वास किया और एक योजनाबद्ध विकास कार्यक्रम आरंभ किया, जिसने 1945 तक ब्राज़ील को दक्षिण अमेरिका में एक औद्योगिक शक्ति बना दिया।

मेक्सिको

दस वर्ष से भी अधिक समय तक विद्रोह चलते रहने के बाद, मेक्सिको ने अंततः स्पेन की दासता का जुआ उतार फेंका और 1823 में एक गणतंत्र बन गया। अपनी स्वतंत्रता के प्रथम 90 वर्षों में मेक्सिको काफी गरीब देश था और इस पर क्रमिक रूप से रूढ़िवादी (Conservative) राष्ट्रपतियों ने शासन किया था, जिनमें से किसी ने भी देश की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का समाधान करने का प्रयास नहीं किया। उनमें से सबसे बलवान एंटोनियो लोपेज डि सांता अन्ना था (1795-1863), जिसने पूरी तरह से तानाशाही तरीके से शासन किया। 19वीं शताब्दी के मध्य में, 'ला रिफोर्मा' नामक कुछ उदारवादी राजनीतिक आंदोलन ने जन्म लिया। इसका उद्देश्य लोकतांत्रिक शासन लाना था, जिससे मेक्सिको, विदेशी निवेश तथा आप्रवासियों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। 1855 में, यह आंदोलन सांता अन्ना के लिए राजनीतिक वाटरलू सिद्ध हुआ और उसे निर्वासित कर दिया गया। इसके बाद, उदारवादियों ने महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक विधान पारित किए, जिन्होंने देश की बड़ी-बड़ी जागीरी भू-संपत्तियों को तोड़कर छोटे-छोटे फार्म स्थापित किए। किंतु ये सुधार आवश्यक थे, और क्योंकि इन्होंने रोमन कैथोलिक चर्च के हितों को चोट पहुंचायी थी, इसलिए सेना के एक हिस्से ने विद्रोह कर दिया। तीन वर्ष के गृहयुद्ध के पश्चात बेनीटो जाउरेज विजयी रहा।

अब मेक्सिको में एक अत्यंत विचित्र राजनीतिक घटना घटी, जो पश्चिमी गोलार्द्ध के इतिहास में लगभग अद्वितीय थी। 1861 में, जाउरेज की जीत के बाद, रूढ़िवादी इतने उत्साहित थे कि उन्होंने एक सम्राट को गद्दी पर बिठाने का निश्चय किया, ताकि उनके हितों को दोबारा नुकसान न पहुंचे। उन्होंने रोमन कैथोलिक चर्च के रक्षक के रूप में मेक्सिको का सिंहासन संभालने के लिए ऑस्ट्रिया के आर्चड्यूक मैक्सीमिलन को आमंत्रित किया। लुइस नेपोलियन तृतीय के अधीन फ्रांसीसी सरकार ने इस दुःसाहसपूर्ण कदम का समर्थन किया। फ्रांसीसी सेना अपनी अभिरक्षा में मैक्सीमिलन को मेक्सिको ले गई और उसे सिंहासन पर बिठा दिया। किंतु जाउरेज ने इसका कड़ा विरोध किया। 1867 में मैक्सीमिलन को गिरफ्तार कर लिया गया और उसे फायरिंग स्क्वाड द्वारा गोली से उड़ा दिया गया।

एक उदारवादी जनरल पोरफिरिओ दिआज़ के नेतृत्व में 1876 में एक अन्य क्रांति शुरू हो गई। वह एक 'वास्तविक गणतंत्र' स्थापित करना चाहता था। उसने स्वयं को राष्ट्रपति बनाया और 1911 तक कमजोर रूढ़िवादी प्रधान मंत्रियों के माध्यम से शासन किया। उसने जमींदारों को सस्ती दर पर सरकारी जमीन खरीदने की अनुमति दी, सेना का पक्ष लिया (जिसका समर्थन उसके लिए महत्त्वपूर्ण था) और चर्च को मनमाने ढंग से कार्य करने दिया। दियाज के शासन में अमीर लोग और अमीर हो गए जबकि साधारण लोग गरीब ही रहे। कपड़ा और

खनन उद्योगों के मजदूरों में अशांति फैली और हड़तालें की गईं, जिनका दमन करने के लिए दियाज ने पाशविक तरीकों का प्रयोग किया। परंतु इन दुर्गुणों को ढकने के लिए समृद्धि का आवरण था क्योंकि देश को 1900 से लेकर आगे तक सहायतार्थ विदेशों, विशेषकर अमेरिका से भारी मात्रा में पूंजी निवेश प्राप्त होता गया।

दियाज, सत्ता में बने रहने के लिए चुनावों में हेरा-फेरी करता आया था। 1910 के चुनावों में उसका विरोधी फ्रांसिस्को मडेरो उसके लिए तगड़ा उम्मीदवार निकला। हार जाने के पश्चात भी मडेरो ने दियाज के विरुद्ध बगावत की और मई 1911 में उसे यूरोप में भाग जाने के लिए बाध्य कर दिया। मडेरो ने राष्ट्रपति का पदभार संभाला, परंतु उसने भी गरीबों के लिए कुछ नहीं किया। इस प्रकार, और कई आमूल परिवर्तनवादी (Radical) नेता उभर कर सामने आए जिन्होंने दूरगामी सुधार तथा सामाजिक परिवर्तन करने का वचन दिया। इनके नाम थे पैंचो विला, वेनुस्टियानो कैरांज़ा और एमिलिआनो ज़ापटा और इन सभी ने किसानों के लिए विशाल रैलियां आयोजित कीं। 1911 में ज़ापटा ने एक कार्यक्रम घोषित किया जिसके तहत बड़े पैमाने पर जमीनें जब्त की गईं। इस प्रकार के आमूल परिवर्तनवादी सुधारों ने अगले 10 वर्षों के लिए मेक्सिको के समाज को विभाजित कर दिया। मडेरो ने स्वयं को अलग-थलग पाया। 1913 के आरंभिक महीनों में, जनरल विक्टोरियानों हुएर्टा ने उसका तख्ता पलट दिया। किंतु उसकी सरकार अगले वर्ष गिर गई और मेक्सिको एक और संघर्षपूर्ण अवधि में प्रवेश कर गया। अंततः कैरांज़ा ज़ापटा तथा विला के आमूल परिवर्तन वाले सुधारों का एजेंडा चूर-चूर करने में सफल हुआ। उसे अमेरिका का समर्थन भी प्राप्त था। अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो, विल्सन ने 1914 में वेराक्रूज में एक सेना भेजी और कैरांज़ा की सार्वजनिक स्वीकार्यता को सहज बनाने के लिए एक दिखावटी युद्ध का प्रदर्शन भी किया गया। विल्सन के विश्वासप्राप्त कैरांज़ा ने अपने राष्ट्रवाद का बहुत बड़ा प्रदर्शन किया, जिससे वह मेक्सिको के लोगों में लोकप्रिय हो गया और कुछ समय के लिए वह अपने जीवन में ज़ापटा तथा विला द्वारा प्रस्तावित आमूल सुधारों के बारे में भूल गया। कैरांज़ा से दबाव का बहाना करके अमेरिकी सेनाएं मेक्सिको से वापस चली गईं। कैरांज़ा एक राष्ट्रीय नायक के रूप में सामने आया।

कैरांज़ा में विशेष योग्यता यह थी कि वह दोमुंही बातें करने में बड़ा माहिर था। एक ओर तो वह औद्योगिक कर्मकारों को उनके लिए सभी प्रकार के कल्याणकारी उपायों का वचन देता था तो दूसरी ओर उद्योग मालिकों को यह आश्वासन देता था कि हड़ताल किए जाने पर वह उनका समर्थन करेगा। ग्रामीण किसानों को उसने भू-सुधार करने का वचन दिया किंतु वह स्वयं जमींदारों के साथ मिल गया। यह स्पष्ट हो गया था कि यह नेता भी मेक्सिको के हितों को अपने हितों से ऊपर नहीं रखना चाहता। जनता में बढ़ते हुए विरोध के परिणामस्वरूप, मेक्सिको में कैरांज़ा और ज़ापटा की सेनाओं के बीच एक और गृहयुद्ध छिड़ गया। अंततः 1917 में कैरांज़ा को अपनी जीत का विश्वास होने लगा और उसने एक ऐसा संविधान बनाया जिससे तुरंत एक सामाजिक क्रांति आयी और राजनीतिक सुधार आरंभ हो गए।

1917 के पश्चात, मेक्सिको ने दृढ़ीकरण की अवधि में प्रवेश किया। 1920 के दशक में, कैरांज़ा के अनुयायियों में से लिए गए सैनिक नेताओं ने अध्यक्षों के रूप में कार्य किया। उन्होंने कैलीफोर्निया के उदाहरण का अनुकरण किया जिसके साथ

मेक्सिको की एक तरफ की सीमा जुड़ी थी। परंतु उन्होंने भू-सुधारों को कार्यान्वित नहीं किया। 1929 में, प्लुटार्को इलियास कैल्लेस ने एक संस्थानात्मक क्रांतिकारी दल (PRI) बनाया जो कि मेक्सिको में अभी तक एक शक्तिशाली राजनीतिक दल है। इसने मेक्सिको की राजनीतिक प्रणाली को एकल दल प्रणाली में बदल दिया। यद्यपि लोकतंत्र के प्रसार को सीमित करने के लिए इसकी आलोचना की गई, तथापि इसने मेक्सिको के राजनीतिक स्थायित्व को सबसे लंबी अवधि प्रदान की जो कि दक्षिण अमेरिका के किसी भी देश ने आज तक नहीं देखी है। 1940 में मैनुएल एविला कैमेचो का निर्वाचन होने के साथ, मेक्सिको में क्रांतिकारी राजनीति का काल समाप्त हो गया। तब से देश की प्रमुख समस्याओं का समाधान लोकतांत्रिक तरीके से और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना से किया जा चुका है।

अभ्यास

1. दो विश्वयुद्धों के बीच जापान में सैन्यवाद के उत्थान के कारण बताइए। जापान के द्वितीय विश्वयुद्ध में कूदने के लिए यह घटनाक्रम कहां तक जिम्मेदार था?
2. सन यात-सेन के तीन क्रांतिकारी उद्देश्यों पर टिप्पणी कीजिए। उसकी मृत्यु के पश्चात इन उद्देश्यों ने चीनी इतिहास को किस हद तक दिशा प्रदान की?
3. 'कोमिंतांग' शासन के पतन और माओ जेदांग के सत्तारूढ़ होने के कारण बताइए।
4. युद्धों के बीच की अवधि के दौरान मुस्तफा कमाल के शासन काल में तुर्की के आधुनिकीकरण पर चर्चा कीजिए।
5. 1880 से 1945 तक की अवधि में अफ्रीका में उपनिवेशों के लिए बड़ी यूरोपीय शक्तियों के बीच छीना-झपटी पर चर्चा करें। अफ्रीका के उपनिवेशीकरण को किसने संभव बनाया?
6. 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लातिन अमेरिका की स्थिति का संक्षेप में वर्णन कीजिए और अर्जेन्टीना तथा ब्राज़ील में हुई महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विशेष रूप से उल्लेख कीजिए।
7. 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दक्षिण अमेरिकी देश मेक्सिको में हुई विभिन्न घटनाओं पर चर्चा कीजिए। मेक्सिको ने राजनीतिक स्थिरता कैसे प्राप्त की?
8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
   (i) 1931 का मंचूरियाई संकट
   (ii) चीनी कोमिंतांग
   (iii) अर्जेन्टीना में 'नैशियोनैलिज्मो' आंदोलन

परियोजना कार्य

- 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लातिन अमेरिकी देशों और मेक्सिको में प्रमुख राजनीतिक घटनाएं दर्शाते हुए एक कालक्रमिक सारणी तैयार कीजिए।

अध्याय 7

द्वितीय विश्वयुद्ध 1939-1945

युद्ध के विभिन्न चरण

पिछले अध्याय में हम यह विश्लेषण कर चुके हैं कि किस प्रकार विभिन्न घटनाओं तथा परिस्थितियों ने विश्व को एक अन्य बड़ा युद्ध लड़ने के लिए विवश कर दिया। जब हिटलर की सेनाओं ने पोलैंड पर तड़ित युद्ध (Blitzkrieg) यानी तूफानी हमला बोल दिया तो उसके दो दिन बाद ही 3 सितंबर 1939 को इंग्लैंड और फ्रांस ने युद्ध की घोषणा कर दी। उस समय यूरोप में शायद ही किसी ने यह अनुमान लगाया होगा कि शीघ्र ही एक ऐसा लंबा युद्ध छिड़ने वाला है जो चारों महाद्वीपों को अपनी लपेट में ले लेगा और अगले छह वर्षों के दौरान यह युद्ध समस्त यूरोप, सहारा मरुस्थल, पश्चिम एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया, भारत, प्रशांत द्वीपों और उत्तरी ध्रुव वृत्त में यत्र-तत्र सर्वत्र लड़ा जाएगा। यह भी नहीं सोचा होगा कि विमानन प्रौद्योगिकी में तेजी से हुई प्रगति इस युद्ध को संयुक्त राज्य अमेरिका में ले जाएगी और जर्मन 'यू-बोट' मित्र राष्ट्रों की नौसेना के साथ, उरुग्वे के किनारे तक पहुंचकर भिड़ंत करेंगे। मगर भयंकर विनाशकारी युद्ध हुआ और जब उसके अंतिम दौर में जापान पर दो परमाणु बम गिराए गए तो विश्व के तमाम लोग परमाणु शक्ति के भयावह परिणामों से कांप उठे। लेकिन उन्हें कुछ आशा की किरण उस समय दिखायी देने लगी जब राष्ट्र संघ (League of Nations) के भग्नावशेष पर संयुक्त राष्ट्र (United Nations) का जन्म हुआ और मानव जाति ने अपने-अपने देशों के माध्यम से एक बार फिर यह संकल्प लिया कि मतभेदों को दूर करने के लिए, युद्ध को छोड़कर, कोई अन्य उपाय किए जाएं।

लेकिन सर्वप्रथम, हम इस द्वितीय विश्वयुद्ध की मुख्य-मुख्य घटनाओं को जान लें।

पोलैंड पर जर्मनी का आक्रमण और युद्ध का आरंभ

मशीनी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित जर्मन सेनाओं ने युद्ध पोतों की सहायता से पोलैंड पर आक्रमण कर दिया।
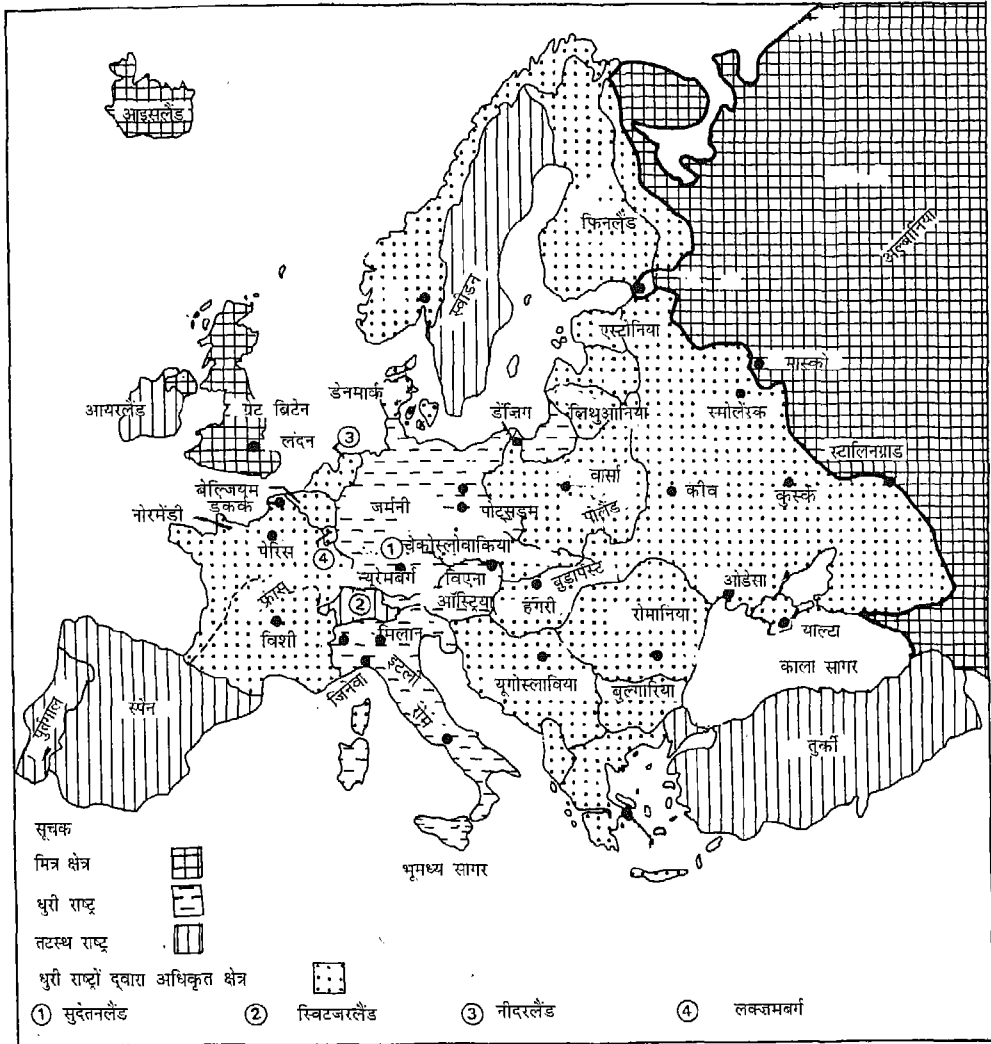
द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यूरोप का मानचित्र

यह जर्मनी के तड़ित युद्ध का पहला प्रदर्शन था; और ऐसी ही आक्रमण की रणनीतियां आगे चलकर यूरोप भर में हिटलर की सेनाओं द्वारा अपनायी गईं। सोवियत सेना ने पूर्व की ओर से दबाव डाला और पोल सैनिक, जिनके पास आधुनिक शस्त्रास्त्रों का अभाव था, दोनों और से दब गए और महीना बीतते-बीतते जर्मनी ओर सोवियत संघ (USSR) ने अपने बीच पोलैंड का बंटवारा कर लिया। पांच

महीने के विराम के बाद, जिसे छद्म-युद्ध (Phoney War) कहा जाता है, अप्रैल 1940 में फिर लड़ाई शुरू हो गई जब जर्मनी ने नार्वे और डेनमार्क पर हमला बोल दिया। अगले ही महीने, हालैंड और बेल्जियम का पतन हो गया। फ्रांस ने भी छह सप्ताह में घुटने टेक दिए। फ्रांस को जीतने का अभियान जब समाप्त हो रहा था उन्हीं दिनों इटली भी जर्मनी के साथ आ मिला। इसके बाद, हिटलर ने ब्रिटेन पर आक्रमण करने के लिए 'ऑपरेशन सी लॉयन' (Operation Sea Lion) की योजना बनायी। लेकिन उसने यह सोचा कि सैनिकों तथा सैन्य सामग्री के साथ इंग्लिश चैनल को पार करना तब तक संभव नहीं है जब तक कि अपनी वायु सेना की शक्ति की श्रेष्ठता को सिद्ध न कर दिया जाए। इसलिए उसने ब्रिटेन की शाही वायु सेना (RAF) को पंगु बनाने और उसके हवाई अड्डों को नाकाम करने के उद्देश्य से उन पर हवाई हमले करने के लिए अपनी वायु सेना 'लुफ्तवॉफ' (जर्मन वायु सेना) को आदेश दिया। लेकिन शाही वायु सेना के साहसी सैनिक, जिनमें कुछ भारतीय वीर भी शामिल थे, जुलाई तथा सितंबर 1940 के बीच लुफ्तवाफ के आक्रमणों का मुंहतोड़ जवाब देते रहे। यह ब्रिटेन की लड़ाई थी। लंदन और अन्य ब्रिटिश शहरों पर व्यापक रूप से बमबारी की गई लेकिन ब्रिटेन का मनोबल और संकल्प, विंस्टन चर्चिल के प्रधान मंत्री बन जाने से, अब बहुत मजबूत हो गया था, इसलिए टूटा नहीं। अंततः जर्मनों ने महसूस किया कि उनका ब्रिटेन पर आक्रमण अत्यधिक महत्वाकांक्षापूर्ण था।

तत्पश्चात् युद्ध का मंच यूरोप से हटकर उत्तरी अफ्रीका में चला गया, जब मुसोलिनी की सेनाओं ने यूनान (Greece) और मिस्र (Egypt) पर आक्रमण कर दिया। जर्मन सेनाएं भी इटली की सेनाओं का साथ देने के लिए, अफ्रीका महाद्वीप में आ पहुंचीं। इसी बीच यूरोप में जर्मनी की अभिग्रहण सेनाओं को विद्रोही सेनाओं ने परेशान करना शुरू कर दिया। इन विद्रोही सेनाओं को 'पक्षपाती सेनाएं' (Partisans) कहा जाता था। इन्हें ब्रिटेन से शस्त्रास्त्र तथा वित्त के रूप में सहायता मिलती थी। संयुक्त राज्य अमेरिका, जो सैद्धांतिक रूप से तो तटस्थ था, शस्त्रास्त्र तथा रसद से ब्रिटेन की सहायता कर रहा था; तब तक ब्रिटेन एकदम अकेला था। अमेरिका और जापान के बीच संबंध तेजी से बिगड़ते जा रहे थे, क्योंकि वे दोनों ही प्रशांत क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा कर रहे थे।

21 जून 1941 को, जर्मन सेनाओं ने बिना किसी छेड़खानी या उत्तेजना के सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया। शुरू में तो जर्मनों को सफलताएं मिलीं लेकिन जर्मनी ने यह नहीं सोचा कि रूस एक बहुत बड़ा देश है और इतने बड़े देश में तेजी से आगे बढ़ती हुई सेनाओं को खाद्य सामग्री तथा शस्त्रास्त्र की बराबर आपूर्ति करते रहना कोई मामूली काम नहीं है। हिटलर, मास्को पर सर्दियों से पहले अपना कब्जा करने के लिए इतना अधिक आश्वस्त था कि जर्मन सैनिक अपने साथ सर्दी से बचने के लिए गर्म कपड़े तक नहीं ले गए। इसे तो अनर्थकारी साबित होना ही था। इसी बीच, जापान ने 7 दिसंबर 1941 को हवाई द्वीप में पर्ल हार्बर पर अचानक हवाई हमला बोल दिया। फिर तो अमेरिका को भी विवश होकर युद्ध में कूदना पड़ा। संयुक्त राज्य अमेरिका का इस प्रकार युद्ध में शामिल होना द्वितीय विश्वयुद्ध की एक सर्वाधिक निर्णायक घटना साबित हुआ।

प्रारंभ में, जापान को उल्लेखनीय सफलताएं मिलीं। उसकी सेनाओं ने ब्रिटेन से सिंगापुर और मलेशिया छीन लिया। उन्होंने हांगकांग और बर्मा पर

भी अपना कब्जा कर लिया। अब तो आस्ट्रेलिया तथा भारत का पतन भी सन्निकट दिखाई देने लगा। अमेरिकियों को फिलिपीन्स, गुआम और वेक द्वीप से निकाल दिया गया। डचों को भी इंडोनेशिया में स्थित उनके उपनिवेशों से बाहर कर दिया गया। इस युद्ध क्षेत्र में मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का नेतृत्व अत्यंत कुशल रणनीतिविद् अमेरिकी जनरल डगलस मैक आर्थर द्वारा किया जा रहा था। उसकी कमान में एक लंबा प्रत्याक्रमण किया गया, जिसमें थल सेना, नौसेना और वायुसेना, सबका एक साथ इस्तेमाल किया गया। पश्चिमी युद्ध मंच में टैंक और यू-बोट की तरह अमेरिकी और जापानी नौसेनाओं के विमान वाहक जहाज इस पूर्वी युद्ध मंच के प्रतीक बन गए क्योंकि इस मंच के बिना प्रशांत क्षेत्र जीता या हारा नहीं जा सकता था।

सोवियत संघ पर जर्मनी का आक्रमण

1941 में सोवियत संघ (यू.एस.एस.आर.) में जर्मन सेनाओं की आगे बढ़ने की गति सर्दी की परिस्थितियों में यद्यपि धीमी पड़ गई थी फिर भी वे अगस्त 1942 तक स्टालिनग्राड (वोल्वोग्राड) पहुंच गईं। उन्हें आशा थी कि वे शीघ्र ही स्टालिनग्राड पर कब्जा कर लेंगी और फिर मास्को पर दक्षिण-पूर्व की ओर से हमला बोलेंगी। लेकिन लाल सेना तथा स्थानीय जनता ने बड़ी बहादुरी से उनका मुकाबला किया। वर्ष का अंत होते-होते, सर्दी फिर रूस के बचाव के लिए आ गई और जर्मन सेनाओं की आपूर्ति रेखा भंग हो गई। अब जर्मन सेनाओं के पास पीछे हटने का भी विकल्प नहीं बचा था, इसलिए जनरल वॉन पौलस ने फरवरी 1943 में अपने 100,000 सैनिकों के साथ आत्मसमर्पण कर दिया। इस हार ने इस मिथक यानी भ्रम को पूरी तरह दूर कर दिया कि हिटलर की सेना कहीं नहीं हार सकती।

उत्तर में, जर्मन सेना को लेनिनग्राड (सेंट पीटर्सबर्ग) पर रोक दिया गया जबकि मध्य क्षेत्र में ठीक मास्को के द्वार पर रूसी सेनाएं फिर सशक्त हो रही थीं। रूसी उद्योग-धंधे, जो स्टालिन की दूरदर्शिता के कारण देश के काफी भीतरी भागों में स्थापित किए गए थे, प्रत्याक्रमण के लिए आवश्यक सभी प्रकार की सामग्री का निर्बाध रूप से उत्पादन कर रहे थे। ब्रिटिश तथा अमेरिकियों ने भी पूर्व की ओर से ईरान के माध्यम से तत्काल सहायता पहुंचायी। दिसंबर 1942 में लाल सेना का प्रत्याक्रमण सभी मोर्चों पर शुरू हो गया और इस प्रत्याक्रमण की मार से अप्रैल 1945 में जर्मन, यूक्रेन और पोलैंड के रास्ते से वापस बर्लिन की ओर भाग गए।

उत्तरी अफ्रीका में युद्ध

हम देख चुके हैं कि कैसे मुसोलिनी ने इटली के लिए यूनान और मिस्र को जीतने की इच्छा से सितंबर 1940 में युद्ध का एक नया मोर्चा खोलकर यूनान और मिस्र पर आक्रमण कर दिया था। लेकिन ब्रिटिश सेनाओं ने शीघ्र ही अनुभवहीन इतालवी सेनाओं को मिस्र से बाहर खदेड़ दिया। उधर यूनानियों ने भी इटली की सेनाओं को मार भगाया। जब मुसोलिनी ने हिटलर से सहायता के लिए गुहार लगायी तो हिटलर तुरंत राजी हो गया। फरवरी 1941 में, जर्मनी की 'अफ्रीका कार्पस्' (Afrika Korps) नामक सेना इटली के उपनिवेश लीबिया की राजधानी त्रिपोली में पहुंच गई। एक संयुक्त जवाबी हमला किया गया जिसमें ब्रिटिश सेना पीछे हटने को मजबूर हो गई। कुशल जनरल एरविन रोम्मेल, जो अपनी चतुरतापूर्ण रणनीतियों के कारण 'रेगिस्तानी लोमड़ी' (Desert

Fox) कहा जाता था, के नेतृत्व में जर्मन सेनाओं ने मिस्र में ब्रिटिश सेनाओं का सफाया कर दिया और जुलाई 1942 में वे सिकंदरिया से केवल 80 मील की दूरी तक पहुंच गईं। लेकिन, जनरल मोंटगुमरी और जनरल अलेक्जेंडर के नेतृत्व में ब्रिटिश, भारतीय, आस्ट्रेलियाई और न्यूजीलैंड की सेनाओं ने कुशलतापूर्वक उतना ही भयंकर प्रत्याक्रमण किया जिससे 23 अक्तूबर को एल अलामीन की लड़ाई में रोम्मेल की सेनाएं छिन्न-भिन्न हो गईं। जर्मन पश्चिम की ओर पीछे हट गए और पश्चिम एशिया के रास्ते भारत पहुंचने की उनकी आशाएं ध्वस्त हो गईं।

इटली का समर्पण

ब्रिटिश और भारतीय सेनाओं ने ट्यूनिशिया से फ्रांसीसी और अमेरिकी सेनाओं के साथ मिलकर, धीरे-धीरे जर्मनों और इतालवियों को वापस यूरोप में खदेड़ दिया। जुलाई 1943 में, मित्र सेनाएं दक्षिणी इटली में उतरीं। मुसोलिनी को राजा द्वारा बर्खास्त कर दिया गया और इटली ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। मुसोलिनी को बंदी बनाकर एक टापू में रखा गया जहां से अंतत: हिटलर के कमांडो उसे छुड़ा कर ले भागे। जर्मनों ने रोम के दक्षिण-पूर्व में स्थित पहाड़ी इलाके को दृढ़तापूर्वक बचाने की ठानी और उन्होंने केसीनो की ऊंचाइयों पर अपना अड्डा जमा लिया। लेकिन भारतीय सैनिक केसीनो के लिए बड़ी बहादुरी से लड़े और जून 1944 में वह मित्र सेनाओं के कब्जे में आ गया।

अटलांटिक का संघर्ष

जर्मनी के यू-बोट मित्र सेना के समुद्री जहाजों को भारी हानि पहुंचा रहे थे। यू-बोट एक तरह की पनडुब्बियां थीं जो अचानक समुद्र तल पर आकर बड़े-बड़े जहाजों पर गोलाबारी करके गायब हो जाती थीं। अटलांटिक महासागर क्षेत्र में अपनी श्रेष्ठता स्थापित किए बिना, मित्र राष्ट्र यूरोप में विजय की आशा नहीं कर सकते थे। आयरलैंड का गणराज्य पक्के तौर पर तटस्थ था और इसलिए मित्र राष्ट्र एक ऐसे हवाई अड्डे की तलाश में थे जहां से वे जर्मनी के समुद्री जहाजों पर हवाई हमले कर सकें। अंतत: जब पुर्तगाल ने मित्र राष्ट्रों को मध्य-अटलांटिक में स्थित एज़ोर्स द्वीपों का इस्तेमाल करने की इजाजत दे दी तो समुद्री युद्ध का रुख जर्मनी के विरुद्ध पलट गया।

फ्रांस में मित्र राष्ट्रों का हस्तक्षेप

1943 के संपूर्ण वर्ष में, ब्रिटिश और अमेरिकी हवाई जहाज निर्दयतापूर्वक जर्मनी पर बम बरसाते रहे। लेकिन इससे न तो जर्मनों का मनोबल गिरा और न ही उनके सैनिक उद्योग-धंधों का उत्पादन प्रभावित हुआ। जब रूसी सेनाएं जर्मनी की सेनाओं को परास्त करते हुए पूर्व से जर्मनी की ओर बढ़ती आ रही थीं तभी मित्र सेनाओं ने पश्चिम से आक्रमण करने की योजना बनायी। अमेरिकी जनरल ड्वाइट डी. आइजनहावर के नेतृत्व में 'ऑपरेशन ओवरलॉर्ड' प्रारंभ किया गया। 6 जून 1944 को, जो कि इतिहास में 'डी-डे' (निर्णायक या महत्त्वपूर्ण दिन) कहलाता है, ब्रिटेन, अमेरिका और कनाडा की सम्मिलित सेनाएं फ्रांस के उत्तरी समुद्र तट पर उतरीं। पांव रखने को थोड़ी-सी जमीन हथियाने के बाद, उन्होंने जर्मनों को पीछे खदेड़ दिया। अगस्त में पेरिस का पतन हो गया। उसके बाद जल्दी ही बेल्जियम को भी छुड़ा लिया गया।

एक अन्य 'डी-डे' जैसी सैनिक कार्रवाई हालैंड को मुक्त कराने के लिए अर्नहेम में शुरू की गई मगर मौसमी हालात की वजह से मित्र सेनाएं परास्त

हो गईं; यह पूरे युद्ध में मित्र सेनाओं की आखिरी पराजय थी। इस विजय से प्रोत्साहित होकर जर्मनों ने दिसंबर 1944 में अपना अंतिम जोरदार जवाबी हमला शुरू किया। उसके बाद एक पखवाड़े तक तो ऐसा लगा कि मित्र सेनाओं को फिर पराजय का मुंह देखना पड़ेगा। किंतु जर्मन अपने आक्रमण के दबाव को बराबर बनाए न रख सके, क्योंकि उनके टैंकों तथा वाहनों में भरने के लिए तेल की कमी आ गई और वे उसे किसी तरह भी पूरी नहीं कर सके। इस प्रकार, मित्र सेनाओं ने फरवरी तक अपनी स्थिति बहुत मजबूत बना ली। अगले महीने में, उन्होंने राइन नदी को पार किया और जर्मनी में घुस गईं। वहां उन्होंने बची हुई जर्मन सेनाओं को भी नष्ट कर दिया।

बर्लिन का पतन और तृतीय राइख का अंत

नाजियों ने यह सोचा था कि उनका तृतीय राइख (जर्मन साम्राज्य) हजार साल तक चलेगा। लेकिन यह केवल 12 वर्षों में ही समाप्त हो गया। लाल सेना ने ओडर नदी को पार किया और बराबर लड़ती हुई बर्लिन में घुस गई। वैसे तो जर्मन फौजें आखिरी दम तक लड़ीं, पर उन्हें जीत की उम्मीद नहीं थी। मुसोलिनी जो पहले नाज़ी छाताधारी सैनिकों द्वारा मुक्त करा लिया गया था, तटस्थ स्विट्जरलैंड में बच निकलने की कोशिश करते हुए फासीवाद विरोधी पक्षपातियों (Partisans) द्वारा पकड़ लिया गया और उसे गोली से उड़ा दिया गया। एडोल्फ हिटलर अपना ऐसा अंत नहीं चाहता था। 29 अप्रैल 1945 को जब सोवियत सैनिक राइख्सटाग (संसद) में घुस आए तो नाजी नेता ने आत्महत्या कर ली।

7 अप्रैल को, जर्मन सेनाओं ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसके साथ ही यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया। फरवरी 1945 में, याल्टा सम्मेलन में ब्रिटिश, अमेरिकी और सोवियत नेताओं के बीच एक करार (समझौता) हुआ, जिसकी पुष्टि बाद में जुलाई 1945 में पोट्सडैम की बैठक में की गई। इस समझौते की व्यवस्थाओं के अनुसार, जर्मनी ने युद्ध में जो कुछ भी जीता था उससे छीन लिया गया और संपूर्ण जर्मनी को चार भागों में बांट दिया गया और उनका कब्जा ब्रिटिश, अमेरिकी, सोवियत और फ्रांसीसियों को सौंप दिया गया। बर्लिन सोवियत हिस्से में आया और उसे चार सेक्टरों में विभाजित कर दिया गया। बड़ी संख्या में नाजी नेताओं को पकड़ लिया गया और उन पर मुकदमा चलाया गया।
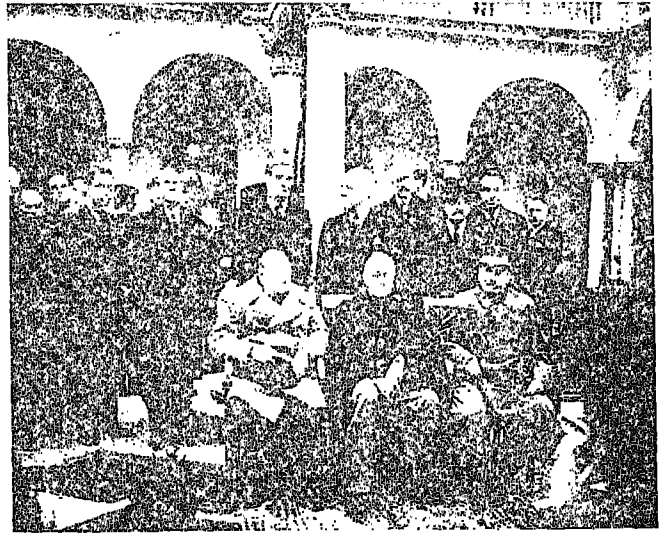
याल्टा सम्मेलन (बैठे हुए बाएं से दाएं) : विंस्टन चर्चिल, फ्रैंकलिन डी. रूज़वेल्ट और जोसेफ स्टालिन

जापानी सेनाओं का आत्मसमर्पण

ब्रिटिश तथा भारतीय सेनाओं ने अनेक घमासान लड़ाइयां लड़ने के बाद जून 1945 में बर्मा को वापस अपने कब्जे में ले लिया। इससे पहले जनवरी 1945 में अमेरिकियों ने जापानियों को फिलिपीन्स से बाहर खदेड़ दिया था और वे जापान के पास स्थित मारियाना और ऑकीनावा जैसे द्वीपों पर उतरने में सफल हो चुके थे। अब मित्र राष्ट्रों के सामने एक दुविधा की स्थिति उत्पन्न हो गई।

अमेरिकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट का अप्रैल में निधन हो चुका था और उसके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति हैरी एस. ट्रूमैन ने दुनिया के पहले परमाणु बम का सफलतापूर्वक परीक्षण कर लिया था। उसने जापान के विरुद्ध उनका इस्तेमाल करने पर विचार किया क्योंकि उसके सेनानायकों ने उसे सलाह दी कि जर्मनी की बात तो और थी, अब जापान को जीतना बहुत कठिन है। इसके अलावा, जापान के पास अब भी मलेशिया, सिंगापुर, कोरिया, मंचूरिया और फॉर्मोसा (ताइवान) का कब्जा था। जापान को पूरी तरह हराने के लिए बहुत लंबी लड़ाई लड़नी होगी। इसलिए, जल्दी से युद्ध समाप्त करने के लिए ट्रूमैन ने परमाणु बम का इस्तेमाल करने का फैसला कर लिया। 6 अगस्त 1945 को एक परमाणु बम गिराकर हिरोशिमा नगर का सफाया कर दिया गया। उसके तीन दिन बाद एक अन्य परमाणु बम ने नागासाकी नगर को नष्ट कर दिया। परमाणु विकिरण के प्रभाव से लाखों लोग मारे गए और उतने ही जीवन-भर के लिए अपाहिज हो गए। भावी पीढ़ियां भी दुष्प्रभावित हो गईं। जापान के सामने कोई चारा नहीं था और उसने 14 अगस्त को आत्मसमर्पण कर दिया।

हिरोशिमा पर परमाणु बम गिराने का दृश्य

द्वितीय विश्वयुद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका के शामिल होने के कारण

दोनों विश्वयुद्धों के बीच की अवधि में संयुक्त राज्य अमेरिका अलगाव की नीति पर चल रहा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले 26 महीनों के दौरान, राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने अपने देश को युद्ध से दूर ही रखा। लेकिन वह शस्त्रास्त्र तथा खाद्य आपूर्ति से बराबर ब्रिटिश सेनाओं की सहायता करता रहा। इस सहायता को एक समझौते के माध्यम से अप्रैल 1941 में औपचारिक रूप दे दिया गया। इस उधार-पट्टा समझौते (Lend - Lease Agreement) के अंतर्गत एक बड़ी संख्या में अमेरिकी युद्धपोत विमान, जहाज, और अन्य रक्षा उपस्कर ब्रिटेन को इस शर्त के साथ सौंप दिए गए कि ब्रिटेन युदध समाप्त होने के बाद उनकी कीमत चुका देगा।

ब्रिटिश प्रधान मंत्री विंस्टन चर्चिल बड़ी उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था जब अमेरिका युद्ध में शामिल हो जाए। जर्मनी को हराने के लिए ब्रिटेन को एक ऐसे साथी की जरूरत थी जो

साजोसामान से पूरी तरह सुसज्जित हो और लंबे समय तक चलने वाले युद्ध को सहने की क्षमता रखता हो। भरपूर संसाधनों से संपन्न अमेरिका के हाथ में इस सफलता की कुंजी थी। किंतु अमेरिकी राष्ट्रपति ने चर्चिल के हर प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

लेकिन कुछ घटनाओं ने शीघ्र ही अमेरिका के इस रुख में परिवर्तन ला दिया। जापान स्वयं इस युद्ध में एक तटस्थ शक्ति था लेकिन वह डच, फ्रांसीसी और ब्रिटिश सेनाओं को कई स्थानों पर मिली हार का फायदा उठाना चाहता था और इस बात का इंतजार कर रहा था कि एशिया में स्थित उन देशों के औपनिवेशिक अड्डों पर कब कब्जा जमाया जाए। जब द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ा उस समय जापान का चीन के साथ युद्ध चल रहा था। उसमें अमेरिकियों ने चीनियों का साथ दिया। इस प्रकार, एक ओर जापानी और दूसरी ओर 'कोमिंतांग' (Kuomintang-राष्ट्रवादी) और साम्यवादियों के बीच युदध में एक गत्यावरोध की स्थिति आ गई।

ज़ब फ्रांस का पतन हुआ तो विची में जर्मनों द्वारा एक कठपुतली सरकार की स्थापना कर दी गई जिसे विची की फ्रांस सरकार कहा जाता है। जापानियों ने नाज़ियों के साथ अपने राजनयिक संबंधों का उपयोग करते हुए विची सरकार को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि वह फ्रांसीसी इंडो-चीन उसे (जापान को) सौंप दे। जब इंडो-चीन (हिंद-चीन) का नियंत्रण जापान के हाथ में आ गया तो जापान ने इंडो-चीन में अपने सैनिक अड्डे स्थापित कर लिए। जापानियों द्वारा अर्जित की जा रही रणनीतिक गहराई को देखकर अमेरिका घबरा गया (वियतनाम की एक सीमा चीन से लगी हुई थी और यह डर था कि कहीं जापानी वियतनाम में अपना अड्डा जमा लेने के बाद 'कोमिंतांग' और साम्यवादियों के विरुद्ध अपना नया मोर्चा न खोल लें) और उसने जापानियों से इंडो-चीन से वापस हट जाने की मांग की। जापान पर दबाव डालने के लिए अमेरिकी नौसेना ने जुलाई 1941 में एक नौसैनिक अवरोध खड़ा कर दिया। इस नाकाबंदी ने जापान तक जाने वाली तेल की आपूर्ति को रोक दिया।

अब तो जापान को अमेरिका से बातचीत करनी पड़ी। इस बातचीत की अवधि में अमेरिका ने मांग की कि जापानी इंडो-चीन और चीन दोनों से पीछे हट जाए। 16 अक्तूबर 1941 को, जनरल तोजो को जापान का नया प्रधान मंत्री नियुक्त किया गया। उसने एक आक्रामक विदेश नीति अपनायी और संयुक्त राज्य अमेरिका पर आक्रमण करने की तैयारी शुरू कर दी।

7 दिसंबर 1941 को, युद्ध की औपचारिक घोषणा किए बिना, जापान का एक विशाल जहाजी बेड़ा अमेरिकी जल-क्षेत्र में घुस गया। विमान वाहक जहाजों से उड़कर, 335 जापानी विमानों ने पर्ल हार्बर पर स्थित अमेरिकी नौसैनिक अड्डे पर दो घंटे से भी अधिक समय तक लगातार बमबारी की। चूंकि अमेरिकी इसके लिए बिलकुल तैयार नहीं थे, उन्हें भारी नुकसान उठाना पड़ा। इस कार्रवाई में उनके 350 वायुयान व पांच युद्धपोत नष्ट हो गए और 3,700 लोग मारे गए।

अमेरिकी सीनेट ने दो दिन बाद ही, युद्ध छेड़ने के पक्ष में अपना प्रस्ताव पारित कर दिया। युद्ध में अमेरिका के कूद पड़ने से उसका रुख ही बदल गया। हिटलर के 'खास सलाहकारों' ने उसे अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा न करने की सलाह दी, लेकिन हिटलर ने उनकी एक न सुनी। यदि वह अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने में जल्दबाजी न करता तो शायद अमेरिका तथा जापान

का यह संघर्ष एशिया-प्रशांत क्षेत्र तक ही सीमित रह जाता।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण

पिछले छह दशकों से यह वाद-विवाद चल रहा है कि द्वितीय विश्वयुद्ध किस घटना, व्यक्ति या देश के कारण छिड़ा। विद्वान लोग कुछ ऐसे कारणों के विषय में काफी हद तक सहमत हो गए हैं जिन्होंने यूरोप पर युद्ध के बादल उत्पन्न करने में अपना योगदान दिया। लेकिन उन कारणों को किस क्रम में सूचीबद्ध किया जाए, यानी किन कारणों को पहले और किन को बीच में या बाद में रखा जाए इस विषय में वे एकमत नहीं हैं। इसके आसान-से कारण ये हैं : सर्वप्रथम, अधिकाधिक तथ्यों की छानबीन करके उनका विश्लेषण किया जा रहा है जिससे पुरानी अवधारणाओं के नए-नए आयाम खुल रहे हैं और नई-नई बातों का पता लग रहा है। दूसरे, 1991 तक, पश्चिमी विद्वान सोवियत संघ के अपने साथी विद्वानों से इस विषय में भिन्न विचार रखते थे कि कौन-से कारणों को पहले रखा जाए और कौन-से कारणों को बाद में। साथ ही उन्होंने अपने-अपने देश के तत्कालीन नेताओं का पक्ष लेते हुए दूसरे देशों के नेताओं पर युद्ध की जिम्मेदारी थोप दी थी। उदाहरण के लिए, सोवियत संघ के साम्यवादी इतिहासकारों ने चैंबरलेन द्वारा अपनायी गई तुष्टीकरण की नीति को हिटलरवाद का छिपा समर्थन तथा बोल्शेविकवाद का प्रतिरोधक माना था। दूसरी ओर, पश्चिमी विद्वानों ने यह महसूस किया था कि स्टालिन के अपने भूमंडलीय उद्देश्य पश्चिमी शक्तियों तथा बर्लिन से बराबर की दूरी बनाए रखने की नीति के द्वारा तब तक भली-भांति सिद्ध होते रहे जब तक कि साम्यवादी सर्वोच्च नेता ने नाज़ी सर्वोच्च नेता के साथ अनाक्रमण संधि करने का उपयुक्त समय पा लिया। तीसरे, सोवियत संघ का लौह आवरण हट जाने से अनेक गुप्त अभिलेखागार एवं पुरालेख संग्रहालय खुल गए जिनसे विद्वानों को 1930 के दशक की घटनाओं के बारे में बेहतर एवं प्रामाणिक जानकारी मिल गई और अंततः द्वितीय विश्वयुद्ध के छह दशक बाद अब इतिहासकारों की एक नई पीढ़ी अस्तित्व में आ गई है जिनके बोध-विचार व्यक्तिगत कष्टों अथवा विचारधाराओं से प्रभावित एवं आच्छादित नहीं रहे हैं। इसलिए, आज के संदर्भ में द्वितीय विश्वयुद्ध अनेक घटकों का सम्मिलित परिणाम था और उस समय के सभी महत्त्वपूर्ण नेताओं ने विश्वयुद्ध के छिड़ जाने में अपनी-अपनी भूमिका अदा की। कुछ बड़े-बड़े घटकों के बारे में नीचे बताया जा रहा है :

- वर्साय की संधि को, अकसर, विश्वयुद्ध का एक बड़ा कारण माना जाता है। यह संधि निस्संदेह जर्मनी के लिए बहुत ही कठोर साबित हुई क्योंकि विजयी शक्तियों ने उसके राज्य क्षेत्र के बड़े-बड़े भागों को उससे छीन लिया, अफ्रीका तथा एशिया में स्थित उसकी औपनिवेशिक चौकियां भी उसके हाथ से निकल गईं, और सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि युद्ध में हुए नुकसान की भरपाई का भारी बोझ उस पर डाल दिया गया। इससे जर्मनी में फासीवाद (Fascism) और भी भड़क उठा। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी की अर्थव्यवस्था वैसे ही छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और बेरोजगारी तथा मुद्रास्फीति यानी मूल्यवृद्धि के चलते इन बातों के प्रचार को बल मिला कि जर्मनी के साथ धोखा किया गया है (जनता में यह सोच फैल गई कि इसके सेनानायकों यानी जनरलों ने

अपने सभी जर्मन साथियों की पीठ में छुरा भोंका है) और जर्मन लोग अपने वाजिब हकों को वापस लेने के लिए अपनी ओर से एक और युद्ध छेड़ें।

राष्ट्र-संघ (League of Nations) सामूहिक सुरक्षा के विचार को कार्यान्वित करने में असफल रहा। उसने साम्राज्यवादी शक्तियों को उनके उपनिवेशों को स्वतंत्रता देने की दिशा में बाध्य करने के लिए कुछ नहीं किया। इससे यूरोपीय शक्तियों में प्रतिस्पर्धा की भावना जीवित रही। अमेरिका के संदर्भ में उनके संबंध भी इससे प्रभावित हुए क्योंकि इससे अमेरिका के सैन्य-उद्योग धंधों को भारी लाभ हुआ।

1920 के दशक के आखिरी वर्षों में, अमेरिकियों ने सामान्य रूप से संपूर्ण यूरोप में और विशेष रूप से जर्मनी में भारी पूंजी-निवेश किया। 1929 में वॉलस्ट्रीट यानी इंग्लैंड के शेयर बाजार के अध:पतन से और उसके परिणामस्वरूप आयी विश्वव्यापी मंदी से ये सभी देश आर्थिक दृष्टि से बरबाद हो गए। 1930 के दशक में, यूरोपीय सरकारों का पहला काम अपने-अपने देश में इस महामंदी की स्थिति का मुकाबला करना था। हिटलर ने इस स्थिति का लाभ उठाकर वर्साय की संधि की धज्जियां उड़ाते हुए अपने राष्ट्र को पुन: शस्त्रास्त्र से सुसज्जित करना और राइन प्रदेश का सैन्यीकरण करना प्रारंभ कर दिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के इन प्रयत्नों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और न ही उसका विरोध किया। सच्चाई तो यह थी कि वे स्वयं अपने यहां आर्थिक समस्याओं से घिरे हुए थे और उनके यहां के फासीवादी दल लंदन तथा पेरिस की सरकारों पर बराबर दबाव डाल रहे थे कि वे हिटलर की गतिविधियों को साम्यवाद-विरोधी चश्मे से देखें।

- हिटलर की सर्व-जर्मन एकता की अवधारणा में चेकोस्लोवाकिया, ऑस्ट्रिया, पोलैंड, और पूर्वी यूरोप के विशाल प्रदेशों को जीतने की परिकल्पना की गई थी। यही अवधारणा लावेनस्रोम (Lebensraum) यानी रहने के लिए अधिकाधिक स्थान प्राप्त करने तथा संपूर्ण यूरोप में बिखरे हुए जर्मनों के एकीकरण की नीति के मूल में थी। अत: इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विस्तारवाद की आक्रामक नीति को अपनाना जरूरी हो गया और यह तो आशा ही थी कि यूरोप की अन्य शक्तियां जर्मनी की इस नीति का अवश्य ही विरोध करेंगी।
- चैंबरलेन की तुष्टीकरण की नीति ने हिटलर का हौसला बढ़ा दिया और वह अधिक से अधिक मांगें करने लगा। यदि ब्रिटेन और फ्रांस 1938 में म्यूनिख में हुई बातचीत में कड़ा और समझदारी का रुख अपनाते तो भी हिटलर कुछ नहीं कर सकता था क्योंकि उस समय उसकी सैन्य शक्ति नगण्य थी। वास्तव में, इस ढीले रुख से हिटलर की अपनी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि यदि जर्मनी पूर्व की ओर फैलेगा तो ब्रिटेन को कोई आपत्ति नहीं होगी। उसने सोचा कि पश्चिमी शक्तियां तो नस्ल और विचारधारा की दृष्टि से जर्मनी के पक्ष में हैं और वे जर्मनी को ताकतवर होता हुआ देखकर खुश ही होंगी क्योंकि जर्मनी ही स्टालिन के पश्चिम की ओर बढ़ने की कोशिशों को रोकने के लिए दीवार का काम दे सकता है। किंतु उसका ऐसा सोचना बिलकुल गलत था। हिटलर दरअसल ऐसे

विभ्रमों से पीड़ित था जो जर्मनी ही नहीं बल्कि समस्त यूरोप के लिए विनाशकारी सिद्ध हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध के सुप्रसिद्ध इतिहासकार ए.जे.पी. टेलर का विचार है कि हिटलर वास्तव में विश्वयुद्ध नहीं चाहता था। वह तो पोलैंड के साथ ही एक छोटी-सी लड़ाई लड़ना चाहता था। लेकिन हिटलर ने सोचा कि उसके चेकोस्लोवाकिया हड़प लेने पर जब चैंबरलेन ने कोई आपत्ति नहीं की, जिस पर उसके दावे बिलकुल न्यायोचित नहीं थे, इसलिए यदि वह पोलैंड पर कब्जा कर लेगा तब भी पश्चिमी शक्तियां उसे नजरअंदाज कर देंगी क्योंकि दांज़िग गलियारे (Corridor) के लिए उसकी मांग 'युक्तियुक्त' थी। नाज़ी नेता पोलैंड पर आक्रमण नहीं करता, यदि उसे यह अंदेशा होता कि इसके बदले में ब्रिटेन युद्ध छेड़ देगा। इस मामले में, उसने स्थिति का बहुत गलत अंदाजा लगाया। लेकिन, 1941 तक, हिटलर आशा व्यक्त करता रहा कि ब्रिटेन युद्ध बंद कर देगा। जोसेफ स्टालिन ने द्वितीय विश्वयुद्ध को अनिवार्य बना दिया। उसने जर्मनी के साथ एक अनाक्रमण संधि कर डाली, जिससे नाज़ियों की, पोलैंड पर आक्रमण करने की हिम्मत बढ़ गई। साम्यवादी नेता ने अकेले पोलैंड के साथ ही नहीं बल्कि पूरे यूरोप महाद्वीप के साथ धोखा किया। यहां यह बता देना प्रासंगिक होगा कि एक तरफ तो उसने जर्मनी के साथ अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर कर दिए, लेकिन दूसरी ओर वह उसी समय मास्को में एक ब्रिटिश राजनयिक दल के साथ सोवियत संघ में कुछ ऐसे अड्डे ब्रिटेन को देने के प्रश्न पर भी विचार कर रहा था जहां से अंग्रेज-फ्रांसीसी सैन्यदल, जर्मनी द्वारा पोलैंड पर किए गए आक्रमण का मुंहतोड़ जवाब देने में पोलैंड की सेना को सहायता दे सकें। सोवियत संघ के पतन के बाद, अब तक गुप्त रखे गए दस्तावेजों से इस बात की पुष्टि हो गई है कि उक्त अनाक्रमण संधि में कुछ ऐसे गुप्त खंड थे जिनसे स्टालिन को उसकी 'तटस्थता' के बदले में एस्टोनिया, लातविया और लिथुआनिया हथियाने में सहायता मिली।

द्वितीय विश्वयुद्ध : सर्वनाश और उसका पुनर्निर्माण

द्वितीय विश्वयुद्ध में कुल मिलाकर लगभग चार करोड़ लोग मारे गए जिनमें सैनिकों के अलावा अन्य लोग भी शामिल थे। युद्ध ने नगरों तथा गांवों को तबाह कर दिया, उद्योग-धंधों और संचार प्रणालियों को नष्ट कर डाला। कोई 2.1 करोड़ लोग बेघर हो गए। सबसे अधिक गंभीर रूप से प्रभावित देश था सोवियत संघ। जो लोग मारे गए उनमें से अधिकाधिक लोग सोवियत संघ के नागरिक थे। देश का पश्चिमी भाग खंडहर हो गया। बरबाद हुए देशों की सूची में दूसरा स्थान जर्मनी तथा जापान का था। पोलैंड की तो लगभग पूरी पीढ़ी ही खत्म हो गई।

1918 की स्थिति के विपरीत, कोई व्यापक शांति संधि नहीं की गई। इसका कारण था अविश्वास की भावना, जो मित्र राष्ट्रों तथा सोवियत संघ के बीच बढ़ती जा रही थी। एक संधि की बजाय, अनेक अलग-अलग संधियों पर हस्ताक्षर किए गए। इटली को अपने अफ्रीकी उपनिवेश और अल्बानिया तथा इथियोपिया पर अपने दावे छोड़ने पड़े। त्रीस्त के राज्यक्षेत्र पर इटली और यूगोस्लाविया दोनों ने अपना दावा जता रखा था, उसे अब युद्ध के बाद अस्तित्व में आए संयुक्त राष्ट्र के संरक्षण में एक स्वतंत्र

राज्यक्षेत्र घोषित कर दिया गया। सैनफ्रांसिस्को की संधि के द्वारा, जापान ने उन सभी समुद्र पार राज्यक्षेत्रों को छोड़ दिया जिन्हें उसने पिछले 90 वर्षों में अपने कब्जे में किया था।

एक ओर सोवियत संघ और दूसरी ओर मित्र राष्ट्रों के बीच तनाव बढ़ता जा रहा था। स्टालिन ने पूर्वी यूरोप में स्थित उन देशों पर अपना आधिपत्य बनाए रखने का निश्चय किया जिन्हें उसकी लाल सेना ने जर्मनी के कब्जे से मुक्त कराया था। चेकोस्लोवाकिया का पूर्वी भाग, फिनलैंड के कुछ हिस्सों, साथ ही यूक्रेन, लातविया, लिथुआनिया और एस्टोनिया को, अंतर्राष्ट्रीय कानून की धज्जियां उड़ाते हुए, सोवियत संघ में मिला लिया गया। चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रोमानिया, बुल्गारिया और पोलैंड में अगले पांच वर्षों में कठपुतली साम्यवादी सरकारें स्थापित कर दी गईं। मार्शल टीटो के आधिपत्य में यूगोस्लाविया भी एक साम्यवादी देश ही था लेकिन वह मास्को के अधीन तो नहीं था, पर उससे डरता रहता था । स्टालिन ने जर्मनी के बारे में हर समझौते को अस्वीकार करते हुए यूरोप को फिर एक अन्य विनाशकारी युद्ध के कगार पर ला खड़ा किया था। परिणामस्वरूप, जर्मनी को दो हिस्सों में बांट दिया गया, अर्थात् पूर्व जर्मनी साम्यवादी प्रभाव में रहा और पश्चिम जर्मनी लोकतांत्रिक पक्ष में आ गया।

युद्ध ने सामाजिक क्षेत्र में भी भारी उथल-पुथल मचा दी। बड़े-बड़े जनसमुदाय विश्व के एक हिस्से को छोड़कर दूसरे में जा बसे। लगभग एक करोड़ जर्मनों ने पूर्वी जर्मनी से भागकर पश्चिमी जर्मनी में शरण ली। पूर्वी यूरोप, हालैंड, यूनान और जर्मनी की यहूदी आबादी कुछ हज़ारों में ही रह गई क्योंकि नाजियों ने युद्ध काल के दौरान सुनियोजित ढंग से उनका कत्लेआम कर दिया। नाज़ियों के संहार शिविरों अथवा दास श्रमिक शिविरों में रहने वाले लगभग 60 लाख यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया गया। यूक्रेन तथा बाल्टिक राज्यों जैसे कई स्थानों में, उन्हें हजारों की संख्या में एक साथ गोली से उड़ा दिया गया (1942 में यूक्रेन की राजधानी कीव के बाहर 39,000 से भी अधिक यहूदियों को नाज़ी 'आइंस्जात्सत्रुपेन' (Einsatzgruppen) दस्तों द्वारा सिर्फ तीन दिन में गोलियों से मार गिराया) और बड़ी-बड़ी सामूहिक कब्रों में दफना दिया गया। स्टालिन के नेतृत्व में, सोवियत सैनिकों ने अनेक बर्बरतापूर्ण कार्य किए, जैसे कि उन्होंने केटिन हत्याकांड के दौरान पोलैंड के 4000 सैन्य अधिकारियों को निर्दयतापूर्वक मार डाला। क्रोएशिया, लिथुआनिया, यूक्रेन और लातविया के लोगों ने भी मानवता के विरुद्ध अनेक अपराध किए। युद्ध के बाद, यूरोप के अधिकांश यहूदी या तो अमेरिका या फिर नवस्थापित राष्ट्र इज़राइल चले गए।

विश्व की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों में और भी अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। ब्रिटेन मौलिक रूप से तीन कारणों से युद्ध में कूदा था, यानी यूरोप में अपना रणनीतिक हित साधन करने के लिए, पोलैंड को दिए गए अपने वचनों का पालन करने के लिए और अपने समुद्रपार उपनिवेशों पर अपना कब्जा बरकरार रखने के उद्देश्य से अपनी नौसैनिक सर्वश्रेष्ठता को क़ायम रखने के लिए। किंतु वह इनमें से कोई भी उद्देश्य प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ। जुलाई 1946 में, ब्रिटेन के आम चुनावों में चर्चिल की गठबंधन सरकार पराजित हो गई और क्लीमेंट ऐटली के नेतृत्व में लेबर पार्टी (श्रमिक दल) की सरकार बनी। ब्रिटिश अब सत्ता की दृष्टि से यूरोप में सर्वोपरि नहीं रहे। तथ्य तो यह है कि यूरोप की पहले वाली सभी शक्तियों की हालत अब चिंताजनक

हो गई। अमेरिकी दबाव के तहत, उपनिवेशों को स्वतंत्र करने की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई जिसके फलस्वरूप एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में स्थित पूर्ववर्ती उपनिवेश स्वतंत्र हो गए।

अब विश्व में दो ही बड़ी शक्तियां रह गईं : संयुक्त राज्य अमेरिका (USA) और सोवियत संघ (USSR)। दोनों के अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र थे और दोनों विश्व के विभिन्न भागों में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए आपस में निरंतर प्रतिस्पर्धा कर रहे थे, जो अंतत: 1991 तक ही चल सकी क्योंकि 1991 में सोवियत संघ का विघटन हो गया। इन दोनों बड़ी शक्तियों के बीच की विभाजक रेखा एक काल्पनिक 'लौह आवरण' (Iron Curtain) था। यह शब्द विंस्टन चर्चिल द्वारा गढ़ा गया था जब उसने मार्च 1946 में कहा था कि "बाल्टिक स्थित स्टेटिन से लेकर ऐड्रियाटिक में त्रिएस्ते तक, महाद्वीप (यूरोप) के आर-पार एक लौह आवरण डाल दिया गया है।" इससे शीत युद्ध (Cold War) आरंभ हो गया, जो अकसर विश्व शांति को खतरा पैदा करता रहा। इससे हथियारों की दौड़ शुरू हो गई और सामूहिक विनाश के शस्त्रास्त्रों में श्रेष्ठता प्राप्त करने की होड़ लग गई।

संयुक्त राष्ट्र का जन्म

जब द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ा तभी से यह महसूस किया जाने लगा था कि राष्ट्र संघ की विसंगतियों को दूर करने और भूमंडल में शांति तथा प्रगति को बढ़ावा देने के लिए एक अन्य संगठन स्थापित करने की आवश्यकता है। 1944 में, सोवियत संघ, अमेरिका, चीन और ब्रिटेन के नेतागण संयुक्त राज्य अमेरिका में डंबरटन ओक्स नामक स्थान पर मिले और उन्होंने संयुक्त राष्ट्र (United Nations) की स्थापना करने का संकल्प लिया। 1945 में सेन फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्र अधिकार पत्र (UN Charter) तैयार किया गया। इस चार्टर में निम्नलिखित उद्देश्य बताए गए थे:

- शांति बनाए रखना और युद्ध को दूर रखना;
- विश्व-भर में, विशेष रूप से अल्प विकसित देशों में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक प्रगति को प्रोत्साहन देकर युद्ध के कारणों को दूर करना; और
- सभी व्यष्टिगत मानव प्राणियों के अधिकारों और जनसामान्य तथा राष्ट्रों के अधिकारों की रक्षा करना।

अपने जन्म के बाद अगले छह दशकों में, संयुक्त राष्ट्र का पालन-पोषण सभी राष्ट्रों द्वारा किया जाता रहा है। संयुक्त राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में अनेक समस्याओं को सुलझाने में असफल रहा है। आज भी संयुक्त राष्ट्र की मंजूरी से अथवा मंजूरी के बिना भी युद्ध छिड़ जाता है, जैसा कि अभी कुछ समय पहले इराक में हुआ। लेकिन, यह भी सच है कि उसने अनेक युद्धों को छिड़ने से रोकने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है और इसके लिए उसने विवाद के समाधान के लिए निकाय स्थापित किए हैं; युद्धविराम कराया है; बातचीत एवं मध्यस्थता की व्यवस्था की है और शांति सेनाएं भिजवायी हैं। यह अनेक मानवतावादी और विकासात्मक कार्य करता है; गरीब देशों को उनकी हालत सुधारने के लिए उपयुक्त प्रौद्योगिकी के विकास में सहायता देता है; और विश्व की शिक्षा, स्वास्थ्य, जल, स्वच्छता और पर्यावरण संबंधी समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र अपने पूर्ववर्ती राष्ट्र संघ की तुलना में अधिक सफल रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध की कटु स्मृतियों ने,

उपनिवेशवाद, अभिजाततंत्र और साम्राज्यवाद की संस्थाओं के लोप के साथ मिलकर अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के इस संकल्प को और भी सुदृढ़ बना दिया है कि संयुक्त राष्ट्र को हर हाल में बचाया और परिपुष्ट किया जाएगा। इसके विपरीत, राष्ट्र संघ मुख्य रूप से एक अंग्रेजी-फ्रांसीसी संस्था थी जिसने उस समय उपनिवेशवाद के जुए के नीचे कराह रही विश्व की 60 प्रतिशत आबादी की समस्याएं दूर करने के लिए कुछ नहीं किया। संयुक्त राष्ट्र अल्प-विकसित देशों में आर्थिक तथा सामाजिक विकास करने के लिए अपने साधन तथा समय देता है। इसके विशिष्ट अभिकरण, जैसे संयुक्त राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय बाल-आपात कोष (UNICEF), विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO), खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) आदि विश्वभर में दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अलावा, संयुक्त राष्ट्र, मानव अधिकारों की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध है जबकि लीग साम्राज्यवाद की पक्षधर होने के कारण मानव अधिकारों की बिलकुल परवाह नहीं करती थी।

तथापि, संयुक्त राष्ट्र में भी सुधार करने की गुंजाइश है। इन वर्षों के दौरान इसमें अनेक परस्पर विरोधी असंगतियां तथा विसंगतियां पैदा हो गई हैं। उदाहरण के लिए, सुरक्षा परिषद्, जो कि स्वयं राष्ट्र संघ के ढांचे पर ही बनायी गई थी, संयुक्त राष्ट्र के प्रारंभिक प्रवर्तकों तक ही सीमित रखना कोई तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र भारत को अभी तक सुरक्षा परिषद् में स्थान नहीं मिला है। किंतु संयुक्त राष्ट्र के सदस्य, जिनकी संख्या फिलहाल 189 है, इस बात के लिए कृतसंकल्प हैं कि इन विसंगतियों को दूर किया जाएगा। शीत युद्धोत्तर युग में एक और समस्या उत्पन्न हो गई है और वह है हाथ की सफाई जो संयुक्त राज्य अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र के साथ दिखायी है। इस स्थिति को तत्काल ठीक करने की आवश्यकता है।

अभ्यास

1. द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर का वर्णन कीजिए । यह युद्ध कैसे समाप्त हुआ?
2. बर्लिन के पतन और जर्मनी में तृतीय राइख के अंत के कारण बताइए।
3. द्वितीय विश्वयुद्ध के अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रकार के परिणामों के कारणों की चर्चा कीजिए।
4. द्वितीय विश्वयुद्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रवेश के मुख्य कारण बताइए।
5. संयुक्त राष्ट्र के मुख्य उद्देश्य क्या हैं? यह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली समस्याओं को सुलझाने में कहां तक सफल रहा है?
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए:
   (i) ऑपरेशन सी लायन
   (ii) फ्रांस में मित्रराष्ट्रों का हस्तक्षेप
   (iii) याल्टा सम्मेलन, 1945
   (iv) लौह आवरण

परियोजना कार्य

- संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न विशिष्ट अभिकरणों के कार्यकलापों के विषय में सामग्री इकट्ठी कीजिए।

अध्याय 8

उपनिवेशीकरण का अंत और युद्धोत्तर विश्व में नए राष्ट्रों का जन्म

द्वितीय विश्वयुद्ध निस्संदेह अकेला ही एक ऐसा आलोड़न था जिसने संपूर्ण मानवता को उथल-पुथल कर रख दिया था। पूर्ववर्ती अध्याय में हम देख चुके हैं कि इस युद्ध से इंसानी जान-माल को कितना भारी नुकसान हुआ था। इसने राष्ट्रों तथा सभ्यताओं के स्वरूप में भी संरचनात्मक परिवर्तन ला दिया। इसका अकेला सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि इससे उस औपनिवेशिक व्यवस्था की छुट्टी हो गई जिसने पिछली कुछ शताब्दियों में मानवता को दुःखों, कष्टों और लड़ाई-झगड़ों से पीड़ित कर रखा था।

उपनिवेशीकरण का उन्मूलन

इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि द्वितीय विश्वयुद्ध न हुआ होता तो विशाल यूरोपीय साम्राज्य उतनी तेज गति से विघटित नहीं होते जितने कि वे 1945 के बाद हो गए। यद्यपि भारत में ब्रिटेन के लिए और वियतनाम में फ्रांस के लिए राष्ट्रवाद विरोधी पक्ष के स्वतंत्रता सेनानियों ने भारी समस्याएं उत्पन्न कर रखी थीं, लेकिन इस स्थिति को नियम न मानकर अपवाद माना जाए तो अधिक समीचीन होगा, क्योंकि यूरोपीय शक्तियों द्वारा अपने अधीन किए गए अधिकांश उपनिवेशों में शासक और शासितों के बीच की खाई बहुत चौड़ी थी। उपनिवेशों के अधिकांश निवासी घोर गरीबी में जीवन-यापन कर रहे थे। बंदूक की नाल और विदेशी उद्गम के कानून-कायदों पर आधारित विदेशी शासन का आतंक स्थानीय लोगों को इतना अधिक भयभीत किए हुए था कि वे यथास्थिति को बदलने की बात सपने में भी नहीं सोच सकते थे।

1945 में ब्रिटिश साम्राज्य बाकी सब साम्राज्यों से बड़ा था। समस्त भारतीय उपमहाद्वीप, बर्मा (म्यांमार), मलाया (मलेशिया) जिसमें सिंगापुर शामिल था, अफ्रीका के बड़े-बड़े प्रदेश, साइप्रस, हांगकांग, कैरीबियन समुद्र में स्थित द्वीप समूह (वेस्टइंडीज), प्रशांत महासागर में स्थित द्वीप

समूह; जैसे- फिजी, फॉकलैंड और जिब्राल्टर आदि में सर्वत्र उसकी तूती बोलती थी। फ्रांसीसी साम्राज्य (Francophone) दूसरा सबसे बड़ा साम्राज्य था जिसमें अफ्रीका में स्थित बड़े-बड़े भू-क्षेत्र, हिंदचीन (इंडोचीन) और कैरीबियन क्षेत्र शामिल थे। इनके अलावा, दोनों यूरोपीय महाशक्तियों के पास प्रथम विश्वयुद्ध के बाद तुर्की से लिए गए पश्चिम एशिया में स्थित सामरिक महत्व के अनेक प्रदेश थे। ब्रिटेन के पास जॉर्डन और फिलिस्तीन (Palestine) था जबकि फ्रांस, सीरिया (जो अधिदेशाधीन राज्यक्षेत्र कहलाता था) पर अपना प्रभुत्व रखता था। इन दोनों के अतिरिक्त, हालैंड के पास इंडोनेशिया तथा डच ईस्टइंडीज जैसे उपनिवेश; बेल्जियम के पास कांगो और रवांडा थे जबकि अंगोला, मोजांबिक, गिनी तथा गोवा का नियंत्रण पुर्तगाल के हाथों में था; मोरक्को, स्पेनिश गिनी, इफनी और स्पेनिश सहारा के शासन की बागडोर स्पेन के हाथों में थी और अंत में, लीबिया, सोमालिया और इरिट्रिया उपनिवेश इटली के कब्जे में थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप भारी उथल-पुथल मची जो अगले तीन दशकों तक जारी रही। 1975 आते-आते, इनमें से अधिकांश देशों में राष्ट्रीय सरकारों को सत्ता सौंप दी गई और पुराने उपनिवेशों में से नए राष्ट्रों का जन्म हो गया। डच और फ्रांसीसी सरकारों ने अपने उपनिवेशों में आसानी या स्वेच्छा से अपनी सत्ता नहीं छोड़ी जैसा कि क्रमश: इंडोनेशिया तथा इंडोचीन में देखा गया था।

औपनिवेशिक साम्राज्यों के अंत का कारण

यह सच है कि द्वितीय विश्वयुद्ध ने साम्राज्य व्यवस्था के लिए छुट्टी की घंटी बजा दी थी। जिन-जिन देशों में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय संघर्ष चल रहा था वहां स्थानीय उत्पीड़ित लोगों को इस युद्ध से नई प्रेरणा मिली। जब एक एशियाई शक्ति जापान ने मलाया, हांगकांग, डच ईस्टइंडीज और इंडोचीन में ब्रिटेन, फ्रांस और हालैंड को परास्त कर दिया तो यूरोपीय शक्तियों की अजेयता का मिथक टूट गया। जब मित्र राष्ट्रों को पराजित कर दिया गया तो इंडोचीन और इंडोनेशिया में स्थानीय लोगों ने अपने जापानी विजेताओं के विरुद्ध हथियार उठा लिए। युद्ध की समाप्ति के बाद उन्होंने चुपचाप अपने पुराने शासकों को स्वीकार नहीं किया बल्कि उनका प्रतिरोध करते रहे। इसके साथ ही, मित्र राष्ट्र यूरोप में जर्मनी से और एशिया में जापान से लड़ने के लिए अपनी सेनाओं में अन्य देशों से भर्ती हुए जवानों पर निर्भर रहते थे। युद्ध की समाप्ति के बाद ये सैनिक वापस अपने देशों में इस संकल्प के साथ लौटे कि वे अपने देश की समस्याओं पर ध्यान देंगे। अब उनके यूरोपीय मालिक सदा के लिए उनसे स्वामिभक्ति की आशा थोड़े ही रख सकते थे।

यूरोपीय शक्तियां भी द्वितीय विश्वयुद्ध लड़ने के बाद कमजोर हो गई थीं। उनके सर्वश्रेष्ठ नौजवान तो रणक्षेत्र में प्राणों की आहुति देकर विश्व-भर में यत्र-तत्र कब्रों में दफन थे। और जो बहादुर सैनिक बचे थे उनका पुराना जोश-खरोश जिससे उन्होंने अपने साम्राज्य को बचाया था, अब ठंडा पड़ गया था और युद्ध की थकान ने उनके दिलो-दिमाग में घर कर लिया था। ये सभी देश संयुक्त राज्य अमेरिका की छत्रछाया में आ गए थे और संयुक्त राज्य एक ऐसा देश था जिसने औपनिवेशीकरण को सचमुच बर्दाश्त

नहीं किया था। युद्ध के दौरान ही राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने मित्र राष्ट्रों से अटलांटिक चार्ट (1941) मनवा लिया था। यह चार्टर वह मूलाधार था जिसके अनुसार युद्धोत्तर विश्व को पुनर्गठित किया जाना था। इसमें दो बिंदु थे: राष्ट्रों को दूसरे राष्ट्रों से राज्य-क्षेत्र लेकर अपना विस्तार नहीं करना चाहिए, और सभी लोगों को अपनी सरकार के रूप का चुनाव करने का अधिकार होना चाहिए। यद्यपि ब्रिटेन ने अपने प्रधान मंत्री चर्चिल के नेतृत्व में, जो कि स्वयं एक प्रतिबद्ध साम्राज्यवादी था, इस चार्टर की व्याख्या अपने ढंग से करने की कोशिश की और कहा कि अटलांटिक चार्टर तो केवल नाज़ी जर्मनी पर ही लागू होता है, लेकिन रूज़वेल्ट ने स्पष्ट कर दिया कि ऐसा नहीं है, इस चार्टर के उद्देश्य तो नाज़ी जर्मनी से आगे और देशों पर भी लागू होते हैं। उसके बाद अगला अमेरिकी राष्ट्रपति हैरी एस.ट्रूमैन बना। इधर ब्रिटेन में चर्चिल के बाद उदार दल (Liberal Party) का क्लीमेंट ऐटली प्रधान मंत्री बना। तब ट्रूमैन ने ब्रिटेन पर दबाब डाला कि अंग्रेज भारत छोड़कर चुपचाप चले जाएं। इस प्रकार भारत पर से ब्रिटेन का शासन तो समाप्त हो गया पर अन्य देशों को स्वतंत्रता मिलने में काफी समय लगा। दूसरी ओर, संयुक्त राज्य अमेरिका ने दो कारणों से बराबर दबाब बनाए रखा। इनमें से पहला कारण यह था कि वाशिंगटन को यह डर था कि मास्को द्वारा प्रायोजित साम्यवाद उपनिवेशवासियों के स्वतंत्रता संघर्ष को प्रेरणा देगा और दूसरा कारण था उनका वाणिज्यिक स्वार्थ जो इससे जुड़ा था। अमेरिकियों की नजर नए स्वतंत्र देशों के भावी बाजारों पर टिकी हुई थी। यह भी कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि नव-निर्मित संयुक्त राष्ट्र (UN) जिस पर प्रारंभ से ही संयुक्त राज्य अमेरिका छाया हुआ था, उपनिवेशवाद के विरुद्ध समय-समय पर वक्तव्य जारी कर रहा था। अब हम संक्षेप में ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण राष्ट्रों की अलग-अलग चर्चा करेंगे जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की थी। यह तो सुविदित है कि उपनिवेश के रूप में अपने अंतिम दो वर्षों में भारत की राष्ट्रवादी ताकतों ने कैसी नई ऊर्जा प्राप्त की और उस विभाजन की त्रासदी को कैसे झेला जिसके कारण दो राष्ट्रों का जन्म हुआ। हम देखेंगे कि अन्य उपनिवेशों ने अपने स्वतंत्र होने की घड़ी में उपर्युक्त भारतीय अनुभव का लाभ उठाया या नहीं।

वेस्टइंडीज, मलाया और साइप्रस

ब्रिटिश वेस्टइंडीज नाम सामूहिक रूप से उन भांति-भांति के अनेक द्वीप समूहों को दिया गया था जो कैरीबियन समुद्र में स्थित हैं। उनमें से कुछ द्वीप काफी बड़े हैं; जैसे- जमैका और ट्रिनिडाड, जबकि अन्य बहुत-से द्वीप; जैसे- ग्रेनेडा, सेंट विन्सेंट, बारबाडॉस, सेशल्स, बहामा और ऐंटीगुआ छोटे हैं। ब्रिटेन के पास मध्य दक्षिणी अमेरिका में होंडुरास और महाद्वीप के पूर्वोत्तर भाग में गुयाना उपनिवेश थे। इन सब द्वीपों की जनसंख्या कुल मिलाकर 60 लाख के आसपास थी। यह संदेह था कि क्या ग्रेनाडा, सेंट विन्सेंट तथा ऐंटीगुआ जैसे छोटे द्वीप जिनकी आबादी एक-एक अरब से भी कम थी, स्वतंत्र राज्य के रूप में टिक सकेंगे।

ब्रिटेन ने पहले इन द्वीपों का एक महासंघ बनाकर उसे सत्ता सौंपने की बात सोची। लेकिन होंडुरास तथा गुयाना अपनी अलग पहचान बनाए रखना चाहते थे। जमैका और ट्रिनीडाड भी महासंघ में शामिल होने के लिए तैयार नहीं थे। तथापि

देश	स्वतंत्रता वर्ष
बेलिज़ (पूर्व ब्रि. होंडुरास)	1981
गुयाना (पूर्व ब्रिटिश गुयाना)	1986
सूरीनाम (पूर्व डच गुयाना)	1975
ट्रिनीडाड और टोबेगो	1962
बारबाडॉस	1966
सेंट लूसिया	1979
एन्टीगुआ और बारबुडा	1972
ग्रेनेडा	1974
जमैका	1962
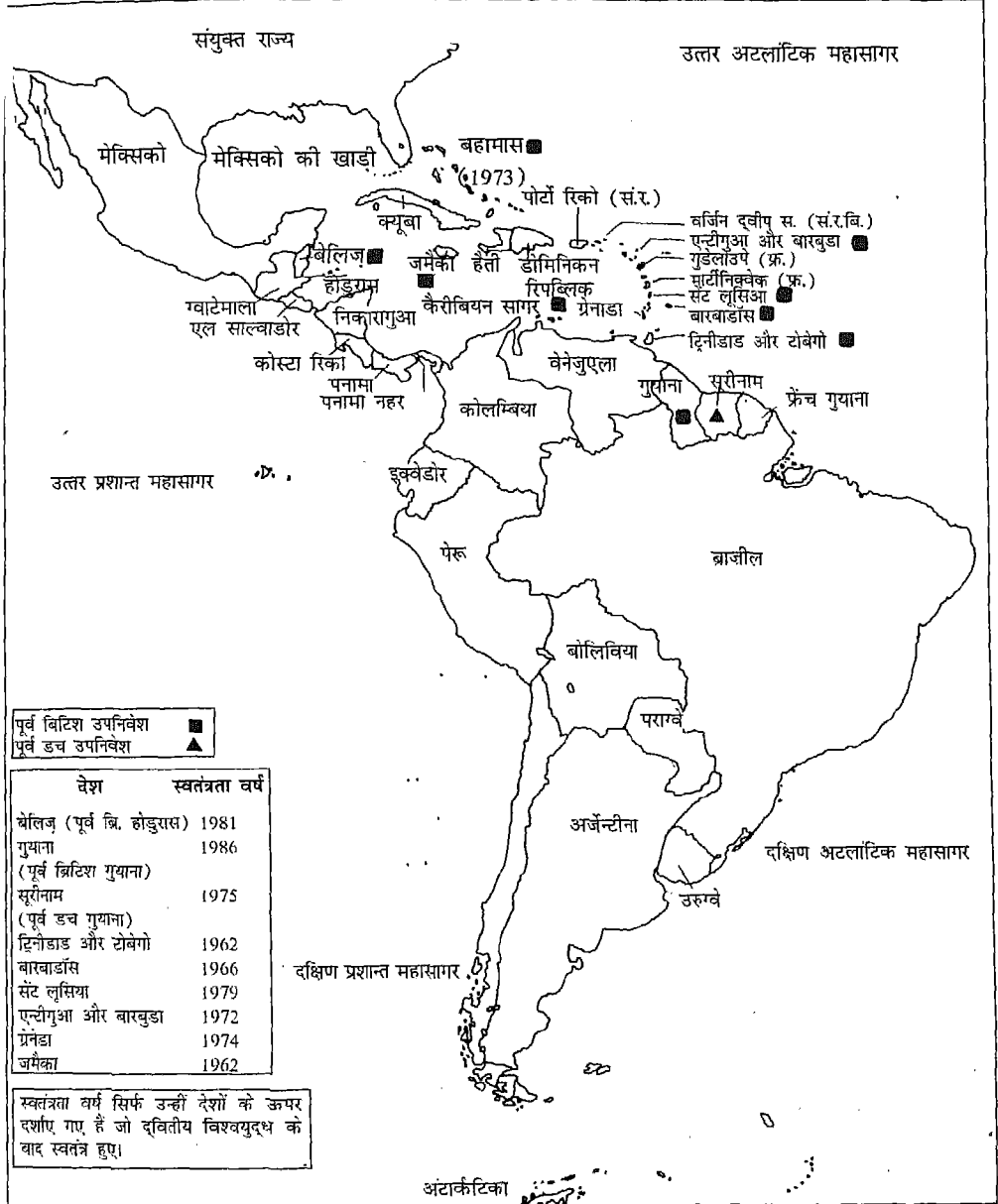
लातिन अमेरिका का मानचित्र

ब्रिटिश सरकार ने 1958 में वेस्टइंडीज फेडरेशन (महासंघ) की स्थापना कर दी। लेकिन वहां के लोगों में नाराजगी थी क्योंकि इन द्वीपों में बहुत कम बातें एकसमान थीं। इसलिए जमैका और ट्रिनीडाड 1961 में इस समूह में से बाहर निकल आए। अगले वर्षों में ब्रिटेन ने इनमें से प्रत्येक द्वीप को अलग से स्वतंत्रता दे दी। यह स्वतंत्रता सबसे पहले जमैका और ट्रिनीडाड-टोबेगो को मिली। गुयाना 1966 में स्वतंत्र हुआ और फिर एक के बाद एक, सब द्वीप स्वतंत्रता प्राप्त करते गए। अंत में बहामा द्वीप समूह को स्वतंत्रता मिली और उसने 1981में अपना नाम बदलकर 'बेलिज़' रख लिया और फिर तो नन्हे द्वीप सेंट किट्स और नेविस ने भी 1983 में स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। यद्यपि इन देशों ने महासंघ की संकल्पना स्वीकार नहीं की फिर भी उन्होंने क्षेत्रीय सहयोग की अच्छाइयों को जल्दी ही महसूस कर लिया। उन्होंने 1968 में कैरीबियाई मुक्त व्यापार संघ (Caribbean Free Trade Association) और 1973 में कैरीबियाई सामुदायिक तथा साझामंडी (CARICOM) की स्थापना की जिसमें गुयाना और बेलिज़ को छोड़कर बाकी सभी भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेश शामिल हो गए।

मलाया को 1945 में जापानी कब्जे में से छुड़ाया गया था। वहां मलय और चीनी मूल के लोगों के बीच जातीय प्रतिद्वंद्विता की समस्या मौजूद थी। वहां भारतीय और यूरोपीय मूल के लोगों की जनसंख्या भी काफी अधिक थी। स्वतंत्रता देने के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए ब्रिटेन ने 1948 में मलाया की नौ रियासतों को जिनमें से प्रत्येक एक सुलतान द्वारा शासित थी, और अपने दो राज्य-क्षेत्रों मलक्का और पेनांग को मलाया का संघ (Federation) बनाने के लिए राजी कर लिया। प्रत्येक रियासत को अपने स्थानीय मामलों का प्रशासन करने के लिए अपना एक विधानमंडल दे दिया गया और सर्वोपरि नियंत्रण के लिए एक केंद्रीय सरकार बना दी गई। लेकिन सिंगापुर को इस अवस्था में एक उपनिवेश के रूप में ही रखा गया।

किंतु साम्यवादी विद्रोही परेशानी पैदा करने लगे। इन उपद्रवियों का गुरिल्ला नेता, चिन पेन था जिसने जापानियों का भारी प्रतिरोध किया था। चिन पेन के नेतृत्व में ये विप्लवी लोग देश में हिंसा और लड़ाई-झगड़े फैलाने लगे। 1948 में ब्रिटिश ने आपातस्थिति की घोषणा कर दी जो 1960 तक लागू रही। इस अवधि में साम्यवादियों से सफलतापूर्वक निपटा गया। इस बीच प्रभावशाली बहुसंख्यक मलय लोगों ने तुंकू अबदुल रहमान के नेतृत्व में वर्चस्व प्राप्त कर लिया और शीघ्र ही भारतीय तथा चीनी मूल के लोगों के गैर-साम्यवादी समुदायों का समर्थन भी जुटा लिया। अंततः 1957 में ब्रिटेन ने सत्ता का हस्तांतरण कर दिया। 1963 में मलेशिया संघ की स्थापना हो गई। किंतु ब्रूनेइ का सुलतान इस संध में शामिल नहीं हुआ और उसने एक अलग सल्तनत कायम की जिसे 1984 में स्वतंत्रता मिली। सिंगापुर प्रारंभ में संघ में शामिल हुआ था, लेकिन वहां चीनियों का वर्चस्व होने के कारण उसे 1965 में अपना रास्ता खुद चुनने के लिए अलग छोड़ दिया गया। शेष समस्त मलेशियाई संघ आज तक अक्षुण्ण बना हुआ है।

साइप्रस का मुद्दा एक अत्यंत जटिल समस्या बना रहा। स्वतंत्रता प्रदान करने के ब्रिटिश लेबर पार्टी की सरकार के प्रयत्नों को भीतरी प्रतिरोध द्वारा विफल किया जाता रहा। साइप्रस की जनसंख्या का 80 प्रतिशत भाग यूनानी पुराणपंथी ईसाइयों का

था और वहां 20 प्रतिशत तुर्की मूल के मुसलमान थे। यूनानी मूल के साइप्रसवासी यूनान के साथ मिलना चाहते थे, लेकिन वहां के मुसलमानों ने इसका विरोध किया। जब विन्सटन चर्चिल 1951 में सत्ता में आया तो उसने साइप्रस को स्वतंत्रता देने की प्रक्रिया को धीमा कर दिया जिससे अनेक गलतफहमियां पैदा हो गईं। इससे साइप्रस में विशेष रूप से यूनानी मूल के लोगों में, ब्रिटिश विरोधी भावना फैली। आर्कबिशप मैकारियोस के नेतृत्व में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष छिड़ गया। जनरल ग्रिवास के नेतृत्व में एक गुरिल्ला आंदोलन 'एओका' ने उस समय ब्रिटिश सैन्य दलों के विरुद्ध सतत युद्ध की घोषणा कर दी, जब यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश साइप्रस को स्वतंत्रता देने के लिए अब तैयार नहीं हैं बल्कि वे इसे सामरिक कारणों से एक सैनिक अड्डे के तौर पर अपने ही पास रखना चाहते हैं। 35,000 से भी अधिक ब्रिटिश सैनिकों को देश में ठहरा दिया गया। मुस्लिम लोगों ने इन समस्याओं को और भी उलझा दिया, उन्होंने एक अभियान छेड़ दिया कि साइप्रस का धर्म के आधार पर विभाजन कर दिया जाए। अतंतोगत्वा गृहयुद्ध से बचने के लिए ब्रिटिश प्रधान मंत्री हैराल्ड मैकमिलन ने 1960 में साइप्रस को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर दी। आर्कबिशप मैकारियोस ने साइप्रस को यूनान के साथ मिलाने का विचार छोड़ दिया और देश का पहला राष्ट्रपति बन गया। लेकिन शांति केवल तीन वर्ष ही रही और फिर गृहयुद्ध छिड़ गया। 1974 में, तुर्की ने देश के उत्तरी भाग में एक अलग राज्य स्थापित करने के लिए हस्तक्षेप किया। देश अब भी दो भागों में बंटा हुआ है: दक्षिण भाग यूनानी उद्भव के साइप्रसवासियों के पास है और संयुक्त राष्ट्र की शांति सेनाएं दोनों दलों के बीच शांति बनाए हुए हैं।

हांगकांग का चीन के साथ अधिमिलन

1842 से पहले, हांगकांग एक नन्हा-सा द्वीप था जहां मछुआरे लोग रहते थे। उस समय इसका आर्थिक महत्त्व नगण्य था, इसलिए चीन के शासक इसकी उपेक्षा करते रहे। किंतु सामरिक दृष्टि से इसकी भौगोलिक स्थिति को सर्वप्रथम ब्रिटिश लोगों ने पहचाना, जिन्हें उस समय पूर्वी हिंद महासागर में एक नौसैनिक अड्डे की तलाश थी। 1842 में प्रथम अफीम-युद्ध के अंत में चीन ने हांगकांग को स्थायी रूप से ब्रिटेन के कब्जे में दे दिया। 1860 में, कौवलून नामक क्षेत्र, जो चीन की मुख्यभूमि पर हांगकांग के ठीक सामने पड़ता है, पेकिंग अभिसमय (Peking Convention) के अधीन चीन द्वारा ब्रिटेन को दे दिया गया।

ये दोनों इलाके ब्रिटिश आधिपत्य के अंतर्गत ही बने रहते, यदि द्वितीय अफीम-युद्ध की समाप्ति के साथ 1898 में दूसरी संधि नहीं हुई होती जिसके अतंर्गत ब्रिटेन ने निःशुल्क धृति (Freehold) को 99 वर्ष की पट्टेदारी (Leasehold) में बदल दिया। ब्रिटेन ने ऐसा इसलिए किया क्योंकि उनको चीन की मुख्य भूमि पर और अधिक भू-क्षेत्र मिल गया जो उनके लिए अत्यधिक सामरिक महत्त्व का था।

1900 के प्रारंभ से ही हांगकांग में आप्रवासियों का आना शुरू हो गया जो गृहयुद्ध से बचने के लिए चीन की मुख्य भूमि से भागकर लगातार आ रहे थे। अगले 90 वर्षों के दौरान हांगकांग विश्व के सभी भागों से आने वाले ऐसे लोगों से जरूरत से ज्यादा भर गया जो यहां की सेवा-प्रधान अर्थव्यवस्था में काम-धंधे की तलाश में आए थे। 1949 में जब चीन साम्यवादी बन गया तब तो वहां से हांगकांग आ बसने वालों का रेला ही

उमड़ पड़ा। ब्रिटेन के तहत हांगकांग का शासन लोकतांत्रिक नहीं था। हांगकांग का गवर्नर, ब्रिटिश प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त किया जाता था।

1980 के दशक में, ब्रिटेन हांगकांग पर अपनी पट्टेदारी की अवधि को समाप्त होता हुआ देखकर चिंतित हो गया। तब तक हांगकांग का जीवन-स्तर एशिया में सबसे ऊंचा हो गया था। चिंता का विषय यह था कि हांगकांग जब साम्यवादी शासन के अधीन चला जाएगा, तब मुक्त उद्यमशीलता की भावना जिसने हांगकांग को इतना समृद्ध बनाया था, समाप्त हो जाएगी। हांगकांग के अधिकांश लोग चीनी मूल के थे और वे अपनी स्वतंत्रता खत्म हो जाने के डर से भागकर ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा अन्य देशों में बसने लगे।

ब्रिटेन ने पट्टेदारी के नवीनीकरण के लिए चीन से औपचारिक निवेदन किया लेकिन बीजिंग में स्थित साम्यवादी अध्यक्ष देंग जियाओपिंग ने इस निवेदन को अस्वीकार करते हुए ब्रिटेन से यह मांग की कि वह संपूर्ण हांगकांग को चीन को लौटा दे। ब्रिटेन ने चीन को चुनौती देना उचित नहीं समझा और हांगकांग को लौटाने के लिए सहमत हो गया। 1984 में प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर और उसके चीनी समकक्ष झाओ ज़िआंग ने एक संयुक्त घोषणा पर हस्ताक्षर किए जिसमें यह तय किया गया था कि ब्रिटेन हांगकांग की प्रभुसत्ता 30 जून 1997 को मध्य रात्रि के समय चीन को सौंप देगा।

इसके बदले में चीन इस बात पर सहमत हुआ कि वह हांगकांग और उसके निवासियों को एक उच्च कोटि की स्वतंत्रता तथा स्वायत्तता प्रदान करेगा। सबसे उल्लेखनीय बात यह थी कि हांगकांग को अपनी पूंजीवादी प्रणाली 2047 तक बनाए रखने की अनुमति दे दी गई। लेकिन सत्ता के अंतरण का रास्ता उतना साफ नहीं था, उसमें कई रोड़े अटकाए गए। बीजिंग के तिआनमेन स्क्वायर में, चीन के सर्वाधिकारवादी शासन के आदेश से शांतिपूर्ण लोकतांत्रिक प्रदर्शन को दबाने के लिए जो नरसंहार किया गया था उसे देखकर हांगकांग के लोग घबरा गए थे। उनकी यह घबराहट स्वाभाविक भी थी। परिणामस्वरूप, हांगकांग के हजारों नागरिकों ने ब्रिटेन नागरिकता के लिए आवेदन-पत्र प्रस्तुत कर दिए। इसे रोकने के लिए, ब्रिटेन ने लोकतांत्रिक सुधार लागू किए, किंतु इस अवस्था में इसका कोई असर नहीं हुआ क्योंकि चीन हस्तांतरण के बाद इन सब सुधारों को शून्य कर देगा।

जुलाई 1997 में, हांगकांग के अंतिम ब्रिटिश गवर्नर, क्रिस पैटन ने हांगकांग छोड़ दिया। चीन की सरकार ने पुराने औपनिवेशिक सदन (Chamber) के स्थान पर एक अंतरिम विधानमंडल की स्थापना कर दी। पैटन ने अपने कार्यकाल के अंतिम दिनों में जो भी मानवीय और लोकतांत्रिक उपाय लागू किए थे, समाप्त कर दिए गए। हांगकांग को एक विशेष स्वायत्त क्षेत्र (SAR) घोषित कर दिया गया और एक व्यापारी, तुंग ची-वा को मुख्य कार्यपालक (Chief Executive) नियुक्त कर दिया गया। फरवरी 2002 में उसका कार्यकाल बढ़ा दिया गया।

ब्रिटिश अफ्रीका की स्वतंत्रता

1945 तक आते-आते राष्ट्रवाद की बयार अफ्रीका में भी बहने लगी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, औपनिवेशिक सैन्यदल मित्र राष्ट्रों की ओर से लड़े थे और उनके दिलों में यह राष्ट्रवाद की भावना घर कर गई। इससे कुछ दशक पहले से ही अफ्रीकी नवयुवाओं की एक नई पीढ़ी ब्रिटेन में

शिक्षा ले रही थी और वहां लोकतंत्र तथा राष्ट्रवाद के विचारों को ग्रहण करती जा रही थी। ऐटली के नेतृत्व में ब्रिटिश लेबर पार्टी की सरकार उपनिवेशों को सत्ता सौंपने के लिए तैयार थी। ऐटली यह सपना देख रहा था कि ब्रिटेन 'नव-उपनिवेशवाद' की नई प्रक्रिया के माध्यम से अपने पूर्ववर्ती उपनिवेशों के आर्थिक मामलों पर अपना आधिपत्य जमाए रखेगा। नव-उपनिवेशवाद के इस घटनाक्रम पर, जिसने तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में अपना बड़ा रूप धारण कर लिया था, हम आगे के अध्याय में चर्चा करेंगे। लेकिन अफ्रीका के संदर्भ में ब्रिटेन जल्दी से सत्ता सौंपना नहीं चाहता था। बल्कि नीति यह थी कि जहां तक हो सके इस प्रक्रिया में यथासंभव अधिक से अधिक देरी की जाए।

1945 में ब्रिटेन के पास अफ्रीका में तीन प्रकार के उपनिवेश थे। पश्चिम अफ्रीका में उसके पास गोल्डकोस्ट, नाइजीरिया, सियरा लिओन और गांबिया थे। इस क्षेत्र में कम-से-कम संख्या में ब्रिटिश या यूरोपवासी थे। इन देशों को स्वतंत्रता देना बहुत आसान था। सियरा लिओन 1961 में स्वतंत्र हो गया और गांबिया 1965 में। दूसरी ओर पूर्वी अफ्रीका में स्थित केन्या, युगांडा और टैंगानिका के उपनिवेशों में, मामला काफी उलझा हुआ था। वहां ब्रिटेन तथा एशियाई देशों से आकर बसे लोगों की काफी बड़ी आबादी थी जो मूल निवासियों के शासन के अंतर्गत जाने से डर रहे थे। तृतीय श्रेणी के उपनिवेशों, अर्थात न्यासालैंड और म ध्य अफ्रीका स्थित उत्तरी तथा दक्षिणी रोडेशिया में यह अधिवासी कारक (Settler factor) बहुत ही गंभीर समस्या

गोरों का शासन समाप्त करने के लिए रोडेशिया (जिम्बाब्वे) का प्रधानमंत्री इयान स्मिथ काले नेताओं के साथ बातचीत करते हुए।

बना हुआ था क्योंकि इन उपनिवेशों में स्थानीय अर्थव्यवस्था यूरोपवासियों के हाथ में थी; वे बड़ी-बड़ी जमीनों के मालिक थे और स्थानीय लोगों को उनके ही देश में उत्पन्न किए गए मुनाफों से वंचित रखते थे।

टैंगानिका में (जिसे 1964 में तंजानिया नाम दे दिया गया), टैंगानिका अफ्रीकी राष्ट्रीय संघ (TANU) के नेता जूलियस न्यरेरे ने एक अफ्रीकी सरकार के लिए अभियान चलाया। उसने वचन दिया कि यह अफ्रीकी सरकार गोरे लोगों के प्रति सहिष्णु होगी। ब्रिटेन ने 1961 में स्वाधीनता प्रदान कर दी। युगांडा 1962 में आजाद कर दिया गया और मिल्टन ओबोटे को वहां का प्रधान मंत्री बनाया गया। लेकिन युगांडा ने जनजातीय प्रतिद्वंद्विता के कारण बहुत कष्ट उठाए।

पूर्वी अफ्रीका में सबसे अधिक जटिल समस्या कीनिया की थी क्योंकि वहां बसे गोरे लोगों ने कालों के बहुसंख्यक शासन के तले जीना स्वीकार नहीं किया। जोमो केन्याटा का कीनिया अफ्रीकी एकता दल, कीनियाइयों का सच्चा प्रतिनिधि था। ब्रिटिश सरकार कीनियाइयों को विधान परिषद् की कुल 54 सीटों में से सिर्फ 6 सीटें देना चाहती थी। अफ्रीकियों के धीरज ने जवाब दे दिया और माऊ-माऊ नामक एक गुप्त संगठन ने गोरे लोगों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। इससे ब्रिटेन को अपना शासन लंबा करने का बहाना मिल गया। उन्होंने 1,00,000 से अधिक सैनिक देश में तैनात कर दिए और राष्ट्रवादी तत्वों का बर्बरतापूर्वक दमन कर दिया। केन्याटा, अफ्रीकी राष्ट्रवाद का प्रतीक बन गया। जब उसे छः वर्ष के लिए जेल में डाल दिया गया ब्रिटेन ने उस समय नाजियों जैसी क्रूरता एवं बर्बरता दिखलाई जब उन्होंने किकुयू कबीलों को संगठित होने से रोकने के लिए बंदी शिविरों की स्थापना की। अंततः अतंर्राष्ट्रीय दबाव के सामने ब्रिटेन को झुकना पड़ा। उन्होंने केन्याटा को रिहा कर दिया और 1963 में देश छोड़कर चले गए। केन्याटा ने गोरे लोगों से कोई बदला नहीं लिया। तब से कीनिया एक नरमपंथी देश बना हुआ है।

मध्य अफ्रीका में शक्ति के अंतरण की प्रक्रिया में अधिक समस्याएं आईं। यह एक ऐसा क्षेत्र था जहां गोरे लोगों की आबादी सबसे घनी थी। अफ्रीकी स्वतंत्रता की आशंका से न्यासालैंड और उत्तरी तथा दक्षिणी रोडेशिया के गोरे लोगों ने चर्चिल के सामने यह प्रस्ताव रखा कि उन्हें एक ऐसे मध्य अफ्रीकी संघ की स्थापना करने की अनुमति दी जाए जिसमें वे संख्या की दृष्टि से शक्ति बटोर लेंगे और अफ्रीकियों को सत्ता से बाहर रखने में सफल हो जाएंगे। ब्रिटेन ने उन्हें दक्षिणी रोडेशिया की राजधानी सैल्सबरी में एक संघीय संसद (Federal Parliament) रखने की अनुमति दे दी। अफ्रीकी उन्हें सत्ता से वंचित रखने की इस रणनीति से भड़क उठे। तीन दूरदर्शी नेताओं, अर्थात् उत्तरी रोडेशिया के केनेथ कोंडा, दक्षिणी रोडेशिया के जोशुआ एनकोमो और न्यासालैंड के हेस्टिंग्स बांडा के नेतृत्व में उन्होंने काले बहुसंख्यकों के शासन के लिए अभियान प्रारंभ कर दिया। 1960 में, लेबर पार्टी की सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए आयोग का गठन किया। इस आयोग ने सर्वजनीन मताधिकार, जातीय भेदभाव के अंत और संघ छोड़ने के लिए राज्यक्षेत्रों को अधिकार देने की सिफारिश की। 1963 में न्यासालैंड और उत्तरी रोडेशिया पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गए और उन्होंने क्रमशः अपने नए नाम 'मलावी' और 'ज़ाम्बिया' रख लिए।

दक्षिणी रोडेशिया में गोरे लोगों के साथ भयंकर संघर्ष चला क्योंकि गोरे लोग अपने विशेषाधिकार सुरक्षित रखना चाहते थे। ब्रिटेन ने उनका समर्थन किया, लेकिन साथ ही विश्व जनमत को संतुष्ट करने के लिए रोडेशिया के प्रधानमंत्री इयान स्मिथ पर यह दबाब डाला कि संसद में कम-से-कम एक-तिहाई सीटें अफ्रीकियों को अवश्य दी जाएं। यह एक हास्यास्पद प्रस्ताव था क्योंकि इसमें गोरों को जिनकी संख्या सिर्फ 2,00,000 थी, दो-तिहाई सीटें देने की बात कही गई थी जबकि 40 लाख अफ्रीकियों को सिर्फ एक-तिहाई सीटें दी जानी थी। चारों ओर से घिरने के बाद स्मिथ ने 1965 में रोडेशिया के लिए स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। संयुक्त राष्ट्र ने इस कार्य की निंदा की और सभी सदस्य देशों को दक्षिणी रोडेशिया की अवैध सरकार के साथ व्यापारिक बहिष्कार करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। पड़ोसी राज्य दक्षिण अफ्रीका और मोजांबिक, स्मिथ के प्रति सहानुभूति रखते थे और उन्होंने अतंर्राष्ट्रीय बहिष्कार को झेलने के लिए उसका साथ दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा भी बहिष्कार संबंधी निदेशों का उल्लंघन किया गया, क्योंकि अमेरिकी कंपनियां रोडेशिया के विश्व में सबसे सस्ते क्रोम को खरीदने के लालच को न छोड़ सकीं। विश्वशक्तियों द्वारा दिखाई गई इस पाखंड लीला ने स्मिथ शासन की सहायता की जिसने 1970 में रोडेशिया को गणतंत्र घोषित कर दिया और अफ्रीकियों का दमन जारी रखा।

स्थिति में उस समय अचानक सुधार आया जब 1975 में पुर्तगाल ने मोजांबिक को छोड़ दिया। यहां के राष्ट्रपति समोरा माशेल ने रोडेशिया के विरुद्ध कई आर्थिक प्रतिबंध लगा दिए और जिम्बाब्वे के राष्ट्रवादियों को मोजांबिक में गुरिल्ला अड्डों से अपनी कार्रवाई करने की अनुमति दे दी। स्मिथ ने जिम्बाब्वे के राष्ट्रवादियों का प्रतिरोध करने के लिए भाड़े के विदेशी सैनिकों की भी सहायता ली पर उन्हें रोकने में सफल नहीं हुआ। राबर्ट मुगाबे के गुरिल्ला दस्तों और जिम्बाब्वे अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद् ने 1979 तक देश के अधिकांश भागों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया। स्मिथ को बातचीत के लिए मजबूर होना पड़ा। दिसंबर 1979 में ब्रिटिश मध्यस्थता के अंतर्गत, यह तय हुआ कि जिम्बाब्वे नाम का एक नया गणराज्य बनाया जाएगा और उसकी संसद में कुल 100 सीटों में से 80 सीटें अफ्रीकियों के लिए आरक्षित होंगी। जिम्बाब्वे आधिकारिक रूप से 1980 में स्वतंत्र हो गया और मुगाबे वहां का प्रधान मंत्री बना।

यह स्वीकार करना होगा कि सभी औपनिवेशक ताकतों में कम-से-कम ब्रिटेन ने तो अपने कब्जे के उपनिवेशों को शालीनतापूर्वक छोड़ जाने के प्रयत्न किए। लेकिन फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाली अधिकतर दुनिया में चल रही इस परिवर्तन की हवा से बेपरवाह बने रहे और उन्होंने अपने उपनिवेशों से ज्यादा-से-ज्यादा समय तक चिपटे रहने की कोशिशें कीं। फ्रांसीसियों ने जब 1944 के चार साल के जर्मन कब्जे के बाद अपने देश की बागडोर फिर से संभाली तो उन्होंने कुख्यात ब्राजविले घोषणा (Brazzaville Declartion) को अपना लिया जिसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया था कि उपनिवेशों को कोई स्वायत्तता या स्व-शासन प्रदान नहीं किया जाएगा। इसलिए उपनिवेशों के सामने

और कोई विकल्प नहीं बचा था सिवाय इसके कि फ्रांसीसियों को जबरदस्ती धक्के मारकर बाहर निकाल दिया जाए। इसके बारे में हम अब आगे पढ़ेंगे।

फ्रांसीसी उपनिवेशों की आजादी

फ्रांसीसी इंडोचीन (Indo-China) में आज के तीन राष्ट्र – वियतनाम, लाओस और कंबोडिया शामिल थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यह क्षेत्र जापान के कब्जे में चला गया जब जापानियों ने फ्रांसीसियों को निकाल बाहर कर दिया। वियतनामी साम्यवादियों ने अपने करिश्माई नेता हो ची मिन के नेतृत्व में जापानियों का डटकर मुकाबला किया। इसलिए स्वाभाविक था कि जब द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद फ्रांसीसियों ने फिर अपने पूर्व-उपनिवेशों में लौटने की कोशिश की तो वियतनामियों ने विद्रोह कर दिया। यह स्वतंत्रता संग्राम आठ वर्ष तक चलता रहा। अंततः 1954 में, जब यह स्पष्ट हो गया कि फ्रांसीसी अपने पुराने उपनिवेश को अपने कब्जे में नहीं रख सकेंगे तो फ्रांस के उदारवादी प्रधानमंत्री पिएर मेंडेस फ्रांस ने शांति-संधि करनी चाही। जुलाई 1954 के जेनेवा सम्मेलन में, वियतनाम, लाओस और कंबोडिया को स्वतंत्रता प्रदान कर दी गई।

ट्यूनिशिया में फ्रांसीसियों को गुरिल्ला आंदोलन का मुकाबला करना पड़ा, जिसका नेतृत्व हबीब बुर्गीबा का न्यू देतूर दल कर रहा था। फ्रांसीसियों ने 70,000 सैनिक ट्यूनिशिया में भेज दिए, बुर्गीबा को कैद कर लिया और राष्ट्रवादी संघर्ष का बर्बरतापूर्वक दमन करने का प्रयत्न किया। लेकिन साम्यवादियों के घुस आने से पेरिस की नींद हराम हो गई। फ्रांसीसियों ने महसूस किया कि जब तक वे बुर्गीबा जैसे किसी नरमपंथी नेता के नेतृत्व में ट्यूनिशिया को स्वतंत्रता नहीं देंगे तब तक उन्हें इससे भी अधिक तकलीफें सहनी पड़ेंगी। इसलिए उन्होंने लोकप्रिय नेता को रिहा कर दिया और मार्च 1956 में ट्यूनिशिया को स्वतंत्रता प्रदान कर दी। मोरक्को में भी उनके सामने लगभग ऐसी ही स्थिति आई। वहां 'इस्तिकलाल' (Istiqlal) और मजदूर संघों ने फ्रांसीसियों का विरोध किया। फ्रांसीसी सरकार ने भली-भांति समझ लिया कि वह एक साथ इंडो-चीन और अफ्रीका, दोनों जगह लड़ाई नहीं कर सकती। इसलिए उन्होंने बादशाह मुहम्मद पंचम को निर्वासन से वापस देश लौटने की इजाजत दे दी और 1956 में मोरक्को को स्वतंत्रता प्रदान कर दी।

अल्जीरिया ने फ्रांस के सामने अपेक्षाकृत बड़ी समस्या खड़ी कर दी क्योंकि वहां दस लाख से भी अधिक फ्रांसीसी बसे हुए थे। मूल निवासियों का स्वतंत्रता आंदोलन शुरू में तो शांतिपूर्ण रहा। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, बेन बेला के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे (National Liberation Front) के नेतृत्व में यह आंदोलन अधिक उग्र हो गया फिर तो भारी पैमाने पर पूरी तरह युद्ध छिड़ गया। जिसमें 7,00,000 फ्रांसीसी सैनिकों ने अत्यंत क्रूरतापूर्ण तरीकों से अल्जीरियाइयों का दमन करने की कोशिशें कीं। इस युद्ध ने फ्रांस में भी फ्रांसीसी समाज के भीतर अनेक समस्याएं खड़ी कर दीं। उपनिवेशवाद को जारी रखने के इस निर्लज्जतापूर्ण प्रयास से फ्रांस में इतना अधिक आक्रोश उत्पन्न हुआ कि 1944 में स्थापित फ्रांस के चतुर्थ गणतंत्र का पतन हो गया और गृहयुद्ध के बादल मंडराने लगे। सेना ने द्वितीय विश्वयुद्ध के विजेता वीर जनरल चार्ल्स डि गॉल से आग्रह किया कि इस संकट की घड़ी में देश का नेतृत्व

संभाले क्योंकि तब तक यह स्पष्ट हो चुका था कि वह अल्जीरिया में फ्रांसीसी दावों को नहीं छोड़ेगा।

अक्तूबर 1958 में, फ्रांस में चार्ल्स डि गॉल के अधीन पंचम गणतंत्र की शुरुआत हुई। इसी बीच, फ्रांसीसी सेना को अल्जीरिया में कई बार हार का मुंह देखना पड़ा। चार्ल्स डि गॉल में व्यावहारिक बुद्धि थी। उसने भली-भांति जान लिया कि फ्रांसीसी सेनाएं तुरंत नहीं जीत सकतीं, इसलिए उसने बेन बेला से सुलह की बातचीत शुरू कर दी। फ्रांसीसी सेना के जनरलों ने 'ओ.ए.एस.' नामक एक आतंकवादी आंदोलन शुरू करवाया जिसने फ्रांस और अल्जीरिया, दोनों ही देशों में उन लोगों के विरुद्ध, जो अल्जीरिया की स्वतंत्रता के पक्षधर थे, आतंकवादी अभियान प्रारंभ किया। फ्रांसीसी युद्ध से थक गए और डि गॉल के शांति प्रयासों को व्यापक रूप से समर्थन मिलने लगा। जुलाई 1962 में, फ्रांसीसी वापस हट गए और बेन बेला स्वतंत्र अल्जीरिया का प्रथम राष्ट्रपति बन गया।

चार्ल्स डि गॉल सचमुच उपनिवेशों के साथ मेल-मिलाप रखने के पक्ष में था। उसने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशों को फ्रांसीसी साम्राज्य का हिस्सा मानने की नीति को छोड़ दिया और उन्हें तत्काल स्वतंत्रता देना ही अधिक अच्छा कदम समझा। इंडोचीन की घटनाओं को देखकर उसने एक नई योजना बनाने की जरूरत महसूस की। 1958 में, सत्ता प्राप्त करने के तुरंत बाद ही, उसने यह प्रस्ताव रखा कि फ्रांसीसी विषुवतीय अफ्रीका और फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका के 12 उपनिवेशों को उनकी निर्वाचित संसदों के अधीन स्थानीय मामलों के लिए स्वशासन का अधिकार दे दिया जाए, जबकि विदेशी मामलों तथा कराधान संबंधी उनकी नीतियां पेरिस में निर्धारित हों। इनमें से प्रत्येक देश में जनमत संग्रह कराया गया। फ्रांस ने उन देशों को उदारतापूर्वक सहायता दी। जिन्होंने इस योजना को स्वीकार कर लिया, लेकिन जिन देशों ने स्वाधीनता का विकल्प चुना उन्हें फ्रांस ने कोई सहायता नहीं दी, राष्ट्रपति सिको तुरे के अधीन केवल गिनी ने ही तत्काल स्वाधीन होने का विकल्प चुना। इससे टोगो, कैमेरून और मेडागास्कर के लोगों को भी प्रेरणा मिली और वे भी 1960 में स्वतंत्र हो गए।

अन्य साम्राज्यों का विघटन

यूरोप के अन्य साम्राज्य-निर्माता राष्ट्रों, अर्थात् हालैंड, बेल्जियम, स्पेन और पुर्तगाल ने अतंर्राष्ट्रीय जनमत के सामने झुकने और अपने उपनिवेशों को छोड़ने के मामले में फ्रांस से भी ज्यादा हठधर्मिता दिखलाई। हालैंड (डच), ईस्टइंडीज (इंडोनेशिया) का घोर शोषण कर रहा था और बदले में वहां के निवासियों के कष्टों को कम करने या दूर करने के मामले में एकदम उदासीन था। अहमद सुकार्णो उस देश का राष्ट्रवादी नेता था। जब 1942 में जापानियों ने इंडोनेशिया पर आक्रमण किया तो डचों ने सुकार्णो को देश का प्रशासन चलाने की अनुमति दे दी और युद्ध के बाद पूर्ण स्वतंत्रता देने का वचन दे दिया। जब द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया तो सुकार्णो ने इंडोनेशिया को पूर्णतः स्वतंत्र घोषित कर दिया।

हालैंड ने इंडोनेशिया पर फिर से कब्जा लेने के लिए अपनी सेना तो भेजी पर उसकी कोशिश में दम नहीं था। साथ ही, संयुक्त राष्ट्र ने भी हालैंड को कह दिया कि इंडोनेशिया को स्वतंत्रता दे दे। 1949 में, इंडोनेशिया स्वतंत्र हो गया लेकिन हालैंड ने पश्चिमी इरियान को अपने कब्जे में रखा और

डच ताज को भी मान्यता दे दी गई। लेकिन अगले ही वर्ष सुकार्णो संघ तोड़कर बाहर निकल आया और उसने पश्चिमी इरियान से यूरोपवासियों को बाहर निकाल दिया। डचों का एक अन्य उपनिवेश सूरीनाम 1975 में स्वतंत्र हो गया।

बेल्जियम के पास भी अफ्रीका में उपनिवेश थे, जिनके नाम थे : बेल्जियन कांगो और रुआंडा-उरुंडी। ये उपनिवेशवादी बहुत ही बर्बर थे, उन्होंने स्थानीय लोगों को शिक्षा से पूरी तरह वंचित रखा और वहां के कबीलों को आपस में लड़ाते रहे। रुआंडा-उरुंडी में, बहुसंख्यक तुत्सी और हूतू जनजातियों के बीच की प्रतिद्वंद्विता के प्रभाव आज भी कम नहीं हुए हैं।

लेकिन बेल्जियन कांगो की राजधानी लियोपोल्डविले में 1959 में, राष्ट्रीय आंदोलन छिड़ गए। इन्हें कुछ समय के लिए दबाए रखने के बाद बेल्जियन सरकार ने अचानक यह निर्णय् ले लिया कि वह देश को स्वतंत्रता प्रदान कर देगी। जून 1960 में, कांगो पैट्रिस लुमुंबा के अधीन स्वतंत्र हो गया। रुआंडा-उरुंडी को 1962 में स्वतंत्रता दी गई, लेकिन स्वतंत्र किए जाने से पहले उसे दो राज्यों, रवांडा और बुरुंडी में विभाजित कर दिया गया और दोनों राज्यों में सत्ता, तुत्सियों के हाथों में ही रही।

स्पेन के पास स्पेनिश सहारा, स्पेनिश मोरक्को, इफनी और स्पेनिश गिनी थे। स्पेन के तानाशाह जनरल फ्रैंको ने राष्ट्रवादी आंदोलनों का कोई प्रतिरोध नहीं किया क्योंकि उसे उपनिवेशों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसने स्पेनिश मोरक्को को नए स्वतंत्र हुए भूतपूर्व फ्रांसीसी मोरक्को के साथ मिलने के लिए 1956 में स्वतंत्र कर दिया। इफनी को भी मोरक्को के साथ जुड़ने का विकल्प दे दिया गया और वह 1969 में मोरक्को के साथ जुड़ गया। गिनी 1968 में विषुवतीय (Equitorial) गिनी के रूप में स्वतंत्र हो गया, किंतु स्पेनिश सहारा के मामले में, फ्रैंको ने दूसरा रुख अपनाया क्योंकि वहां पर फॉस्फेट के विशाल भंडार थे। किंतु 1975 में फ्रैंको की मृत्यु के बाद, उसे भी छोड़ दिया गया।

पुर्तगाल भी अफ्रीका में स्थित अपने उपनिवेशों अंगोला, मोजांबिक और पुर्तगाली गिनी को स्वतंत्रता देने के पक्ष में नहीं था। इनके अलावा, पुर्तगाल के पास हिंद महासागर में तिमोर द्वीप का पूर्वी आधा भाग भी था। लिस्बन की सालाज़ार सरकार ने उपनिवेश के निवासियों को पिछड़ा और निरक्षर रखा था। किंतु 1961 में अंगोला में विद्रोह भड़क उठे, जहां एगोस्तिनो नेतो का अंगोलाई स्वतंत्रता के लिए जनवादी आंदोलन (MPLA) मुख्य राष्ट्रवादी आंदोलन था। सोवियत संघ ने इस आंदोलन का साथ दिया क्योंकि एम.पी.एल.ए. का झुकाव साम्यवाद की ओर था। पुर्तगाल घमासान लड़ाई लड़ता रहा जिस पर 1973 तक देश का लगभग आधा वार्षिक बजट खर्च होता रहा। स्वाभाविक रूप से पुर्तगाल का आम नागरिक इस नीति से परेशान हो गया। लोगों ने इसका घोर विरोध किया। 1970 में एक सैनिक तख्तापलट की कार्रवाई के द्वारा सालाज़ार की तानाशाही को खत्म कर दिया गया। शीघ्र ही पुर्तगाल ने अपने सभी उपनिवेशों को स्वतंत्र कर दिया।

उपनिवेश बसाने वाले देशों में से इटली ही एक ऐसा राष्ट्र था जिसने मूल निवासियों की स्वतंत्रता की मांगों को शालीनता के साथ स्वीकार किया। एक बात यह भी थी कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, इटली का अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा

कोई प्रभाव भी नहीं रहा था कि वह स्वतंत्रता आंदोलनों का प्रतिरोध कर सके। इथियोपिया को सम्राट हेल सेलासी के शासन को वापस सौंप दिया गया। हेल सेलासी को 1935 में उस समय देश छोड़कर जाने के लिए विवश कर दिया गया था जब इटलीवासियों ने देश पर आक्रमण किया था। लीबिया को 1951 में स्वतंत्रता दी गई। इरिट्रिया 1952 में इथियोपिया को सौंप दिया गया पर उसे काफी हद तक स्वायत्तता रखने की अनुमति दे दी गई। इतालवी सोमालीलैंड को ब्रिटिश सोमालीलैंड के साथ मिला दिया गया और 1960 में सोमालिया का एक स्वतंत्र गणराज्य स्थापित कर दिया गया।

ब्रिटिश राष्ट्रमंडल और नव-उपनिवेशवाद

ब्रिटिश राष्ट्रमंडल आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा और दक्षिण अफ्रीका के गोरे उपनिवेशों में परस्पर संबंध बनाए रखने के लिए 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों से ही अस्तित्व में था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब लेबर पार्टी की सरकार ने एक-एक कर सभी उपनिवेशों को स्वतंत्र करने का निर्णय लिया तो ब्रिटेन के आंतरिक उद्योग जगत से यह मांग जोरों से की जाने लगी कि नए स्वतंत्र हुए देशों के साथ, तरजीही तौर पर, व्यापारिक संबंधों को बरकार रखा जाए। यह देखा गया कि ये देश सहज रूप से कमजोर हैं क्योंकि इनकी अर्थव्यवस्था सदियों लंबे उपनिवेश काल में बरबाद हो चुकी है, इनके पास प्रशिक्षित कर्मचारियों एवं प्रबंधकों का अभाव है और यहां की सरकारें भी अनुभवहीन हैं, इसलिए ब्रिटेन दूर रहते हुए भी इनके मामलों पर अपने हित में नियंत्रण रख सकता है। यही नव-उपनिवेशवाद के जन्म का मूल कारण था। इसलिए ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का क्षेत्र-विस्तार करके उसमें सभी पूर्ववर्ती उपनिवेशों को शामिल करने का प्रयत्न किया गया और ये पूर्ववर्ती उपनिवेश भी अब संप्रभुतासंपन्न राष्ट्रों के रूप में परस्पर तथा ब्रिटेन के साथ अपने संबंध पूर्ववत जारी रख सकते थे। कुछ देश अब भी अपने समुद्रपार बाजार के रूप में ब्रिटेन पर ही निर्भर थे। ब्रिटिश कंपनियां 1980 के दशक में भी उन देशों की अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों पर एक तरह से एकाधिकार ही भोग रही थीं। इस प्रकार अपने भूतपूर्व उपनिवेशों से धन खींचते रहने की प्रक्रिया के चलते ब्रिटेन ने यूरोपीय आर्थिक समुदाय से कुछ अलगाव बनाए रखा। ब्रिटेन 80 करोड़ के अंतर्राष्ट्रीय बाजार पर अपने सर्वोपरि अधिकारों से पूरी तरह संतुष्ट था।

किंतु यह बात स्वीकार करनी होगी कि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल ने भूतपूर्व उपनिवेशों का शोषण करने के लिए कोई घातक या विनाशकारी प्रणाली नहीं विकसित की। एक निकाय के रूप में उसने 1961 में दक्षिण अफ्रीका के जातिवादी शासन के विरुद्ध साहसपूर्ण कदम उठाया और सदस्य राज्यों के बीच आर्थिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी सहयोग को बढ़ावा देने के लिए प्रयत्न किए। ब्रिटिश सम्राट (साम्राज्ञी) इस मंच का प्रतीकात्मक अध्यक्ष है।

इसके विपरीत फ्रांसीसियों ने नव-उपनिवेशवाद पर जोर-शोर से अमल किया। जैसा कि हमने पहले कहा है, फ्रांस प्रारंभ में तो अपने उपनिवेशों को स्वतंत्रता देने के लिए बिलकुल तैयार नहीं था। लेकिन जब राष्ट्रवादी ताकतों का दबाव बहुत ज्यादा बढ़ गया तो उसने प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण तो छोड़ दिया पर इस बात का पूरा ध्यान रखा कि फ्रांस के आर्थिक हितों यहां तक कि एकाधिकारों पर कोई आंच न आए। ट्यूनिशिया और मोरक्को

को काफी पहले स्वतंत्रता देने का यह भी एक कारण था। राष्ट्रपति चार्ल्स डि गॉल के अधीन नव-उपनिवेशवाद एक विश्वास की वस्तु बन गया। उसने फ्रांस के अनुदारवादियों को अल्जीरिया की अर्थव्यवस्था पर परोक्ष रूप से फ्रांसीसी नियंत्रण बनाए रखने के एवज में, अल्जीरिया पर राजनीतिक आधिपत्य छोड़ने के अपने निर्णय पर सहमत कर लिया था। अन्य अफ्रीकी गणराज्यों की स्वतंत्रता भी इस दृष्टि से पूर्ण नहीं थी। उन सबको यह जानकर भारी निराशा हुई कि फ्रांस अब भी उनकी आर्थिक तथा विदेशी नीतियों को प्रभावित किए हुए है।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी, भूतपूर्व साम्राज्य निर्माता पश्चिमी यूरोपीय शक्तियों पर अपने व्यापक प्रभाव के कारण, नव-उपनिवेशवाद की प्रक्रिया में पूरी तरह भाग लिया। नए स्वतंत्र हुए देश उनके निवेशों तथा बाजारों पर पूरी तरह निर्भर हो गए और इस प्रकार उनके कर्जे के जाल में फंसते चले गए। इसका सबसे बुरा असर अफ्रीकी राष्ट्रों पर हुआ जो अपने मामलों का इंतजाम करने के लिए गलत तरीकों से तैयार थे या बिलकुल तैयार नहीं थे। उनके पास साक्षर लोगों की बेहद कमी थी। प्रभावी शासन चलाने के लिए तो उनके पास कुशल लोग थे ही नहीं, इसलिए वे पश्चिमी सरकारों तथा कंपनियों द्वारा उन्हें दी जाने वाली रिश्वतों या लालचों के शिकंजे में तुरंत फंस गए। इसलिए आम आदमी की तकदीर में कोई खास सुधार नहीं हुआ। चूंकि इनमें से बहुत-से देशों की सीमाएं 19वीं शताब्दी में यूरोपीय उपनिवेशवादियों द्वारा अपने स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए निर्धारित की गई थीं, इसलिए वे तरह-तरह के सीमा-विवादों में फंस गए। उदाहरण के लिए, नाइजीरिया और भूतपूर्व बेल्जियन कांगो में जनजातीय भेदभाव बढ़कर शीघ्र ही गृहयुद्ध में परिणत हो गया। कुछ देशों में सरकारों ने उद्योगों के राष्ट्रीयकरण जैसे कुछ समाजवादी सुधार लागू करने का प्रयत्न किया। संयुक्त राज्य के नेतृत्व में पश्चिमी शक्तियों ने इन सरकारों पर 'साम्यवादी' होने का ठप्पा लगा दिया और इस प्रकार, अनुचित रूप से उनकी सहायता कम या बंद कर दी, जिससे वे गहरे राजनीतिक तथा आर्थिक संकट में डूब गए। ऐसा इंडोचीन, इंडोनेशिया, पूर्वी तिमोर, चाड, अंगोला, मोजांबिक, जायरे और जमैका में हुआ।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध ने सामान्यत: विश्व की आधी से भी अधिक जनसंख्या जो कि उपनिवेशवाद के जुए के नीचे कराह रही थी, के भाग्य पर हितकारी प्रभाव डाला। इसने अनेक राष्ट्रों की भौगोलिक सीमाओं को सदा के लिए बदल दिया। पुराने राष्ट्रों के ध्वंसावशेष पर नए राष्ट्रों ने जन्म लिया और कुछ स्थानों पर यह प्रक्रिया अब भी चल रही है। परवर्ती अध्याय में हम देखेंगे कि इज़राइल का जन्म (अथवा बाइबिल की परंपराओं के अनुसार उसका पुनर्जन्म) सामान्य रूप से समस्त विश्व पर और विशेष रूप से पश्चिम एशिया पर अपना क्या प्रभाव दिखाता है।

अभ्यास

1. उपनिवेशीकरण के उन्मूलन का क्या अर्थ है? द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद औपनिवेशिक साम्राज्यों का अंत होने के कारण बताइए।
2. ब्रिटिश वेस्टइंडीज, मलाया प्रायद्वीप और साइप्रस में उपनिवेशवाद के उन्मूलन की प्रक्रिया की चर्चा कीजिए।
3. अफ्रीका में ब्रिटिश उपनिवेशों की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करने वाले राष्ट्रवादी आंदोलनों के विकास की चर्चा कीजिए।
4. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फ्रांसीसी उपनिवेशों की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करने वाली उपनिवेशवाद उद्मूलन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।
5. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद डच, स्पेनिश, बेल्जियन और पुर्तगाली उपनिवेशों के विघटन का वर्णन कीजिए।
6. नव-उपनिवेशवाद का जन्म ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में किस रूप में हुआ? उपनिवेशविहीन विश्व में बड़ी-बड़ी विश्व-शक्तियों द्वारा अपनायी गई नव-उपनिवेशवाद की नीतियों की सोदाहरण चर्चा कीजिए।
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए:
   (i) दक्षिणी रोडेशिया में स्वतंत्रता आंदोलन
   (ii) अल्जीरिया में राष्ट्रवादी आंदोलन
   (iii) अंगोला में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन
   (iv) ब्रिटिश राष्ट्रमंडल

परियोजना कार्य

- उन देशों की स्वतंत्रता प्राप्ति की तारीख सहित सूची बनाइए जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वतंत्रता प्राप्त की थी।

अध्याय 9

पश्चिम एशियाई संघर्ष

मध्य-पूर्व का संकट

पश्चिम एशिया जिसे पश्चिमी परिप्रेक्ष्य से 'मध्य-पूर्व' कहा जाता है, विश्व में सर्वाधिक अशांत क्षेत्रों में से एक रहा है। 1945 के पश्चात् इस क्षेत्र में भारी हिंसा का बोलबाला रहा है, जिसने प्राय: युद्ध का रूप धारण कर लिया अथवा जो विभाजन रेखा के दोनों ओर कट्टरपंथी बलों द्वारा प्रायोजित आतंकवाद में परिणत हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने पर यूरोप में आधारित यहूदीवादी आंदोलनों (यहूदी स्वदेश स्थापित करने के लिए सक्रिय कार्यकर्ताओं) ने विश्व में एक पूर्ण यहूदी राज्य स्थापित करने के संकल्प को प्रबल बनाया। इसके पीछे मुख्य कारण जर्मनी में हुआ विध्वंस था। नाजियों तथा उनके पक्षधरों द्वारा व्यवस्थित तरीके से साठ लाख यहूदियों की हत्या कर दी गई थी। इस व्यापक नरसंहार से यहूदियों को पक्का विश्वास हो गया कि जब तक वे शरणार्थियों की तरह विदेशी धरती पर रहेंगे, उन पर शोषण और अत्याचार किए जाते रहेंगे। बाइबिल में इज़राइल से उनके निष्कासन के वृत्तांतों ने उनकी इज़राइल को फिर से यहूदी राज्य बनाने की इच्छा को बल मिला। उन मुस्लिम अरब लोगों के साथ उनके संघर्ष का यही मूल कारण था, जिन्होंने पिछली-सहस्राब्दी में फिलिस्तीन को अपना घर बना लिया था। अब अमेरिकी सहायता के साथ यहूदियों के वापस आने पर, अरब लोगों ने स्वयं को अपने ही देश में शरणार्थी पाया। संक्षेप में, 'मध्य-पूर्व के संकट' का यही मूल कारण था, जिस पर हम इस अध्याय में विचार करेंगे।

अरब-इज़राइली संघर्षों के उद्गम

ऐसा माना जाता है कि लगभग 2,000 वर्ष पूर्व, हजारों की संख्या में यहूदियों को फिलिस्तीन से बाहर निकाल दिया गया था। अगली कई शताब्दियों तक यहूदियों को यूरोपीय देशों में अत्याचारों, हिंसा तथा सामूहिक हत्याकांडों के रूप में कष्ट झेलने पड़े। 1897 में कुछ अमीर यहूदियों ने विश्व यहूदी

संगठन की स्थापना की जिसका मुख्यालय स्विट्जरलैंड के शहर बैसल में था। उन्होंने अपने लोगों में इस चेतना का प्रसार किया कि यहूदियों को अपनी मूल मातृभूमि अवश्य वापस मिलनी चाहिए। उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए यूरोपीय शक्तियों, विशेषकर ब्रिटेन के साथ बातचीत शुरू की क्योंकि उस समय फिलिस्तीन क्षेत्र पर ब्रिटेन का नियंत्रण था।

1917 में, ब्रिटेन के विदेश मंत्री आर्थर बैलफोर ने घोषणा की थी कि उनकी सरकार फिलिस्तीन में यहूदी राष्ट्रीय स्वदेश स्थापित किए जाने के विचार का समर्थन करती है। इस प्रकार 1919 में, फिलिस्तीन एक ब्रिटिश अधिदेशाधीन देश बन गया और यहूदियों ने इस क्षेत्र में लौटना आरंभ कर दिया। इससे अरबों में निराशा हुई। उन्हें शांत करने के लिए अंग्रेजों ने उन्हें
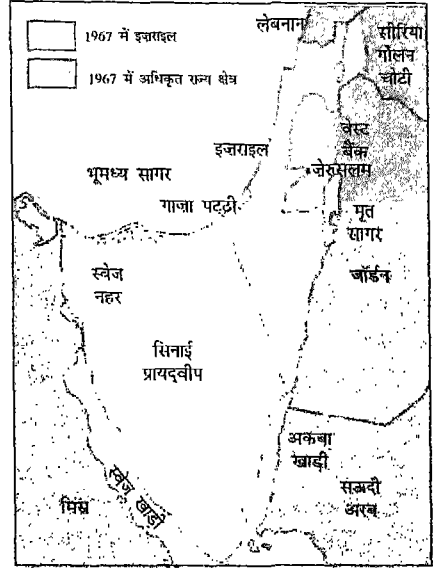
1967 का युद्ध
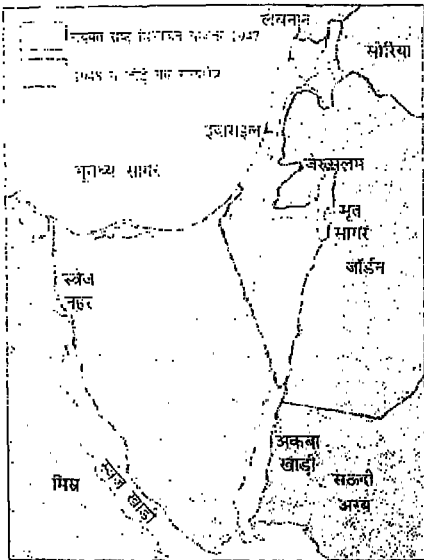
1948 का युद्ध
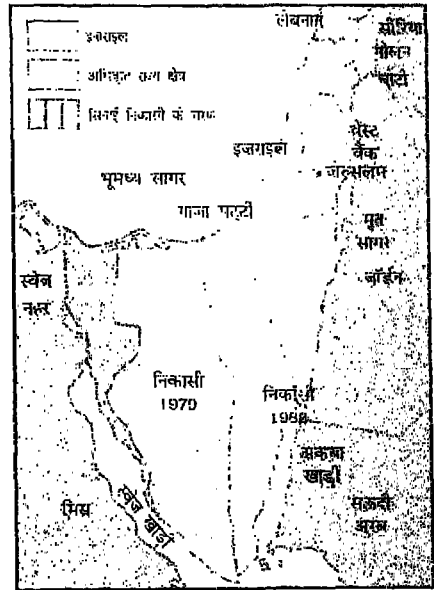
सिनाई से इज़राइल की वापसी

आश्वासन दिया कि यहूदियों को पूरा फिलिस्तीन नहीं दिया जाएगा। अंग्रेजों ने यह सोचा था कि वे यहूदियों और अरब लोगों को फिलिस्तीन में पड़ोसियों के रूप में शांतिपूर्वक रहने के लिए राजी करने में सफल हो जाएंगे।

परंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात यथा-पूर्व स्थिति उस समय भंग हो गई जब यहूदियों ने कहा कि यूरोप में दूसरे दर्जे के नागरिकों के रूप में वे लंबे समय तक रह चुके हैं, अब और नहीं रहा जा सकता। ब्रिटेन को 100,000 यहूदी फिलिस्तीन भेजने के लिए अमेरिका के दबाव को भी सहना पड़ा। परंतु अरब भावना को ठेस पहुंचाने में हिचकिचाहट के कारण ब्रिटेन ने इससे इनकार कर दिया। इसलिए यहूदियों ने आतंकवादी अभियान चलाया जो अंग्रेजों तथा अरबों दोनों के विरुद्ध था। ब्रिटेन ने इसका प्रत्युत्तर फिलिस्तीन में प्रवेश चाहने वाले झुंडों के झुंड भेजने के यहूदीवादियों के प्रयासों के विरुद्ध कड़ी सतर्कता बरत कर दिया। 'एक्सोडस' नाम के जहाज ने जो यूरोपीय यहूदियों से भरा था और जिसमें बंदी शिविरों से बच कर आए यहूदी शामिल थे इस अवधि में एक अत्यधिक प्रसिद्ध प्रयास किया।

ज्यादा विलंब न करके, ब्रिटेन ने संयुक्त राष्ट्र से हस्तक्षेप की मांग की। नवंबर 1947 में, संयुक्त राष्ट्र ने फिलिस्तीन के विभाजन के पक्ष में मतदान किया। नया इज़राइली राज्य बनाने के लिए आधा क्षेत्र यहूदियों को दे दिया गया। उसके शीघ्र बाद अंग्रेज फिलिस्तीन छोड़ कर चले गए। जैसे ही ब्रिटिश सेनाएं वहां से हटीं, मिस्र, सीरिया, जॉर्डन इराक और लेबनान ने मिल कर नए इज़राइल राज्य पर आक्रमण कर दिया।

प्रथम अरब-इज़राइली युद्ध का परिणाम

नए इजराइल राज्य के संबंध में विश्व ने उसकी पहली विशेषता उसके खूंखारपन और क्रोधोन्मतता में देखी, जिसके बल पर इसके लोगों ने चारों दिशाओं के सम्मिलित आक्रमण से अपना बचाव किया। यह उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न था। यही एक अकेला पहलू है जो तब से लेकर इज़राइल के युद्ध करने के स्वरूप को दूसरों से अलग करता है।

पहले अरब-इज़राइली युद्ध में हर कोई यह उम्मीद करता था कि नया राज्य आसानी से हार जाएगा। किंतु इसके विपरीत इज़राइलियों ने आक्रमणकारियों से न केवल अपनी रक्षा की, अपितु फिलिस्तीन के तीन-चौथाई क्षेत्र तथा लाल सागर में मिस्र के बंदरगाह ईलात पर कब्जा कर लिया। लगभग 10 लाख अरब फिलिस्तीनी मिस्र, लेबनान, जॉर्डन तथा सीरिया की तरफ भाग गए और वहां उन्हें शरणार्थी शिविरों में ठहराया गया। जॉर्डन ने जेरुसलम के एक हिस्से पर कब्जा कर लिया। अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने इज़राइल की सीमाओं के बारे में आश्वासन दिया, किंतु अरबों ने इज़राइल के कानूनी दर्जे को मानने से इनकार कर दिया। वे इसे फिलिस्तीन को आजाद कराने और इज़राइल को नष्ट करने के बड़े संघर्ष की केवल पहली लड़ाई मानते थे। तब से इज़राइली लोग युद्ध के लिए सदा तैयार रहे हैं।

स्वेज संकट, 1956

मिस्र के राष्ट्रपति गमाल अब्दुल नासिर अरब एकता स्थापित करने के काम में जुट गए। उन्हें अहसास हो गया कि यदि अरब राज्य एक-दूसरे

के साथ लड़ते रहेंगे तो इज़राइल फलता-फूलता रहेगा। इसलिए नासिर ने अरबों में एकता लाने का प्रयास किया। गुप्त फिदायीन (Fidayeen-आत्मघाती) दस्ते गठित किए गए जिन्होंने इज़राइल के काफी भीतर सार्वजनिक स्थानों पर विस्फोट किए। नासिर को यह भी पता था कि पश्चिमी सहायता इज़राइल को संभालने में सहायक है अत: उसने ब्रिटेन तथा फ्रांस के विरुद्ध आक्रामक नीतियां अपनाईं। जब ब्रिटेन को स्वेज नहर पर सेनाएं रखने की अनुमति देने वाली, 1936 में हस्ताक्षरित संधि की अवधि 1956 में समाप्त हो गई और उसे नवीकरण के लिए प्रस्तुत किया गया तो नासिर ने इसे मंजूर नहीं किया और अंग्रेजों को वहां से चले जाने के लिए कहा। उसने दूसरे अरब राज्यों को भी पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध भड़काया। इसी समय एक और आकस्मिक घटना घटी, वह यह थी कि उसने लड़ाकू बमवर्षक विमान तथा टैंक खरीदने के लिए सितंबर 1955 में सोवियत संघ के साथ एक समझौता कर लिया। इस क्षेत्र में रूसियों के प्रवेश की संभावनाओं को लेकर अमेरिका को गहरी चिंता हुई। जब राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने असवान में बांध के निर्माण के लिए अमेरिकी सहायता रोक दी तब नासिर ने बदले की कार्रवाई के तौर पर स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया।

पश्चिमी शक्तियों को अब यह विश्वास हो गया कि उनका तेल का मुख्य स्रोत काटने के लिए यह साम्यवादियों का षड्यंत्र है। उन्होंने मीडिया के माध्यम से नासिर और हिटलर की समानता का प्रचार किया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को दूसरे विश्वयुद्ध से पहले अपनायी गई तुष्टीकरण नीति की याद आ रही थी जो सदैव अलाभकारी सिद्ध होती है। इसलिए मिस्र के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की योजनाएं पक्की कर ली गईं।

29 अक्तूबर 1956 को, इज़राइली सेनाओं ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया और एक सप्ताह के भीतर पूरे सिनाई प्रायद्वीप पर कब्जा कर लिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र के हवाई अड्डों पर बमबारी की किंतु दुनिया की राय इन तीनों देशों के विरुद्ध गई। अमेरिका ने शुरू में तो इस योजना का समर्थन किया, किंतु बाद में वह पीछे हट गया और संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में उसने सोवियत संघ के साथ मिलकर युद्ध रोकने की मांग की। इसके परिणामस्वरूप इज़राइलियों को पीछे हटना पड़ा और संयुक्त राष्ट्र के शांति-स्थापक दस्ते इज़राइल और मिस्र की सीमाओं पर नियंत्रण रखने के लिए जा पहुंचे।

ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा 20वीं शताब्दी में झेला गया यह सबसे बड़ा अपमान था। ब्रिटेन का विश्वशक्ति के रूप में अंत हो गया और इसका अपयश भी फैला। इसके बाद इसकी विदेश नीति पर अधिकतर अमेरिका का नियंत्रण रहा। दूसरी ओर नासिर अरब राष्ट्रवाद के नायक के रूप में उभर कर सामने आया। सोवियत संघ इसका मित्र देश बन गया और दोनों ने मिलकर एक भयावह मैत्री-संबंध स्थापित किया। इन घटनाओं ने धीरे-धीरे 1967 में एक युद्ध का स्वरूप ले लिया।

छह-दिवसीय युद्ध, 1967

इज़राइल तथा इसके पड़ोसी अरब देशों के बीच इस तीसरे युद्ध के अनेक कारण थे। 1963 से सत्तारूढ़ इराक की बाथ पार्टी ने अरब स्वतंत्रता तथा एकता का समर्थन किया। यह अपने विचारों से साम्यवाद की समर्थक थी और मिस्र के साथ सहयोग करने

के लिए तैयार थी। 1966 में सीरिया में भी बाथ पार्टी सत्ता में आ गई। इसने इज़राइल में फिदायीन की हरकतों का समर्थन किया। इस बीच नासिर ने सोवियत संघ के सहयोग से मिस्र को एक आधुनिक राज्य के रूप में विकसित कर लिया था। इसलिए 1967 तक उसे इज़राइल पर एक और आक्रमण करने पर सफलता का विश्वास हो गया।

इस बार इज़राइल की स्थिति निराशाजनक दिखाई पड़ रही थी क्योंकि जून 1967 तक पश्चिम एशिया की सभी सेनाएं इसके सामने खड़ी हो चुकी थीं- मिस्र, सीरिया, जॉर्डन, लेबनान, इराक, सऊदी अरब तथा अल्जीरिया। इजराइलियों ने निर्णय किया कि आक्रामकता ही बचाव करने का सबसे अच्छा तरीका है। इसलिए 5 जून को इसकी वायु सेना ने अचानक आक्रमण कर दिया और मिस्र की सारी वायु सेना को जमीन पर ही नष्ट कर दिया। इसी के साथ-साथ, इज़राइली सेना तेजी से आगे बढ़ी और मिस्र के गाजा पट्टी और सिनाई प्रायद्वीप पर कब्जा कर लिया। एक अन्य मोर्चे पर, इसने जॉर्डन से वेस्ट बैंक और सीरिया से गोलन हाइट्स छीन लिया। संयुक्त राष्ट्र ने एक संकल्प पारित किया जिसमें शीघ्र युद्ध बंद करने के लिए कहा गया, जिसे अरबों ने 10 जून को स्वीकार कर लिया। इसके परिणामस्वरूप इज़राइली आगे बढ़ने से रुक गए, किंतु उन्होंने अपने कब्जे वाले क्षेत्रों को वापस करने से संबंधित संयुक्त राष्ट्र के आदेश की ओर कोई ध्यान नहीं दिया क्योंकि उन्हें एहसास हो गया था कि भविष्य में ये भू-क्षेत्र उनके और अरबों के बीच अंत:स्थ क्षेत्रों के रूप में कार्य करेंगे।

नासिर के लिए यह एक बहुत बड़ी असफलता थी। चाहे उसके अरब मित्र राष्ट्रों के पास नवीनतम शस्त्रों से सज्जित बड़ी-बड़ी सेनाएं क्यों न हों, किंतु युद्ध के समय में वे बेकार सिद्ध हुईं। रूसियों ने मदद करने का वचन दिया था किंतु जब उनकी जरूरत पड़ी तो वे दूर ही रहे। परंतु युद्ध के पश्चात् उन्होंने अपने वे प्रयास पुनः आरंभ किए जिनसे अरब राष्ट्र उन्हीं से हथियार खरीदें। धीरे-धीरे अरबों की बदला लेने की इच्छा पुनः जागृत हुई और उन्होंने इज़राइल पर पुनः आक्रमण कर दिया।

योम किप्पूर युद्ध, 1973

1967 और 1973 के बीच की अवधि में, इस क्षेत्र में आतंकवाद एक शक्तिशाली बल के रूप में उभरा। फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन (Palestinian Liberation Organisation-PLO) ने यासर अराफात के नेतृत्व में, इज़राइल पर आक्रमण करने के लिए अरब राज्यों पर लगातार दबाव डाला। परंतु 1967 के अनुभव के पश्चात उनमें उतना उत्साह नहीं था। शीघ्र ही फिलिस्तीन मुक्ति जन-मोर्चा (Popular Front for the Liberation of Palestine) नामक पी.एल.ओ. के एक गुट ने विमानों का अपहरण कर लिया। इससे जॉर्डन का शाह हुसैन परेशान हो गया और उसने अपने देश में बसे पी.एल.ओ. के नेताओं को निष्कासित कर दिया। आतंकवाद ऐसे स्तरों तक पहुंच गया कि आतंकवादियों ने 1972 के म्यूनिख ओलंपिक खेलों में भाग ले रहे इज़राइली खिलाड़ियों को भी नहीं बख्शा।

1970 में नासिर की मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी अनवर सादात युद्ध के लिए ज्यादा उत्सुक नहीं था। वह इज़राइल के साथ शांति समझौते के पक्ष में था ताकि फिलिस्तीनी मसले का स्थायी रूप से हल हो सके। यहां तक कि

कैम्प डेविड में अनवर सादात, जिम्मी कार्टर, मेनाकेम बेगिन

उसने अमेरिका में राजनयिक मिशन भी भेजे जिसमें इज़राइल से वार्तालाप की प्रक्रिया आरंभ करने के लिए अमेरिका से इज़राइल पर अपने प्रभाव का प्रयोग करने के लिए कहा गया। जब निक्सन प्रशासन ने इसमें उलझने से इनकार कर दिया, तो सादात, इज़राइल पर एक और आक्रमण की योजना बनाने में शामिल हो गया। इसमें उसकी यह चाल थी कि अमेरिका इसमें मध्यस्थता करने के लिए शीघ्र पहुंचेगा। इसके अतिरिक्त उसे यह भी विश्वास था कि मिस्र की सेना इस बार कहीं अच्छा प्रदर्शन करेगी क्योंकि उसे अभी-अभी सोवियत संघ से नए शस्त्र प्राप्त हुए थे।

इसलिए 6 अक्तूबर 1973 को जब यहूदी लोग एक धार्मिक त्योहार, योम किप्पूर के अवसर पर दावत का मजा ले रहे थे तो मिस्र और सीरिया ने अचानक इज़राइल पर आक्रमण कर दिया। परंतु अरबों को एक बार फिर मार खानी पड़ी। इजराइलियों ने जवाबी हमला किया। वे अपने कब्जे वाले क्षेत्र अपने पास रखने में ही सफल नहीं हुए, अपितु स्वेज नहर को भी पार कर गए। एक बार फिर रूसियों ने अरबों की ओर से मध्यस्थ बनने से इनकार कर दिया। किंतु अमेरिकियों ने ठीक वैसा ही किया जिसकी नासिर को उम्मीद थी— उन्होंने युद्ध विराम लागू कराने में सक्रिय भूमिका निभायी। जेनेवा वार्ता में इज़राइलियों ने स्वेज नहर से अपनी सेनाएं पीछे हटाना स्वीकार कर लिया। अरब राज्य, इज़राइल के लिए पश्चिमी सहायता को देख कर इतने भड़क उठे कि उन्होंने पश्चिमी देशों को तेल की आपूर्ति प्रतिबंधित करने का निर्णय ले लिया। पेट्रोलियम निर्यातक देशों के संगठन (Organisation

of Petroleum Exporting Countries - OPEC) ने तेल की कीमतें बढ़ाना शुरू कर दिया, जिसके कारण विश्व भर में मुद्रास्फीति आई और ऊर्जा संकट उत्पन्न हो गया।

मिस्र-इज़राइली शांति

राष्ट्रपति सादात को पूरा विश्वास हो गया कि इज़राइल को युद्ध में पूरी तरह से नहीं हराया जा सकता किंतु वार्तालाप प्रक्रिया आरंभ करने का अर्थ इज़राइल का अस्तित्व स्वीकार करना था यह एक ऐसा कृत्य था जो अरब जगत में मिस्र को प्रभावी तौर पर अलग-थलग कर देता। परंतु एक समझदार राजनयिक के रूप में अनवर सादात ने यह निर्णय लिया कि पी.एल.ओ. के दिशा-निर्देशों पर चलना उसके देश के हित में नहीं है। उसने नवंबर 1977 में इज़राइल की यात्रा करके एक ऐतिहासिक कदम उठाया। इज़राइल के प्रधानमंत्री मेनाकेम बेगिन ने अगले मास मिस्र की जवाबी यात्रा की। इजराइली उस समय आर्थिक कठिनाइयां झेल रहे थे और बेगिन को इस बात का एहसास था कि उनका देश अनिश्चित काल के लिए युद्ध सतर्कता की स्थिति में नहीं रह सकता। अमेरिका के राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने इन शांति स्थापना की आवश्यकताओं को स्वीकारा और शांति वार्ता में मध्यस्थता की और यह वार्ता सितंबर 1978 में वाशिंगटन डी.सी. के निकट कैम्प डेविड में हुई।

मार्च 1979 में शांति संधि पर हस्ताक्षर किए गए, जिसके द्वारा इज़राइल और मिस्र के बीच 1948 से चली आ रही युद्ध स्थिति समाप्त हो गई। इज़राइल ने सिनाई से अपनी सेनाएं हटाने का वचन दिया। इसके बदले मिस्र ने वचन दिया कि वह इज़राइल पर फिर आक्रमण नहीं करेगा और यह भी कि वह उसे दक्षिणी सिनाई के तेल कूपों से तेल की आपूर्ति करता रहेगा। इज़राइल को स्वेज नहर इस्तेमाल करने का अधिकार भी मिल गया।

इस शांति संधि के लिए सादात और बेगिन को अंतर्राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हुए। किंतु पी.एल.ओ. तथा लगभग पूरे अरब जगत ने (मोरक्को और सूडान को छोड़कर) इस करार के लिए मिस्र की भर्त्सना की। इज़राइल ने यह स्पष्ट करते हुए अपना कड़ा रुख दिखाया कि वह सीरिया को गोलन हाईट्स का क्षेत्र कभी वापस नहीं करेगा चाहे उसके साथ एक अलग संधि करार पर ही हस्ताक्षर क्यों न किए जाएं। उसने यह बात भी जोर देकर कही कि वेस्ट बैंक इलाका अरब फिलिस्तीनियों को नहीं दिया जाएगा। इसे उन्होंने इज़राइल के सुरक्षा हितों की दृष्टि से न्यायोचित ठहराया।

मध्य-पूर्व शांति प्रक्रिया की शुरूआत

अक्टूबर 1981 में अपनी सेना का निरीक्षण करते हुए सादात को उग्रवादी तत्वों ने मार डाला। वे अरब के मसले में सादात के धोखा देने से नाराज़ थे। परंतु सादात के उत्तराधिकारी होस्नी मुबारक ने इसका स्पष्टीकरण कर दिया कि वे कैम्प डेविड समझौते को रद्द नहीं करेंगे। किंतु इस दौरान, बेगिन ने यहूदियों को वेस्ट बैंक के अधिकृत क्षेत्र में पुनर्वसित करना प्रारंभ कर दिया। 1987 के पश्चात् फिलिस्तीनी असंतोष के इज़राइलियों द्वारा दमन के टी.वी. पर अत्यधिक प्रसारण के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय आलोचना हुई।

1992 में, प्रधानमंत्री यित्ज़ाक राबिन एवं विदेश मंत्री शिमोन पेरेस ने अंतर्राष्ट्रीय अपील की प्रक्रिया के अनुसार पी.एल.ओ. से वार्ता प्रारंभ की। अब

तक अराफात भी संघर्ष से थक चुके थे। 1994 में ओस्लो में दोनों पक्षों ने शांति समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसमें इज़राइल ने पहली बार पी.एल.ओ. को औपचारिक रूप से स्वीकृति दी और पी.एल.ओ. ने इज़राइल के अस्तित्व को मानते हुए आतंकवाद को त्यागने का निश्चय किया। इसने एक ऐसी रूपरेखा तैयार की जिसके अंतर्गत इज़राइल ने शांति के बदले जमीन देने का निश्चय किया। अपने द्वारा अधिकृत वेस्ट बैंक एवं गाज़ा पट्टी से अंततः वापसी के लिए समझौता किया-जो चुनाव के बाद बनने वाले फिलिस्तीनी अथौरिटी नामक एक अंतरिम विकास के पक्ष में था। फिलिस्तीनी अथौरिटी ने आतंकवाद को शिकंजे में कसते हुए इज़राइल को सुरक्षा का आश्वासन दिया। अगले पांच वर्षों तक 'शांति के बदले जमीन' का हस्तांतरण पारस्परिक विश्वास के लिए अपेक्षित था। साथ ही दोनों पक्षों को उन 'अंतिम मुद्दों' की दिशा में भी समझौते करने थे जिनके बारे में ओस्लो में भी कोई हल नहीं निकाला जा सकता था। ये अंतिम मुद्दे थेः फिलिस्तीनी राज्य की घोषणा, जेरुसलम की स्थिति, इज़राइल द्वारा अधिकृत क्षेत्रों में यहूदी बस्ती का भविष्य, लेबनान, जॉर्डन और अन्य अरब देशों में फिलिस्तीनी शरणार्थियों का वापस आना। फिलिस्तीनियों को वेस्ट बैंक और गाज़ा पट्टी के भागों में सीमित स्वशासन दिया गया। ये क्षेत्र 1967 से ही इज़राइल के कब्जे में थे। पांच वर्षों की अवधि के बाद, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के संकल्पों नं. 242 और 338 के आधार पर एक समझौता होना था जिसके अनुसार 1967 में अधीनस्थ किए गए क्षेत्रों से इज़राइल सेना को पूर्णतया वापस होना था। इसके बदले अराफात ने इज़राइल के विरुद्ध हिंसा को समाप्त करने का आश्वासन दिया। पुनः अतिवादी वर्गों की प्रतिक्रिया नकारात्मक रही जबकि लोकमत अभी भी पूर्ण स्वतंत्रता की मांग कर रहा था। जब वेस्ट बैंक के निवासियों ने उस क्षेत्र को खाली करने से इनकार कर दिया उस समय इज़राइल को भारी आंतरिक समस्या का सामना करना पड़ा।

सितंबर 1995 में, इज़राइल ने वेस्ट बैंक के अधिकांश क्षेत्रों से अपनी सेनाओं की वापसी की स्वीकृति दे दी। इससे अरब निवासियों को 88 सदस्यों वाली फिलिस्तीनी संसद के लिए मतदान का अधिकार दिया जाना था। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने इस कदम का स्वागत किया लेकिन प्रधानमंत्री यित्ज़ाक राबिन की अपने पूर्ववर्ती सादात की तरह एक यहूदी रूढ़िवादी यीगल अमीर द्वारा हत्या कर दी गई। इस घटना से लोकमत को उन सुधारवादियों के विरुद्ध कर दिया जो युद्ध की स्थिति को वापस लाना चाहते थे।

हमास और हिज़बुल्लाह जैसे आतंकवादी समुदायों के द्वारा शांति प्रक्रिया बाधित होती रही। ईरान और सऊदी अरब द्वारा प्रायोजित ये संगठन नियमित रूप से इज़राइल में आतंकवादी हमले करते रहे। लेकिन यह शांति प्रक्रिया जारी रही और वस्तुतः प्रधानमंत्री एहुद बराक के शासन में इसे नई प्रेरणा मिली। सन 2000 में, कैम्प डेविड में हुई दूसरी शांति वार्ता अंतिम समझौते के निकट पहुंच गई, किंतु जेरुसलम के भावी दर्जे को लेकर विफल हो गई। इज़राइल इस बात पर अड़ा रहा कि जेरुसलम यहूदियों की शाश्वत राजधानी है और इसलिए यह किसी और को नहीं सौंपा जा सकता। उतने ही जोश-खरोश के साथ फिलिस्तीनियों ने भी दावा किया कि जेरुसलम के पूर्वी आधे भाग में, जहां अल-अक्सा

मस्जिद और चट्टानी गुंबद (Dome of the Rock) जैसे पवित्र इस्लामी स्थल स्थित हैं, वह उनकी राजधानी होनी चाहिए।

भावनाएं अचानक फिर भड़क उठीं। बाद में, इज़राइल के विरोधी दल के नेता एरिएल शरोन ने पवित्र मुस्लिम मकबरे हरम अल-शरीफ की यात्रा की। वहां पर उसने एक भाषण दिया जिसके परिणामस्वरूप भारी प्रदर्शन हुए और हिंसा भड़क उठी। कुछ ही दिनों में, अनेक लोग बंदूकों से लड़ी गई लड़ाइयों में मारे गए। दोनों पक्षों ने फिर आक्रामक रवैया अपना लिया। सन 2001 के अंत तक 1,000 से अधिक लोग झड़पों में मारे जा चुके थे, जिसमें फिलिस्तीनी लोग अधिक थे। अमेरिकी सरकार और पड़ोसी देशों की सरकार ने अनेक स्तरों पर राजनयिक प्रयास किए। मार्च 2002 में, इज़राइल ने प्रतिरक्षा कवच (Operation Defensive Shield) नामक कार्रवाई आरंभ की जिसका उद्देश्य-फिलिस्तीनी क्षेत्रों में 'आतंकवादी ढांचे' को खत्म करना था और इज़रायली सेना ने अराफात को रामल्लाह नगर में उसके मुख्यालय के तहखाने में बंद रहने के लिए मजबूर कर दिया। छः सप्ताह बाद इज़राइली अंतर्राष्ट्रीय दबाव के सामने झुक गए, किंतु एक मास के भीतर ही उन्होंने युद्ध प्रारंभ कर दिए। मध्य जून, 2002 में क्रमिक आत्मघाती बम विस्फोटों के परिणामस्वरूप इज़राइल ने 'आतंक के कातिलाना कृत्यों से निपटने के लिए' अपने तरीके में परिवर्तन की घोषणा की। कुछ ही दिनों में आठ प्रमुख फिलिस्तीनी नगरों में से सात पर कब्ज़ा कर लिया गया और उनके नागरिकों को कर्फ्यू में रखा गया।

जून 2002 में, अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज डब्ल्यू. बुश ने संघर्ष के 'ओस्लो-पश्चात संकल्प' (Post-Oslo Resolution) के लिए एक रूपरेखा तैयार की। अमेरिका, यूरोपीय संघ, रूस तथा संयुक्त राष्ट्र को लेकर गठित किए गए एक चतुबिंदु (Quartet) ने शांति प्रक्रिया की ओर बढ़ने के लिए एक मार्ग-चित्र तैयार करने का कार्य किया और इसने इज़राइल तथा फिलिस्तीन, दो अलग-अलग राज्य बनाने का समर्थन किया। यह दस्तावेज कभी भी प्रकाशित नहीं हुआ और इसलिए इसके ब्योरों की जानकारी नहीं है। इसने कब्ज़ा समाप्त किए जाने तथा इज़राइल से इसे एक स्वतंत्र, लोकतांत्रिक फिलिस्तीनी राज्य मनवाने का समर्थन किया। दस्तावेज़ के सात पृष्ठ थे, जिसमें आपसी दायित्वों का वर्णन था। किंतु इज़राइली दृष्टिकोण से यह दस्तावेज दोषपूर्ण था क्योंकि 'मार्ग-चित्र' में स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया गया था कि फिलिस्तीनियों तथा उनके अरब-समर्थकों को हिंसा का परित्याग अवश्य करना होगा।

तेल और भू-राजनीति

पश्चिम एशिया के पास विश्व के सबसे बड़े पेट्रोलियम भंडार हैं। 1930 के दशक में जब पूर्वी अरब में जमीन के भीतर अप्रत्याशित रूप से बहुमूल्य पेट्रोलियम के भंडार पाए गए तो विश्व की राजनीति के स्वरूप ने एक नयी दिशा ली। अंग्रेज और अमेरिकी लोग तुरंत सऊदी अरब पहुंचे और तत्कालीन शाह अब्दल-अजीज इब्न साऊद के साथ समझौते किए, जिसने 1906 से 1953 तक शासन किया था तथा सऊदी अरब राज्य बनाने के लिए हेजाज और नज्द में एकता स्थापित की थी। तेल के बारे में विश्व शक्तियों के समझौते करने से प्राप्त होने वाले सामूहिक लाभों को महसूस करते हुए शाह ने टेक्सैको तथा स्टैंडर्ड ऑयल कम्पनी ऑफ कैलिफोर्निया,

अमेरिका के संयुक्त स्वामित्व वाली अरब-अमेरिकी तेल कम्पनी (Aramco) को सुविधाएं प्रदान कीं। अरैम्को को प्रदान की गई रायल्टियों ने सऊदी अरब के द्रुत विकास के लिए पर्याप्त धनराशि उपलब्ध कराईं।

सऊदी अरब की सरकार 18वीं शताब्दी के मॉडल के समान है - पूर्ण राजतंत्र (monarchy), जिसमें सारी शक्तियां शाह (राजा) और उसके कुछ शहजादों के पास रहती हैं। यद्यपि महिलाएं शिक्षित हैं किंतु उन्हें अपने पिता या पति के बगैर विदेश यात्रा करने की इजाजत नहीं दी जाती। समाज पूर्णतया इस्लामी है और शरियत का कानून सर्वोपरि है। आज भी अपराधी ठहराए गए पुरुषों के सरेआम सिर कलम कर दिए जाते हैं और अनैतिक सिद्ध हुई महिलाओं को गलियों में पत्थर मार-मार कर खत्म कर दिया जाता है। किंतु लोगों को सरकार की ताकत पर सवाल उठाने का अधिकार नहीं है और मताधिकार देने की बात तो बहुत दूर है। लेकिन उन्हें इतनी अधिक सामाजिक सुरक्षा प्राप्त है जो विश्व भर में कहीं भी नहीं देखी जा सकती। संक्षेप में, सऊदी अरब में प्रत्येक वस्तु का आधार तेल है। तेल से प्राप्त इसकी धन-दौलत इस्लामी जगत पर नियंत्रण कायम रखने में इसकी सहायता करती है। यह एक राजनीतिक हथियार है और आर्थिक उपहार भी, इसकी विदेश नीति इज़राइल विरोधी है, किंतु शीत युद्ध काल में अमेरिका ने इसका समर्थन किया क्योंकि यह भी एकदम साम्यवाद विरोधी था।

पेट्रोलियम निर्यातक देशों का संगठन (OPEC)

द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर, क्षेत्रीय व्यवस्थाएं तथा संगठन चमत्कारिक ढंग से विकसित हुए हैं। क्षेत्रवाद भू-राजनीतिक आधार पर राज्यों तथा क्षेत्रों को संयुक्त रूप से प्रेरित करने की संकल्पना है। हाल के अनुभवों ने दर्शाया है कि संगठनात्मक कार्रवाई में विश्वव्यापी व्यवस्थाओं की तुलना में क्षेत्रीय व्यवस्थाएं अधिक प्रभावी रहती हैं।

तेल के आरक्षित भंडारों का वितरण और उत्पादन आम तौर पर विश्व में एकसमान नहीं है। कुल भंडारों में से लगभग 66 प्रतिशत भंडार फारस की खाड़ी के आस-पास स्थित हैं। मुख्य उत्पादक कुवैत, सऊदी अरब, ईरान, इराक और संयुक्त अरब अमीरात (UAE) हैं। ये देश मिल कर पेट्रोलियम का 75 प्रतिशत निर्यात करते हैं। लंबी अवधि तक अंतर्राष्ट्रीय तेल कंपनियों के साथ चले संघर्षों और मध्य-पूर्व के कच्चे तेल की कीमत कम करने के उनके निर्णय के परिणामस्वरूप, 1962 में 'ओपेक' का गठन करने के लिए बगदाद में घोषणा हुई। इराक, कुवैत, सऊदी अरब, ईरान और वेनेजुएला ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर किए क्योंकि विश्व का 80 प्रतिशत तेल व्यापार उनके हाथ में था। इस निकाय के सदस्यों की संख्या अब काफी बढ़ चुकी है। इस प्रकार, स्वार्थी उद्देश्य तथा लाभ के लिए अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों द्वारा की जाने वाली हेरा-फेरी और इस प्रकार की अन्य युक्तियां 'ओपेक' की एकता के कारण बंद हो गईं। 'ओपेक' का गठन विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था के लिए एक ऐतिहासिक घटना है, बावजूद इसके कि 1992 में इक्वाडोर तथा ईरान ने इस संगठन में से अपना नाम वापस ले लिया।

'ओपेक' उत्पादक-संघ का निर्माण बहुत हद तक एक सऊदी प्रस्ताव था। 1973-74 में सऊदी अरब के लोग इज़राइल की ओर पश्चिमी रवैयों से इतने क्रोधित हो गए कि शाह फैज़ल ने अपने तेल

मंत्री शेख अहमद ज़की यामनी के परामर्श से तेल व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिया जिससे विश्व भर के लोग चकित रह गए। अमेरिका लगभग अपने 20 प्रतिशत तेल-आयात के लिए सऊदी अरब पर निर्भर करता है। सऊदी सरकार द्वारा प्राप्त की गई तेल रायल्टियों का अमेरिका में बैंकों, शेयरों तथा बंध-पत्रों (बांडों) में निवेश किया जाता है।

पश्चिम एशिया का एक और तेल संपन्न देश ईरान (भूतपूर्व फारस) है जो, सऊदी अरब के पूर्व में स्थित उसका पड़ोसी देश है। इसके विशाल तेल भंडारों ने अंग्रेजों को अपनी ओर आकर्षित किया जो कि साम्राज्यवादी रूसियों के पतन के बाद रिक्त हुए स्थान को भरना चाहते थे। ब्रिटिश विदेश सचिव लार्ड कर्जन (जो पहले भारत का वायसराय था) ने ईरान के शाह से अंग्रेजों को फारस (ईरान) पर राजनीतिक और सैनिक नियंत्रण दिलवाया ताकि इसे हिंदुस्तान (जिसकी पश्चिमी सीमा उस समय फारस को छूती थी) और बोल्शेविक रूस के बीच मध्यवर्ती राज्य के रूप में प्रयोग किया जा सके। इस प्रक्रिया में ब्रिटेन को तेल के पूर्वेक्षण तथा खोज के संबंध में अनेक लाभप्रद सुविधाएं भी प्राप्त हो गईं। 1932 में पूर्ण शक्तिशाली ऐंग्लो-पर्शियन तेल कंपनी द्वारा धारित ये सभी अधिकार पूर्व शाह के युद्ध मंत्री रज़ा ख़ाँ द्वारा रद्द कर दिए गए, जो 1925 में स्वयं ईरान (आर्य भूमि) का शाह बन गया। अंग्रेजों को, कंपनी के उचित लाभ, ईरान सरकार को अदा करने के लिए बाध्य किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उन्हें नए शाह को अपदस्थ करने का बहाना मिल गया। उसके बेटे मुहम्मद रज़ा पहलवी को शाह बना दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, ईरान पर अंग्रेज़ों, रूसियों तथा अमेरिकियों का कब्जा था।

1951 में, एक नया संघर्ष छिड़ गया जब ईरानी संसद ने देश की कमजोर आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए पेट्रोलियम उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने का प्राधिकार सरकार को दे दिया। इससे अमेरिकी और अंग्रेज क्रोधित हो गए, जो किसी भी अल्प-विकसित या अर्ध-उपनिवेशी देश द्वारा आर्थिक स्वतंत्रता के अधिकार के पक्ष में नहीं थे। अमेरिकी सरकार ने ईरान को सहायता देना बंद कर दिया और ब्रिटेन को बहिष्कार लागू करने के लिए राजी कर लिया, जिसके परिणामस्वरूप ईरान को ऑयल टैंकर देने से इनकार कर दिया गया जिनके द्वारा वह अपने बाजारों में तेल भेज सकता था। इसके परिणामस्वरूप, ईरानी एक के बाद एक अपनी रिफाइनरियां बंद करने के लिए मजबूर हो गए और देश दिवालिएपन के कगार पर आ पहुंचा। 1953 में, अमेरिकी गुप्तचर एजेंसी 'सी.आई.ए.' ने एक तख्तापलट की कार्रवाई प्रायोजित की जिसके कारण शाह ने तानाशाही शक्तियां प्राप्त कर लीं। रज़ा पहलवी को कठपुतली बना लिया गया और उसे एक संधि द्वारा ईरान का 40 प्रतिशत तेल उद्योग पांच अमेरिकी कंपनियों को सौंपने के लिए बाध्य किया गया।

इस्लामी देशों का संगठन

सितंबर 1969 में, रबात में मुस्लिम राज्याध्यक्षों की एक शिखर वार्ता हुई जिसके पश्चात मार्च 1970 में जेद्दा में तथा दिसंबर 1970 में कराची में इस्लामी विदेश मंत्रियों का सम्मेलन हुआ। इस्लामी राज्यों का संगठन (OIS) कहलाने वाले एक साझे समूह के रूप में विचार-विमर्श 45 सदस्यों के साथ आरंभ हुए।

राज्याध्यक्षों का सम्मेलन इसका उच्चतम निकाय है। इससे अपेक्षा की जाती है कि यह प्रत्येक तीन वर्ष बाद एक बार बैठक करे। आपसी और सामूहिक विकास के लिए सहयोग, जातिवाद की समाप्ति, पवित्र स्थानों की सुरक्षा और इस्लामी एकता का संवर्धन जैसे मुद्दे इसकी कार्यसूची की प्राथमिकताएं हैं। इसका मुख्यालय सऊदी अरब में है।

ईरान में इस्लामी क्रांति, 1978

लगभग चार दशक तक चले मोहम्मद रज़ा पह्लवी के शासन ने ईरान को विश्व के सबसे धनवान राष्ट्रों की श्रेणी में ला खड़ा किया। किंतु ईरान के लोगों का शाह द्वारा बुरी तरह से दमन किया गया जो गुप्त पुलिस की सहायता से देश पर शासन करता था। लोगों की वफादारी प्राप्त करने के लिए आतंक और यातना का खुल कर प्रयोग किया जाता था। सबसे ज्यादा दुखी मुस्लिम मौलवी थे। ईरानी लोग पक्के शिया थे और उन्होंने शाह के पश्चिमीकरण कार्यक्रम का विरोध किया, जो सांस्कृतिक दृष्टि से ईरानियों की जड़ें उखाड़ रहा था। उन्होंने 1970 के दशक के अंतिम वर्षों में विरोध करना आरंभ कर दिया, उस समय देश मंदी के दौर से गुजर रहा था। शीघ्र ही इसके विरोध ने एक बड़े विद्रोह का रूप धारण कर लिया, जिसे दबाने के लिए शाह ने यातना देने और कत्ल करने के कई तरीके अपनाए। परंतु जनता की ताकत उस पर भारी पड़ गई। विद्रोह का नेतृत्व करने वाला व्यक्ति, दूर-दूर तक सम्मानित अयातुल्लाह खोमेनी था, जिसे शाह ने 1964 में निर्वासित कर दिया था। खोमेनी ने पेरिस में रहते हुए इस क्रांति का निर्देशन किया। 16 जनवरी 1979 को शाह ने अपनी राजगद्दी छोड़ दी और वह अपने परिवार के साथ हमेशा के लिए ईरान छोड़ कर चला गया।

ईरानी क्रांति का इस्लामी जगत पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसने सभी मुस्लिम राज्यों में मुस्लिम मौलवियों को प्रोत्साहित किया और उन्होंने अपनी सरकारों पर पश्चिमी शैली का विकास छोड़ने के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया। अयातुल्लाह, ईरान में शरियत का कानून वापस ले आया। महिलाओं के अधिकार बेहद कम कर दिए और ऐसी विदेश नीति लागू की गई जो अमेरिका तथा इज़राइल की जबरदस्त विरोधी थी। उसने 'इस्लामी क्रांतियों' का विदेशों में निर्यात करने की भी संकल्पना की। अमेरिका को 'शैतान-ए-बुजुर्ग' (महा शैतान) की संज्ञा दी गई। यह एक ऐसा नारा था जिसने इस्लामी राष्ट्रों में अतिवादी तत्त्वों को अमेरिका के निहित स्वार्थों के विरुद्ध एकजुट किया, जिन्हें उनकी सभी मुसीबतों के मूल कारण के रूप में देखा जाता था। उसके अमेरिका-विरोधवाद की परीक्षा तब हुई जब निर्वासित शाह, जिसे क्रांतिकारी इस्लामी न्यायालय (जिसने शाह के कुशासन से संबद्ध सैकड़ों लोगों को फांसी दे दी थी) द्वारा उसकी अनुपस्थिति में ही मृत्युदंड दे दिया गया था, को अमेरिका में इलाज के लिए दाखिल कर लिया गया। यह सुनिश्चित करने के लिए कि अमेरिका शाह को वापस कर देगा, अयातुल्लाह ने इस्लामी गार्डों को तेहरान में तैनात 52 अमेरिकी राजनयिकों को बंधक बनाने का अधिकार दे दिया। इससे बंधकों का संकट आरंभ हुआ जो नवंबर 1979 से जनवरी 1981 तक चला। अंत में वाशिंगटन में राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर के कार्यकाल के अंतिम दिनों में, लंबे अर्से तक चली बातचीत के बाद यह संकट सौहार्दपूर्ण तरीके

से समाप्त हो गया। जिम्मी कार्टर स्वयं अपनी तरफ से ईरान के उन अरबों डालरों को मुक्त करने के लिए राजी हो गए जो अमेरिकी बैंकों में जमा थे लेकिन ईरान द्वारा अमेरिकी दूतावास पर कब्जे के शीघ्र बाद अमेरिका ने इसके भुगतान पर रोक लगा दी थी। इसके बदले में ईरान सरकार ने भी बंधकों को मुक्त करने के आदेश दे दिए क्योंकि इसे अपने पड़ोसी देश इराक के विरुद्ध लड़खड़ाते हुए युद्ध प्रयासों की सहायता के लिए धन की जबरदस्त जरूरत थी। दिसंबर 1979 में, शाह पनामा चला गया और वहां से मार्च 1980 में मिस्र चला गया, जहां जुलाई में उसकी मृत्यु हो गई।

ईरान-इराक युद्ध

इस्लामी क्रांति के प्रारंभिक वर्षों में ईरान में व्याप्त अस्तव्यस्तता की स्थिति का लाभ उठा कर सद्दाम हुसैन (जिस पर बाद के अध्याय में विस्तृत रूप से चर्चा की जाएगी) ने स्वार्थवश इस संकट की घड़ी में लाभ उठाने का निश्चय किया। दोनों देशों के बीच कई वर्षों से शत-अल-अरब जल-मार्ग के स्वामित्व पर विवाद चल रहा था। यह दोनों देशों के तेल निर्यात के लिए एक महत्त्वपूर्ण मार्ग था और उनकी सीमा का हिस्सा भी था। एक समय था जब यह पूर्णतः इराकी नियंत्रण में रहा था, किंतु ईरान के भूतपूर्व शाह की एक अंतिम उपलब्धि यह थी कि उसने इराक को यह मार्ग अपने देश के साथ बांटने के लिए बाध्य करने के लिए अपनी सैनिक ताकत का प्रयोग किया। सद्दाम ने यह समझा था कि इस्लामी क्रांति ईरानी सेना को व्यस्त रखेगी। जो भी हो, इसके कई शीर्षस्थ जनरलों को शाह के शासन काल में लोगों पर की गई ज्यादतियों के कारण फांसी दी जा चुकी थी। इस प्रकार, उसने सितंबर 1980 में ईरान पर आक्रमण कर दिया।

आगे चलकर, इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया कि सद्दाम एक योग्य युद्धकला-विशारद नहीं था और उसने अपने शत्रु को कमजोर समझा। पहली बार उसने अपनी कमजोरी ईरान में दर्शायी। पूर्ण आक्रमण से पहले, दोनों देशों के बीच तनाव बढ़ता जा रहा था। दरअसल, गुट-निरपेक्ष इराकी नेताओं को इस बात का डर था कि अयातुल्लाह अपनी इस्लामी क्रांति को उनके देश में पहुंचा कर सामाजिक संतुलन बिगाड़ देगा। वास्तव में वह इराक में शिया कट्टरपंथियों को, अपना शासन काल आरंभ होने के साथ ही 'इस्लाम विरोधी' सद्दाम का तख्ता पलटने के लिए प्रोत्साहित करता रहा था। इसके जवाब में सद्दाम ईरान में खोमेनी-विरोधी अलगाववादियों को सहायता भेजता रहा था। इसलिए, एक तरह से दोनों शासन विद्रोही आंदोलनों को एक-दूसरे के विरुद्ध प्रोत्साहित करते चले आ रहे थे। 1980 में, दोनों देशों ने राजनयिक संबंध समाप्त कर दिए थे। पूरी सीमा पर उनकी सेनाओं के बीच झड़पें शुरू हो गईं।

ईरान-इराक युद्ध पूरे क्षेत्र के लिए एक चिंता का विषय था। वे जानते थे कि अंततः जिस किसी की भी जीत होगी वही फारस की खाड़ी वाले क्षेत्र में एक प्रबल शक्ति के रूप में उभरेगा। इससे कमजोर राष्ट्रों की सुरक्षा और अंततः पश्चिमी जगत और एशिया की ऊर्जा सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाएगी। इसलिए अमेरिका का हित यही सुनिश्चित करने में था कि दोनों देश लंबे और अनिर्णायक युद्ध में उलझे रहें जो अंततः दोनों पक्षों को काफी कमजोर बना दे।

परंतु कुछ देशों ने दोनों में से किसी न किसी का पक्ष लिया। सीरिया ईरान के पक्ष में था और जब कभी ईरानियों के लिए स्थिति कठिन हुई तो उसने इराक के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोलने के लिए अपनी सेना का प्रयोग किया। राष्ट्रपति हफज़ल असद ने भी अपने देश के बीच में से गुजर रही भूमध्य सागर तक जाने वाली एक प्रमुख इराकी पाइपलाइन बंद कर दी। इससे इराकी आमदनी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त, लीबिया, चीन और उत्तरी कोरिया ने युद्ध सामग्री की आपूर्ति करके ईरान का समर्थन किया। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इज़राइल ने ईरानियों का समर्थन किया हालांकि अयातुल्लाह यहूदी विरोधी था। इज़राइल ने ऐसा इसलिए किया क्योंकि वह सद्दाम की आकांक्षा को नासिर की तर्ज पर संपूर्ण अरबों के नेता के रूप में उभरते देख रहा था। इसलिए शत्रु का शत्रु मित्र बन गया।

इराक को सऊदी अरब, कुवैत, जॉर्डन तथा मिस्र का समर्थन प्राप्त हुआ। किंतु इसका सबसे बड़ा समर्थक अमेरिका था जिसने सद्दाम की सेना को नवीनतम विमानों तथा मिसाइलों से लैस कर दिया। फ्रांस और सोवियत संघ ने भी इराक का पक्ष लिया। इतनी बड़ी शक्तियों के समर्थन के साथ यह स्वाभाविक ही था कि युद्ध के आरंभिक चरण में इराक का पलड़ा भारी रहा। इसकी सेनाओं ने दक्षिणी ईरान में एक बहुत बड़े क्षेत्र पर कब्जा कर लिया और अबादान तथा खुर्रम शहर के रिफाइनरी वाले नगरों को घेर लिया।

किंतु 1981 के मध्य में युद्ध की स्थिति में परिवर्तन आया जब ईरानी लोग अबादान का घेरा तोड़ कर बाहर निकले और उन्होंने खुर्रम शहर पर पुनः कब्जा कर लिया। जून 1982 तक इराक की सेनाओं को ईरान से बाहर धकेल दिया गया और फिर युद्ध की शेष अवधि के लिए इराक ने एक रक्षात्मक युद्ध ही लड़ा। यद्यपि सद्दाम ने लगातार शांति के लिए आग्रह किया किंतु तेहरान में अयातुल्लाह ने इन प्रस्तावों को ठुकरा दिया। इराक भारी युद्ध हर्जाना देने के लिए तैयार नहीं था। इसलिए युद्ध छह वर्ष तक और चला। इस युद्ध के अतार्किक रूप से लंबा खिंच जाने का एक मुख्य कारण यह था कि वाशिंगटन ने कोई निश्चित रवैया नहीं अपनाया था। अमेरिकी निर्माता चाहते थे कि इनमें से कोई भी पक्ष विजय प्राप्त न कर पाए। अमेरिका की सर्वसम्मत राय यह थी कि खोमेनी और सद्दाम दोनों अमेरिकी दृष्टिकोण से अवांछित व्यक्ति हैं। यह बात बिल्कुल स्पष्ट थी कि न तो इराकी और न ही ईरानी, युद्ध की आधी अवधि बीत जाने के बाद भी यह नहीं जानते थे कि उनके भाग्य में क्या लिखा है। अमेरिका ने इराक को युद्ध सामग्री की खुलेआम आपूर्ति की और ईरान को चोरी-छिपे। ईरान के साथ हुए सौदे को गुप्त रखना जरूरी था क्योंकि अमेरिकी कानून के तहत ईरान को शस्त्र बेचने पर व्यापारिक प्रतिबंध था। जब इन लेन-देनों से पर्दा हटा तो यह रोनाल्ड रीगन के लिए राजनीतिक दृष्टि से परेशानी का कारण बना। किंतु रीगन प्रशासन का यह कहना किसी हद तक न्यायोचित था कि ईरान को युद्ध सामग्री लेबनान में आतंकवादियों द्वारा बंधक बनाए गए अमेरिकियों को मुक्त कराने के लिए दी गई थी।

1980 तक, दोनों देश युद्ध करते-करते थक गए। उनकी अर्थव्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न हो गईं। दोनों पक्षों ने रासायनिक हथियार और विषैली गैस प्रयोग करने का सहारा लिया था। इस प्रकार, संयुक्त राष्ट्र ने दोनों पक्षों को युद्धविराम पर राजी

करवाने के लिए कठिन प्रयास किए, जिन्हें पहले ईरान ने स्वीकार किया। आठ वर्ष की लड़ाई के बाद भी कोई भी पक्ष जीत का दावा नहीं कर पाया। सीमा विवाद का समाधान नहीं हुआ। सद्दाम और खोमेनी, दोनों सत्ता में बने रहे। हज़ारों नागरिकों सहित लगभग दस लाख लोग मारे गए और बीस लाख लोग जख्मी हुए। इस युद्ध में दोनों देशों को 200 अरब डालर से अधिक धन राशि खर्च करनी पड़ी। राजनयिक संबंध दो वर्ष बाद पुन: स्थापित हुए जब इराक ने कुवैत पर आक्रमण करने के लिए सद्दाम की योजना पर ध्यान केंद्रित करते हुए ईरान की धरती से अपने सारे सैनिक हटा लिए। शत-अल-अरब के नियंत्रण पर बंटवारे के लिए भी एक करार पर हस्ताक्षर किए गए और बंदियों की अदला-बदली की गई।

युद्ध के प्रभाव

ईरान-इराक युद्ध का दीर्घकालिक प्रभाव अभी भी महसूस किया जा रहा है। ईरान और इराक ने पूरे पश्चिम एशिया में अस्थिरता फैलाने के लिए अपनी-अपनी विदेश नीतियां अपनाईं। ईरान द्वारा समर्थित शिया आतंकवादियों ने खाड़ी के राजतंत्रों, विशेषकर सऊदी अरब को खतरे में डाले रखा। लेबनान को अपने अड्डे के रूप में प्रयोग करते हुए उन्होंने इज़राइल और उस यहूदीवादी देश को समर्थन देने वाले राष्ट्रों को परेशान करना जारी रखा। दूसरी ओर, मार्च 2003 तक इराक पर सद्दाम एक तानाशाह के रूप में शासन करता रहा। उसने 1990 में, थोड़े समय के लिए कुवैत पर आक्रमण किया, किंतु अमेरिका के नेतृत्व में एक अंतर्राष्ट्रीय संयुक्त सेना ने इसे खदेड़ दिया। 1991 और 2003 के बीच सद्दाम शासन को संयुक्त राष्ट्र के दण्ड-विधानों द्वारा जकड़ दिया गया। अब हम देखेंगे कि पश्चिम एशिया पर प्रभुत्व जमाने की आकांक्षाएं रखने वाले इस देश के साथ विश्व की एकमात्र महाशक्ति ने कैसा व्यवहार किया।

सद्दाम हुसैन का उदय

सद्दाम हुसैन के बारे में हमारे विचार अधिकतर उसके संबंध में पश्चिमी प्रचार पर आधारित हैं। इसलिए गल्प कथाओं से तथ्य निकाल पाना एक कठिन कार्य है। परंतु वह एक जटिल व्यक्तित्व का धनी था, उसका उसके देशवासी सम्मान भी करते थे और उससे डरते भी थे। पश्चिमी देश उससे नफरत करते थे क्योंकि वह अपनी विस्तारवादी योजनाओं के साथ उनके भू-राजनीतिक हितों का विरोध करने का हौसला रखता था। परंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि इन्हीं पश्चिमी शक्तियों ने शुरू में उसका समर्थन किया था और उसकी आकांक्षाओं को बढ़ाया था और बाद में उसे नर-पिशाच की संज्ञा दी थी।

सद्दाम का जन्म 1937 में इराक के जिला टिकरित में एक साधारण ग्रामीण परिवार में हुआ था। वह एक अकेला बच्चा था जो अपने साथ हमेशा लोहे की छड़ लेकर चलता था। शुरू में उसके राजनीतिक विचार मिस्र के राष्ट्रपति नासिर के सर्व-अरब राष्ट्रवाद से प्रभावित हुए थे। मिस्र वह देश था जिसकी उसने अपनी युवावस्था में यात्रा की थी और ऐसा समझा जाता है कि वहां वह लंबे अर्से तक अमेरिकी गुप्तचर सेवाओं से जुड़ा रहा। वह बाथ दल में शामिल हो गया जो पूरे अरब जगत में फैला हुआ था। उसका दृष्टिकोण समाजवादी था। वह दल के तंत्र में उच्च स्थान

प्राप्त करता गया और 1968 में उपाध्यक्ष के पद तक पहुंच गया। उसी वर्ष बाथ पार्टी सत्ता में आई थी।

उसने एक व्यापक साक्षरता कार्यक्रम कठोरतापूर्वक कार्यान्वित करके जबरदस्त लोकप्रियता हासिल की। किसी बच्चे को स्कूल न भेजना तीन वर्ष के कारावास के साथ दंडनीय बता दिया गया। इसके लिए यूनेस्को ने उसे पुरस्कृत किया। सद्दाम ने पश्चिम एशिया में अपने देश को सर्वश्रेष्ठ विद्यालय, सड़कें सार्वजनिक आवास और स्वास्थ्य प्रणालियां भी प्रदान कीं।

ईरान की इस्लामी क्रांति ने सद्दाम के जीवन का मार्ग बदल दिया। उसकी अपनी सत्ता इस बात पर निर्भर करती थी कि इराक एक धर्मनिरपेक्ष और उदार राज्य बना रहे। इसीलिए जब इस्लामी रूढ़िवाद उसके देश में फैलने लगा तो वह चिंतित हो गया। इसी ने उसके बाहरी आक्रामक दृष्टिकोण को आकार दिया। इसमें उसने पश्चिमी शक्तियों की सहायता प्राप्त की, जो यह सुनिश्चित करने के लिए उत्सुक थीं कि इस क्षेत्र के तेल भंडारों का नियंत्रण रूढ़िवादियों तथा कट्टरपंथियों के हाथ में न जाने पाए।

ऐसा समझा जाता है कि सद्दाम एक क्रूर तानाशाह था। उसने इराक के कुर्दिश लोगों के विरुद्ध बेरहमी से जैविक और रासायनिक हथियारों का प्रयोग किया। विरोध का दमन करने के लिए उसने लोगों को यातनाएं दीं और उन्हें कत्ल करवाया। उसके दो बेटे भी ऐसे ही व्यक्ति थे जिनसे लोग थर-थर कांपते थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी क्योंकि सद्दाम यह बात खुलेआम स्वीकार करता था कि उसका आदर्श शासक जोसेफ स्टालिन था।

कुवैत पर आक्रमण और पहला खाड़ी युद्ध

कुवैत पर सद्दाम हुसैन की इसलिए नजर थी क्योंकि ईरान के साथ युद्ध की समाप्ति पर उसे इराक की अर्थव्यवस्था को बहाल करने के लिए धन की जबरदस्त आवश्यकता थी। कुवैत पर आक्रमण करने से पहले उसने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि कुवैत को इतने बड़े पैमाने पर अंतर्राष्ट्रीय सहायता उपलब्ध हो जाएगी। अपनी असीम बुद्धिमत्ता से इराकी तानाशाह ने यह सोचा था कि इराक द्वारा इस छोटे से देश पर कब्जा कर लेने के पश्चात कोई भी विश्व शक्ति इसके बाद में कोई परवाह नहीं करेगी। आखिरकार, अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस ने ईरान के साथ अभी-अभी समाप्त हुए संघर्ष में उसका समर्थन किया था और मार्च 1988 में हलबजाह नगर में उसके द्वारा कुर्दों के विरुद्ध घातक रासायनिक हथियारों का प्रयोग किए जाने के बाद भी उन्होंने उसके साथ व्यापार जारी रखा था। इराक के विरुद्ध अपने आक्रमण को न्यायोचित ठहराने के लिए उसने दावा किया कि कुवैत कभी इराक का ही हिस्सा हुआ करता था। परंतु वास्तविकता यह थी कि कुवैत 1899 से ब्रिटेन का संरक्षित राज्य था।

सद्दाम को मई 1990 में अपना बहाना मिल गया जब यूनाइटेड अरब अमीरात और कुवैत ने तेल का अत्यधिक उत्पादन करना शुरू कर दिया। इससे इराकी तेल की कीमतों पर बुरा असर पड़ा। सद्दाम ने इसे एक आर्थिक युद्ध का कृत्य बताया। उसने मध्य-जुलाई में फिर इस बात पर जोर दिया और कुवैत पर इराक-कुवैत सीमा पर रूमैल तेल क्षेत्र से तेल चुराने का आरोप लगाया। मास के अंत तक भारी सैनिक तैयारियां शुरू कर

दी गईं। 2 अगस्त को उसकी सेनाएं सीमा पार करके कुवैत में प्रवेश कर गईं और उन्होंने कुवैत के तेल क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। कुवैत का अमीर सऊदी अरब भाग गया। इसके बाद इराक ने सऊदी सीमा पर अपनीं सेनाएं भेज कर सऊदी अरब को धमकाया। रियाद में सरकार ने अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज बुश (सीनियर) को सऊदी अरब की रक्षा के लिए तुरंत सेनाएं भेजने के लिए एक अत्यावश्यक आवेदन भिजवाया।

राष्ट्रपति बुश इराकियों को कुवैत से निकालने के लिए कार्रवाई करने पर जोर देने में सबसे आगे रहे। संयुक्त राष्ट्र ने सद्दाम द्वारा आधिकारिक तौर पर कुवैत का इराक के एक प्रांत के रूप में समामेलन कर लिए जाने से दो दिन पूर्व, इराक पर व्यापारिक प्रतिबंध लगा दिया। 9 अगस्त को अमेरिकी सेनाओं की पहली टुकड़ी सऊदी अरब में पहुंच गई। इसके प्रत्युत्तर में सद्दाम ने अमेरिका और इज़राइल के विरुद्ध जिहाद अथवा धर्म युद्ध का एलान कर दिया। कुछ दिन पश्चात उसने घोषणा की कि इराक के उन्नीसवें प्रांत के रूप में समामेलित देश का नाम बदल कर 'अल-खदीमा' रख दिया गया है।

इसके बाद संयुक्त राष्ट्र से मिल कर अमेरिका ने इराक के विरुद्ध विश्व मत जुटाना आरंभ किया। सितंबर-मध्य तक ब्रिटेन और फ्रांस ने संभावित सैनिक कार्रवाई के लिए सहायता देने का वचन दिया। बहुत से अन्य यूरोपीय, एशियाई, अफ्रीकी और दक्षिण अमेरिकी देश भी अंतर्राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे में शामिल होने के लिए आगे आए। सोवियत संघ ने अंत तक स्वयं को निष्पक्ष रखा, परंतु आखिरी अवस्था में उसने एक मध्यस्थ की भूमिका निभाने का प्रभुत्व किया। 17 दिसंबर को संयुक्त राष्ट्र ने 15 जनवरी 1991 की तारीख, इराक के लिए कुवैत की धरती छोड़ने की आखिरी तारीख निर्धारित कर दी। सद्दाम सदा की तरह उद्दंड बना रहा और उसने संयुक्त राष्ट्र के सभी संकल्प अस्वीकार कर दिए।

अंत में, इराकियों को वापस भेजने के लिए राजी करने के सभी प्रयास विफल होने के पश्चात् 17 जनवरी 1991 को रेगिस्तानी तूफान (Desert Storm) नामक सैनिक कार्रवाई शुरू की गई। एक मास से अधिक अवधि तक अमेरिकी विमानों ने बगदाद के सामरिक ठिकानों तथा अन्य इराकी शहरों पर बमवर्षा की। इराकियों का जबाव आश्चर्यजनक रूप से कमजोर रहा। यद्यपि सद्दाम ने 'सभी-लड़ाइयों की जननी' का वायदा किया, किंतु इसे कार्यरूप कभी नहीं दिया जा सका। युद्ध के पहले चरणों में उसने अपनी वायु सेना के सभी विमान चालकों को अपने सभी विमान ईरान के ठिकानों पर उड़ाने के आदेश दिए ताकि यह प्रदर्शित किया जा सके कि सभी कुछ सुरक्षित है। तत्पश्चात सऊदी अरब में संयुक्त सेनाओं के ठिकानों पर अपना प्रत्याशित आक्रमण करने के स्थान पर, उसने इज़राइल की तरफ 'स्कड' मिसाइलें छोड़नी शुरू कर दीं। उसने अपनी सेनाओं को कुवैत के तेल प्रतिष्ठानों को उड़ा देने के आदेश भी दिए और फारस की खाड़ी में लाखों-करोड़ों गैलन कच्चा तेल छोड़कर एक 'पर्यावरणीय युद्ध' आरंभ कर दिया।

इराक पर पांच सप्ताह तक लगातार निष्ठुरता-पूर्वक बम वर्षा करने के बाद, संयुक्त बलों ने कुवैत को आजाद कराने के लिए 24 फरवरी को जमीनी कार्रवाई आरंभ की। इराकी सैनिकों ने मामूली प्रतिरोध किया और फिर भाग गए।

तीन दिन बाद, कुवैत फिर से आजाद हो गया। 3 मार्च को इराक ने युद्ध विराम स्वीकार कर लिया।

युद्ध के भावी परिणाम

प्रथम खाड़ी युद्ध के परिणामस्वरूप सद्दाम के विरुद्ध चिरप्रत्याशित विद्रोह खड़ा नहीं हुआ। यद्यपि अमेरिकी प्रचार ने इस प्रकार की संभावना की भविष्यवाणी की थी। इससे उत्तर में कुर्दों को सद्दाम के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहन मिला। देश के शिया मुसलमानों ने भी विद्रोह किया। थोड़े समय के लिए ऐसा लगा कि भविष्यवाणी सच्ची सिद्ध होगी। परंतु तुरंत इन विद्रोहियों की सहायता के लिए पहुंचने के बजाय, मित्र शक्तियां अपने-अपने देश में वापस चली गईं। ये दोनों आंदोलन बेरहमी से कुचल दिए गए। इराक के पड़ोसियों ने इसे दूसरे तरीके से देखा। तुर्की, सीरिया तथा रूस सभी में कुर्द लोगों की आबादियां थीं जो इन छितरी हुई आबादियों को संगठित करके एक वृहत्तर कुर्दी राष्ट्र स्थापित करने की आकांक्षा रखते थे। इन सरकारों को डर था कि यदि कुर्द लोग इराक में सफल हो गए तो उनके देशों में रहने वाले कुर्द लोग भी ऐसा ही प्रयास करेंगे। इसलिए उन्होंने कुछ नहीं किया, जबकि सद्दाम के सैनिकों ने कुर्दी पुरुषों, महिलाओं तथा बच्चों पर भयंकर अत्याचार किए। जहां तक शिया लोगों का संबंध था, अमेरिका को यह डर था कि यदि वे सफल हो गए तो ईरान की स्थिति और मजबूत हो जाएगी। परंतु पश्चिमी शक्तियों ने इराक पर अपना ध्यान केंद्रित किए रखा, हटाया नहीं। मार्च 1991 में, कुर्दी अत्याचारों के बाद, अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र को 32° उ. अक्षांश के उत्तर में पड़ने वाले क्षेत्र को कुर्दों के लिए सुरक्षित आवास घोषित करने के लिए राजी कर लिया। 10 अप्रैल को अमेरिका ने औपचारिक रूप से इराक को इस क्षेत्र में सभी सैनिक गतिविधियां बंद करने के लिए कहा। सद्दाम की शक्तियों को प्रभावी ढंग से कम करने के लिए 32° द. अक्षांश के दक्षिण में दक्षिणी इराक को 'नो फ्लाई जोन' (No Fly Zone - उड़ान निषिद्ध क्षेत्र) घोषित कर दिया गया।

इसी घोषणा के साथ समूचा विश्व जान गया था कि सद्दाम के इराक के साथ अमेरिका का युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ था। फरवरी 1991 के संयुक्त राष्ट्र युद्धविराम के बाद के 12 वर्षों में धीरे-धीरे एक और युद्ध के लिए आधार तैयार किया गया। इस बीच 1992 के चुनावों में राष्ट्रपति जार्ज बुश की हार हो गई। बुश के उत्तराधिकारी बिल क्लिंटन की चिंताएं दूसरी थीं; जैसे-सोवियत संघ के विघटन के बाद के बुरे परिणामों से निपटना, इस्लामी कट्टरवाद व रूढ़िवाद और आतंकवाद का मुकाबला करना, जो अपने युद्ध क्षेत्रों को बदल कर अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान जैसे नए स्थानों पर ले गया था और वहां से युद्ध को सीधे अमेरिका में पहुंचा दिया गया था।

इराकी लोगों के कष्ट-भरे बारह वर्ष

यद्यपि सद्दाम हुसैन सत्ता में बना रहा तथापि अमेरिकी सरकार ने बिल क्लिंटन के आठ-वर्षीय पूरे शासन काल में उस पर नजर गड़ाए रखी। उदाहरणतः अप्रैल में कुवैत शहर में पूर्व राष्ट्रपति बुश की हत्या करने के प्रयास के जवाब में अमेरिका ने 27 जून 1993 को बगदाद में इराक के सैनिक गुप्तचर मुख्यालय पर क्रूज मिसाइलों के साथ आक्रमण किया। बुश की हत्या के इस

प्रयास में इराक का हाथ कभी भी सिद्ध नहीं हो पाया। किंतु इस आक्रमण ने अमेरिकी जनता को यह बात याद दिलाने का काम किया कि जब तक सद्दाम सत्ता में रहेगा वह उनके लिए तथा उनके संस्थानों के लिए खतरे का स्रोत बना रहेगा।

यह संदेह बराबर बना हुआ था जिसमें से कुछ उचित था किंतु ज्यादातर बढ़ा-चढ़ा कर व्यक्त किया गया कि सद्दाम शासन ने भारी मात्रा में विनाशकारी हथियार विकसित कर लिए हैं, जिनमें रायायनिक तथा जैविक हथियार भी शामिल हैं। इसलिए अमेरिका ने इराक पर अत्यंत परितापी प्रतिबंध लागू करवाने के लिए संयुक्त राष्ट्र पर अपने प्रभाव का प्रयोग किया। 3 अप्रैल 1991 को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् ने संकल्प 687 स्वीकार किया जिसके द्वारा इराक पर व्यापक आर्थिक और वित्तीय दंड लागू किए गए। ये दंड उस समय तक लागू रहने थे जब तक कि सुरक्षा परिषद इस बात की पुष्टि न कर दे कि इराक ने अंतर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षणाधीन अपने सारे रासायनिक और जैविक हथियार नष्ट कर दिए हैं, जिसमें ऐसी बैलिस्टिक मिसाइलें भी शामिल हैं जो 150 कि. मी. से अधिक दूरी तक पे-लोड परमाणु शस्त्र ले जा सकती हैं।

इराक पर, अपना तेल विश्व बाजार में बेचने पर तब तक रोक लगा दी गई जब तक वह विश्व समुदाय को इस संबंध में आश्वस्त नहीं कर देता कि उसने अपने निःशस्त्रीकरण संबंधी संयुक्त राष्ट्र की सभी मांगें क्रियान्वित कर दी हैं, इसका प्रभाव यह हुआ कि इराक की अर्थव्यवस्था चरमरा गई। 1990 में, इराक के बहुत से सामाजिक और आर्थिक सूचकांक अत्यंत औद्योगीकृत देशों के सूचकांकों के समान थे। खाड़ी के युद्ध ने देश को सर्वनाश के रास्ते पर डाल दिया। जो क्षेत्र कभी इराक का समृद्ध औद्योगिक कांप्लैक्स हुआ करता था, अमेरिकी बमबारी ने उसे बंजर जमीन में बदल डाला।

संयुक्त राष्ट्र ने पहले इराक से पूर्णतया उसके अपने संसाधनों से वित्तपोषित की जाने वाली मानवीय सहायता को अंतर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण में स्वीकार करने के लिए कहा। ऐसा करने से इनकार कर दिया गया। इसलिए विश्व निकाय ने आपातकालीन स्वास्थ्य और भोजन कार्यक्रमों को वित्तपोषित करने के लिए अंशदान मांगा। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र ने लगभग 1.4 अरब अमेरिकी डालर के लिए अपील की थी किंतु, मार्च 1996 तक चली चार वर्षों की अवधि में केवल 41.9 करोड़ अमेरिकी डालर ही जुटाए जा सके।

1990 के दशक के मध्य तक, इराक में अकाल जैसी स्थितियां पैदा हो गई। 'विशेष रूप से बच्चों में' गंभीर रूप से रोग फैलने लगे, मृत्यु-दर बढ़ गई तथा भयंकर कुपोषण की स्थिति पैदा हो गई। इसने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद को 14 अप्रैल 1995 को 'तेल के बदले खाद्य कार्यक्रम' बनाने के लिए, संकल्प 986 पारित करने पर मजबूर किया। इसके अंतर्गत इराक को विशिष्ट आदेशों पर अपना तेल बेचने की अनुमति दी गई। शर्त यह थी कि बिक्री से प्राप्त धनराशि सीधे इराक को नहीं दी जाएगी किंतु इसे संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रबंधित खाते में जमा किया जाएगा। इन निधियों का प्रयोग इराकी लोगों के लिए खाद्य, दवाइयों तथा अनिवार्य वस्तुओं की खरीद पर किया जाएगा। परंतु वास्तव में यह राशि बहुत ही कम थी और जीवन की सभी जरूरतें पूरी करने के लिए प्रति नागरिक

केवल 32 सेंट के आसपास बैठती थी। इस मामूली अंशदान का प्रभाव इतना गंभीर था कि संयुक्त राष्ट्र ने 1997-मध्य से इस राशि को दो गुना कर दिया।

कभी स्वाभिमानी रहे इस राष्ट्र पर विभीषिका की कितनी मार पड़ी इसका अंदाजा तब तक नहीं लगाया जा सकता जब तक कि निष्पक्ष आंकड़े प्रस्तुत नहीं किए जाते। 1990 में इराक में पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों की मृत्यु-दर में 56 बच्चे प्रति हजार थी। लेकिन 1999 में बाल मृत्यु-दर 131 प्रति हजार तक बढ़ गई। वर्ष 2000 में यूनिसेफ द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण ने यह दर्शाया कि यदि 1980 के दशक में बाल मृत्यु दरों में कमी लाने की प्रवृत्ति को कायम रखा जाता तो शताब्दी बदलने तक यह मृत्यु दर 25 बच्चे प्रति हजार तक नीचे आ गई होती-106 बच्चों का अंतर!

एक और युद्ध के लिए तैयारी

किंतु, सद्दाम हुसैन ने संयुक्त राष्ट्र द्वारा की गई कटु आलोचना को अनदेखा करना जारी रखा। इतना ही नहीं, उसने अपनी सत्ता के आधार का विस्तार किया और सभी प्रकार के विरोध को बेरहमी से कुचलने की प्रक्रिया तेज कर दी। 1995 में अपने शासन पर जनमत संग्रह कराया जिसके माध्यम से उसने स्वयं को सात वर्ष तक और आगे शासन करने का अधिकार दे दिया। 2002 में, झूठी शान के लिए इस प्रकार का अभ्यास फिर दोहराया गया। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि परिणाम यही निकले कि 99.9 प्रतिशत इराकी उन्हें सत्ता में रखना चाहते थे।

संयुक्त राष्ट्र के विशेष निकाय यू.एन.एस. सी.ओ.एम. के हथियार निरीक्षण दलों ने इराक के असैनिक तथा सैनिक प्रतिष्ठानों के दौरे करना यह जानने के लिए जारी रखा कि सद्दाम शासन संयुक्त राष्ट्र की नि:शस्त्रीकरण संबंधी मांगों को कैसे क्रियान्वित कर रहा है। सरकार की वास्तविक प्रतिक्रिया क्या रही, इसकी जानकारी उपलब्ध नहीं है। अमेरिकी सरकार ने लगातार दावा किया कि इराक इसमें बिल्कुल सहयोग नहीं दे रहा है। अक्तूबर 1998 में, इराक ने घोषणा की कि वह इसके बाद किसी और हथियार निरीक्षक प्रतिनिधि मंडल का स्वागत नहीं करेगा। अंतिम निर्णय सूचित करने के दो मास बाद अमेरिका तथा ब्रिटेन ने 'आपरेशन डेजर्ट फॉक्स' नाम से एक बमबारी अभियान शुरू किया जिसका लक्ष्य उन सुविधाओं को नष्ट करना था जहां पर इराक के नाभिकीय, रासायनिक तथा जैविक हथियार कार्यक्रम छिपे होने का संदेह था।

इससे भी सद्दाम का हठ नहीं टूटा। जब दिसंबर 1999 में संयुक्त राष्ट्र ने संयुक्त राष्ट्र मानीटरिंग, सत्यापन तथा निरीक्षण आयोग (UNMOVIC) नामक एक नया निकाय स्थापित करते हुए एक और संकल्प पारित किया तो इराक ने उसे अस्वीकार कर दिया। इराक का हवाई रक्षा नेटवर्क नष्ट करने के प्रयास में अमेरिकी और ब्रिटिश विमानों ने फरवरी 2001 में एक बार फिर बमबारी की। यह बमबारी अंतर्राष्ट्रीय मंजूरी के बगैर की गई।

जनवरी 2001 में जार्ज डब्लयू. बुश ने राष्ट्रपति पद संभाला। केवल नौ मास बाद, 11 सितंबर 2001 को अब तक के सबसे बड़े आतंकवादी अभियान को न्यूयार्क शहर में अंजाम दिया गया जब चार अपहृत सिविल विमान उड़ते हुए वर्ल्ड

ट्रेड सेंटर के दो टावरों से टकरा दिए गए। 4,000 से अधिक लोग मारे गए। इसके प्रत्युत्तर में नए राष्ट्रपति ने आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

इस युद्ध की पहली लड़ाई का निशाना अफगानिस्तान बना जिसका कट्टरपंथी तालिबान शासन अलकायदा आतंकवादी नेटवर्क के सरगना ओसामा बिन लादेन को शरण देता रहा था, जिसे अमेरिका पर आक्रमणों के लिए दोषी ठहराया गया था। तालिबान को उखाड़ फेंकने के पश्चात राष्ट्रपति बुश ने अपना रुख सद्दाम हुसैन की तरफ मोड़ा।

राष्ट्रपति ने अब 'शासन परिवर्तन' की खुल कर बात की। सद्दाम पर अंतर्राष्ट्रीय हथियार निरीक्षकों के साथ लुका-छिपी का खेल खेलने का आरोप लगाते हुए और उसे पूरे पश्चिम एशिया के लिए एक खतरे का स्रोत बताते हुए, उसने इराकी तानाशाह से स्वेच्छापूर्वक सत्ता छोड़ने या फिर सैनिक कार्रवाई का सामना करने की मांग की। इस विषय पर ब्रिटेन ने दृढ़तापूर्वक अमेरिका का समर्थन किया। विश्वव्यापी लोकमत की अमेरिका ने कोई परवाह नहीं की। इसके लिए उसका सहारा यह एहसास था कि सोवियत संघ के विघटन के बाद अब वह ही एकमात्र महाशक्ति था। इस प्रकार की एकतरफा कार्रवाई से संयुक्त राष्ट्र की विश्वसनीयता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

अब सद्दाम को स्थिति की गंभीरता का अहसास हो गया। वह हथियार निरीक्षकों को अपने देश में वापस आने देने के लिए सहमत हो गया और उसने हर तरह का सहयोग देने की घोषणा की। यू.एन.एम.ओ.वी.आई.सी. के अध्यक्ष हैन्स ब्लिक्स ने भी सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया कि इराक ने 'अपना सहयोग बढ़ा दिया है' और इराक के अनुपालन की जांच करने के लिए हथियार निरीक्षकों को और समय दिया जाना चाहिए। किसी प्रकार के महा विनाशकारी हथियार छिपाए जाने का कोई साक्ष्य नहीं पाया गया। फिर भी, अमेरिका और ब्रिटेन 'शासन परिवर्तन' की मांग पर अड़े रहे।

अंत में, 17 मार्च 2003 को अमेरिकी राष्ट्रपति ने सद्दाम और उसके पुत्रों को इराक छोड़कर अपनी पसंद के किसी आश्रय स्थल पर जाने के लिए या युद्ध का सामना करने के लिए 48 घंटे का समय दिया। जब यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया तो 20 मार्च को अमेरिकी और ब्रिटिश विमानों ने इराक पर बमबारी आरंभ कर दी। इस बार हवाई हमलों के बाद एक दिन के भीतर ही जमीनी कार्रवाई भी शुरू कर दी गई। इराकियों ने कोई खास प्रतिरोध नहीं किया। 9 अप्रैल 2003 को अमेरिकी सेनाएं बगदाद में प्रवेश कर गईं जबकि अमेरिकी ब्रिटिश नियंत्रण में कुर्दी फौजों ने किरकुक तथा मोसुल के उत्तरी शहरों पर कब्जा कर लिया। परंतु इससे पहले सद्दाम और उसके पुत्र अमेरिकी महाजाल से बच निकले।

दूसरे खाड़ी युद्ध के दीर्घकालिक प्रभाव

'आपरेशन इराक फ्रीडम' जैसा कि दूसरे खाड़ी युद्ध को नाम दिया गया, इतनी शीघ्र समाप्त हो जाएगा, इसकी किसी को भी उम्मीद नहीं थी। विश्व के समक्ष अमेरिकी सैन्य शक्ति का पूर्ण भीषणता के साथ प्रदर्शन किया गया, जिसे दूरदर्शन पर पूरी दुनिया में लोगों ने घरों में बैठ कर देखा।

वास्तव में, सद्दाम कोई धर्मात्मा नहीं था। साधारण इराकियों ने अमेरिकी सेनाओं का

मुक्तिदाताओं के रूप में स्वागत किया क्योंकि वे उन विपत्तियों से तंग आ चुके थे जो उन्हें सद्दाम की तानाशाही में झेलनी पड़ी थीं। किंतु अमेरिका हर जगह एकसमान मानदंड नहीं अपनाता। उदाहरणतया, पाकिस्तान के परवेज मुशर्रफ शासन को इस तथ्य के बावजूद जार्ज डब्ल्यू. बुश के प्रशासन ने पूरी मदद दी, कि इसने लोकतंत्र को रौंदा था और शांतिप्रिय राष्ट्रों के विरुद्ध आतंकवाद के निकृष्टतम कृत्यों को प्रायोजित किया था।

जब खाड़ी का प्रथम युद्ध समाप्त हुआ तो विश्व भर में कई लोगों ने पश्चिम एशिया में इसकी शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया की उम्मीद की। यह आशा की जाती थी कि इस क्षेत्र के अधिकांश देशों पर जो संकीर्ण विचारों वाले तथा अलोकतांत्रिक सत्ताधारी शासन करते थे, वे 1991 के पश्चात सुधर जाएंगे। परंतु ऐसा होना तो दूर की बात है, वे और अधिक रूढ़िवादी व कट्टरपंथी बन गए। सऊदी अरब और इसके साथ संयुक्त अरब अमीरात और कुवैत अभी भी अपनी महिलाओं को ऐसे बुनियादी अधिकार देने से इनकार करते हैं जिन्हें लोग हर जगह बिना हिचक के मान लेते हैं। ये देश अभी भी अपने यहां से संचालित गुप्त निधियों के जरिए इस्लामी रूढ़िवाद तथा आतंकवाद को प्रायोजित कर रहे हैं। 'आपरेशन इराक फ्रीडम' के पश्चात इन देशों में व्यापक आशंकाएं थीं कि इराक के बाद अब किसकी बारी है?

अंत में, यह कहना जरूरी है कि पश्चिम एशिया के संबंध में 1945 से लेकर बुनियादी बातों में ज्यादा बदलाव नहीं आया है। इस क्षेत्र में अब भी पहले की तरह तेल में पश्चिमी हित, यहां की राजनीति को अभिभूत किए हुए हैं। यहूदियों और फिलिस्तीनियों के अच्छे पड़ोसी बनने का जो सपना 1940 के दशक में भ्रांतिजनक था, वह आज भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। यद्यपि इन क्षेत्रों में ऊपरी तौर पर अभूतपूर्व भौतिक समृद्धि की कृपा हुई है, किंतु इसके सामाजिक-आर्थिक मूलाधार आज भी बहुत कमजोर व पिछड़े हुए हैं। संक्षेप में, पश्चिम एशिया उसी रेगिस्तान की तरह आज भी परिवर्तन का प्रतिरोधक है, जिस पर वह टिका है।

अभ्यास

1. अरब इज़राइली संकट के उद्गमों का उल्लेख कीजिए और उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिसके परिणामस्वरूप पहला अरब-इज़राइली युद्ध हुआ। इसके परिणाम क्या रहे?
2. 1956 के स्वेज संकट के कारण बताइए। इसके परिणाम क्या हुए?
3. मिस्र और इज़राइल में शांति स्थापित करने के लिए मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात द्वारा किए गए प्रयासों की चर्चा करें।
4. 1980 के दशक से मध्य-पूर्व शांति प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। इस प्रक्रिया को अब तक किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है?
5. पश्चिम एशिया की भू-राजनीति में तेल की भूमिका का आलोचनात्मक आकलन कीजिए।
6. ईरान-इराक युद्ध पर चर्चा करें और उसके प्रभावों का उल्लेख करें।
7. सद्दाम हुसैन के सत्ता में आने का वर्णन करते हुए इराक में उसकी भूमिका को स्पष्ट करें।

8. प्रथम खाड़ी युद्ध के कारणों और दिशा का उल्लेख करें। किस तरीके से इराकी लोग इसके कारण कष्टों में पड़ गए?
9. दूसरे खाड़ी युद्ध तक ले जाने वाले घटनाक्रम पर चर्चा करें। इसके दीर्घकालिक प्रभाव क्या हुए?
10. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
    (i) गमाल अब्दुल नासिर
    (ii) 1967 का छह-दिवसीय युद्ध
    (iii) 1973 का योम किप्पूर युद्ध
    (iv) ओपेक (ओ.पी.ई.सी.)
    (v) यू.एन.एम.ओ.वी.आई.सी.

परियोजना कार्य

- मध्य-पूर्व की भू-राजनीति पर प्रकाशित पुस्तकों की एक सूची तैयार करें और उनमें से प्रत्येक पर ग्रंथपरक टिप्पणियां लिखें।
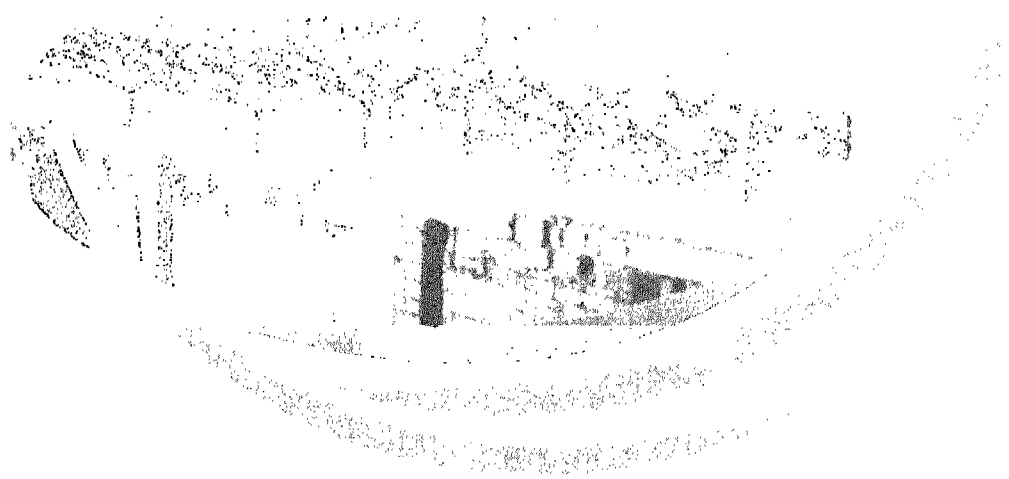
अध्याय 10

शीत युद्ध के वर्ष

अविश्वास के वर्ष

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 45 वर्षों तक विश्व में अमेरिका और सोवियत संघ के बीच विनाशकारी युद्ध की संभावना का खतरा मंडराता रहा। यह एक ऐसा युद्ध होता जिसमें पारंपरिक हथियारों के भंडारों की भूमिका सीमित होती। हर समय दोनों पक्षों ने व्यापक जनसंहार के हथियारों का जमावड़ा प्रयोग में लाने के लिए तैयार कर रखा था और इन हथियारों का एक-दूसरे के खिलाफ इस्तेमाल करने के लिए केवल कुछ ही मिनटों का समय चाहिए था। और यह युद्ध न तो किसी की जमीन छीनने के लिए और न ही एक-दूसरे के संसाधन हड़पने के लिए लड़ा जाता, जैसा कि इतिहास में आमतौर पर होता आया था। बल्कि यह युद्ध विश्व पर विचारधारात्मक नियंत्रण स्थापित करने के लिए होता। मुक्त उद्यम बनाम साम्यवाद। लोकतंत्र बनाम सर्वाधिकारवाद यानी एकदलीय शासनपद्धति। दोनों पक्षों ने एक-दूसरे के खिलाफ खूब ज़हर उगला और एक-दूसरे की जनता में द्वेषपूर्ण प्रचार किया। इतना ही नहीं एक-दूसरे के साम्राज्य को शैतान का राज कहकर उसकी निंदा की। और फिर जिस प्रकार अप्रत्याशित रूप से इस शीत युद्ध की शुरुआत हुई थी, वैसे ही अप्रत्याशित रूप से यह समाप्त भी हो गया। इस प्रकार, तृतीय विश्वयुद्ध जो 1945 से दो पीढ़ियों के लिए अवश्यंभावी लग रहा था, नहीं हुआ।

बर्नार्ड बारूच ने पहली बार 1946 में 'शीत युद्ध' शब्द का प्रयोग किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह शीत युद्ध की स्थिति सचमुच बर्लिन की गलियों में शुरू हो गई। सोवियत संघ और अमेरिका के नेतृत्व वाली पश्चिमी ताकतों के बीच युद्ध के नाजुक वर्षों में जो तालमेल और सामंजस्य रहा था वह दोनों के साझा शत्रु, नाज़ी जर्मनी के पराजित होते ही भंग हो गया। पुरानी शत्रुता लौट आई। तात्कालिक कारण था जर्मनी पर नियंत्रण स्थापित करने की होड़ और जल्द ही यह

होड़ शेष यूरोप और फिर पूरे विश्व में फैल गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप विश्व में बहु-ध्रुवीयता नहीं रही। ब्रिटेन और फ्रांस दोयम दर्जे की शक्तियां बन कर रह गए। अमेरिका और सोवियत संघ विश्व की दो महाशक्तियों के रूप में उभर आए। दोनों ने अपनी धुरी के आसपास अधिकाधिक संख्या में उन देशों को जुटाना शुरू कर दिया जिन पर वे आर्थिक या राजनीतिक रूप से दबदबा कायम कर सकते थे। पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र, ब्रिटेन, फ्रांस, हालैंड आदि ने साम्यवाद के भय से अमेरिकी खेमे की शरण ली। यह गलत भी नहीं था क्योंकि स्टालिन ने यह सुनिश्चित कर दिया था कि साम्यवादी सरकारें पोलैंड, हंगरी, रूमानिया, बुल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों के नाज़ी अधिभोक्ताओं का स्थान लें।

इस प्रकार, यूरोप विन्स्टन चर्चिल के शब्दों में एक लौह आवरण द्वारा दो खंडों में विभाजित हो गया। इस काल्पनिक विभाजन रेखा के पश्चिम की ओर अमेरिका या पश्चिमी खंड (Western Bloc) था और इसके पूर्व में सोवियत संघ या पूर्वी खंड (Eastern Bloc) था। धीरे-धीरे अधिकांश विश्व का ध्रुवीकरण हो गया। दोनों महाशक्तियां समस्त देशों के साथ अपने संबंधों के भविष्य को, उन देशों की अपनी शत्रु महाशक्ति के साथ घनिष्ठता या दूरी के आधार पर मूल्यांकित करने लगीं।

शीत युद्ध शीत ही रहा, गरमाया नहीं। तथापि विश्व मानो बारूद के विशाल ढेर पर बैठा रहा और प्रतीक्षा करता रहा कि कब दोनों में से कोई भी एक महाशक्ति उस ढेर में छोटी-सी चिनगारी डालकर युद्ध की भीषण ज्वाला भड़का दे। दोनों महाशक्तियों के बीच वैमनस्यपूर्ण संबंध थे और जिनका प्रभाव इनके मित्र-देशों पर भी पड़ा और विश्व को समझने का उनका दृष्टिकोण भी प्रभावित हुआ। दोनों पक्षों द्वारा अनेक समझौते किए गए ताकि वे अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों को सुरक्षित कर सकें। दोनों पक्षों की ओर से अपने-अपने एजेंट और गुप्तचर तैनात किए गए ताकि प्रतिपक्षी की प्रणालियों में घुसपैठ की जा सके और तनाव पैदा किया जा सके। किंतु कुल मिलाकर दोनों महाशक्तियों ने जिम्मेदारी की भावना से आचरण किया। वे इस बात के प्रति सचेत रहे कि युद्ध कई बार दुर्घटनावश भी शुरू हो जाते हैं। अतः इस बात को समझते हुए कि अगर ऐसा कोई युद्ध हुआ तो अधिकांश मानवता और निःसंदेह मानव सभ्यता इस दुनिया से मिट जाएगी, प्रत्यक्ष संघर्ष से बचने के लिए हर संभव उपाय किया गया।

शीत युद्ध का उद्भव

मित्र राष्ट्रों और सोवियत संघ के बीच के संबंध तब तक अत्यंत तनावपूर्ण रहे जब तक 1941 में हिटलर ने रूस पर अपना आक्रमण आरंभ नहीं कर दिया। इसके उपरांत अमेरिका ने उधार-पट्टा प्रणाली (Lend-Lease System) के अंतर्गत विशाल मात्रा में युद्ध सामग्री और मानवीय सहायता की आपूर्ति सोवियत संघ को की। इस लैंड-लीज प्रणाली के अंतर्गत इस सहायता-आपूर्ति का भुगतान बाद में किया जाना था। अमेरिका के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के स्टालिन के साथ अच्छे कारगर संबंध थे, किंतु रूज़वेल्ट के उत्तराधिकारी हैरी एस.ट्रूमैन को स्टालिन की मंशाओं पर अत्यधिक संदेह था।

दूसरी ओर, स्टालिन को यह आशंका थी कि नाज़ी जर्मनी को पराजित कर देने के बाद अमेरिका और ब्रिटेन अपनी सारी युद्ध-मशीनरी का प्रयोग

सोवियत संघ के खिलाफ करेंगे। फरवरी 1945 में, रूज़वेल्ट, स्टालिन और विन्स्टन चर्चिल, इन तीन बड़े नेताओं का एक शिखर सम्मेलन सोवियत संघ में याल्टा में हुआ जिसका उद्देश्य युद्धोत्तर विश्व के बारे में योजना बनाना था क्योंकि इस समय तक जर्मनी की पराजय निश्चित दिखने लगी थी। इस सम्मेलन में यह निर्णय किया गया कि राष्ट्र संघ के स्थान पर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की जाएगी। जर्मनी को तीन भागों में बांटा जाएगा, ब्रिटिश जोन, अमेरिकी जोन और सोवियत जोन। फ्रांसीसी जोन को बाद में शामिल किया गया। बर्लिन, जो कि जर्मनी के मध्य में पड़ता है, को भी इसी प्रकार तीन (बाद में चार) भागों में विभाजित किया जाएगा। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यह निर्णय भी किया गया कि नाज़ी शासन से मुक्त हुए समस्त देशों में विजेता शक्तियों द्वारा मुक्त लोकतंत्रों की स्थापना की जाएगी और इन देशों के लोगों को चुनाव के माध्यम से अपनी सरकारें चुनने की अनुमति होगी। अंत में, सोवियत संघ जापान के खिलाफ युद्ध में इस शर्त पर शामिल होगा कि इसे सखालिन द्वीपसमूह और मंचूरिया में कुछ भू-भाग प्राप्त होगा।

हालांकि याल्टा बैठक सफल रही किंतु वार्ताओं के अनुवर्ती दौर, जो उस वर्ष जुलाई में चर्चिल, स्टालिन और ट्रूमैन के बीच चला था (रूज़वेल्ट का अप्रैल 1945 में निधन हो चुका था), से पहली बार यह पता चला कि तीनों शक्तियों के बीच मधुर संबंध नहीं थे। जर्मनी के दीर्घकालीन भविष्य पर कोई निर्णय नहीं लिया जा सका। झगड़े की सबसे बड़ी जड़ पोलैंड था। पूर्वी जर्मनी का बहुत बड़ा हिस्सा सोवियत संघ के कब्जे में रखकर स्टालिन ने अपना वचन तोड़ दिया था। यहां तक कि वहां उसने साम्यवाद समर्थक शासन व्यवस्था स्थापित की, जिसने जर्मनी के लोगों पर अत्याचार करने शुरू कर दिए और जर्मनी के लोग वहां से बहुत अधिक संख्या में निष्कासित किए जाने लगे।

शीत युद्ध के चरण

साम्यवादी खेमे वाले राज्य

स्टालिन ने पोलैंड, हंगरी, बुल्गारिया, अल्बेनिया और रूमानिया में कठपुतली साम्यवादी सरकारें स्थापित करके संकट को और गहरा कर दिया। इनमें से अधिकांश देशों में राजनीतिक विरोधियों को योजनाबद्ध तरीके से समाप्त किया जा रहा था। हंगरी में, जहां सोवियतों ने चुनाव की अनुमति दे दी थी, साम्यवादियों को 20 प्रतिशत से भी कम वोट मिले किंतु स्टालिन ने अपने सैनिकों को व्यापक नरसंहार करने और गैर-साम्यवादियों को आतंकित करने के आदेश दे दिए। 1947 के अंत तक चेकोस्लोवाकिया के अलावा, प्रत्येक पूर्वी यूरोपीय देश में स्टालिनवादी सरकार बन गई थी। यूगोस्लाविया का मामला भिन्न था। वहां मार्शल टीटो जिसने नाज़ियों के खिलाफ वीरोचित देशभक्तिपूर्ण संघर्ष किया था, को 1945 में राष्ट्रपति चुना गया। चूंकि वहां कोई सोवियत सेना तैनात नहीं थी, अत: स्टालिन चाहकर भी टीटो के खिलाफ कोई कार्रवाई न कर सका।

फरवरी 1946 में, स्टालिन ने अपनी मुख्य मंशाएं एक भाषण में व्यक्त कर डालीं जिसमें उसने कहा कि साम्यवाद और पूंजीवाद शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में कभी भी नहीं रह सकते। उसने यह भी कहा कि जब तक विश्व भर में साम्यवाद की अंतिम रूप से विजय नहीं हो जाती

मार्शल टीटो

तब तक युद्ध होते ही रहेंगे। फरवरी 1948 में, पूर्वी यूरोप का अंतिम स्वतंत्र देश चेकोस्लोवाकिया जिसमें 1946 के चुनाव के बाद साम्यवादियों और अन्य वामपंथी दलों की मिली-जुली सरकार थी, यहां भी मास्को के प्रायोजन से सैनिक विद्रोह हुआ और साम्यवादियों ने सरकार पर पूरी तरह कब्जा कर लिया। इससे पूरा विश्व स्तब्ध रह गया।

मार्च 1947 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ऐतिहासिक ट्रूमैन सिद्धांत की घोषणा की जिसमें उसने कहा कि अब से अमेरिका 'उन स्वतंत्र लोगों का समर्थन करेगा जो सशस्त्र अल्पसंख्यकों या बाह्य दबावों की अधीनता का विरोध कर रहे हैं।' यूनान की स्थिति को देखते हुए तो इसकी आवश्यकता और भी बढ़ गई। वहां युद्ध के बाद देश के साम्यवादियों ने गृहयुद्ध आरंभ कर दिया था। ट्रूमैन सिद्धांत में स्पष्ट रूप से यह भी कहा गया था कि 'अमेरिका साम्यवाद को नियंत्रित करने की नीति' के प्रति वचनबद्ध था, न केवल यूरोप में बल्कि दुनिया-भर में।

मार्शल योजना और *कॉमिन्फोर्म*

द्वितीय विश्वयुद्ध ने अमेरिकी प्रभाव वाले पश्चिमी यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर दिया था। जून 1947 में अमेरिका के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट जार्ज सी. मार्शल ने यूरोपीय पुनरुद्धार कार्यक्रम (Recovery Programme) की घोषणा की जिसके तहत इन सब देशों को अपनी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए वित्तीय सहायता की पेशकश की गई। ऐसा यूरोप की अर्थव्यवस्थाओं में नए प्राणों का संचार करने के लिए किया गया था ताकि प्रमुख बाज़ार (Prime Market) खोले जा सकें। किंतु इसका इससे भी बड़ा उद्देश्य था अमेरिका के 16 मित्र राष्ट्रों की युद्धोत्तर गरीबी की समस्या को दूर करना। गरीबी, साम्यवाद को जन्म देती है और अमेरिकी सरकार ने इस बात को गंभीरता से लेने का निर्णय किया।

हालांकि मार्शल ने अपनी योजना की पेशकश पूर्वी यूरोप के देशों से भी की थी किंतु उनकी सरकारें स्वयं कोई निर्णय लेने में अक्षम थीं। सोवियतों ने 'डॉलर साम्राज्यवाद' कह कर मार्शल योजना की भर्त्सना की और उसके अंतर्गत दी जाने वाली धनराशियों को लौह आवरण की पूर्वी दिशा में बहने से रोका।
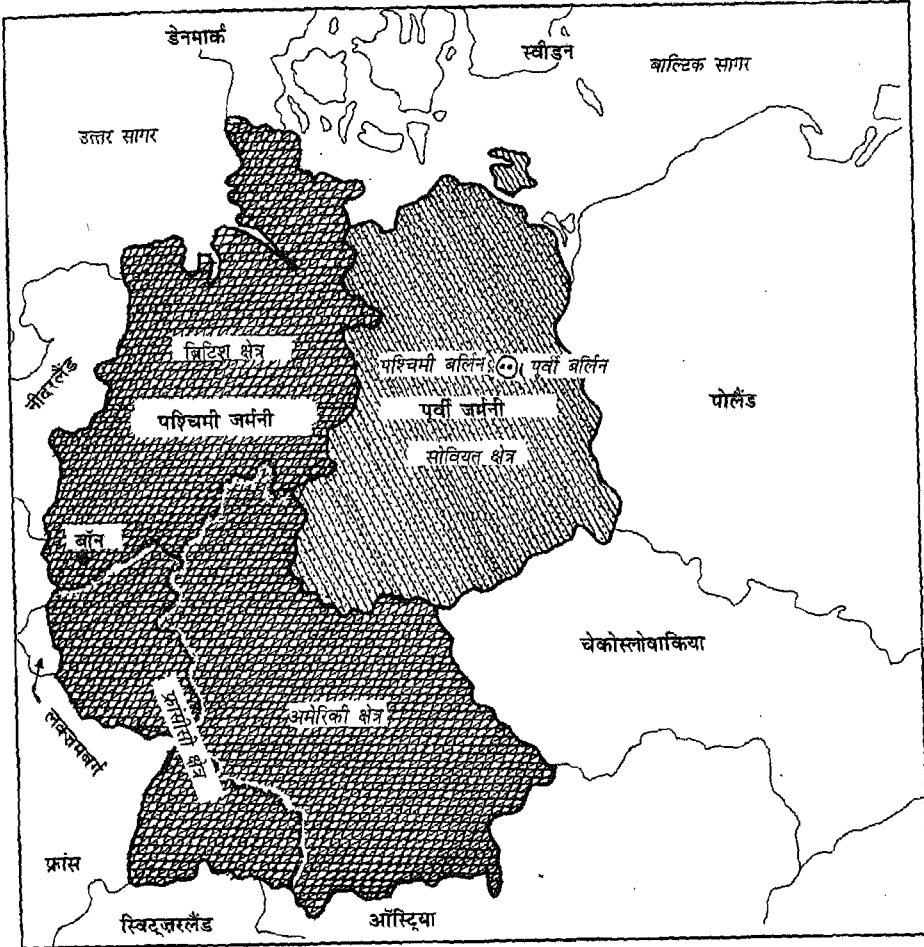
द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी

सितंबर 1947 में कॉमिन्फोर्म की स्थापना करके स्टालिन ने मार्शल योजना का जवाब दिया। इसने सोवियत शैली के साम्यवाद की श्रेष्ठता का दावा किया। स्टालिन ने पूर्वी खंड के औद्योगीकरण के लिए सहायता का वचन दिया। उसने यह घोषणा की कि पूर्वी खंड के देश केवल आपस में ही व्यापार करेंगे। जब यूगोस्लाविया ने इस नीति का विरोध किया तो उसे कॉमिन्फोर्म से बाहर निकाल दिया गया। मार्शल योजना के सोवियत रूप 'मोलोतोव योजना' के अंतर्गत व्यापक रूप से जिन देशों को वित्तपोषित किया जाना था उन देशों के आर्थिक विकास में समन्वय स्थापित करने के लिए 'कामेकोन' (परस्पर आर्थिक सहायता परिषद्) नामक संगठन की भी स्थापना की गई।

बर्लिन की नाकाबंदी

शीत युद्ध के आरंभिक चरण का सबसे बड़ा संकट था बर्लिन की नाकाबंदी, जो 1948 में शुरू हुई। स्टालिन न केवल जर्मनी में सोवियत प्रभाव वाले क्षेत्र में मार्शल योजना को लागू करने से रोक रहा था बल्कि अपने नियंत्रण में आने वाले क्षेत्र का भी शोषण कर रहा था। जर्मनी के नागरिक भूखे मर रहे थे और लाल सेना के अधीन उनकी स्थिति लगभग गुलामों जैसी हो गई थी। इस दौरान ब्रिटिश, अमेरिकी और फ्रांसीसी जोनों का एकल आर्थिक इकाई के रूप में विलय हो चुका था और वे अपनी आर्थिक स्थिति में तेजी से सुधार कर रहे थे। अत: हजारों शरणार्थी पश्चिम की ओर पलायन करने लगे।

पश्चिमी और पूर्वी बर्लिन के बीच सोवियतों ने सभी सड़कें, रेलें और संपर्क मार्ग सील कर दिए। अत: पश्चिमी सहायता पूर्वी बर्लिन में फंसे लोगों तक न पहुंच सकी। वे भुखमरी के कगार पर थे। अत: अमेरिका ने भोजन और अन्य अनिवार्य वस्तुएं विमान द्वारा भेजने का निर्णय लिया, भले ही इससे सोवियत हवाई क्षेत्र में घुसपैठ का अर्थ निकलता था। 10 माह तक यह सप्लाई लाइन जारी रही। सोवियतों में इसे रोकने का साहस नहीं था और अंतत: 1949 में उन्होंने नाकाबंदी हटा ली।

नाटो का गठन

अपनी सफलता से प्रोत्साहित होकर पश्चिमी शक्तियों ने अपने बीच एक सामरिक गठजोड़ बनाने का निर्णय किया ताकि सोवियत संघ द्वारा समर्थित पश्चिमी यूरोप पर साम्यवादी हमले को रोका जा सके। उत्तर अटलांटिक संधि संगठन (North Atlantic Treaty Organisation-NATO) का निर्माण अप्रैल 1949 में घोषित किया गया। इसका एक मुख्य आधार यह था कि नाटो देश 10 संस्थापक देशों में से किसी देश पर भी हुए हमले को अपने ऊपर हुआ हमला मानने को सहमत थे। आगामी कुछ वर्षों में पश्चिमी गोलार्ध की रक्षा के लिए नाटो एक शक्तिशाली सैनिक गुट के रूप में विकसित हो गया। सोवियतों ने 1954 में नाटो का अपना संस्करण स्थापित किया जिसे 'वारसा पैक्ट' या वारसा समझौता कहा गया।

हम एक पूर्ववर्ती अध्याय में यह देख चुके हैं कि परमाणु क्षमता प्राप्त करने वाला पहला देश अमेरिका था और द्वितीय विश्वयुद्ध को समाप्त करने के लिए नागासाकी और हिरोशिमा पर अमेरिका द्वारा एटम बम गिराने की दुनिया भर में निंदा की गई थी। स्टालिन ने अपने दुनिया भर में फैले गुप्तचरों को अमेरिकी रहस्य यानी गुप्त ज्ञान चुराने के लिए कहा। पश्चिमी देशों में साम्यवादी झुकाव वाले अनेक लोग थे जो सोवियत संघ को अपना सच्चा राष्ट्र मानते थे। उनकी विश्वासघाती गतिविधियों ने एटम बम बनाने की विधि के ब्लूप्रिंट स्टालिन को उपलब्ध कराने में सहायता की। फिर उसने अपने चोटी के परमाणु वैज्ञानिकों को दूरवर्ती कज़ाकिस्तान के एक गुप्त स्थान पर ठहराया और परमाणु बम तैयार करने के लिए उन पर दबाव डाला। सितंबर 1949 में प्रथम सोवियत बम का परीक्षण किया गया। इस प्रकार, परमाणु हथियारों की दौड़ शुरू हुई जो आज तक विश्व शांति के लिए लगातार खतरा बनी हुई है। इसके प्रत्युतर में ट्रूमैन ने एक हाइड्रोजन बम के परीक्षण का आदेश दिया जो एटम बम से कई गुना अधिक शक्तिशाली होता है। फिर तो हथियारों की इस दौड़ में धीरे-धीरे सभी देश शामिल होने लगे

और बहुमूल्य संसाधनों का प्रयोग विकास कार्यों के स्थान पर हथियारों की प्राप्ति के लिए किया जाने लगा।

स्टालिन युग का अंत

जोसेफ स्टालिन की मृत्यु 5 मार्च 1953 को हुई (नए सबूतों के अनुसार शायद उसकी हत्या उसके घनिष्ठ मित्रों ने की थी) और इसके साथ ही शीत युद्ध के सबसे खतरनाक चरण का भी अंत हो गया। स्टालिन के युद्धोत्तेजक स्वभाव ने सोवियत साम्यवादी दल के शीर्षस्थ स्तरों के पदाधिकारियों में भी चिंता पैदा कर दी थी। उसके उत्तराधिकारी गिओर्गी मालेन्कोव और निकिता ख्रुश्चेव अमेरिका के साथ शांतिपूर्ण संबंध कायम करने के पक्षधर थे। 1956 के अपने प्रसिद्ध भाषण में ख्रुश्चेव ने स्टालिन के विश्व दृष्टिकोण में यह कहकर सैद्धांतिक संशोधन किया कि, "पश्चिम और पूर्व के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व न केवल संभव था, बल्कि अनिवार्य भी था। केवल दो ही रास्ते हैं या तो शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व या इतिहास का सर्वाधिक विनाशकारी युद्ध। तीसरा कोई रास्ता नहीं हैं।" यह घोषणा ख्रुश्चेव ने की थी हालांकि ख्रुश्चेव ने विश्व साम्यवाद का विचार त्यागा नहीं था लेकिन वह इसकी प्राप्ति के लिए युद्ध में विश्वास नहीं करता था।

संबंधों में जमी बर्फ पिघलने लगी। ख्रुश्चेव ने अनेक महत्त्वपूर्ण रियायतें दीं; जैसे - फिनलैंड में सोवियत संघ के सैनिक अड्डों को उसने खत्म किया; 16 नए सदस्य राष्ट्रों के प्रवेश पर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में सोवियत वीटो को समाप्त किया; यूगोस्लाविया के साथ अपने संबंधों को सुधारा और औपचारिक रूप से कॉमिन्फोर्म का परित्याग कर दिया।

किंतु अपने अनुगामी राज्यों पर सोवियत संघ के कड़े नियंत्रण को शिथिल करने का उसका कोई इरादा नहीं था। 1956 में हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट में जनता ने बगावत की। इसे अत्यंत पाशविक तरीके से कुचलने के लिए ख्रुश्चेव ने सैनिक टुकड़ियां भेजीं। इससे विश्व को यह पता चला कि 'पिघलन' सतही थी। इसके बाद ख्रुश्चेव ने वारसा समझौता (1955) किया जिसमें अल्बेनिया, बुल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैंड, रूमानिया और सोवियत संघ शामिल थे। उन्होंने मास्को में एकीकृत सैनिक कमान बनाई।

ख्रुश्चेव ने सोवियत संघ को सर्वाधिक उन्नत हथियारों से लैस कर दिया। हाइड्रोजन बम के प्रत्युत्तर में सोवियत संघ ने एजेंटों के परिचित नेटवर्क का प्रयोग करते हुए और पश्चिम में विश्वासघाती और साम्यवाद के प्रति सहानुभूति रखने वाले लोगों की सहायता से हाइड्रोजन बम बनाया। एक बमवर्षक विमान तैयार किया गया जो अमेरिका तक मार कर सकता था। सोवियत संघ ने अंतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र (Intercontinental Ballistic Missile - ICBM) भी विकसित कीं। इस प्रक्षेपास्त्र पर नाभिकीय अग्रभाग या स्फोटक शीर्ष लगा होता है। इस मिसाइल की मार अमेरिका तक थी और यह अमेरिकी शहरों को ध्वस्त कर सकती थी। इसके जबाव में अमेरिका ने अपनी आई.सी.बी.एम. 'एटलस' तैयार की। हथियारों की यह दौड़ चलती रही और इसमें प्रत्येक प्रकार और दूरी की मिसाइलें, विमान, पोत, पनडुब्बियां शामिल होती रहीं। यहां तक हुआ कि हथियारों की यह दौड़ अंतरिक्ष तक
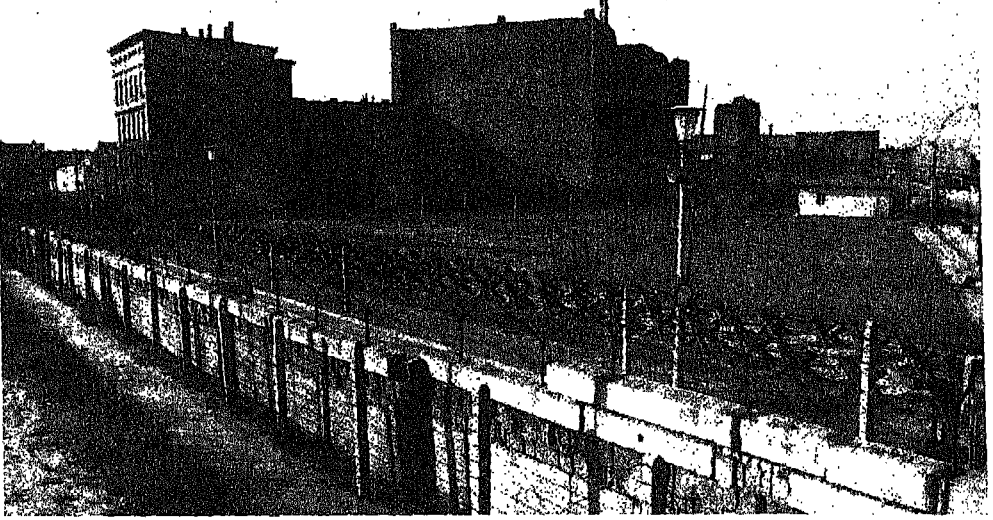
बर्लिन की दीवार

भी पहुंच गई। जब सोवियत संघ ने 1958 में विश्व का प्रथम कृत्रिम उपग्रह 'स्पूतनिक I' सफलतापूर्वक प्रक्षेपित किया तो अमेरिका ने भी अपना कृत्रिम उपग्रह 'एक्सप्लोरर I' छोड़ा।

ख्रुश्चेव ने भी खतरनाक भावभंगिमाएं दिखाईं जिससे शीत युद्ध का जारी रहना सुनिश्चित हो गया। 1958 तक ख्रुश्चेव के वैज्ञानिक, हथियारों की दौड़ में सोवियत संघ को पश्चिम की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध कर चुके थे। इसका लाभ उठाने का निर्णय लेते हुए उसने उसी वर्ष यह घोषणा की कि सोवियत संघ पश्चिमी बर्लिन में पश्चिमी ताकतों के अधिकारों को अब आगे मान्यता नहीं देगा। इसके जवाब में अमेरिका ने यह घोषणा की कि सोवियत हमले की किसी भी चेष्टा का वह करारा जवाब देगा। हालांकि ख्रुश्चेव ने इस बात पर अधिक बल नहीं दिया फिर भी बर्लिन दोनों देशों के बीच तनाव का मुद्दा बन गया। 1961 में सोवियतों ने बर्लिन की कुख्यात दीवार बनाई ताकि पूर्वी जर्मनी के लोगों का पश्चिमी जर्मनी में जो पलायन हो रहा था उसे रोका जा सके। अगले 29 वर्षों तक बर्लिन की दीवार जर्मनों के लिए अपमान के प्रतीक के रूप में खड़ी रही और उन्हें निरंतर उसके बलात् विभाजन की याद दिलाती रही। सैकड़ों लोगों ने इसे फलांगने का साहसिक प्रयास किया किंतु उनमें से अधिकांश लोग इस प्रक्रिया में साम्यवादी पुलिस की गोली का शिकार हो गए।

क्यूबा का मिसाइल संकट

जनवरी 1959 में क्यूबा में साम्यवादी शासन स्थापित हो गया जब फिदेल कास्त्रो के नेतृत्व में गुरिल्ला सेना ने भ्रष्ट बातिस्ता सरकार को सत्ता से बेदखल कर दिया। क्यूबा के साथ अमेरिका के अनेक व्यावसायिक हित जुड़े हुए थे। कास्त्रो ने तत्काल आक्रामक रुख अपनाया और उसने अमेरिकी बस्तियों

और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। हजारों क्यूबावासी नौकाओं में बैठकर अमेरिका को पलायन कर गए ।

राष्ट्रपति ड्वाइट डी. आइजनहॉवर ने क्यूबा के प्रति आक्रामक नीति अपनाने का निर्णय किया। सी.आई.ए. ने क्यूबा पर हमले के लिए अमेरिका में क्यूबाई शरणार्थियों की एक गुप्त सेना बनानी शुरू कर दी ताकि साम्यवादी सत्ता को पदच्युत किया जा सके। आइजनहॉवर के उत्तराधिकारी राष्ट्रपति जान एफ. केनेडी ने इस सेना को गुआंतानामो की खाड़ी में स्थित अमेरिकी सैनिक ठिकाने से हमला करने का संकेत दिया। 1400 लोगों की एक छोटी-सी सेना अप्रैल 1961 में पिग्स की खाड़ी में उतरी। यह सैनिक कार्रवाई सुनियोजित नहीं थी और कास्त्रो की फौजों को, घुसपैठियों को खदेड़ने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

इस बीच सोवियत संघ क्यूबा को भारी मात्रा में आर्थिक सहायता देता रहा ताकि क्यूबा की नाकाबंदी करने की अमेरिकी नीति के कारण क्यूबा की अर्थव्यवस्था में जो संकट आया था उससे क्यूबा को उबारा जा सके। 1962 में अमेरिकियों को यह जानकर धक्का लगा कि सोवियतों ने क्यूबा के भीतर मिसाइल अड्डे स्थापित कर लिए थे और उपग्रहों तथा विमानों से लिए गए चित्रों से इस बात की पुष्टि भी हो गई थी। इसका अर्थ यह था कि युदध की स्थिति में अमेरिका पर मिसाइलों द्वारा बमवर्षा की जा सकती थी और अमेरिकियों को इससे सीधे खतरा उठाना पड़ सकता था। सोवियत संघ ने 1 सितंबर 1961 को पृथ्वी के वातावरण में बमों का परीक्षण दोबारा शुरू कर दिया, इसके जबाव में अमेरिका ने एक बार फिर भूमिगत परमाणु परीक्षण आरंभ कर दिए।

संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव यू. थांट ने दोनों पक्षों से संयम बरतने की अपील की। यह संकट कुछ ही दिन रहा। इसे मिटाने का श्रेय थांट को जाता है। ख्रुश्चेव ने क्यूबा से मिसाइलें हटाने का वचन दिया लेकिन इस शर्त पर कि अमेरिका क्यूबा पर हमला न करे। प्रत्युत्तर में केनेडी तुर्की में अमेरिकी मिसाइलों को विखंडित करने के लिए तैयार हो गया। दोनों देशों के नेताओं के बीच एक टेलीफोन संपर्क स्थापित किया गया, जिसे 'हॉट लाइन' कहा गया ताकि संकट की किसी भी स्थिति में दोनों पक्षों के नेता तुरंत परस्पर परामर्श कर सकें।

क्षेत्रीय सैनिक गठबंधन

शीत युद्ध के वर्षों में दोनों महाशक्तियों से राष्ट्र समूहों को होने वाले आम खतरे का डर बढ़ता जा रहा था। अत: सुरक्षा के लिए वे दोनों में से किसी एक महाशक्ति की छत्रछाया में एकजुट होने लगे। नाटो ऐसा सबसे बड़ा राजनीतिक-सैनिक गठबंधन था किंतु छोटे गठबंधन भी थे। उदाहरण के लिए, अमेरिका-जापान और अमेरिका-कोरिया के बीच पारस्परिक सुरक्षा संधियां हुईं। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और अमेरिका ने 'एनजुस' (ANZUS) गठबंधन बनाया। 1954 में अमेरिका ने नाटो की तर्ज पर एक सामान्य ढांचे के अंतर्गत अधिकांश दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों को मिलाकर 'सिएटो' (SEATO) की स्थापना की। 1955 में अरब देशों के साथ इसी प्रकार का एक निकाय स्थापित किया गया जिसे 'सेंटो' या सेंट्रल ट्रीटी आर्गेनाइजेशन (CENTO) यानी केंद्रीय संधि संगठन कहा गया। हालांकि ये गठबंधन सुदृढ़ तो लगे लेकिन ये व्यावहारिक नहीं थे।

बांदुंग सम्मेलन (1955)

1950 के दशक के मध्य तक घटी घटनाओं के कारण चिंता बढ़ती जा रही थी। विश्व का अधिकाधिक सैन्यीकरण हो रहा था और विश्व दो विरोधी खेमों में बंटता जा रहा था। विनाशकारी परिणामों वाले युद्ध की संभावना चारों ओर नजर आ रही थी। गरीबी, असमानता और उपनिवेशवाद जैसे मानवता के लिए चिंताजनक विषयों पर ध्यान नहीं दिया जा रहा था। अधिकांश राष्ट्रों के नेताओं ने यह महसूस किया कि स्थिति बदलनी चाहिए। इंडोनेशिया, सिलोन (श्रीलंका) और फिलिपीन्स के नेताओं ने इस मामले पर विश्व का ध्यान केंद्रित करने के लिए एक उच्चस्तरीय सम्मेलन का प्रायोजन किया। तदनुसार 1955 में इंडोनेशिया के बांदुंग शहर में 29 अफ्रीकी और एशियाई राष्ट्रों के नेताओं और प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ।

इस सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिष्ठित व्यक्तियों में भारत के जवाहर लाल नेहरू, मिस्र के गमाल अब्दुल नासिर, चीन के झाऊ एनलाई, वियतनाम के हो ची मिन, गोल्ड कोस्ट (बाद में इसका नाम घाना हुआ) के क्वामे एनक्रूमा शामिल थे। शीत युद्ध के दौर में एशियाई और अफ्रीकी देशों की तटस्थता का सबसे बड़ा प्रवक्ता नेहरू को माना गया। इससे पहले नेहरू ने 1927 में ब्रूसेल्स, बेल्जियम में उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं की कांग्रेस के सम्मेलन में भारतीय कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लिया था। उसमें व्यक्त किए गए विचारों के प्रभाव से उनके दृष्टिकोण का निर्माण हुआ था। 1947 में नई दिल्ली में उन्होंने पहले एशियाई संबंध सम्मेलन की मेजबानी की थी।

बांदुंग सम्मेलन का उद्देश्य विश्व के गरीब देशों के बीच सांस्कृतिक और आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना और उपनिवेशवाद का विरोध करना था। इसमें दक्षिण अफ्रीका, इज़राइल, ताईवान, दक्षिण कोरिया और उत्तर कोरिया को आमंत्रित नहीं किया गया था। इस सम्मेलन की परिणति अंततः 1961 में गुट-निरपेक्ष आंदोलन के रूप में हुई।

गुट-निरपेक्ष आंदोलन (NAM) का अस्तित्व आरंभ से ही सशंकित रहा है। 150 से अधिक राष्ट्र इसके सदस्य हैं जिनमें से अनेक राष्ट्र आपस में झगड़ों में उलझे हुए हैं। 2003 में गुट-निरपेक्ष आंदोलन का 16वां शिखर सम्मेलन आंदोलन को अधिक प्रासंगिक बनाने के प्रयोजन से कुआलालंपुर में आयोजित किया गया। आमतौर पर यह अनुभव किया जाता है कि शीत युदध के वर्षों के दौरान इस आंदोलन ने महाशक्तियों की हथियारों की दौड़ और सैनिक सशक्तीकरण के खिलाफ एक नैतिक अवरोध की भूमिका निभाई। महाशक्तियों के व्यवहार की भर्त्सना करने के लिए अनेक संकल्प पारित किए गए। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के वर्षों के दौरान इस आंदोलन ने अफ्रीकी जनता के दुखों और कष्टों को उजागर करने में प्रमुख भूमिका निभाई।

तथापि गुट-निरपेक्ष आंदोलन अपने शिखर सम्मेलनों के बीच के समय अधिकांशतः निष्क्रिय रहता है। इसका कोई स्थायी सचिवालय नहीं है। इसके अनेक कल्पनाशील नेताओं ने अतीत में भी इसे एक विकासोन्मुख दृष्टि प्रदान करने का दक्षिण से दक्षिण को सहयोग या गरीब देश से गरीब देश को अधिकाधिक सहायता प्रदान करने का प्रयास किया, लेकिन अपने इस उद्देश्य में यह असफल रहा। ऐसा नहीं है कि इसके समस्त सदस्य गरीब ही हैं। इसके सदस्यों में अनेक तेलसंपन्न अरब राष्ट्र हैं और अत्यधिक उन्नत दक्षिण-पूर्वी एशियाई देश भी हैं।

गुट-निरपेक्ष आंदोलन का ईरान-इराक युद्ध पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा, इस युद्ध में इसके दो सदस्य देश लंबे समय तक उलझे रहे। जब 1979 में अफगानिस्तान पर सोवियत संघ ने हमला किया तब भी यह आंदोलन बहुत कुछ नहीं कर सका। इस आंदोलन की अनेक गंभीर समस्याएं थीं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या थी इसके सदस्यों का आर्थिक सहायता के लिए महाशक्तियों पर निर्भर रहना। शीतयुद्ध समाप्त होने के बाद सिएटो और सेंटो की तरह, जो तब तक अप्रासंगिक हो चुके थे, इसे भी समाप्त करने की बात चली। किंतु अनेक सदस्य देशों ने यह महसूस किया कि चूंकि द्विध्रुवीयता का स्थान कहीं अधिक खतरनाक एकध्रुवीयता ने ले लिया था (इस समय अमेरिका विश्व की एकमात्र महाशक्ति है) अत: गुट-निरपेक्ष आंदोलन के इतने वर्षों के अनुभव को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए बल्कि इसका प्रयोग संपूर्ण विश्व पर एक अकेली महाशक्ति के प्रभुत्व को कायम होने से रोकने के लिए किया जाना चाहिए। फिर भी लक्ष्यों के पुन: निर्धारण के बावजूद 2003 के इराक संकट में गुट निरपेक्ष आंदोलन अपने लिए कोई भूमिका नहीं तलाश सका।

नि:शस्त्रीकरण और शस्त्र-नियंत्रण

1963 में दोनों महाशक्तियों ने एक नाभिकीय परीक्षण प्रतिबंध संधि करने का निर्णय लिया जिससे अमेरिका और सोवियत संघ के बीच तनाव कम होना शुरू हो गया। यह तनाव-शैथिल्य के दौर की शुरुआत थी। इसके अंतर्गत ब्रिटेन, सोवियत संघ और अमेरिका पृथ्वी पर, पानी के नीचे और बाह्य अंतरिक्ष में परमाणु अस्त्र परीक्षण को गैर-कानूनी मानने पर सहमत हो गए।

जैसे-जैसे 1960 का दशक बीतता गया दोनों महाशक्तियों ने धीरे-धीरे यह अनुभव किया कि व्यापक जनसंहार के अधिकाधिक हथियार प्राप्त करने से कोई लाभ नहीं होने वाला है। एक महाशक्ति कुछ समय के लिए आगे निकल सकती है किंतु यह निश्चित है कि दूसरी महाशक्ति उसे पीछे छोड़ देगी क्योंकि इन हथियारों का विकास निरंतर हो रहा था। इसलिए अब वह बल हथियारों को कम करने और चरणबद्ध ढंग से इन्हें पूरी तरह समाप्त करने पर दिया जा रहा था।

1967 में अमेरिका, सोवियत संघ और 60 अन्य देशों ने बाह्य अंतरिक्ष संधि पर हस्ताक्षर किए जिसने बाह्य अंतरिक्ष को शांति क्षेत्र बनाया। अगली ऐतिहासिक संधि पर परमाणु बमों के प्रसार को सीमित करने के लिए हस्ताक्षर किए गए। इसे परमाणु शस्त्र अप्रसार संधि कहा गया, जिस पर अमेरिका, सोवियत संघ और 58 अन्य राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किए थे। यह 5 मार्च 1970 से प्रभावी हुई जिसके अंतर्गत अमेरीका और सोवियत संघ अन्य देशों को परमाणु शस्त्रास्त्र या उनकी तकनीकी जानकारी न देने पर सहमत हो गए। इस संधि ने उन देशों पर भी परमाणु परीक्षण न करने का प्रतिबंध लगा दिया जो अभी बम का निर्माण करने में सक्षम नहीं थे। किंतु भारत ने इस संधि का समर्थन नहीं किया क्योंकि भारत ने अनुभव किया कि या तो विश्व के सभी देश परमाणु हथियारों का त्याग कर दें या जिस देश को इन हथियारों से खतरा है उन्हें इसे विकसित करने की अनुमति दी जाए। इसलिए भारत और कुछ अन्य देशों ने अप्रसार संधि (NPT) को भेदभावपूर्ण माना।

एक मुख्य उपलब्धि थी सामूहिक शस्त्र परिसीमन संधि (SALT-I) पर हस्ताक्षर। इस संधि पर

26 मई 1972 को हस्ताक्षर किए गए। इसने सभी प्रकार की दूरियों की मिसाइलों (ABM और ICBM) और पनडुब्बी से छोड़ी जाने वाली बैलिस्टिक मिसाइलों के विकास पर रोक लगा दी। इस संधि ने पारस्परिक सुनिश्चित विनाश (MAD) को संस्थापित किया जिसके द्वारा कोई भी देश दूसरे के शस्त्रास्त्र से प्राप्त प्रत्येक शक्ति द्वारा अनुभूत सुरक्षा-मात्रा से समानता पाने का हकदार था। यह इस भय पर आधारित था कि जिस किसी भी क्षण कोई भी शक्ति कोई ऐसी प्रणाली प्राप्त करती है जिससे उसे थोड़ी अधिक सुरक्षा प्राप्त हुई, उसी क्षण अन्य शक्ति को बाध्य होकर ऐसे हथियारों का विकास करना होगा जो नई संभावनाओं और क्षमताओं से युक्त हो। इस प्रकार साल्ट-I संधि महाशक्तियों की आक्रामक और रक्षात्मक, दोनों प्रकार की क्षमताओं की एक प्रकार की यथास्थिति सृजित करने में काफी हद तक सक्षम रही।

1979 में इसमें सुधार करने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर और सोवियत संघ के राष्ट्रपति लियोनिद ब्रेज़नेव ने द्वितीय साल्ट संधि (SALT-II) पर वार्ता आरंभ की ताकि वे अपने-अपने शस्त्र भंडारों में लंबी दूरी की मिसाइलों की संख्या सीमित कर सकें। उन्होंने यह वायदा किया कि एक पारदर्शी संरचनात्मक संवाद आरंभ किया जाएगा जिसकी समाप्ति पर विश्वास और मैत्री के माहौल में अंतिम समझौते पर हस्ताक्षर किए जाएंगे। किंतु उसी वर्ष सोवियत संघ ने अफगानिस्तान पर कब्जा कर लिया और वार्ता विफल हो गई। वारसा संधि वाले देशों द्वारा विकसित एस.एस.-20 मिसाइलों के प्रत्युत्तर में यूरोप में मध्यवर्ती दूरी के परमाणु शस्त्रों की 'द्विमार्गीय' तैनाती की जब नाटो ने घोषणा की, उस समय तनाव और भी उग्र हो गया।

किंतु इसके बावजूद वे अपने-अपने शस्त्र-भंडारों को सीमित करने के तरीकों पर बात करते रहे। 1982 में राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने सामरिक बलों में महत्त्वपूर्ण कटौतियों की पेशकश की जिसे शून्य विकल्प (Zero Option) कहा गया और जो परमाणु प्रक्षेपास्त्रों के एक पूरे वर्ग को समाप्त कर देता। आगामी वर्ष में उन्होंने अमेरिकी सामरिक शस्त्र कटौती संधि ('Strategic Arms Reduction Treaty'-START) की रूपरेखा तैयार की जिसमें यह प्रस्तावित किया गया था कि दोनों पक्ष आई.सी.बी.एम. की संख्या में कटौती करेंगे और युद्ध के खतरे को कम करने और प्रत्येक के पास जो सामरिक परमाणु हथियार हैं, उनमें कटौती करने के लिए एक सत्यापनीय समझौते पर सहमति बनाएंगे। सोवियत संघ इस पर राजी हो गया और उस वर्ष जून में 'स्टार्ट' वार्ता शुरू हो गई।

किंतु अगले ही वर्ष वार्ता भंग हो गई। इसका एक प्रमुख कारण था रीगन द्वारा सामरिक रक्षा पहल (Strategic Defence Initiative-SDI), जिसे 'स्टार वार्स' के नाम से जाना जाता है, प्राप्त करने पर बल देना, जिससे अमेरिका को अपनी ओर आती शत्रु की मिसाइलों को बाह्य अंतरिक्ष से मार गिराने के रूप में दुर्जेय सुरक्षा प्राप्त हो जाती। किंतु बड़े अंतर्राष्ट्रीय दबाव के कारण रीगन को अपनी इस योजना को छोड़ना पड़ा। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने इस बात की ओर सही संकेत किया था कि अगर सोवियत संघ भी अमेरिका की भांति आगे बढ़ेगा और अमेरिकी कार्यक्रम के समकक्ष अपना कार्यक्रम विकसित कर लेगा तो बाह्य अंतरिक्ष में हथियारों की एक नई दौड़ शुरू हो जाएगी।

परमाणु निःशस्त्रीकरण के कार्यक्रम को उस समय जबरदस्त प्रोत्साहन मिला, जब 1985 में

गोर्बाचेव सत्ता में आया। उसने 'स्टार्ट' (START) प्रक्रिया को पुन: जीवित किया और कुछ नए प्रस्तावों को प्रस्तुत करके वस्तुत: इस प्रक्रिया में सुधार भी किया। इन प्रस्तावों में पहली बार सामरिक आक्रामक बलों में 'अत्यधिक कटौती' का सिद्धांत स्वीकृत किया गया। उस वर्ष नवंबर में आयोजित जेनेवा शिखर सम्मेलन में रीगन और गोर्बाचेव, परमाणु हथियारों में 50 प्रतिशत की कटौती के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सहयोग पर सहमत हो गए। 1987 में दोनों शक्तियों ने परमाणु खतरा कटौती केंद्र समझौते (Nuclear Risk Reduction Centre Agreement) पर हस्ताक्षर किए ताकि पारस्परिक संचार और विश्वास का निर्माण करने वाले उपायों को प्रोत्साहन दिया जा सके। 1990 में यूरोप में पारंपरिक सशस्त्र बलों की कटौती की संधि पर हस्ताक्षर किए गए और दोनों शक्तियों की थल सेनाओं के सैनिकों की संख्या में कमी की गई।

स्टार्ट संधि पर अंतत: सोवियत संघ के विघटन से पांच माह पूर्व 31 जुलाई 1999 को हस्ताक्षर कर दिए गए। सोवियत संघ का विघटन एक ऐसी ऐतिहासिक घटना थी जिसने अकस्मात् शीत युद्ध का अंत कर दिया। इस संधि द्वारा दोनों महाशक्तियां सामरिक महत्त्व के हजारों परमाणु हथियार नष्ट करने के लिए वचनबद्ध थीं। हालांकि शीतयुद्ध समाप्त हो चुका है और सोवियत संघ भी अब नहीं रहा फिर भी अमेरिका और रूस इस संधि का पालन करने के लिए वचनबद्ध हैं। सोवियत संघ की अंतर्राष्ट्रीय वचनबद्धताओं का उत्तराधिकारी रूस है।

शीत युद्ध का सामाजिक-आर्थिक प्रभाव

शीत युद्ध ने विश्व में कहीं भी रहने वाले समस्त लोगों को प्रभावित किया। बृहद्स्तरीय संकेतकों ने इस दौरान द्रुत औद्योगीकरण और भूमंडलीय अर्थव्यवस्था के विस्तार के संकेत दिए। किंतु अनिश्चितता की अंतर्धाराएं भी प्रवाहित हो रही थीं क्योंकि यह आशंका सदैव थी कि अनगिनत क्षेत्रीय संघर्ष या विवाद ऐसे थे जिन्होंने विश्व को परेशानी में डाल रखा था, वे संघर्ष या विवाद अचानक ही तृतीय विश्वयुद्ध में बदल सकते थे।

हम यह देख चुके हैं कि महाशक्तियों की वित्तीय ताकतों का प्रयोग कैसे मित्र राष्ट्रों की उनके प्रति निष्ठा को जीतने के लिए किया गया था। इससे पश्चिमी जगत में तेजी से आर्थिक पुनरुत्थान हुआ। एक-दूसरे के विरुद्ध सैकड़ों सालों तक लड़ाइयां लड़ते रहने के बाद पश्चिमी यूरोप की शक्तियों ने यह अनुभव किया कि जब तक वे आर्थिक और सामाजिक सहयोग को आगे नहीं बढ़ाएंगे तब तक युद्ध के कभी भी समाप्त न होने वाले क्रम से बचना संभव नहीं है। यहां तक कि युद्ध के दौरान भी विन्स्टन चर्चिल ने इच्छा व्यक्त की थी कि यूरोप को कम-से-कम आर्थिक रूप से तो 'एकीकृत' होना ही चाहिए। मार्च 1943 में उसने एक यूरोपीय परिषद् की आवश्यकता के बारे में कहा और सुझाव दिया कि फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी को एक प्रकार के संयुक्त राज्य यूरोप की स्थापना करने में अपनी अग्रणी भूमिका निभानी चाहिए।

उस समय एकता के संबंध में सभी पश्चिमी देशों की राजधानियों से सकरात्मक प्रतिक्रियाएं प्राप्त हो रही थीं। अंतत: 1948 में यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन की स्थापना की गई। इसने संगठन के सदस्य देशों के भीतर ही व्यापार की मात्रा को प्रथम 6 वर्षों में दोगुना कर दिखाया। इसी वर्ष विश्व की प्रमुख आर्थिक शक्तियों ने भी जेनेवा में

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना की। व्यापार और प्रशुल्कों पर संयुक्त राष्ट्र सामान्य समझौता इस दृष्टि से किया गया कि इससे मुक्त भूमंडलीय व्यापार को सुगम बनाने में सीमा शुल्क और आयात शुल्कों के अन्य रूपों को कम करने में मदद मिलेगी।

शीतयुद्ध काल के दौरान अस्तित्व में आने वाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समूह था 'यूरोपीय आर्थिक समुदाय' (European Economic Community-EEC) या 'यूरोपीय साझा मंडी बाजार' (Common Market) जो 1957 की रोम की संधि की शर्तों के अधीन फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैंड, बेल्जियम और लक्ज़मबर्ग के बीच स्थापित किया गया। इसकी स्थापना यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय की सफलता से प्रेरित होकर की गई थी जो फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नीदरलैंड और लक्ज़मबर्ग के 6 देशों का मंच था। इस समुदाय के कारण यूरोप में इस्पात का उत्पादन इसकी स्थापना के प्रथम पांच वर्षों (1951-56) के दौरान ही लगभग 50 प्रतिशत बढ़ गया था। ई.ई.सी. के संस्थापक सदस्यों ने, जिनमें ब्रिटेन शामिल नहीं था, सभी सीमा शुल्कों और कोटों को समाप्त करने और मुक्त प्रतिस्पर्धा लाने का वचन दिया। 1961 तक ई.ई.सी. सफल रहा और इसके संस्थापक देशों के आंकड़ों में भी यह सफलता प्रतिबिंबित हुई। इसे देखते हुए ब्रिटेन भी जो पहले ई.ई.सी. से दूर रहा था, 1973 में इसका सदस्य बन गया।

'लौह आवरण' के पश्चिम में स्थित देश फल-फूल रहे थे, पूर्वी ब्लॉक और समूचा साम्यवादी विश्व सचमुच लड़खड़ा रहे थे। ख़ुश्चेव के नेतृत्व में पूर्वी ब्लॉक के बहुपक्षीय व्यापार निकाय 'कामेकोन' (COMECON) ने भी समूचे साम्यवादी विश्व को एकल एकीकृत अर्थव्यवस्था के रूप में संगठित करने का भरसक प्रयास किया। किंतु इसको कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। जिसके कारण ख़ुश्चेव को यह विचार त्यागना पड़ा। पूर्वी ब्लॉक के समूह को आर्थिक मोर्चे पर कुछ सफलता मिली। चूंकि उनकी आर्थिक संस्थाओं की स्थिति बहुत कमजोर थी इसलिए यह सफलता बहुत उल्लेखनीय नहीं थी, तथापि सामाजिक सेवाओं में उनका कार्य-निष्पादन अच्छा रहा।

अभ्यास

1. शीतयुद्ध के कारण बताएं। द्विध्रुवीय विश्वव्यवस्था के उदय में यह कहां तक उत्तरदायी था?
2. 1948 तक पूर्वी यूरोप में साम्यवादी अनुगामी राज्यों की सरकारों के उदय और वृद्धि का विवेचन कीजिए। मार्शल योजना (1947) साम्यवाद के प्रसार पर पर्याप्त नियंत्रण रखने में कहां तक सफल रही?
3. हथियारों की दौड़ की नीति के माध्यम से शीत युद्ध को जारी रखने में ख़ुश्चेव की भूमिका का विवेचन करें।
4. क्यूबा पर रूसी प्रभाव को व्यर्थ करने के लिए अमेरिकी प्रयासों की चर्चा कीजिए। क्या मिसाइल संकट को मिटाने के उनके प्रयास सफल साबित हुए?

5. 1961 के गुट-निरपेक्ष आंदोलन की स्थापना के लिए कौन-से कारक उत्तरदायी थे? एशिया और अफ्रीका में सैन्य तनाव को कम करने में आंदोलन के योगदान की चर्चा करें।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखें :
   (i) नाटो (NATO)
   (ii) यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC)
   (iii) परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि
   (iv) ट्रूमैन सिद्धांत (1947)
   (v) स्टालिन का कॉमिन्फोर्म

परियोजना कार्य

- 1960 के दशक से अब तक विश्व में हथियारों की दौड़ को नियंत्रित करने के लिए किए गए विभिन्न प्रयासों पर अभिलेखागारों और पुस्तकालयों में उपलब्ध, समाचारपत्रों के लेखों और पत्रिकाओं से जानकारी एकत्रित कीजिए।

अध्याय 11
एशिया : अंतःक्षोभ की स्थिति में

कुछ विद्वानों ने आशा व्यक्त की है कि 21वीं सदी 'एशिया की सदी' होगी, जिसमें संपूर्ण मानवता का एक-तिहाई भाग अभूतपूर्व उन्नति का दृश्य देखेगा। यदि यह भविष्यवाणी सच निकले तो उसका पूर्वरूप निश्चित रूप से 20वीं शताब्दी में देखने को मिला। लेकिन यूरोप और अमेरिका की तुलना में एशिया प्रारंभ में भारी असुविधा की स्थिति में रहा। 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पृथ्वी के सबसे बड़े महाद्वीप (एशिया) के अधिकांश भागों में भारी अंतःक्षोभ एवं उथल-पुथल की स्थिति बनी रही। एशिया की इस अंतःक्षोभपूर्ण कहानी की मुख्य घटनाएं थीं: हिंसापूर्ण क्रांतियां, सामूहिक स्थानांतरण एवं विस्थापन, सामाजिक उथल-पुथल और आर्थिक पिछड़ापन जिनमें कुछ मामलों में थोड़ा परिवर्तन भी आया। इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि यह सब-कुछ कैसे हुआ और इस विवेचन में हम सर्वप्रथम चीन की साम्यवादी क्रांति की चर्चा करेंगे।

चीनी साम्यवाद अपने अभियान पर

एक पूर्ववर्ती अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि माओ जेदांग के नेतृत्व में चीन की साम्यवादी पार्टी ने एक रक्तरंजित लंबे युद्ध के बाद 1949 में देश की विस्तृत मुख्य-भूमि पर अपना नियंत्रण स्थापित करने में किस प्रकार सफलता प्राप्त की थी। इतिहास के उस काल-बिंदु पर, चीन एक विध्वस्त देश था। कई वर्षों तक जापानी कब्जे और गृहयुद्ध से पीड़ित रहने के बाद, वहां लंबे समय तक खाद्यानों एवं सामग्रियों की भारी कमी रही। देश का कृषि-ढांचा अल्पविकसित दशा में था और अपनी विशाल जनसंख्या को भरपेट खिलाने की स्थिति में नहीं था। वहां कहने भर के लिए भी कोई उद्योग नहीं था। लेकिन गरीबी की मार से पिटे हुए लोग माओ तथा साम्यवादियों में अपने विश्वास के बल पर जिंदा थे। माओं में दूरदृष्टि थी। वह चीन से परे भी देख सकता था कि दूसरे देशों ने अपनी हालत को कैसे सुधारा है। उसमें

उन उपायों को चीन की विशेष जरूरतों को देखते हुए यथोचित परिवर्तन के साथ अपनाने की व्यावहारिक बुद्धि भी थी। उसने सैद्धांतिक मार्क्सवाद को अपनाया और चीन की पारंपरिक संस्कृति के तत्त्वों के साथ उसका तालमेल बैठाया।

माओ ने विश्व की प्रथम संपूर्ण कृषक क्रांति का नेतृत्व किया। इस मामले में, चीन की साम्यवादी क्रांति, रूस में लेनिन के नेतृत्व में हुई क्रांति से बहुत भिन्न थी। रूस की क्रांति में औद्योगिक कामगारों एवं मजदूरों का हाथ था। इसके अतिरिक्त लेनिन की युद्धकालीन नीति ने रूस के कृषक-वर्ग को दबा दिया था। लेकिन माओ अपनी क्रांति को किसानों, कामगारों, छोटे बुर्जुआ (मध्य वर्ग) और राष्ट्रीय बुर्जुआ के 'सम्मिलन' के माध्यम से सफल बनाना चाहता था। अंतिम दो श्रेणियां अधिक महत्त्वपूर्ण थीं क्योंकि वित्तीय तथा औद्योगिक तत्त्वों के समर्थन के बिना क्रांति सफल नहीं हो सकती थी। वस्तुत:, क्रांति के प्रारंभिक दौर में, माओ ने व्यापारी वर्ग के उन लोगों को अपनी संपत्तियां अपने पास रखने की अनुमति दे दी थी जो साम्यवादियों के लिए काम करने को तैयार थे। ऐसे लोगों की जमीनें और मकान राज्य द्वारा 1956 में या उसके बाद ही छीने गए थे।

औद्योगीकरण को उच्च प्राथमिकता दी गई। भू-वैज्ञानिक खोजों का उपयोग करके चीन 1977 तक तेल के सबसे बड़े उत्पादकों में शामिल हो गया। कोयले के उत्पादन में उसने तीसरा स्थान प्राप्त कर लिया और अनेक खनिजों के उत्पादन में वह सबसे आगे निकल गया। इसके अलावा, मिथेन गैस का उत्पादन करने के लिए लाखों छोटे-छोटे जैव-गैस प्लांट स्थापित कर दिए गए और पशुओं के मल-मूत्र तथा फल-सब्जियों के कूड़े से उर्वरक बनाए जाने लगे। 1960 तक आते-आते चीन लगभग फ्रांस जितना ही इस्पात पैदा करने लगा। बिजली के उत्पादन में भी दस-गुना वृद्धि हो गई। सिंचाई की भूमि 1949 से 1960 के दौरान बढ़कर दोगुनी से भी ज्यादा हो गई। अधिक-से-अधिक जंगल उगाने के लिए भी भारी पैमाने पर परियोजना कार्यान्वित की गई। देश में रेल-तंत्र का भारी विस्तार किया गया जिससे दूर-दूर के स्थानों पर नए-नए उद्योग स्थापित किए गए, इससे पहले मंचूरिया तथा पूर्वी भागों में ही उद्योग-धंधों का जमावड़ा था। चीन को लघु उद्योगों के क्षेत्र में सबसे अधिक उल्लेखनीय सफलता मिली। सोवियत सहायता से चीन के कामगारों को सूक्ष्म उपकरणों, इलेक्ट्रॉनिक उपस्करों, रोजमर्रा के काम आने वाली चीजों; जैसे - कैंचियों, खिलौनों, पेन, स्विच, शल्यक्रिया के औजारों आदि के विनिर्माण में प्रशिक्षित किया गया। इन उत्पादों की गुणवत्ता तो ऊंची थी ही, साथ ही ये लागत की दृष्टि से भी बाहरी निर्माताओं के उत्पादों का मुकाबला कर सकते थे। इससे अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में 'चीन-निर्मित' लेबल की साख जम गई।

भूमि-सुधारों के अंतर्गत सर्वप्रथम बड़े-बड़े जमींदारों से उनकी जमीनें ली गईं और फिर उन जमीनों से किसानों की सहकारी संस्थाएं बना दी गईं, इस कार्य में अक्सर अनेक गांवों के संसाधनों को इकट्ठा करके उनका उपयोग किया गया था। अगले चरण में, सामुदायिक स्वामित्व वाले सामूहिक फार्म बनाए गए और उन्हें पार्टी के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखा गया। 1957 तक 90 प्रतिशत से भी अधिक कृषि-भूमि सामूहिक फार्मों के रूप में विभाजित कर दी गई।

1959 में माओ ने अपना 'ग्रेट लीप फार्वर्ड' का प्रसिद्ध कार्यक्रम प्रारंभ किया। ग्रामीण सहकारी संस्थाओं तथा सामूहिक फार्मों का बड़े कम्यूनों में विलय कर दिया गया। यह कदम इस बात का प्रतीक था कि अब उनका स्वामित्व स्थानीय समुदायों से हटकर राष्ट्र के पास चला गया है। इसका उद्देश्य यह था कि औद्योगीकरण के महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए एक गतिशील श्रम-बल का विकास किया जाए और उस कार्यक्रम को सहारा देने के लिए खाद्य के उत्पादन में वृद्धि की जाए। लेकिन यह कार्यक्रम सफल नहीं हुआ बल्कि इसे घोर संकट का सामना करना पड़ा। साम्यवादी पार्टी के अधिकारी लोग इतने सक्षम नहीं थे कि वे माओ की कल्पना के अनुसार इस कार्यक्रम को बड़े पैमाने पर चला सकें। इसलिए चीन एक बार फिर खाद्यान्न के अभाव और औद्योगिक मंदी से ग्रस्त हो गया। इसलिए 1962 में इस कार्यक्रम में संशोधन किया गया और कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। कम्यूनों को रखा तो गया पर उनका आकार छोटा कर दिया गया। किसानों से कह दिया गया कि वे अपने छोटे निजी भू-खंडों पर खेती कर सकते हैं।

चीन का भीषण अकाल

माओ के ग्रेट लीप फार्वर्ड कार्यक्रम का एक लोकप्रिय नारा था "तीन साल की मेहनत/परेशानी, फिर हजार साल की मौज-मस्ती"। लेकिन वास्तव में हुआ यह कि इस कार्यक्रम ने चीन को अभूतपूर्व अकाल की स्थिति में धकेल दिया। सर्वप्रथम तो यही प्रतीत हुआ कि सब कुछ ठीक चल रहा है। साम्यवादी पार्टी की स्थानीय इकाइयां यह दावा कर रही थीं कि कृषि उत्पादन में अविश्वसनीय वृद्धि हुई है, अब तक के सभी रिकार्ड टूट चुके हैं। ऐसे दावों से प्रोत्साहित होकर उत्पादन के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए लक्ष्य निर्धारित किए जाने लगे।

'ग्रेट लीप फार्वर्ड' कार्यक्रम अधिकतर तकनीकी कारणों से असफल रहा। लाभों को अधिक से अधिक बढ़ाने की आशा में दोषपूर्ण कृषि-तकनीकों को अपनाया गया। उदाहरण के लिए, जमीन में बीज दस गुनी सघनता के साथ बोए गए। इससे पौधे बड़े न हो सके, जल्दी ही मर गए। गेहूं और मक्का दोनों की फसल एक ही खेत में साथ-साथ उगाने की कोशिश की गई और उसमें कामयाबी नहीं मिली। गोरैया (चिड़ियां) बिखेरे गए बीजों को चुग जाती थीं इसलिए उन्हें बड़े पैमानों पर खत्म कर दिया गया। लेकिन जब फसल को चट कर जाने वाले कीड़े-मकोड़े और जीव-जंतु पैदा हुए और उन्हें नष्ट करने के लिए गोरैया की जरूरत पड़ी तो गोरैया कहां से आतीं! उत्साही अधिकारियों ने सिंचाई के उपकरणों को गलत जगहों पर लगा दिया जिससे भूमि-कटाव बड़े पैमाने पर हुआ। कुछ चुनी हुई फसलों को उगाने पर विशेष पुरस्कार या अधिक मूल्य दिया जाता था। लेकिन फसलों के परिवर्तन के लिए कोई प्रयास नहीं किए गए। इसके परिणामस्वरूप अन्य आवश्यक फसलों और फल-सब्जियों की खेती शून्य हो गई।

चीन के नेतागण सरकारी आंकड़ों पर विश्वास करने लगे। रिकार्ड उत्पादन कभी हुआ नहीं था, वैसे ही बढ़ा-चढ़ाकर आंकड़े बता दिए गए थे। वास्तविक उत्पादन तो सरकारी दावों के एक-तिहाई के बराबर ही हुआ था। पार्टी के बुद्धिवादियों ने

हर मौके के लिए उपयुक्त नारे गढ़ दिए थे। उदाहरण के लिए, 1959 में जब वास्तव में अकाल पड़ चुका था और लोग पेट भरने के लिए घास का सूप बनाकर पीने को मजबूर हो गए थे तब पार्टी ने लोगों को सलाह दी कि "इस साल अनाज तो भरपूर मात्रा में हुआ है पर मिताहारी बनो"। प्रचार-तंत्र ने अतियथार्थवादी सलाह देनी शुरू कर दी। लोग भूख से इतने कमजोर हो गए कि वे काम नहीं कर सकते थे और अक्सर घर पर ही रहा करते थे। सरकारी रेडियो ने उनकी इस मजबूरी का फायदा उठाया और उन्हें सलाह दी कि दिन में थोड़ी 'झपकी ले लें'। चिकित्सा विशेषज्ञों से कहा गया कि वे भूखे लोगों में यह विश्वास भरें कि चीनी लोगों की शरीर-रचना ही कुछ विशेष किस्म की है कि उन्हें प्रोटीन या वसा की आवश्यकता ही नहीं है।

भला, भूखे लोगों का मज़ाक उड़ाना कहां तक सही था! 1960 में फसल, 1957 के मुकाबले 26 प्रतिशत कम हुई थी। इसके बाद तो वह घटकर 1950 के स्तर पर पहुंच गई जबकि जनसंख्या में 1950 के मुकाबले 10 करोड़ से भी अधिक की वृद्धि हो चुकी थी। कुछ प्रांतों में तो चावल के भावों में 30 गुना वृद्धि हुई। साथ ही कोयले की भी कमी हो गई जिससे अकाल से अल्प-प्रभावित क्षेत्रों से अधिक जरूरत वाले क्षेत्रों में तत्काल खाद्यान्न आदि भेजने के काम में रुकावट आयी। कोयले का कम उत्पादन होने का कारण यह था कि खान मजदूरों को देश में भोजन की तलाश में इधर-उधर भटकने के लिए छुट्टी दे दी गई थी। मृत्यु-दर जो सामान्यत: 15 प्रतिशत होती थी, 1960 में बढ़कर 68 प्रतिशत हो गई, जबकि जन्म-दर 30 प्रतिशत की औसत दर से घटकर 11 प्रतिशत रह गई। जब चीन में यह सब-कुछ हो रहा था तब बाहरी दुनिया इन सब तथ्यों से अधिकतर अनभिज्ञ रही।

सांस्कृतिक क्रांति

'ग्रेट लीप फार्वर्ड' कार्यक्रम की असफलता ने माओ की स्थिति को कुछ हद तक कमजोर कर दिया। अपनी स्थिति को फिर से मजबूत बनाने के लिए उसने एक अन्य आमूल परिवर्तनकारी कार्यक्रम, जिसे 'सांस्कृतिक क्रांति' कहते हैं, चलाया। इसके साथ ही चीनी साम्यवाद के इतिहास में सबसे काले युग का आरंभ हुआ; इससे पहले तक चीनी साम्यवाद की छवि रूसी साम्यवाद की तुलना में अधिक मानवीय थी। माओ अपने आपको रूसी साम्यवादियों से अधिक कट्टरपंथी मानता था। उसने अपनी क्रांति को कठोरतापूर्वक मार्क्स और लेनिन के मार्ग पर रखा। उसने देखा कि उसके चारों ओर पार्टी के सभी अधिकारी एवं कार्यकर्ता अधिक संतुष्ट होकर निष्क्रिय होते जा रहे हैं। आम लोग साम्यवादी विचारधारा से अपने संबंधों को खोते जा रहे हैं। इसके साथ ही, 'ग्रेट लीप फार्वर्ड' आंदोलन के असफल हो जाने से माओ के विरुद्ध बढ़ते हुए आक्रोश के लक्षण दिखाई दे रहे थे। देंग स्याओपिंग और लिकु शाओकी जैसे पार्टी के दक्षिणपंथी विशिष्ट नेतागण रूसी अनुभव का अनुकरण किए जाने के लिए आग्रह कर रहे थे। उनका विचार था कि गुणवत्तापूर्ण श्रम के लिए अधिक मजदूरी जैसे प्रोत्साहन दिए जाने चाहिए। बड़ी-बड़ी निजी जोतें रखने की भी अनुमति दी जानी चाहिए और क्रांति का नेतृत्व विशेषज्ञ प्रबंधक वर्ग के हाथों में होना चाहिए न कि पार्टी संवर्ग के सदस्यों के हाथ में। यह सुझाव माओ को स्वीकार्य नहीं था।

1966 में, माओ ने अपनी 'सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति' की उद्घोषणा की। इस क्रांति के द्वारा वह साम्यवादी क्रांति को खत्म होने से बचाने के लिए युवा वर्ग का उपयोग करना चाहता था। उसके सबसे प्रबल समर्थक 'लाल रक्षक' (रेड गार्ड) थे, इनमें अधिकांश छात्र थे। उन्होंने देश भर का भ्रमण प्रारंभ किया। उनके हाथों में माओ की "छोटी लाल पुस्तक" (लिटिल रेड बुक) की प्रतियां होती थीं जिनके द्वारा वे क्रांति को पटरी पर रखने के लिए जोरदार प्रचार अभियान चला रहे थे। जिस किसी को भी वे क्रांति-विरोधी समझते थे उसे बुरा-भला ही नहीं कहते बल्कि उसके साथ मारपीट भी कर डालते थे। अध्यापक, बुद्धिजीवी, व्यावसायिक वर्ग और स्थानीय पार्टी पदाधिकारी उनके मुख्य लक्ष्य थे जिनके साथ वे दुर्व्यवहार करते थे। जल्दी ही यह आंदोलन नियंत्रण से बाहर निकल गया।

अराजकतापूर्ण सर्वाधिकारवाद (1966-1976)

यद्यपि सांस्कृतिक क्रांति के अंतर्गत (ग्रेट लीप फार्वर्ड कार्यक्रम की तरह) लाखों-करोड़ों की संख्या में तो लोग नहीं मारे गए, लेकिन इस अवधि के दौरान कम-से-कम 4 लाख से 10 लाख लोगों को अवश्य ही अपने प्राण गंवाने पड़े। डोमेनैक जैसे कुछ विद्वानों के अनुमान से मरने वालों की संख्या 10 लाख से 30 लाख के बीच अवश्य रही होगी। स्मरण रहे कि ग्रेट लीप फार्वर्ड कार्यक्रम द्वारा उत्पन्न अकाल के दुष्प्रभाव इस

1967 तक, इन हत्याकांडों की दैनिक रिपोर्ट व्यापक रूप से प्रसारित एवं प्रचारित की जाती थी। 'लाल रक्षक' स्वयं अपना नियंत्रण खो बैठे। माओ ने युवा वर्ग से कहा कि लंबे अभियानों पर जाओ और स्वयं क्रांति करके क्रांति के बारे में सीखो। स्कूल बंद कर दिए गए। छात्र लाल रक्षकों के साथ हो लिए। अधिकांश तो मौत के डर से उनके साथ आ मिले। किशोर बालकों ने अपने माता-पिता, गुरुजनों और सगे-संबंधियों की खुलकर निंदा करनी शुरू कर दी। उन्होंने पुराने स्मारक तोड़ डाले, निजी घरों पर आक्रमण किए और बिना सोचे-समझे निरीह प्राणियों को मौत के घाट उतार दिया। जवानी के जोश में भरे हुए क्रांतिकारियों ने अपने सशस्त्र 'अन्वेषक' नियुक्त किए, समानांतर पुलिस बनायी और 'न्यायाधीशों' तथा कारागारों के साथ संपूर्ण न्यायपालिका की स्थापना कर डाली।

लेकिन इस संपूर्ण कार्यक्रम का उल्टा ही असर हुआ। अब देश को खींचकर एक अन्य गृहयुद्ध के कगार पर खड़ा कर दिया गया। लोगों ने सांस्कृतिक क्रांति के विरुद्ध हड़तालें कर दीं। चीन अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में भी अलग-थलग पड़ गया। यहां तक कि साम्यवादी देशों ने भी चीन की भर्त्सना की। स्थिति को सुधारने के लिए माओ ने पैंतरा बदला। उसने जन-विमुक्ति सेना (People's Liberation Army) को अतिवादियों को कुचलने का हुक्म दे दिया। पार्टी का रुख अचानक बदलकर लाल रक्षकों के विरुद्ध हो गया। लिन पियाओ, जो कि सांस्कृतिक क्रांति का प्रमुख प्रवर्तक था, सत्ता से हटा दिया गया। वह 1971 में एक हवाई दुर्घटना में मारा गया।

इस प्रकार सांस्कृतिक क्रांति का दूसरा चरण प्रारंभ हुआ। लाल रक्षक आपस में भिड़ पड़े। छात्रों ने कामगारों पर हमले बोल दिए तो कामगारों ने दैनिक मजदूरों को नहीं छोड़ा। इस हिंसापूर्ण अवधि में, औद्योगिक उत्पादन को गहरा धक्का लगा। जन विमुक्ति सेना भी इन हिंसक कार्यों में पीछे न रही। चीन का नागरिक समाज तो मानो गायब ही हो गया। समस्त देश एक हिंसा स्थल बन गया जिसका शासन नारेबाजी और राजनीतिक अभियानों के बल पर चल रहा था। इसी बीच माओ लगातार अपने ही घनिष्ठ अनुयायियों का सफाया करता जा रहा था। ऐसा समझा जाता है कि उसी ने लिन बियाओ की नृशंस हत्या का आदेश दिया था जिसकी किसी को भी आशा नहीं थी क्योंकि लिन बियाओ वह व्यक्ति था जिसे उसका उत्तराधिकारी नामजद किया गया था। लोग उसकी छद्म छवि को देखने के लिए मजबूर थे। इसलिए जब 1976 में उसकी मृत्यु हुई तो लोगों ने आराम की सांस ली। 'चार लोगों का एक समूह' और था जिसके नेतृत्व की बागडोर उसकी पत्नी जियांग किंग के हाथों में थी। यह समूह अनेक भीषण अत्याचारों के लिए जिम्मेदार था; उसे भी जेल में बंद कर दिया गया। इससे इस बात का पता चलता है कि लोगों के दिल में माओ के प्रति कितना आक्रोश था।

पिंग पांग कूटनीति

फरवरी 1972 में, विश्व यह जानकर आश्चर्यचकित रह गया कि संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन इसी माह बीजिंग की यात्रा पर जाएगा। दोनों देशों के बीच संबंध कोरियाई युद्ध के दिनों से ही टूटे हुए थे।

इस संबंध में 1960 के दशक के अंतिम वर्षों से 1970 के दशक के प्रारंभिक वर्षों तक अमेरिकी और चीनी अधिकारियों के बीच जो गुप्त बैठकें होती रहीं उन्हें 'पिंग पांग' कूटनीति की संज्ञा दी गई थी। अमेरिका ने औपचारिक रूप से साम्यवादी चीन को मान्यता नहीं दी थी, इसलिए वे खुले तौर पर चीन के प्रतिनिधियों से मिल-जुल नहीं सकते थे। सोवियत संघ के साथ चीन के संबंधों में भी विचारधारा तथा विश्व भर में साम्यवाद आंदोलन के नेतृत्व के प्रश्न को लेकर और दोनों देशों के बीच चल रहे सीमा विवादों के कारण कटुता आ गई थी। अमेरिका इस स्थिति का लाभ उठाना चाहता था। पाकिस्तान ने जो कि काफी लंबे अरसे से इन दोनों देशों का मित्र बना हुआ था, इस नियमित कूटनीतिक संबंध स्थापित कराने में सुविधा प्रदान करने वाले की भूमिका निभायी।

राष्ट्रपति निक्सन की चीन यात्रा के परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीन के जनवादी गणराज्य को असली चीन के रूप में मान्यता दे दी। ताइवान यद्यपि किनारे कर दिया गया था फिर भी अमेरिकी सहायता प्राप्त करता रहा। लेकिन संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में ताइवान की सीट छिन गई और वह साम्यवादी चीन को दे दी गई। इसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और चीन के बीच नियमित राजनयिक संबंध स्थापित हो गए।

माओ के बाद परिवर्तन

माओ के बाद शक्ति के लिए संघर्ष छिड़ गया। जिसमें आखिर जीत देंग स्याओपिंग की हुई। देंग को सांस्कृतिक क्रांति के दौरान उस पर 'अत्यधिक उदारवादी' होने का आरोप लगाकर पार्टी के महासचिव

के पद से हटा दिया गया था। देंग एक विलक्षण बुद्धिवाला दूरदर्शी नेता था और उसने 1979 में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के बाद साम्यवादी प्रणाली में नीति संबंधी अनेक नाटकीय परिवर्तन लागू किए। सांस्कृतिक क्रांति के दौरान उठाए गए कदमों को वापस मोड़ दिया गया। 'क्रांतिकारी समितियों' के स्थान पर लोकतांत्रिक रीति से निर्वाचित समूहों को नियुक्त किया गया। जब्त की गई संपत्तियां उनके मूल स्वामियों के उत्तराधिकारियों को लौटा दी गईं क्योंकि अधिकांश मूल स्वामी तो सांस्कृतिक क्रांति के दौरान मारे जा चुके थे। जनता को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान कर दी गई और बुद्धिजीवियों को अपने विचार अभिव्यक्त करने की अधिक छूट दे दी गई।

आर्थिक मामलों में, देंग तथा उसके अनुयायी हूयाओ बैंग ने निश्चय किया कि उद्योग, कृषि, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी को आधुनिक बनाने के लिए चीन में पश्चिमी पूंजी-निवेश को आमंत्रित किया जाए। 1980 में, चीन ने विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सदस्यता भी ग्रहण कर ली। कृषि सुधार भी किए गए। राज्य के फार्मों को उनके अपने प्रशासन तथा आयोजन पर नियंत्रण रखने के लिए अधिक शक्तियां दे दी गईं। बोनस प्रदान करने और लाभों में हिस्सा देने की प्रणाली को प्रोत्साहित किया गया। उत्पादन वृद्धि को प्रोत्साहन देने के लिए करों में कमी की गई। इससे 1980 के दशक में चीन का खाद्यान्न उत्पादन बराबर बढ़ता गया और प्रति व्यक्ति पोषण के स्तरों में सुधार हुआ।

देंग का संदेश था "धनवान होना अपराध नहीं है"। उसने आर्थिक प्रणाली में पार्टी के हस्तक्षेप को वापस ले लिया। औसत चीनवासी के भाग्य नाटकीय ढंग से सुधर गए। सुधारों के केवल दो दशकों के बाद ही, 20 वीं शताब्दी के अंत तक चीन में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय बढ़कर 1200 डालर के आसपास पहुंच गई। अब तो चीन का एक आधुनिक औद्योगिक राज्य के रूप में, कायापलट हो गया था।

लोकतंत्र के लिए आंदोलन

देंग ने सचमुच लोगों की आशाओं-आकांक्षाओं को बढ़ा दिया था। नवंबर 1978 में, बीजिंग और अन्य नगरों के लोग अधिकाधिक सुधारों की मांग करते हुए सड़कों पर उतर आए। इन प्रदर्शनों को देखकर सरकार ने ऐसे अभियानों तथा प्रयाणों पर प्रतिबंध लगाना ही उचित समझा। सरकार के इस कदम का मुकाबला करने के लिए लोगों ने चीन में सर्वत्र 'लोकतंत्र भित्तियां' बनाना शुरू कर दिया जिन पर लोग गुमनाम पोस्टर और लेख चिपका देते थे जिनमें तरह-तरह के मानव-अधिकारों की मांग की जाती थी। वैसे तो पार्टी अध्यक्ष माओ को मरे हुए काफी वर्ष बीत गए थे, पर लोग इन दीवारों पर उसके व्यंग्य चित्र चिपका कर उसकी निंदा करते थे और उसे बदनाम करने की कोशिश करते थे।

किंतु देंग ने इन सब बातों को बर्दाश्त नहीं किया, वह तो पार्टी के प्रति अत्यधिक वफादार था। उसने कहा, "पार्टी के बिना चीन खंड-खंड और अस्त-व्यस्त होकर आगे बढ़ने की बजाय पीछे चला जाएगा"। उसने 'लोकतंत्र भित्ति आंदोलन' पर रोक लगा दी। इसके नेताओं के साथ विरोधी तत्त्वों जैसा बर्ताव किया जाता था। उनमें से अग्रणी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया जाता था और उन पर मुकदमा चलाकर उन्हें कठोर कारावास का दंड दिया जाता था। फिर भी चीन को देंग के शासन काल में कभी

वैसा आतंक नहीं झेलना पड़ा जैसा कि वे लोग माओ के राज में देख चुके थे।

तियाननमेन स्क्वायर हत्याकांड

देंग को पार्टी के ली पेंग जैसे कट्टरपंथियों का दबाव बराबर महसूस हो रहा था। ये कठोरपंथी उस घड़ी का इंतजार कर रहे थे जब देंग के सुधार निष्फल हो जाएं ताकि पार्टी के झाओ जियांग और हूयाओ बैंग जैसे उदारवादी नेताओं को जिन्हें देंग ने ऊंचे आसनों पर बिठा रखा था, उनके पदों से हटाया जा सके। देंग ने छात्रों तथा बुद्धिजीवियों को प्रणाली की कमजोरियां उजागर करने के लिए प्रोत्साहित किया, लेकिन उनके द्वारा आलोचना इसी हद तक की जाए कि उसका लाभ उठाकर देंग कुछ कठोरपंथी पदाधिकारियों तथा अकुशल नौकरशाहों को हटा सके।

उसके दुर्भाग्य से 1988-89 के दौरान आर्थिक सुधारों के मार्ग में अनेक समस्याएं खड़ी हो गईं। मुद्रास्फीति बढ़ गई और मजदूरी की दरें कीमतों से पीछे रह गईं। छात्र, मई 1989 से प्रदर्शन करने के लिए शहर के प्रसिद्ध तियाननमेन स्क्वायर में शांतिपूर्वक इकट्ठे होने लगे। उनकी मांग थी कि राजनीतिक सुधार और अधिक किए जाएं, लोकतंत्र को अपनाया जाए और पार्टी के भ्रष्टाचार को समाप्त किया जाए। झाओ ने आश्वासन दिया कि उनकी "न्यायोचित मांगों को अवश्य पूरा किया जाएगा"। मई के महीने में प्रदर्शन बड़े रंगीन हो गए। बाजे बज रहे थे, झंडे फहराए जा रहे थे और आमतौर पर लोग बाहर धूप का आनंद ले रहे थे। लोकतंत्र की एक मूर्ति स्थापित की गई और बड़े उत्साह और जोश के साथ उसे फूलमालाएं पहनायी गईं। विश्व-भर के समाचारपत्रों में इस घटना की खबरें छपीं, चर्चाएं हुईं।

लेकिन सरकार ने इस घटना को साम्यवादी पार्टी की सत्ता के विरुद्ध चुनौती के रूप में देखा। देंग स्वयं कठोरपंथी बन गया और उसने झाओ के स्थान पर ली पेंग को नियुक्त कर दिया। 3-4 जून के बीच की रात को तियाननमेन स्क्वायर में सेनाएं आ गईं। गड़गड़ाते हुए टैंक घुस आए। वहां स्क्वायर में 1500 से 3000 तक छात्र शांतिपूर्वक इकट्ठे थे लेकिन सबको गोलियों से भून डाला गया। इस जघन्य अत्याचार से सारी दुनिया कांप उठी और सबने इस कत्लेआम के लिए चीन की भर्त्सना की। लेकिन चीन ने कोई पश्चाताप नहीं किया। देंग ने इसे न्यायोचित ठहराते हुए कहा कि चूंकि देश ने एक 'समाजवादी बाजार अर्थव्यवस्था' में प्रवेश किया है इसलिए उसकी देखभाल करने के लिए राज्य पर एक पार्टी का नियंत्रण ही चाहिए।

तिब्बत और चीन-भारत संबंध

अल्प जनसंख्या और ऊंचे पठारों तथा पर्वतों वाला देश तिब्बत ब्रिटिश-भारत के लिए सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता था। 18वीं शताब्दी से इस राज्य पर चीन का शासन था। ब्रिटेन ने तिब्बत का नक्शा बनाने के लिए गुप्त दल भेजे। ब्रिटिश, तिब्बत के माध्यम से पूर्व की ओर से रूस के क्षेत्र में प्रवेश के लिए उपयुक्त स्थान की तलाश में थे। 1911 में, चीन ने तिब्बत को स्वतंत्रता दे दी। दलाई लामा इस छोटे-से राष्ट्र का आध्यात्मिक तथा लौकिक प्रधान था। अंग्रेजों के भारत छोड़कर चले जाने के बाद नई दिल्ली और ल्हासा (तिब्बत की राजधानी) के बीच राजनयिक संबंध बरकरार रहे। लेकिन 1951 में, चीन ने वहां साम्यवादी विद्रोह भड़काया और तिब्बत को जबरदस्ती अपने कब्जे में

ले लिया। यद्यपि दलाई लामा को नाममात्र का नियंत्रण रखने की अनुमति दे दी गई पर वैसे वहां तनाव बराबर बना रहा। तिब्बतवासी अत्यंत आध्यात्मिक प्रकृति के लोग थे इसलिए उन्होंने चीनियों द्वारा बौद्ध धर्म के दमन का विरोध किया।

1956 में चीन के अन्य भागों में रहने वाले मूल तिब्बतियों ने दलाई लामा तथा अन्य आध्यात्मिक गुरुजनों के उत्पीड़न के विरोध में विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। यह आंदोलन तिब्बत तक फैल गया। 1959 में चीन ने इस आंदोलन को दबाने के लिए पाशविक बल का प्रयोग किया। सैकड़ों लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया और तिब्बतियों के पवित्र स्मारकों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। जब इन अत्याचारों की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर निंदा बढ़ती गई तो दलाई लामा ने अपने एक लाख अनुयायियों के साथ भाग कर भारत में शरण लेनी चाही। जवाहर लाल नेहरू की सरकार ने बड़ी हिम्मत दिखाई और तिब्बतियों को हिमाचल प्रदेश के डलहौजी क्षेत्र में शरण दे दी।

इस बीच चीन और भारत के पारस्परिक संबंध बिगड़ते चले गए। इसका कारण यह तथ्य था कि चीन के साम्यवादी शासन ने ब्रिटेन द्वारा निर्धारित भारत की सीमाओं को मानने से इनकार कर दिया। यद्यपि नेहरू और झाऊ एनलाई पारस्परिक मैत्री संबंधों के पांच सिद्धांतों (पंचशील) पर सहमत हो गए पर चीन की जन-विमुक्ति-सेना भारत के पूर्वोत्तर भाग में लगातार भारतीय राज्यक्षेत्र में घुसपैठ करती गई। नवंबर 1962 में, चीन ने पूरे पैमाने पर सैन्य आक्रमण कर दिया जिसका मुकाबला करने के लिए अल्प-सज्जित भारतीय सेना पूरी तरह तैयार नहीं थी। संपूर्ण विश्व ने चीन के इस आक्रमण की निंदा की। संयुक्त राज्य अमेरिका ने तत्काल भारत को फौजी मदद भेजी। तत्पश्चात, चीनी सेनाएं कुछ इलाकों से तो पीछे हट गईं पर उन्होंने भारतीय भू-क्षेत्र के 50,000 वर्ग किलोमीटर से अधिक इलाके पर अपना कब्जा जमाए रखा। 1963 में, पाकिस्तान ने भी कश्मीर का एक हिस्सा अवैध रूप से चीन को दे दिया, जिस पर पाकिस्तान ने 1947 में जबरन कब्जा कर लिया था।

1962 से 1979 तक दोनों पड़ोसी देशों ने राजनयिक संबंधों को निम्न स्तर पर रखा। भारत द्वारा संबंधों को फिर से मजबूत करने की पहल तब की गई जब विदेश मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 1979 में बीजिंग का दौरा किया। लेकिन शिखर स्तर की बैठक 1988 से पहले आयोजित नहीं की जा सकी। 1988 में, प्रधान मंत्री राजीव गांधी ने चीन की यात्रा की और संबंधों को सामान्य बनाने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। विवादग्रस्त सीमा के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक संयुक्त कार्य-दल नियुक्त किया गया। किंतु 24 वर्षों का लंबा समय गुजर जाने के बाद भी इस स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। तथापि, चीन और भारत के आर्थिक तथा व्यापारिक संबंध फल-फूल रहे हैं। किंतु पारस्परिक संबंधों के बारे में आशंका उत्पन्न करने वाले अनेक बिंदु हैं। चीन को अक्सर भारत में और अन्य देशों में भी, भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की शत्रुतापूर्ण कार्रवाईयों के समर्थक के रूप में देखा जाता है। चीन ने यह मानने से भी इनकार कर दिया है कि सिक्किम भारत का अभिन्न अंग है।

वियतनाम युद्ध

वियतनाम भूतपूर्व फ्रांसीसी इंडोचीन में सबसे बड़ा देश था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उसे युद्ध

के तीन दौरों से होकर गुजरना पड़ा। पहले दौर में युद्ध फ्रांसीसियों के विरुद्ध हुआ जिन्होंने जापान के समर्पण के बाद वियतनाम पर फिर कब्जा करने की कोशिश की। लेकिन वियत मिन (वियतनामी स्वतंत्रता लीग) को हो ची मिन (1892-1969) के नेतृत्व में, देश के जापानी आक्रांताओं के विरुद्ध लड़ते हुए युद्ध का लंबा अनुभव प्राप्त हो चुका था। जब जापानी वियतनाम छोड़कर चले गए, तब हो ची मिन ने वियतनाम के लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना की।

लेकिन गैर-साम्यवादी राष्ट्रवादियों और धार्मिक नेताओं ने हो के प्रभुत्व का विरोध किया। जब फ्रांसीसियों ने 1946 में वियतनाम पर पुन: कब्जा करने के लिए आक्रमण किया तब पहले तो कोई संयुक्त विरोधी मोर्चा नही बन सका। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए फ्रांसीसियों ने 1948 में एक कठपुतली सरकार स्थापित कर दी। लड़ाई 1954 तक चलती रही तब दियन बियन फू की लड़ाई में फ्रांसीसी सेना को करारी हार का मुंह देखना पड़ा। इसके बाद फ्रांसीसी देश छोड़कर सदा के लिए चले गए। जेनेवा में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें यह निश्चय किया गया कि वियतनाम को उत्तरी और दक्षिणी दो भागों में बांट दिया जाए; उत्तरी वियतनाम
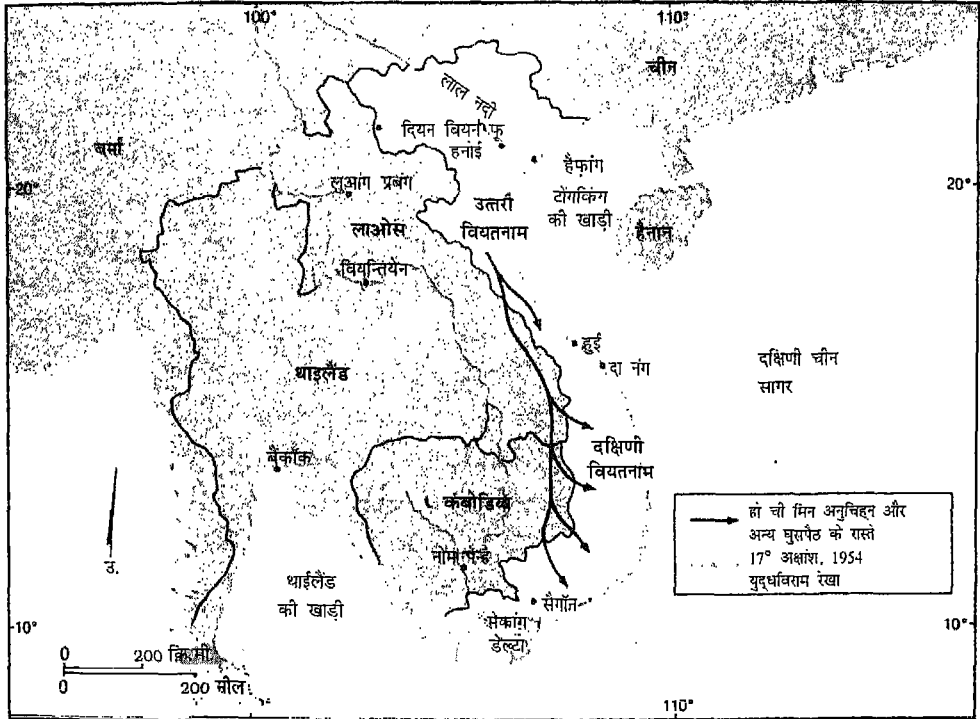
वियतनाम युद्ध

साम्यवादियों के अधीन रहे और दक्षिणी वियतनाम गैर-साम्यवादियों के पास रहे।

फ्रांस ने जब अपने पुराने उपनिवेश (वियतनाम) को वापस लेने का प्रयत्न किया तब पहले तो संयुक्त राज्य अमेरिका ने उसकी भर्त्सना की और उसे कहा कि वह हो और दियम न दिन के नेतृत्व वाले राष्ट्रवादियों के साथ समझौता कर ले। लेकिन साम्यवादी चीन का उत्थान हो जाने और कोरियाई युद्ध छिड़ जाने पर अमेरिका वियतनाम की स्थिति को एक नए परिप्रेक्ष्य में देखने लगा। राष्ट्रपति ड्वाइट आइजनहॉवर के प्रशासन ने फ्रांसीसियों का समर्थन करने का निश्चय किया जिससे कि साम्यवादी हो वियतनाम में सत्ता में न आ सकें। जब फ्रांसीसी युद्ध में हार गए और वियतनाम छोड़कर चले गए, तब अमेरिका ने दक्षिण में दियम शासन का समर्थन किया।

लेकिन वियतनाम में शांति कुछ ही दिनों के लिए रही। शुरू से ही उसके दोनों भागों के बीच तनाव तो था ही स्थिति और भी जटिल होती गई जब दियम एक पूरी तरह अलोकप्रिय राष्ट्रपति साबित हुआ। उसने अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों को उत्पीड़ित करना शुरू कर दिया। उनमें से कुछ लोग जंगलों में चले गए और वहां अपने अड्डे स्थापित करके उन्होंने 1959 से गुरिल्ला युद्ध लड़ना शुरू कर दिया। इस घटना का एक रूपांतरण भी है जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि गुरिल्ला युद्ध उत्तरी वियतनाम के साम्यवादी शासन ने प्रायोजित किया। कारण कुछ भी रहा हो, दोनों वियतनामों के बीच जल्दी ही पूरे पैमाने पर युद्ध छिड़ गया। उत्तरी वियतनाम को सोवियत संघ और चीन से सहायता मिलने लगी और संयुक्त राज्य अमेरिका खुले तौर पर दक्षिणी वियतनाम की मदद करने लगा।

ज्यों-ज्यों युद्ध आगे बढ़ता गया, अमरीका भी उसमें अधिक से अधिक आलिप्त होता गया। सबसे पहले तो अमेरिकियों ने दक्षिण वियतनाम की सेना की सहायता के लिए 'सलाहकार' भेजे। 1963 से अमेरिकी सेनाएं दक्षिणी वियतनाम में उतरने लगीं। 1969 तक आते-आते वियतनाम में अमेरिकी सैनिकों की संख्या बढ़कर 500,000 से भी अधिक हो गई और अब तो इस युद्ध ने अधिकतर अमेरिका-वियतनाम संघर्ष का ही रूप ले लिया।

अपनी दुर्दमनीय प्रौद्योगिकीय श्रेष्ठता के चलते भी अमेरिकी सैनिक, उत्तरी वियतनामियों के युद्ध कौशल की बराबरी नहीं कर पा रहे थे। इसके साथ ही, आम अमेरिकी आदमी भी इस युद्ध के खिलाफ होता जा रहा था। वियतनामी बेजोड़ बहादुरी से लड़े। उन्होंने अमेरिकियों के छक्के छुड़ा दिए और अमेरिकी सैनिक भागकर जंगल में जा छिपे तो वियतनामी गुरिल्लों ने उन्हें वहां भी जा पछाड़ा। बेचारे अमेरिकी इस तरह के गुरिल्ला युद्ध से अपरिचित थे। युद्ध के दौरान, अमेरिकी सैनिकों ने अनेक बार हत्याकांड मचाए जिनकी वजह से वे स्वयं अमेरिका में बदनाम होते चले गए। उदाहरण के लिए, 1967 में माई लाई के गांव में, सभी निर्दोष बाल, वृद्धों एवं स्त्रियों को एक ही झटके में मौत के घाट उतार दिया गया।।

1971 में राष्ट्रपति रिचर्ड एम. निक्सन को विश्वास हो गया कि इस युद्ध में अमेरिका को कुछ हाथ नहीं लग सकता। उसने 50,000 से अधिक सैनिक तो पहले ही खो दिये थे और इधर देश में जनमत इस युद्ध को आगे चलाने के बिल्कुल खिलाफ था। पेरिस में गुप्त वार्ताओं की

एक लंबी शृंखला के बाद, अंतत: ज़नवरी, 1973 में युद्धविराम के एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। दो महीने के भीतर सभी अमेरिकी सैनिक वियतनाम छोड़कर वापस आ गए। लेकिन उत्तरी तथा दक्षिणी वियतनाम के बीच लड़ाई 1975 तक चलती रही जब दक्षिणी वियतनाम की सेनाओं का पूरी तरह सफाया हो गया और दोनों वियतनाम फिर से मिलकर एक हो गए।

वियतनाम पहले ही युद्ध से विध्वंस्त हो चुका था, पर उसे एक ही दशक में दो और युद्ध लड़ने पड़े। पहला युद्ध उसके पड़ोसी देश कंबोडिया के साथ हुआ जिस पर ख़्मेर रूज का शासन था। साम्यवादी ख़्मेर रूज 1975 में एक रक्तरंजित गृहयुद्ध के माध्यम से सत्ता में आए थे। तीन साल के भीतर ही, इन साम्यवादियों ने बेगार शिविरों में बंदी रखे गए 10 लाख से भी अधिक निर्दोष कंबोडियाइयों को मौत के घाट उतार दिया। ख़्मेर रूज शासन ने पड़ोसी वियतनाम को भी सीमापार घुसपैठ से युद्ध के लिए उकसाया। 1978 में, वियतनामी सेना ने इसके जवाब में कंबोडिया के काफी बड़े हिस्से पर अपना कब्जा कर लिया। ख़्मेर रूज को थाइलैंड के आसपास के जंगलों में भगा दिया गया जहां से उन्होंने वियतनामी और परवर्ती कंबोडियाई शासनों को परेशान किया।

पोल पोट ख़्मेर रूज का सर्वोच्च नेता था। चीन ने उसकी सहायता करने के उद्देश्य से 1979 में वियतनाम में अपनी सेनाएं भेज दीं। लेकिन वियतनामी वीरों ने आक्रांताओं को पीछे धकेल दिया। चीनी पीछे तो हट गए, फिर भी वे पोल पोट की सहायता करते रहे। 1989 में, संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप के अंतर्गत, वियतनामी कंबोडिया से पीछे हट गए। इस समय देश लोकतांत्रिक प्रणाली अपनाए हुए है और अपनी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण में जुटा है।

कोरियाई युद्ध

कोरिया एक अन्य देश था जिसे औपनिवेशिक शासन से मुक्ति पाने के बाद तुरंत विभाजित होना पड़ा। 1910 से, कोरिया जापान के अधीन था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसे दो कोरियाओं यानी साम्यवादी उत्तरी कोरिया और गैर-साम्यवादी दक्षिणी कोरिया में विभाजित कर दिया गया। जापान के आत्मसमर्पण के समय कोरिया का 38° अक्षांश से दक्षिण का हिस्सा अमेरिका के कब्जे में था, जबकि सोवियत सेनाएं उत्तरी भाग में अपना डेरा डाले हुए थीं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने सिंगमन री के नेतृत्व में गैर-साम्यवादी सरकार के निर्माण का समर्थन किया। जबकि उत्तर में, सोवियत संघ किमसुंग द्वितीय के अधीन एक साम्यवादी सरकार का समर्थन कर रहा था।

1948 में, सोवियत सेनाएं उत्तरी कोरिया से वापस चली गईं और अगले ही वर्ष अमेरिकी दक्षिणी कोरिया छोड़कर चले गए। लेकिन जाते-जाते दोनों देश दोनों कोरियाइयों को पारस्परिक अविश्वास एवं वैमनस्य का भाव वसीयत में दे गए। अरबों लोगों को विस्थापित होकर उत्तर से दक्षिण में जाना पड़ा और दोनों भागों की सेनाएं एक-दूसरे के क्षेत्र में अतिक्रमण करती रहीं। 25 जून 1950 को दोनों कोरियाओं के बीच संघर्ष छिड़ गया जो जल्दी ही तीन साल लंबे युद्ध में बदल गया। लेकिन कोरियाई एकीकरण का मुख्य मुद्दा आज छह दशक के बाद भी ज्यों-का-त्यों अनिर्णीत पड़ा है। दरअसल, इस संपूर्ण विवाद के पीछे और भी कई जटिल मुद्दे छिपे हुए हैं जो आसानी से दिखायी नहीं देते।

संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध यूरोप में अभी शुरू ही हुआ था जो कभी-कभी युद्ध के कगार पर पहुंच जाता था। उसी वर्ष फरवरी में चीन और सोवियत संघ के बीच मैत्री-संधि हुई। इस बात का पता नहीं चल पाया है कि उत्तरी कोरिया वालों को युद्ध शुरू करने के लिए किसने भड़काया था, चीन ने या सोवियत संघ ने। संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए कोरिया की स्थिति इस बात की चेतावनी दे रही थी कि विश्व में साम्यवाद अभियान पर अग्रसर हो रहा है। इससे अमेरिकी नीति में बड़ा परिवर्तन लाने की आवश्यकता हुई। इसीलिए तो वह कोरियाई युद्ध मंच पर उतरा क्योंकि उसे इस बात की चिंता हुई कि यदि सोवियत तथा चीनी विस्तारवाद को जो साम्यवाद की आड़ में आगे बढ़ रहा था, न रोका गया तो वह संपूर्ण एशिया को ही निगल जाएगा। इसीलिए अमेरिका ने जापान के अड्डों से अपने सैनिकों को तुरंत कोरियाई प्रायद्वीप में भेजा। इस मुद्दे पर संयुक्त राष्ट्र ने अमेरिका का समर्थन किया।

युद्ध में दोनों पक्षों ने कई उतार-चढ़ाव देखे। संयुक्त राष्ट्र बलों का सेनापति अमेरिकी जनरल डगलस मैकआर्थर देश के बीचोबीच इंचोन पर
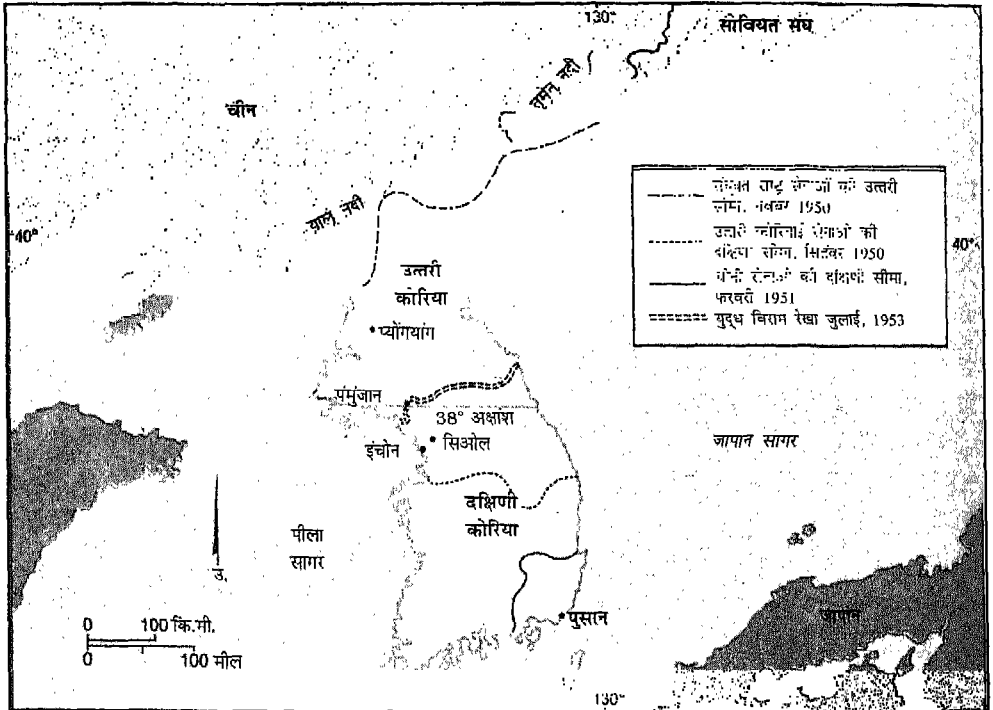
कोरियाई युद्ध

उतरा और उसने उत्तरी कोरिया की सेनाओं को 38° अक्षांश से पीछे धकेल दिया। लेकिन जब संयुक्त राष्ट्र की सेनाएं, जो अधिकतर अमेरिकी थीं, यालू नदी को पार करके उत्तर की ओर बढ़ीं, तभी चीन ने उत्तरी कोरियाइयों को तत्काल मदद देने के लिए अपनी सेनाएं भेज दीं जिन्होंने घमासान लड़ाई के बाद संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं को पीछे धकेल दिया। अगले तीन वर्षों तक गतिरोध बना रहा और उसके बाद 27 जुलाई 1953 को युद्ध विराम समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। तब से उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया के बीच की सीमा बंद ही नहीं है, बल्कि दोनों देशों के बीच संबंध भी तनावपूर्ण बने हुए हैं।

कोरियाई युद्ध के बाद दक्षिण कोरिया में सामाजिक-आर्थिक विकास

कोरियाई युद्ध के बाद दक्षिणी कोरिया ने अपने समाज तथा अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण में भारी बाधाएं झेली हैं। प्रायद्वीप की लगभग दो-तिहाई आबादी दक्षिण में है जबकि अधिकांश उद्योग-धंधे उत्तर में स्थित हैं। अपनी घनी आबादी और औद्योगिक अक्षमता के कारण दक्षिण कोरियाई योजनाकारों को अपना काम पुन: प्रारंभ करना पड़ा। सबसे पहले उन्होंने विद्युत संयंत्रों, कृषि और बुनियादी उद्योगों पर ध्यान दिया। 1950 के दशक में अमेरिकी आर्थिक सहायता दक्षिणी कोरिया के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हुई क्योंकि उस समय उसे अपनी आबादी का पेट भरने के लिए ही भारी संघर्ष करना पड़ रहा था।

आर्थिक दृष्टि से, दक्षिणी कोरिया निजी स्वामित्व और पूंजीवाद के लिए प्रतिबद्ध है। 1960 से सरकार तथा व्यवसाय के बीच, सतत आर्थिक विकास के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए परस्पर समन्वयपूर्ण संबंध स्थापित हो चुके हैं। आर्थिक विकास का कार्यक्रम, निर्यातक उद्योगों में विदेशी पूंजी के निवेश पर आधारित है। 1950 के दशक के आखिरी वर्षों में दक्षिणी कोरिया की प्रति व्यक्ति आय मोटे तौर पर 100 अमेरिकी डालर थी, आज यह 2000 डालर के आसपास पहुंच रही है। इस तीव्र आर्थिक विकास का कारण है: सावधानीपूर्वक, लचीलेपन से भरपूर सरकारी योजनाओं का निर्माण, विदेशी पूंजी का रचनात्मक उपयोग, और निजी उद्योग क्षेत्र का बढ़िया कार्य-निष्पादन। यद्यपि दक्षिणी कोरिया की सफलता को अक्सर 'चमत्कार' कहकर पुकारा जाता है, लेकिन वास्तव में इस सफलता के पीछे अनेक ठोस कारण थे; जैसे – कोरियाई समाज के उत्कृष्ट मानव संसाधन; एक अनुशासित, सुप्रशिक्षित कार्य-बल और राजनीतिक नेताओं तथा निजी उद्यमियों के बीच घनिष्ठ सहयोग।

हालांकि धन-धान्य तेजी से बढ़ा है, इकट्ठा भी खूब हुआ है और बहुत-से लोग उन्नति के बल पर नए शहरी मध्य-वर्ग में प्रवेश कर चुके हैं। फिर भी आय का वितरण बहुत-कुछ असमान या विषम ही बना हुआ है। कामगारों की मजदूरी आर्थिक विकास की गति के साथ उसी रफ्तार से नहीं बढ़ी है। दरअसल सरकार बहुत कम श्रम संगठन बनाने या हड़तालें करने की इजाजत देती है। इसके अलावा, लोगों के दिल में यह बात घर करती जा रही है कि समाज के कुछ वर्ग ही विकास से लाभान्वित हो रहें हैं। यहां तक कि गरमबाजारी का लाभ उठाने वाला नया शहरी मध्य-वर्ग पहले से अधिक राजनीतिक उदारीकरण की अकांक्षा करता है। जहां तक सरकार का संबंध

है, वह साम्यता (इक्विटी) के मुद्दे से दो-चार हो रही है क्योंकि दक्षिण कोरिया अब 'हर हाल में विकास' की नीति से हटकर सामाजिक व्यय, आर्थिक उदारीकरण (सरकारी नियंत्रण में कमी और मुक्त बाजार के बलों को बढ़ावा) और एक अधिक खुली राजनीतिक प्रणाली के विकास की ओर नए सिरे से ध्यान दे रहा है।

कंपूचिया (कंबोडिया)

फ्रांसीसी इंडोचीन का एक भाग कंबोडिया, वियतनाम के साथ-साथ 1953 में स्वतंत्र हुआ। सम्राट राजकुमार नरोत्तम सिंहानुक के शासन में कंबोडिया ने 1950 के दशक में इस इलाके में चल रहे लड़ाई-झगड़ों से अपने-आप को दूर रखा। किंतु देश में जब साम्यवाद का उद्भव हुआ तो पास ही दक्षिणी वियतनाम में स्थित अमेरिकियों ने इसे खतरा समझा। जब दक्षिणी वियतनामियों ने वियतनामी साम्यवादी गुरिल्लों का उसके राज्यक्षेत्र में पीछा किया तो कंबोडिया ने संयुक्त राज्य अमेरिका से अपने संबंध तोड़ लिए। लेकिन अमेरिकी कूटनीति ने सम्राट को यह मनवा दिया कि उसका असली शत्रु तो उत्तरी वियतनाम है। जब इस बात का प्रमाण मिल गया कि हो ची मिन गुप्त रूप से कंबोडियाई साम्यवादियों की सहायता कर रहा था तो सम्राट ने 1969 में संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ अपने संबंध फिर से जोड़ लिए।

1970 में, देश के अमेरिका-समर्थक प्रधान मंत्री लो नो ने सत्ता हथिया ली और राजतंत्र को उखाड़ फेंका। उसने मांग की कि उत्तरी वियतनाम अपने 40,000 सैनिकों को वापस बुला ले जिन्होंने कंबोडिया के भीतर अपने अड्डे बना रखे थे। सिंहानुक ने चीन में शरण ली। फिर वियतनाम समर्थित ख्मेर रूज और अमेरिका-समर्थित लो नो की सरकार के बीच गृहयुद्ध छिड़ गया।

अप्रैल 1975 में ख़्मेर रूज ने कंबोडिया की राजधानी नोमपेन्ह पर कब्जा कर लिया। उनके सर्वोच्च नेता पोल पोट का विश्वास था कि नए कंबोडिया में शहर और उनके निवासी वांछनीय नहीं हैं। इसलिए लाखों शहर-निवासियों को वापस गावों में भेज दिया गया। संपूर्ण जनता को खेती करने, जंगल साफ करने और अन्य ऐसे ही कार्यकलापों में लगा दिया गया। देश का नाम बदलकर कंपूचिया रख दिया गया। साम्यवादियों द्वारा आम लोगों पर अकथनीय अत्याचार किए गए। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि अगले चार सालों में 20 लाख लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया और इससे भी कहीं ज्यादा लोग जीवन-भर के लिए अपाहिज बना दिए गए। ख्मेर रूज ने सारे देश में बारूदी सुरंगें बिछा दीं ताकि शरणार्थी बचकर थाइलैंड में उनके लिए खोले गए शरणार्थी शिविरों में न जा सकें।

1978 में वियतनाम के साथ सीमा क्षेत्र में घमासान लड़ाई छिड़ गई और अगले जनवरी माह में वह वियतनामियों के पूर्ण-व्यापक आक्रमण में बदल गई। परिणामस्वरूप कंपूचिया में हनोई-समर्थित सरकार स्थापित कर दी गई। कंपूचियावासियों को लगा कि एक किस्म के साम्यवाद के स्थान पर दूसरी किस्म का साम्यवाद आ गया है, इसी डर से हजारों कंपूचियावासी सीमा पार करके थाइलैंड में चले गए। व्यापक भुखमरी की खबरें फैलने लगीं। ख्मेर रूज देश के पश्चिमी भागों में स्थित जंगलों में चले गए और वहां शिविर बनाकर रहते हुए उन्होंने प्रतिरोध जारी रखा।

अभ्यास

1. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद चीन में साम्यवादी आंदोलन की सफलता के कारण बताइए।
2. तिब्बत पर चीन के आधिपत्य की चर्चा करते हुए यह बताइए कि इससे चीन–भारत के पारस्परिक संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ा।
3. 1949 से 1976 तक की अवधि में चीन में हुए क्रांतिकारी घटनाक्रम का वर्णन कीजिए। इन घटनाओं से चीन में माओ की स्थिति कैसे मजबूत हुई?
4. माओ जेदांग के बाद चीन में हुई प्रमुख घटनाओं का उल्लेख कीजिए। क्या इन घटनाओं से लोकतंत्र के लिए किए जा रहे आंदोलनों को प्रोत्साहन मिला?
5. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वियतनाम में हुए घटनाक्रम की चर्चा कीजिए और बताइए कि उसमें संयुक्त राज्य अमेरिका की भूमिका कैसी रही।
6. द्वितीय विश्वयुद्ध का अंत होने पर कोरियाई युद्ध छिड़ने के क्या कारण थे? उसके परिणाम क्या हुए?
7. 1950 के दशक से लेकर कंपूचिया के घटनाक्रम का वर्णन कीजिए। पोल पोट के शासन के कार्यकलापों पर प्रकाश डालिए।
8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए:
   (i) माओ का 'ग्रेट लीप फार्वर्ड' कार्यक्रम
   (ii) पिंगपोंग कूटनीति
   (iii) तियाननमेन स्क्वायर हत्याकांड
   (iv) कोरियाई युद्ध

परियोजना कार्य

- चीन और भारत की विदेश नीतियों के बारे में सामग्री इकट्ठी करें और चीन तथा भारत के संबंधों में आए उतार–चढ़ाव के बारे में एक सामूहिक चर्चा का आयोजन करें।

अध्याय 12

अफ्रीका और एशिया में [illegible] उथल-पुथल

पिछले अध्याय में हमने पढ़ा कि एशिया एवं अफ्रीका के देशों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद किस प्रकार औपनिवेशिक शासन से अपनी स्वतंत्रता हासिल की। परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति ही स्वयं में अंतिम लक्ष्य नहीं है। जनता की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को पूरा करते हुए इसे बनाए रखना तथा सभ्य समाज, जिसमें शांति एवं स्थिरता पनप सके, को आधार प्रदान करना, प्रत्येक स्वाधीन राष्ट्र के लिए एक चुनौती है। आज़ादी के बाद अफ्रीका के नए देशों के नेताओं को इन अपराजेय समस्याओं ने किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया। इस अध्याय में हम अफ्रीका के कुछ ऐसे देशों के पूर्व इतिहास एवं जनजीवन की चर्चा करेंगे जो पिछले कुछ दशकों में सुर्खियों में रहे हैं। इसके अतिरिक्त हम मध्य एशिया के नए गणतंत्रों की सामूहिक शक्ति को भी समझने का प्रयास करेंगे जिन्होंने सोवियत संघ के विघटन के बाद अपना स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त किया है। इन्होंने विश्व की सुरक्षा के लिए जबरदस्त चुनौतियां खड़ी की हैं तथा चूंकि ये देश भौगोलिक दृष्टि से भारत के निकट हैं अत: इनमें होने वाली कोई भी गतिविधि हमारे क्षेत्र की स्थिरता के लिए निर्णायक होती है।

नया अफ्रीका

यह कहना सही नहीं होगा कि जितने भी नए अफ्रीकी राष्ट्रों ने स्वाधीनता प्राप्त की है, उन्हें जबरदस्त बाधाओं का सामना करना पड़ा है। इनमें से प्रत्येक देश में अनेक जनजातियां हैं जो अलग-अलग भाषाएं बोलती हैं और इन देशों पर शासन करने वाली औपनिवेशी शक्तियों ने अत्याचार के बल पर इन्हें एकत्र कर रखा था। अपने संक्षिप्त स्वाधीनता संग्रामों के दौरान इन्होंने किसी प्रकार एकता के बाह्यावरण को बनाए रखा। परंतु यूरोप के शासकों के जाते ही अफ्रीकी लोगों में इस प्रश्न को लेकर असमंजस बना रहा कि वे अपनी जाति के प्रति वफादार रहें या अपने राष्ट्र के प्रति।

नाइजीरिया, कांगो (ज़ायरे), बुरूंडी एवं रवांडा में जनजातीय द्वेष के कारण खुला गृहयुद्ध छिड़ गया।

हमने पहले पढ़ा है कि आज के अधिकांश आधुनिक अफ्रीकी राष्ट्र प्राकृतिक रूप से राष्ट्र नहीं थे बल्कि महाद्वीप के विभाजन के परिणामस्वरूप उन्हें औपनिवेशिक शासकों ने अपने हितों के लिए स्थापित किया था। आज़ादी के बाद प्रत्येक राष्ट्र को इस बात का एहसास हो गया था कि उनकी आर्थिक स्थिति का आधार निर्यात से होने वाली आय तथा वह भी एक या दो कृषि उत्पादों या प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर थी। उदाहरणार्थ, नाइजीरिया तेल पर, घाना कोको पर तथा कीनिया चाय पर पूर्णत: निर्भर था। आर्थिक विविधता एवं शिक्षित मानव संसाधन आधार के अभाव में अनेक स्वतंत्र अफ्रीकी राष्ट्र नव-उपनिवेशवाद का शिकार बने चूंकि उनके पूर्ववर्ती साम्राज्यिक शासकों ने अभी तक उन्हें बाह्य दृष्टि से अपने नियंत्रण में कर रखा था। जब अन्य देशों ने उनमें से कुछ की सरकारों को मान्यता नहीं दी तब उनकी प्रभुसत्ता फीकी पड़ गई।

अब हम अफ्रीका की प्रगति में अड़चन बन कर खड़ी होने वाली अनेक समस्याओं के बारे में एक-एक कर चर्चा करेंगे।

घाना

पहले गोल्डकोस्ट कहलाने वाले इस गणतंत्र पर 1957 से 1966 तक की अवधि में क्वामे एनक्रूमा ने प्रथम राष्ट्रपति के रूप में शासन किया जिसे बाद में एक सैन्य कार्रवाई के द्वारा सत्ता से बाहर खदेड़ा गया। इसकी समाजवादी सरकार के अधीन घाना की जनता का रहन-सहन उनके अन्य अफ्रीकी देशों की तुलना में काफी अच्छे स्तर पर पहुंच गया। उसने देश की मुख्य निर्यात फसल, कोको को विकसित किया तथा वानिकी, मत्स्य-पालन, पशुपालन, सोना एवं बॉक्साइट के खनन को बढ़ावा देकर आर्थिक आधार में विविधता लाने की कोशिश की। एनक्रूमा सर्व-अफ्रीकावाद की संकल्पना को बढ़ावा देने वाला अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त नेता था, जिसने गुयाना एवं माली के साथ आर्थिक संघों के जरिए अफ्रीकी राज्यों का परिसंघ बनाने की अनिवार्य आवश्यकता को महसूस किया। वह अफ्रीकी एकता संगठन (Organisation of African Unity - OAU) के प्रवर्तकों में से एक था। इस संगठन को 1963 में स्थापित किया गया था। परंतु प्राधिकारों का अति-केंद्रीकरण करना उसके प्रशासन की अनेक कमियों में से एक कमी थी। उसने धीरे-धीरे संसदीय प्रणाली को छोड़ दिया और एकदलीय शासन की शुरुआत की जिसने उसे निरंकुश शासक बना दिया। राजनीतिक विरोधियों के विरुद्ध उसने दमनकारी कदम उठाए। 1959 में एक आदेश पारित किया जिसके अंतर्गत विरोधियों को देश-निकाला दिया जा सकता था तथा बिना सुनवाई के पांच वर्ष तक कारावास में रखा जा सकता था। 1964 में सभी राजनीतिक दलों पर प्रतिबंध लगा दिया गया तथा एनक्रूमा ने अपने इर्द-गिर्द मजबूत व्यक्तित्व की पूजा का ताना-बाना बुन लिया। इससे देश का सैन्य नेतृत्व भड़क उठा। 1966 में जब एनक्रूमा चीन के दौरे पर था

नए चुनाव कराए गए। प्रगतिशील दल के नेता कॉफी बुसिया ने देश के प्रधान मंत्री के रूप में शपथ ली।

भूतपूर्व ऑक्सफोर्ड विद्वान बुसिया ने महसूस किया कि घाना में सभी गतिविधियां सेना द्वारा नियंत्रित होती हैं। परंतु उसके शासनकाल में देश की आर्थिक व्यवस्था और खराब हो गई। घाना कर्ज़ के जाल में फंस गया जिससे उसकी मुद्रा का अवमूल्यन करना अनिवार्य हो गया। इस अवधि में जनजातीय प्रतिद्वंद्वियों ने भी सिर उठाया। 1972 में सेना ने बुसिया को अपदस्थ कर दिया तथा कर्नल इग्नेशियस एचीम्पोंग को गद्दी पर बैठा दिया गया। परंतु देश का आर्थिक संकट इतना गंभीर था कि इसका समाधान करना एक भ्रष्ट सरकार के वश की बात नहीं थी। सेना ने उसे भी भ्रष्टाचार के आधार पर हटाया तथा उसके स्थान पर जनरल फ्रेड अकूफको को सत्ता सौंपी। परंतु जून 1979 में एक कनिष्ठ वायु सेना अधिकारी जेरी रावलिंग्स ने, जो कि घाना-स्काट मिश्रित वंश का था, दूसरी तख़्ता पलट कार्रवाई को अंजाम दिया तथा जनता को भ्रष्टाचार समाप्त करने एवं देश में लोकतंत्र स्थापित करने का आश्वासन दिया। जुलाई में चुनाव हुए तथा हिला लिमान को देश के राष्ट्रपति के रूप में शपथ दिलाई गई। परंतु जिस आर्थिक क्षय ने घाना को अपने चंगुल में जकड़ लिया था, उसे रोकने के लिए वह कुछ नहीं कर सका। हर तरफ बेरोजगारी फैल गई तथा औद्योगिक हड़तालें शुरू हो गईं। लिमान से छुटकारा दिलाने के लिए रावलिंग्स ने अपनी दूसरी तख़्ता पलट कार्रवाई की और स्वयं को राष्ट्रीय अंतरिम रक्षा परिषद् (Provisional National Defence Council - PNDC) का अध्यक्ष स्थापित कर लिया।

रावलिंग्स एक अनोखी किस्म का सैनिक था। वह यह नहीं चाहता था कि सेना देश के शासन को चलाए परंतु वह केवल इतना चाहता था कि राष्ट्रीय स्तर के निर्णय लेने की प्रक्रिया में सेना की बात को भी महत्त्व दिया जाए। उसने पी.एन.डी.सी. के नेतृत्व में असैनिक सरकार नियुक्त की, जिसमें सुविख्यात नेताओं एवं शिक्षाविदों को शामिल किया गया। एक आर्थिक समुत्थान का कार्यक्रम आरंभ किया गया जिससे घाना में चारों ओर प्रगति होने लगी। धीरे-धीरे घाना संपूर्ण लोकतंत्र की ओर बढ़ रहा था और यह प्रक्रिया 1991 के चुनावों तक पूरी हुई।

नाइजीरिया

नाइजीरिया के पास तेल के बड़े-बड़े भंडार हैं। वह अपने अन्य महाद्वीपीय पड़ोसियों की अपेक्षा अधिक लाभपूर्ण स्थिति में था। परंतु इसमें राजनीतिक अस्थिरता की समस्या थी। यह 'तख़्ता पलट संस्कृति' की गिरफ्त में रहा जिसमें देश की सेना के विभिन्न गुटों द्वारा समय-समय पर लोकतांत्रिक सरकारें बर्ख़ास्त की गईं। सैन्य नेता, जिन्होंने इन तख़्ता-पलट कार्रवाइयों को अंजाम दिया, स्वयं अगले षड्यंत्र की बलि चढ़ते गए।

1960 से 1966 तक की अवधि में प्रधानमंत्री अबुबकर तफावा बलेवा के शासन में सब कुछ ठीक-ठाक चला। परंतु 1966 में सैन्य तख्ता पलट कार्रवाई ने उसकी उदारवादी सरकार को उखाड़ फेंका और फिर गृहयुद्ध आरंभ हो गया। यह मुख्यत: गंभीर प्रकार के जनजातीय संघर्षों के कारण हुआ। उत्तर में मुस्लिम लोगों और हौसा एवं फुलानी जनजातियों में श्रेष्ठता के लिए होड़ लगी हुई थी। पश्चिम में योरूबा और

पूर्व में आइबो लोगों को यह शिकायत थी कि अधिक ताकतवर उत्तरी क्षेत्र, जहां का स्वयं बलेवा रहने वाला था, उन पर शासन करता है। अत: आइबो जनजाति के सैन्य अधिकारियों ने सरकार का तख़्ता पलट दिया। बलेवा एवं अन्य प्रमुख राजनीतिज्ञ मारे गए। इससे देश में जातीय संघर्ष भड़क उठा। जनरल आइरोंसी, जिसने स्वयं को नए नेता के रूप में स्थापित किया, स्वयं उत्तर क्षेत्र के सैनिकों द्वारा मार दिया गया। उन सैनिकों ने याकूब गोवॉन को सत्तारूढ़ किया। इससे देश के अन्य भागों से बड़ी संख्या में आइबो लोग विस्थापित होकर पूर्वी भाग में चले गए। उन्होंने 1967 में कर्नल ओजुकव की अधीनता में स्वयं को नाइजीरिया से स्वतंत्र घोषित कर दिया और अपने नए देश को बियाफ्रा नाम दिया।

लागोस और पूर्व के बीच तीन वर्ष तक गृहयुद्ध चलता रहा। पश्चिम में हजारों लोग मारे गए, परंतु इनमें भूख से मरने वालों की संख्या युद्ध में मरने वालों से भी अधिक थी। अंतिम बियाफ्रा सैनिक लड़ते-लड़ते मर गया पर न तो संयुक्त राष्ट्र और न ही राष्ट्रमंडल इस क्षेत्र में शांति स्थापित कर सका। प्रत्येक जनजातीय समूह को अधिक प्रतिनिधित्व देने के लिए गोवॉन ने 12 राज्यों (जो बाद में बढ़कर 19 हो गए थे) को लेकर नई संघीय प्रणाली की स्थापना की। 1970 के दशक के मध्य में जब तेल संकट आया तो तेल निर्यातक देश मालामाल हो गए, इसमें नाइजीरिया भी पीछे नहीं रहा, उसने भी खूब मुनाफा कमाया। इससे देश की आर्थिक स्थिति में सुधार तो अवश्य हुआ परंतु राजनीतिक अस्थिरता एक समस्या बनी रही। सेना, गोवॉन के उस तरीके को पसंद नहीं करती थी जो देश में असैनिक शासन की स्थापना कर रहा था अत: 1975 में सेना ने सरकार का तख़्ता पलट दिया। परंतु अंतर्राष्ट्रीय दबाव के चलते 1979 में चुनाव कराए गए जिसमें राष्ट्रपति शगारी के नेतृत्व में सरकार बनी।

1980 में नाइजीरिया की अर्थव्यवस्था जो तेल की कीमतों पर अत्यधिक निर्भर थी, विश्व स्तर पर आई मंदी के कारण ढह गई। अगस्त 1983 में शगारी एक अन्य तख़्ता पलट की कार्रवाई का शिकार हो गया तथा मेजर जनरल बुखारी ने स्वयं को राष्ट्रपति के रूप में स्थापित कर लिया। परंतु बुखारी भी अधिक समय तक नहीं टिक सका। बिगड़ते आर्थिक हालातों से निराश होकर मेजर जनरल बबनगिडा के नेतृत्व में सैन्य अधिकारियों के एक प्रतिद्वंद्वी समूह ने सत्ता संभाली। उसने रावलिंग्स के उदाहरण को अपनाया और प्रख्यात असैनिक व्यक्तियों को लेकर लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत शासन किया। यद्यपि उसने नाइजीरिया के औद्योगिक आधार में विविधता लाने की कोशिश की परंतु विश्व के तेल बाजार में लगातार गिरती हुई कीमतों ने उसके प्रयासों पर पानी फेर दिया। 1986 में पहली बार अपने आर्थिक समुत्थान कार्यक्रम को चालू रखने के लिए नाइजीरिया को विश्व बैंक से ऋण लेना पड़ा। लोकतंत्र की बहाली का रास्ता भी साफ हो गया था। परंतु एक बार फिर तख़्ता पलट की कार्रवाई ने बाधा डाल दी। 1993 में जनरल सानी अबाचा ने रक्तहीन तख़्ता पलट की कार्रवाई की तथा उच्च स्तर के सत्तावादी शासन का समारंभ किया। प्रसिद्ध उपन्यासकार केन सारो विवा सहित अनेक महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञों एवं बुद्धिजीवियों को जेल में डाल दिया गया तथा झूठे आरोप लगाकर फांसी पर चढ़ा दिया गया। इस कारण उसे विश्व-भर से निंदा का

शिकार होना पड़ा। इस प्रकार नाइजीरिया संसार भर में अलग-थलग पड़ गया। इसके तेल को बिकने से रोकने के लिए बंदिशें लगाई गईं। उत्तर में, मुस्लिमों ने शरीयत का शासन लागू किया जिससे हर ओर मानव अधिकारों का दुरुपयोग होने लगा। इस प्रकार, एक पर्याप्त क्षमता वाला वैभवशाली राष्ट्र, जो आर्थिक शक्ति के रूप में दक्षिण अफ्रीका का मुकाबला करता था, गिरकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक बहिष्कृत राज्य की श्रेणी में आ गया।

अंगोला

1975 में पुर्तगाली औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र होने के तुरंत बाद अंगोला में एक भीषण गृहयुद्ध छिड़ गया। यहां तीन भिन्न-भिन्न स्वतंत्रता संघर्ष हुए जिनका आपस में कोई संबंध नहीं था। पुर्तगालियों के जाने के बाद उन्होंने सत्ता के लिए आपस में लड़ना शुरू कर दिया।

अंगोला की स्वतंत्रता का लोकप्रिय आंदोलन (Popular Movement for the Liberation of Angola - MPLA) वामपंथी था। इस आंदोलन ने अगोसटिन्हो नेटो के अधीन अपनी सत्ता स्थापित की। अंगोला की संपूर्ण आज़ादी की राष्ट्रीय यूनियन (National Union for the Total Independence of Angola - UNITA) का नेतृत्व जोनस साविंबी ने किया जिसकी सहायता देश के दक्षिण में रहने वाली ओवियबुंदु जनजातियों ने की। अंगोला की आज़ादी के राष्ट्रीय मोर्चा (National Front for the Liberation of Angola - FNLA), जो कि एम.पी.एल.ए. एवं यू. एन.आई.टी.ए. से कमज़ोर था, का सहायता आधार विशेषकर देश के उत्तर-पश्चिम में रहने वाली बाकोंगो जनजाति के बीच था। एम.पी.एल.ए. की उभरती हुई शक्ति से पश्चिमी देशों को खतरा पैदा हो गया चूंकि इसकी प्रकृति साम्यवादी थी। पड़ोसी देश ज़ायरे के राष्ट्रपति मोबूतू से मिलकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने यू.एन.आई.टी.ए. को हथियार एवं गोला-बारूद देकर सहायता की। क्यूबा ने एम.पी.एल.ए. की सहायता करने का निर्णय लिया। दक्षिण अफ्रीका नामीबिया की साउथ वेस्ट अफ्रीकन पीपल्स आरगेनाइजेशन (SWAPO) की सहायता करने के लिए एम.पी.एल.ए. के खिलाफ था, इसलिए उसने दक्षिण की ओर से देश पर आक्रमण कर दिया। ज़ायरे की सेनाओं ने देश की उत्तर-पश्चिम दिशा में आक्रमण शुरू कर दिया। इससे स्थिति जटिल हो गई।

गृहयुद्ध दस वर्ष तक चलता रहा। अंत में दिसंबर 1988 में संयुक्त राष्ट्र ने शांति व्यवस्था करवाई जिसके अंतर्गत दक्षिण अफ्रीका ने नामीबिया को आजाद करने पर अपनी सहमति जता दी। क्यूबा की सेना अंगोला से कूच कर गई। सैम नूज़ोमा के अधीन नामीबिया 1990 में एक लोकतांत्रिक गणतंत्र बन गया तथा 1992 में संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षण में चुनाव कराए गए जिससे नूज़ोमा की एम.पी.ए.ए. पार्टी सत्ता में लौट आई। परंतु इस समय विश्व में साम्यवाद लड़खड़ा रहा था तथा मास्को एवं पूर्वी खेमे से सहायता बंद हो गई थी। इसने सत्ता प्राप्ति का एक और प्रयास करने के लिए यू.एन.आई.टी.ए. को प्रोत्साहित किया। इसके नेता जोनस साविंबी ने चुनाव के परिणाम स्वीकार करने से इनकार कर दिया जबकि इन्हें संयुक्त राष्ट्र की सतर्कतापूर्ण निगरानी में कराया गया था। लड़ाई छह महीने तक चलती रही, जब तक कि संयुक्त राष्ट्र, जिसने अब तक एम.पी.ए.ए. को मान्यता दे रखी थी, ने नजूमा सरकार

को औपचारिक रूप में मान्यता नहीं दी। 1993 में यू. एन.आई.टी.ए. के विद्रोहियों को दोबारा वार्ता के लिए मजबूर किया गया। उन्होंने 1992 के चुनावों के परिणामों को स्वीकार कर लिया तथा एम.पी. ए.ए. के साथ साझा सरकार बनाने पर अपनी सहमति दे दी।

बुरूंडी

बुरूंडी और रवांडा, जो पहले बेल्जियम के उपनिवेश थे, के बीच उनकी आजादी के समय अर्थात 1962 से ही तनाव था। बुरूंडी में अल्पसंख्यक जनजाति तुत्सी सत्तारूढ़ थी। इससे हुतू लोगों में असंतोष व्याप्त हो गया। अतः 1988 में बुरूंडी सेना के हुतू जनजाति के जवान तुत्सी लोगों के विरुद्ध खड़े हो गए और उन्होंने हजारों लोगों को मौत के घाट उतार दिया। जब 1993 में प्रथम लोकतांत्रिक चुनाव हुए तब हुतू विजयी हुए। परंतु इससे तुत्सी नाराज हो गए। उन्होंने नए राष्ट्रपति की हत्या कर दी। इसके बाद हत्याओं एवं प्रतिशोध-हत्याओं का चक्र आरंभ हुआ, जिससे देश पूरी तरह से अव्यवस्था की चपेट में आ गया। 1996 तक युद्ध चलता रहा। अंतहीन खूनखराबे से आतंकित होकर अफ्रीकी एकता संगठन ने 1996 में देश में शांति सेना भेजी। बुरूंडी में सेना की सहायता से सरकार सत्ता में आ गई जिसका प्रधानमंत्री तुत्सी जनजाति का था तथा राष्ट्रपति हुतू जनजाति का रखा गया था। परंतु जब शांति सेना भी शांति स्थापित नहीं कर पाई तो सेना ने सरकार को खत्म कर दिया और मेजर पियेर बुयोवा, के नेतृत्व में सत्ता पर कब्जा कर लिया जो एक तुत्सी था।

रवांडा

यहां भी तुत्सी-हुतू में तीव्र प्रतिद्वंद्विता थी जिससे बार-बार जनसंहार की घटनाएं हुईं। 1990 में तुत्सी प्रभुत्वधारी रवांडाई देशभक्ति मोर्चा (Rawandise Patriotic Front - RPF) एवं रवांडा की सेना जो हुतू नियंत्रण में थी, के बीच लड़ाई शुरू हुई। संयुक्त राष्ट्र ने शांति सेना भेजी जबकि अंतर्राष्ट्रीय मध्यस्थता गृहयुद्ध समाप्त करने में प्रयत्नशील रही। अक्तूबर 1993 से देश में अस्थायी रूप से शांति स्थापित हो गई। परंतु 1994 के शुरुआत में एक असाधारण हत्याकांड हुआ। बुरूंडी एवं रवांडा दोनों के राष्ट्रपति जो दोनों ही हुतू जनजाति के थे तंज़ानिया की एक बैठक में भाग लेकर वापस एक ही विमान में रवांडा की राजधानी किगाली लौट रहे थे। विमान उतरने से थोड़ी देर पहले ही मिसाइल से मार गिराया गया, और उसके सभी यात्री मारे गए। इससे अफ्रीकी इतिहास में भयंकर हत्याकांडों का दौर शुरू हो गया। हजारों तुत्सी नर-नारी और बच्चे कत्ल कर दिए गए। यद्यपि देश में संयुक्त राष्ट्र की शांति सेना मौजूद थी परंतु हत्याओं को रोकने के लिए यह कुछ ज्यादा नहीं कर सकी। पांच लाख से अधिक तुत्सी अगले कुछ महीनों में मारे गए तथा दस लाख से अधिक तुत्सी पड़ोसी देश ज़ायरे एवं तंज़ानिया में भाग गए। इस अंतहीन नरसंहार ने संसार को झकझोर दिया। संयुक्त राष्ट्र के बार-बार शांति मिशन भेजने तथा हुतू नरम पंथियों के द्वारा किए जा रहे प्रयासों के बावजूद हिंसा चक्र समाप्त नहीं हुआ।

ज़ायरे (पूर्व बेल्जियन कांगो)

इस देश में 150 से अधिक जनजातियां हैं। 1960 में जाते समय बेल्जियम औपनिवेशकों ने मिली-जुली

सरकार को सत्ता सौंपी थी। परंतु जल्द ही युद्ध आरंभ हो गया। सेना में भी विद्रोह छिड़ गया। वह अभी भी बेल्जियन अधिकारियों के नियंत्रण में थी। बेल्जियम तांबा खनन कंपनी 'यूनियन मिनियर' का दक्षिण-पश्चिमी प्रांत कटंगा में स्थित तांबों के भंडारों पर नियंत्रण था। इस कंपनी ने, एक अलगाववादी आंदोलन को प्रायोजित किया, और स्थानीय जनजातियों को मॉयस शॉम्बे नामक अलग राज्य बनाने के लिए प्रोत्साहित किया। संयुक्त राष्ट्र ने आगे बढ़कर हस्तक्षेप किया। अनेक पर्यवेक्षकों ने यह संदेह जताया कि संयुक्त राष्ट्र का महासचिव डैग हैमरशोल्ड इस मामले में पक्षपातपूर्ण भूमिका निभा रहा था। राष्ट्रपति पैट्रिस लुमुंबा ने विश्व निकाय से शांति सेना भेजने के लिए अपील की। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र ने देश में करीब 3000 सैनिक तैनात कर दिए थे, परंतु हैमरशोल्ड एक आजाद कटंगा के पक्ष में बेल्जियम के दबाव के आगे झुक गया क्योंकि इससे बेल्जियम के लिए अनुकूल स्थिति बन रही थी। बेल्जियम तो पहले औपनिवेशिक काल से ही तांबे के भंडारों का भरपूर दोहन कर रहा था। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र ने अलग कटंगा राज्य को मान्यता प्रदान नहीं की फिर भी वह एक मुक्त राज्य के रूप में कार्य करता रहा। लुमुंबा ने सहायता के लिए मास्को से अपील की। यह देखकर अमेरिकी भी आगे आ गए। उनके उकसाने पर राष्ट्रपति जोसफ कसावूबू ने लुमुंबा को जेल में डाल दिया तथा बाद में उसकी हत्या कर दी गई। हैमरशोल्ड के हवाई दुर्घटना में मारे जाने के बाद उसके उत्तराधिकारी बर्मा निवासी यू. थांत ने संयुक्त राष्ट्र की दोहरी नीति पर रोक लगाने का निश्चय किया। सितंबर 1962 में संयुक्त राष्ट्र के सैनिकों ने कटंगा में हस्तक्षेप किया तथा देश को दोबारा एक कर दिया।

कटंगा का संघर्ष नए देश की समस्याओं का केवल एक भाग था। जनजातीय प्रतिद्वंद्विता के कारण बार-बार सशस्त्र भिड़ंतें हुईं। 1965 में जनरल जोसफ मोबुतू ने सत्ता पर कब्जा करने के लिए विदेशी भाड़े के सैनिकों का प्रयोग किया। उसने कांगो में सत्तावादी सरकार की व्यवस्था की तथा मजबूत केंद्रीय प्राधिकरण की स्थापना की जिसने देश में धीरे-धीरे स्थिति को सामान्य बना दिया। परंतु 1970 के अंत में ज़ायरे (राष्ट्र का नया नाम) पर अंगोला के सैनिकों ने आक्रमण कर दिया और कटंगा (नया नाम शाबा) को कब्जे में ले लिया। यद्यपि उस समस्या का निवारण अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप से हो गया, परंतु विश्व में तांबे की कीमतों में आई गिरावट ने ज़ायरे की आर्थिक मुसीबत को कई गुना बढ़ा दिया, जिससे खाद्य आयात मंहगा हो गया। नागरिक अशांति के बढ़ने के साथ-साथ मोबुतू के सत्तावाद ने क्रूर रूप धारण कर लिया। अंतर्राष्ट्रीय दबाव में 1990 में मोबुतू ने बहुदलीय राजनीति से प्रतिबंध हटा लिया।

1994 में पड़ोसी देश रवांडा में जातीय संहार शुरू हो जाने से हजारों तुत्सी पूर्वी ज़ायरे चले गए जहां पर संघर्ष जारी रहे। ज़ायरे की सेना ने हस्तक्षेप किया तथा शरणार्थियों को वापस रवांडा भेज दिया जहां पर हुतू लोगों द्वारा उनके विध्वंस का खतरा बन गया। इसी दौरान मोबुतू का स्वास्थ्य बिगड़ गया तथा उसे लंबी अवधि के लिए अस्पताल में भर्ती कराया गया। जनरल लारेंस कबीला ने रवांडा सरकार के साथ मिल कर देश के पूर्वी भाग में विद्रोह भड़काया। जब कबीला ने पश्चिम में अधिक से अधिक क्षेत्र को हथियाना आरंभ

किया तब ज़ायरे की सेना कोई खास प्रतिरोध नहीं कर सकी। मई 1997 में कबीला सेनाओं ने राजधानी किंशासा में प्रवेश किया। मोबुतू को देश छोड़ना पड़ा। देश को 'कांगो लोकतांत्रिक गणतंत्र' नाम दिया गया।

कबीला, देश में शांति स्थापित नहीं कर सका। अगस्त 1998 में युगांडा एवं रवांडा से सहायता-प्राप्त विद्रोहियों ने बगावत कर दी तथा किंशासा पर धावा बोल दिया। धावा बोलने वालों को पीछे धकेलने के लिए अंगोला, नामीबिया एवं जिम्बावे ने कबीला को सहायता दी। अगस्त 1999 में युद्ध विराम की घोषणा की गई। कबीला अपने ही एक अंगरक्षक द्वारा मार डाला गया तथा उसके स्थान पर उसका बेटा जोसफ गद्दी पर बैठा।

संयोग से, पश्चिम अफ्रीका में कांगो गणतंत्र नामक दूसरा देश था जिसे कांगो-ब्राजाविले के नाम से भी जाना जाता है। इसने 1960 में फ्रांस से अपनी स्वतंत्रता हासिल की।

तंज़ानिया

यह अफ्रीका का सबसे गरीब देश है परंतु इसमें जनजातीयता की कोई समस्या नहीं है। स्वाहिली भाषा सभी तंज़ानियावासियों को जोड़े हुए है। राष्ट्रपति जूलियस कंबरेज न्यरेरे का दूरदृष्टिपूर्ण नेतृत्व 'अरुशा घोषणा' में वर्णित समाजवादी सिद्धांतों पर आधारित था। उसने देश के आर्थिक आधार को विविधता प्रदान की। अरुशा घोषणा में इस बात पर बल दिया गया था कि उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का प्रभावी नियंत्रण होना चाहिए तथा गरीब को अमीर के शोषण से बचाया जाना चाहिए। न्यरेरे ने देश के कृषि आधार को सुदृढ़ बनाया। देश में एक दल की सत्ता होने के बावजूद वास्तविक लोकतंत्र कार्य कर रहा था। उसने विकासशील विश्व के समक्ष वृद्धि एवं शासन के पश्चिम मॉडलों का विकल्प प्रस्तुत किया। अन्य अफ्रीकी देशों ने आंख बंद करके पश्चिम उदाहरणों की नकल की थी और उन्हें गृहयुद्ध, जातीय संघर्ष अमीर एवं गरीब के बीच व्यापक विसंगति का शिकार होना पड़ा। न्यरेरे विश्व की अर्थव्यवस्था तथा उस कार्यप्रणाली का स्पष्ट आलोचक था जिसके कारण अधिकांश राष्ट्र गरीब हो गए थे। उसने पड़ोसी युगांडा में जनरल इदी अमीन के भ्रष्ट शासन को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और वह अफ्रीकी एकता संगठन का प्रमुख संचालक था।

न्यरेरे ने 1986 में राजनीति से संन्यास लिया। 1992 में बहुदलीय प्रणाली स्थापित करने के लिए संविधान में संशोधन किया गया तथा धीरे-धीरे निजीकरण किया जाने लगा। 1999 में न्यरेरे की मृत्यु हो गई।

दक्षिण अफ्रीका

अब हम महाद्वीप के एक धनवान, अत्यधिक अध्यवसायी परंतु समान रूप से विवादास्पद देश, दक्षिण अफ्रीका का अध्ययन करेंगे। 1990 तक यह देश ऐसे प्रत्येक कार्य के लिए कुख्यात था जो प्रतिगामी एवं मानवता-विरोधी था। उसके इन कारनामों का स्तर नाज़ी जर्मनी एवं स्टालिनवादी रूस जैसा ही था। इसका प्रमुख कारण यह था कि दक्षिण अफ्रीका ने रंगभेद की एक ऐसी नीति अपना रखी थी जो जातीय भेदभाव पर आधारित थी।

इस देश की 70 प्रतिशत जनता अश्वेत थी तथा शेष 12 प्रतिशत में अन्य गैर-श्वेत समुदाय

सम्मिलित थे जिनमें भारतीय एवं अन्य एशियाई लोग भी शामिल थे। देश की जनसंख्या के 18 प्रतिशत श्वेत लोग देश की प्रत्येक संस्था, चाहे राजनीतिक हो या सामाजिक, का संचालन करते थे तथा वे अन्य लोगों को उन स्थानों, जहां वे स्वयं रहते थे से दूर आरक्षित क्षेत्रों में रखते थे। देश के केवल 7 प्रतिशत भू-भाग को अश्वेत लोगों के लिए आरक्षित रखा गया था। अश्वेत लोगों के गैर-आरक्षित क्षेत्रों में प्रवेश करने पर प्रतिबंध था, उन क्षेत्रों में जहां श्वेत लोग अति समृद्ध एवं सुविधापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे, वे तभी जा सकते थे जबकि उनके पास इस आशय का पास हो कि वे उन क्षेत्रों में काम करते हैं।

दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमंत्री डेनियल मलान ने 1948-54 की अवधि में रंगभेद की और अधिक कठोर नीति आरंभ की, जिसका उद्देश्य जातीय वियोजन या अलगाववाद था, मलान के नेतृत्व वाली अफ्रीकी राष्ट्रीय पार्टी को देश के उन श्वेत लोगों से व्यापक सहयोग मिला जो भारत द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के फलस्वरूप तथा ब्रिटिश राष्ट्रमंडल द्वारा जातीय समानता की भावना को बढ़ावा देने के कारण दक्षिण अफ्रीका में अपने शासन की समाप्ति को लेकर भयभीत थे। उन्होंने नाज़ी पद्धति पर यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि श्वेत लोग अश्वेतों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होते हैं। आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि दक्षिण अफ्रीका के सरकारी चर्च, 'डच रिफॉर्म्ड चर्च' ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया। मलान के उत्तराधिकारी स्ट्रीजडॉम (1954-58) एवं वोर्स्टर (1966-78) ने अंतर्राष्ट्रीय भर्त्सना के बावजूद रंगभेद नीति को जारी रखा जिससे दक्षिणी अफ्रीका एक बहिष्कृत राज्य बन गया।

रंगभेद ने नाना प्रकार के वीभत्स रूप धारण कर लिए। अश्वेतों को भीड़-भाड़ वाले नगरों में रहने के लिए मजबूर किया गया जहां स्वच्छता बिलकुल नहीं थी। उनके निवास के मामले में कुछ भी स्थायी नहीं था। यदि स्थानीय श्वेत संप्रदाय यह निर्णय लेता कि गैर-श्वेत लोग उनकी सुविधापूर्ण जिंदगी के बहुत नजदीक रहते हैं तो उन्हें (अश्वेत लोगों को) उनके झोपड़ीनुमा कस्बों से उखाड़ कर फेंक दिया जाता। अश्वेत लोगों के लिए बस, रेल, जन-सुविधाएं, यहां तक कि पार्कों में बैठने के बेंच भी अलग-थलग थे। उनके बच्चे घटिया दर्जे के स्कूलों में जाते थे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने साथ जातीय पहचान-पत्र रखना होता था तथा श्वेत पुलिसकर्मी द्वारा किसी भी समय यह प्रमाणित करने के लिए कि वह अनारक्षित क्षेत्र में कार्य कर रहा है, पूछताछ की जा सकती थी। उन्हें कोई भी राजनीतिक अधिकार नहीं थे तथा देश की संसद पूर्णतः श्वेतों के नियंत्रण में थी।

इस प्रणाली का विरोध करने वाले लोगों को 'साम्यवादी' नाम दिया जाता था तथा साम्यवाद उन्मूलन अधिनियम के अधीन अनिश्चित काल के लिए हवालात में डाल दिया जाता था। इसके बावजूद, अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस ने विरोध आंदोलन चलाया। 1952 में इसके नेता अल्बर्ट लुथुली ने कुछ दिन कार्य बंद कर के सत्याग्रह जैसा आंदोलन चलाया। अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस (African National Congress - ANC) ने अपनी इस प्रेरणा के लिए महात्मा गांधी के प्रति खुले तौर पर आभार व्यक्त किया। इसके कार्यकर्ता श्वेतों के लिए आरक्षित दुकानों में घुस गए। बदले में सरकार ने बर्बर ढंग से कार्रवाई की। 8000 से अधिक

लोगों को जनता के सामने कोड़े लगाए गए। लुथुली को जेल भेज दिया गया तथा ए.एन.सी. का दमन कर दिया गया। परंतु एशियाइयों जैसे दूसरे गैर-श्वेत समूहों ने मुकदमा दायर कर दिया। 1955 में ए.एन.सी. ने इन इकाइयों के साथ मिलकर एक 'स्वतंत्रता चार्टर' बनाया जिसमें यह उद्घोषणा की गई थी : "दक्षिणी अफ्रीका उन सभी का है जो इसमें रहते हैं, चाहे वे श्वेत हों अथवा अश्वेत, तथा कोई भी सरकार उस समय तक सत्ता का दावा नहीं कर सकती जब तक कि वह लोगों की इच्छा शक्ति पर आधारित न हो।" इसमें कानून के समक्ष समानता, एकत्र होने, आंदोलन करने, भाषण देने, धर्म और प्रेस की स्वतंत्रता, वोट देने के अधिकार, कार्य के लिए समान वेतन, बेरोजगार लाभों सहित सप्ताह में 40 घंटे का कार्य, मुफ्त चिकित्सा, देखभाल तथा मुफ्त एवं समान शिक्षा की मांग की गई थी।

विरोधों एवं प्रतिशोधों का चक्र उत्तरोत्तर बढ़ता गया। जोहान्सबर्ग के बाहरी क्षेत्रों में शार्पवील में सरकार का अत्यंत वीभत्सकारी दमन देखने को मिला जब 1960 में घृणित पास संबंधी कानून का विरोध कर रहे लोगों के शांतिपूर्ण प्रदर्शन पर पुलिस द्वारा गोलियां बरसाई गईं। इसमें 67 व्यक्ति मारे गए तथा हजारों लोग घायल हुए। इस भीषण हत्याकांड के बाद अनेक नेताओं को यह विश्वास हो गया कि अहिंसापूर्ण विरोध प्रदर्शन से काम नहीं चलेगा। इसलिए जल्दी ही बमों से हमले किए जाने लगे। फिर तो उत्पीड़न और भी भड़क उठा। ए.एन.सी. पर प्रतिबंध लगा दिया गया और इसके अत्यंत करिश्माई नेता नेल्सन मंडेला को गिरफ्तार कर लिया गया तथा उसे आजीवन कारावास की सजा दे दी गई। परंतु ए.एन.सी. सरकार की नीतियों

नेल्सन मंडेला

का विरोध करती रही। इसके नेता लुथुली का 1967 में देहांत हो गया। परंतु व्यापक रूप से माना जाता है कि उसकी हत्या करा दी गई थी।

रंगभेद का अंतर्राष्ट्रीय प्रतिरोध

20वीं सदी में रंगभेद को कालदोष यानी समय के विपरीत आचरण माना गया। दक्षिणी अफ्रीका को राष्ट्रमंडल से बाहर निकाला जाने वाला ही था, कि इसकी सरकार ने अपनी सदस्यता वापस लेकर अपने आपको घोर अपमान से बचा लिया तथा देश को गणतंत्र घोषित कर दिया। संयुक्त राष्ट्र ने दक्षिण अफ्रीका के आर्थिक बहिष्कार के समर्थन में अपना मत दिया। परंतु यह ठीक ढंग से कार्य नहीं कर सका क्योंकि अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी एवं इटली समेत अनेक सदस्य देश, दक्षिण अफ्रीका के साथ व्यापार करते रहे। परंतु उन्होंने सार्वजनिक रूप में रंगभेद की भर्त्सना की। शीत युद्ध के वर्षों में पश्चिमी देशों ने दक्षिणी अफ्रीका को हथियारों की भी आपूर्ति की

क्योंकि उनका विश्वास था कि इसे अफ्रीकी महाद्वीप में साम्यवाद के प्रचार-प्रसार के विरुद्ध शक्ति के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। कड़े सरकारी विरोधों के बावजूद, अफ्रीकी विरोध आंदोलन जारी रहा। 1976 में एक और नरसंहार हुआ, इस बार जोहान्सबर्ग के निकट एक अश्वेत नगर सोवेटो में 200 लोग मारे गए। स्टीव बीको नामक एक और युवा नेता को पुलिस ने पीट-पीट कर मार डाला।

रंगभेद की समाप्ति

1979 में, दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने प्रधानमंत्री पी.डब्ल्यू. ('Pic') बोथा के नेतृत्व में रंगभेद संबंधी कानूनों में सुधार करने का निर्णय लिया, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका ऐसे विरोधी देशों से घिरा हुआ था जिन्होंने इसके साथ व्यापार करने से इनकार कर दिया था, इसने देश के लिए गंभीर आर्थिक समस्या उत्पन्न कर दी। बहुत बड़ी संख्या में प्रवासन के कारण श्वेतों की जनसंख्या घटकर 16 प्रतिशत रह गई, जबकि अश्वेतों की संख्या बढ़ गई। 1950 के दशक में रंगभेदी सरकार ने देश में स्वतंत्र जनजातीय 'होमलैंड' (स्वदेश) को बढ़ावा दिया, परंतु उनके लगभग सभी मामलों को अपने नियंत्रण में रखा। यह प्रयोग विफल हो गया क्योंकि इन 'होमलैंड' राज्यों के शासक रंगभेदी सरकार से लिए गए थे तथा वे भ्रष्ट थे तथा वहां के लोग दरिद्रता के दल-दल में फंसे हुए थे। बोथा ने रंगभेद के खिलाफ बोलने का साहस दिखाया। सितंबर 1979 में चुनाव के पश्चात् अपने एक महत्त्वपूर्ण भाषण में उन्होंने कहा, ''अफ्रीका में क्रांति अब बहुत दूर नहीं है, हमें इसे अपनाना या अपने आपको मिटाना होगा। श्वेत प्रभुत्व तथा विधिवत प्रवर्तित रंगभेद स्थायी संघर्ष के नुस्खे हैं।''

बोथा ने उन अश्वेतों को ट्रेड यूनियनें गठित करने, नगरों में स्वयं अपने स्थानीय परिषदों का चुनाव करने तथा उस नए संविधान को लागू करने की अनुमति प्रदान की जिसमें संसद के दो सदन—एक अश्वेत वर्ग के लिए तथा दूसरा 'एशियाइयों' के लिए स्थापित करने की व्यवस्था थी। परंतु महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि श्वेतों को राष्ट्रीय चुनावों में मतदान करने की अनुमति अब भी नहीं दी गई तथा अश्वेतों का जनसंख्या में 70 प्रतिशत हिस्सा होने के बावजूद संसद में उन्हें पृथक् सदन नहीं दिया गया। 1985 में उन्होंने विभिन्न जातियों के बीच विवाह की अनुमति प्रदान की तथा 1986 में अश्वेतों के लिए घृणास्पद 'पास कानून' को समाप्त कर दिया गया। यह स्पष्ट होने के कारण, कि अश्वेत लोगों को श्वेत सरकार द्वारा समान अधिकार नहीं दिए जाएंगे, अश्वेत अफ्रीकियों ने स्वयं को अपमानित महसूस किया। बोथा की नई प्रणाली के अंतर्गत कुछ अश्वेत लोगों पर जिन्होंने चुनाव में लड़ने का प्रयास किया, श्वेतों के साथ मिल जाने का आरोप लगाया गया। इसके बाद देश में गृहयुद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। पोर्ट एलिज़ाबेथ में 1975 के शार्पवील जनसंहार की 25वीं वर्षगांठ पर पुलिस ने शांतिपूर्ण शव-यात्रा के जुलूस पर गोलियां चलाईं जिसमें 40 लोग मारे गए।

अब तक दक्षिण अफ्रीका पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। देश को किसी भी प्रकार की अंतर्राष्ट्रीय खेल प्रतियोगिताओं में भाग लेने से प्रतिबंधित कर दिया गया था। सितंबर 1986 में अमेरिकी कांग्रेस ने दक्षिण अफ्रीका

में अमेरिकी निवेश को रोकने, उस देश से सभी प्रकार के व्यापार पर प्रतिबंध लगाने तथा विमान संपर्क समाप्त करने के लिए वोट दिया। परंतु अमेरिकी लोग इस प्रतिबंध के पक्ष में थे। ब्रिटिश प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर ने भी इस पर अत्यंत संकुचित दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने यह तर्क दिया कि आर्थिक प्रतिबंध अश्वेतों को हानि पहुंचाएंगे। परंतु भारतीय प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने प्रतिबंधों के मजबूत पैकेज के पक्ष में विश्व जनमत को लामबंध किया जिसने दक्षिण अफ्रीका की अर्थव्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया। आर्कबिशप डेसमंड मपिलो टूटू, एक सुप्रसिद्ध अश्वेत नेता को 1984 में नोबेल शांति पुरस्कार प्रदान किया गया। उसने दक्षिण अफ्रीका में विशेषकर युवकों के बीच रंगभेद के विरुद्ध जन-भावना

डेसमंड मपिलो टूटू

को उद्वेलित किया। नरमपंथी श्वेत राजनेताओं की राजनैतिक मंच पर भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। वे अश्वेतों के साथ सत्ता की भागीदारी के पक्ष में थे। 1989 में एफ. डब्ल्यू. डि क्लार्क को राष्ट्रपति चुना गया। यद्यपि डि क्लार्क ने प्रारंभ में यह खुले तौर पर नहीं कहा फिर भी वह रंगभेद का विरोधी और दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों के राजनीतिक वर्चस्व का पक्षधर था। यद्यपि उन्हें श्वेत सर्वश्रेष्ठतावादियों के विरोध का सामना भी करना पड़ा फिर भी डि क्लार्क ने रंगभेदी शासन समाप्त करने के लिए निश्चित कदम उठाए। 1990 में नेल्सन मंडेला को 27 वर्ष के बाद जेल से रिहा किया गया। डि क्लार्क ने नामीबिया को स्वतंत्रता प्रदान कर दी। रंगभेद के सभी नियमों को समाप्त कर दिया तथा नया संविधान तैयार करने के लिए अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस से वार्ता शुरू कर दी।

यद्यपि डि क्लार्क को अत्यधिक विरोध का सामना करना पड़ा, परंतु 1993 तक वार्ताएं सफल हुईं। एक लोकतांत्रिक संविधान स्थापित हो गया। 'होमलैंड' राज्यों का विलय शेष देश में कर दिया गया। 1 अप्रैल, 1994 में, अब तक का पहला खुला चुनाव आयोजित किया गया। अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस विजयी हुई और नेल्सन मंडेला को राष्ट्रपति बनाया गया। यद्यपि नेल्सन मंडेला ने अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष कठोर कारावास में बिताए, फिर भी वह सुलह का प्रतीक बन गया। इसका प्रमाण यह था कि राष्ट्रपति बनने के बाद मंडेला ने सामान्य रूप में सभी श्वेतों से तथा विशेष रूप से उन लोगों से जिन्होंने अनुचित ढंग से उसे अभियुक्त बनाया था, बदला लेने से इनकार कर दिया। आखिर क्षमा ही सत्ता का सर्वोत्तम सात्विक गुण है।

मंडेला इस बात को समझ गया था कि बदला लेने की भावना से कार्य करने पर दक्षिण अफ्रीका अलग-अलग जातियों में विभाजित हो जाएगा। परंतु साथ ही वह यह भी चाहता था कि श्वेत सत्य स्वीकार करें ताकि उनके द्वारा किए गए गलत कृत्यों को रिकार्ड तो किया जाए पर दोहराया न जाए। इसके अनुसरण में एक सत्य और

समाधान आयोग (Truth and Reconciliation Commission) गठित किया जहां श्वेतों से अपमान वंचन और हिंसा सह चुका प्रत्येक व्यक्ति पूर्व उत्पीड़न के सामने आए और स्पष्टीकरण मांगे। परंतु कोई मुकदमे नहीं चलाए गए।

मंडेला ने 1999 में सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया तथा राष्ट्रपति का पद थाबोम्बेकी को सौंप दिया। इस दिन मंडेला विश्व में सर्वाधिक लोकप्रिय नेता और साहस, अध्यवसाय तथा प्रत्येक ऐसे गुण का प्रतीक बन गया जो जनजीवन में प्राप्त हो सकता है।

अब हम राष्ट्रों के उस नए समूह की ओर चलते हैं जो 1991 में यू.एस.एस.आर. के विघटन के बाद अस्तित्व में आए थे। ये मध्य एशिया के भूतपूर्व सोवियत गणराज्य हैं। इनमें से अधिकांश तेल और प्राकृतिक गैस से संपन्न हैं, इनकी जनसंख्या कम मगर शिक्षित है और इनके पास क्षमता बहुत अधिक है। वे ऐतिहासिक 'रेशमी मार्ग' (सिल्क रूट) पर स्थित हैं तथा वे भारत, यूरोप और चीन के बीच भूमि सेतु बन सकते हैं। सामरिक दृष्टिकोण से ये देश भारत के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इन देशों के लोग इस्लाम के उदार स्वरूप को अपनाते हैं। जिसे अब पाकिस्तान प्रायोजित कट्टरपंथियों और आतंकवाद से ख़तरा पैदा हो गया है। चूंकि प्राकृतिक गैस को व्यापक रूप से एक ऐसा ईंधन माना जाता है जो 21वीं शताब्दी में तेल का स्थान लेगा इसलिए ये देश अपने विशाल प्रमाणित गैस भंडारों के कारण भारत की ऊर्जा सुरक्षा के दृष्टिकोण से अति महत्त्वपूर्ण हैं। भारत ईंधन का एक बहुत बड़ा उपभोक्ता है परंतु इसका अधिकांश भाग यह स्वयं उत्पादित नहीं करता। अतः मध्य एशिया ईंधन का एक भावी पूर्तिकर्ता है जो कि पश्चिमी एशियाई तेल पर भारत की निर्भरता कम कर सकता है।

अब हम इन नए देशों की गतिविधियों पर सरसरी तौर पर नजर डालते हैं।

एशियाई परिदृश्य

कज़ाकिस्तान

यह देश लगभग भारत जितना ही बड़ा है परंतु इसकी जनसंख्या चेन्नई शहर से भी कम है। निश्चित रूप से यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्य सभी पूर्ववर्ती मध्य एशियाई सोवियत गणराज्यों की तरह कज़ाकिस्तान इतिहास में किसी समय भी एक राष्ट्र के रूप में विद्यमान नहीं था। मध्य एशिया का विभाजन भी लगभग अफ्रीका की तरह हुआ, जहां 19वीं शताब्दी में यूरोपीय शक्तियों के औपनिवेशिक हितों को पूरा करने के लिए नए राष्ट्रों का निर्माण किया गया था। 20वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में मध्य एशिया बहुत बड़ा था परंतु इसकी आबादी बहुत कम थी और कज़ाक, तुर्कमेन, उज़्बेक, मंगोल आदि जनजातियों का वहां निवास था। स्टालिन ने इन क्षेत्रों में यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों से बलात् बाहर निकाले गए व्यक्तियों को बसाने की नीति अपनाई। इस प्रकार, 1930 से 1950 के बीच पोलैंड, यूक्रेन, लातविया, लिथुआनिया, जर्मनी आदि देशों के हजारों निवासियों को जबरदस्ती पूर्व की ओर जाने वाली रेलों में डाल दिया गया। इसके परिणामस्वरूप अनेकों परिवार टूट गए तथा सदा के लिए अलग हो गए।

कज़ाकिस्तान सोवियत संघ (यू.एस.एस.आर.) के परमाणु प्रतिष्ठानों का घर था। यहां प्राकृतिक गैस के भी भंडार हैं परंतु एशिया के मुख्य बाजार से

दूरी होने के कारण यहां की गैस बेची नहीं जा सकती। 1991 में यहां के साम्यवादी पार्टी के प्रधान, नूरसुल्तान नाज़ारबायेव को स्वतंत्र कज़ाकिस्तान का राष्ट्रपति बनाया गया। पूर्ववर्ती सोवियत गणराज्यों के अन्य सभी नेताओं की तरह नाज़ारबायेव भी रातोरात लोकतांत्रिक नेता के रूप में परिवर्तित हो गया परंतु उसने तानाशाही ढंग से शासन करना जारी रखा। 1999 में उसे अगले सात वर्षों के लिए पुन: चुना गया क्योंकि उसके मुख्य प्रतिद्वंद्वी को चुनाव के अयोग्य ठहरा दिया गया था।

उज़्बेकिस्तान

भारत के साथ उज़्बेकिस्तान सभ्यता संबंधी संबंध बहुत पुराने हैं। मुगलों का मूल स्थान वही था। यद्यपि इसके पास प्राकृतिक गैस अधिक नहीं है, फिर भी यह अत्यधिक औद्योगिक देश है और भारत का एक संभावित व्यापारिक भागीदार है। यह भी अंतर्राष्ट्रीय इस्लामिक आतंकवाद का शिकार है। जो उज़्बेकिस्तान और तज़ाकिस्तान से सटी फ़रगना घाटी से संचालित होता है। 2001 में जब अमेरिका को अफगानिस्तान में तालिबान प्रभुत्व वाले क्षेत्र पर हवाई हमला शुरू करने के लिए अड्डे की आवश्यकता थी तब राष्ट्रपति इस्लाम केरिमोव उसके लिए सहमत हो गया। इसने शक्ति संतुलन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया क्योंकि सभी मध्य एशियाई देश के अनुगामी के रूप में कार्य कर रहे थे तथा सामान्य सुरक्षा संधि से बंधे हुए थे। रूस, मध्य एशिया में अमेरिका को सैन्य अड्डे मिलने के कारण अधिक भयभीत हो गया, क्योंकि इससे इस क्षेत्र पर रूसी प्रभुत्व के लिए सीधा खतरा उत्पन्न हो गया।

तज़ाकिस्तान

1991 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तज़ाकिस्तान में कुछ समय के लिए अत्यधिक राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई। पूर्व साम्यवादी राष्ट्रपति खमोन नेबियेव जो कि एक रुढ़िवादी था, को पद ग्रहण करने के कुछ महीनों के भीतर ही पद छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया गया तथा सितंबर 1992 में इस्लामिक राष्ट्रवादी तथा पश्चिमोन्मुख दलों के समूह ने सत्ता संभाल ली। यह मिली-जुली सरकार प्रारंभ से ही अस्थिर थी। अत: साम्यवाद समर्थक सरकार 1993 में सत्ता से बाहर हो गई। राष्ट्रपति प्रणाली को अपनाते हुए एक नया संविधान लागू किया गया।

तज़ाकिस्तान को सभ्य संसार में अंतर्राष्ट्रीय इस्लामिक आतंकवाद के विरुद्ध एक 'अग्रणी राज्य' माना जाता है। यह देश अधिकांशत: आतंकवाद से प्रभावित रहा है। मध्य एशिया में यह समस्या मूलत: इसलिए उत्पन्न हुई क्योंकि साम्यवाद के अंतर्गत इस क्षेत्र में इस्लाम कुछ उदार बना रहा। औरतें पर्दा नहीं करती थीं तथा उनके पास शिक्षा और रोजगार के समान अवसर थे। स्वतंत्रता के उपरांत उन देशों की अचानक आर्थिक समस्याओं से घिर जाने का लाभ उठाकर उग्रवादी इस्लाम ने, जिसे निस्संदेह पाकिस्तान तथा कुछ कट्टर इस्लामिक राज्यों का समर्थन प्राप्त था, अपना भयावह स्वरूप आगे बढ़ाया। तज़ाकिस्तान में 1997 में गृहयुद्ध छिड़ गया जिसमें कम-से-कम 55,000 लोग मारे गए।

तुर्कमेनिस्तान

तुर्कमेनिस्तानी सौभाग्यशाली हैं कि उनके पास इस क्षेत्र का सर्वाधिक तेल और प्राकृतिक गैस का भंडार है। चूंकि देश चारों ओर भू-भाग से घिरा

हुआ है, यह अपने गैस को ईरान के रास्ते पाइपों में से ले जाकर बेचता है। इसका राष्ट्रपति, सपर्मुराद नियाजेव 'तुर्कमेनबाशी' अपनी मूर्तिपूजा का घोर समर्थक है। इसकी मूर्तियां देश की लगभग हर सड़क पर देखी जा सकती हैं।

मंगोलिया और किर्गिस्तान

दूर-दराज के क्षेत्र में स्थित होने तथा यहां की जलवायु उग्र होने के कारण मंगोलिया काफी पिछड़ा हुआ देश है। इसके पास अधिक प्राकृतिक संसाधन भी नहीं हैं। देश के राजनीतिक परिदृश्य पर पूर्ववर्ती साम्यवादियों का प्रभुत्व है। किर्गिस्तान की समस्याएं भी लगभग ऐसी ही हैं परंतु इस्लामिक कट्टरपंथियों की मौजूदगी इसकी एक अतिरिक्त समस्या है। 2001 में तालिबान के विरुद्ध अमेरिकी युद्ध के दौरान इसके राष्ट्रपति अस्कर अकायेव ने अमेरिकी वायुसेना को सैनिक अड्डे उपलब्ध कराए थे।

अफगानिस्तान

अंततः हम उस देश पर आते हैं जो दक्षिण और मध्य एशिया के संगम पर स्थित है तथा जिसका भारत की सुरक्षा के लिए अत्यधिक महत्त्व है। ऐतिहासिक रूप से अफगानिस्तान बृहत्तर भारत का एक अंग है तथा प्राचीन काल से यह अनेक आक्रमणकारियों का मार्ग रहा है। भारत के हाल के इतिहास में इस देश ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत की विधिक सीमा इससे लगी हुई है परंतु जम्मू व कश्मीर पर पाकिस्तान के अवैध कब्जे के कारण सदियों पुराने संबंधों में रुकावट आ गई है।

आज का अफगानिस्तान वर्षों लंबे गृहयुद्ध से उजड़ा हुआ देश है जिसने साम्यवाद और कट्टरवादी इस्लामिक शासन के दौरान अत्याचार के अति विकृत स्वरूप को देखा है। आज यह अपने पुनर्निर्माण के लिए संघर्ष कर रहा है तथा अंतर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण के अधीन उदार लोकतांत्रिक सरकार स्थापित करने के लिए प्रयासरत है।

वर्तमान युग 1973 से प्रारंभ हुआ जब अफगानिस्तान के अंतिम बादशाह मुहम्मद जहीर शाह को दाउद खाँ द्वारा, जिसे सोवियत संघ का समर्थन प्राप्त था, सैन्य विद्रोह में अपदस्थ कर दिया था। अफगानिस्तान के जनतांत्रिक गणराज्य को मास्को का अनुगामी राज्य जैसा बना दिया गया। देश को एक नया संविधान दिया गया। परंतु दाउद ने इस्लामिक मुल्ले-मौलवियों के प्रति कठोर नीति अपनाई जिससे जनजातीय भावनाओं को ठेस लगी। 1978 में एक और साम्यवादी नेता नूर मुहम्मद तराकी, जिसका धार्मिक नेताओं के साथ संपर्क था, के रक्तरंजित सत्ता पलट में दाउद को मार दिया गया। तराकी ने मास्को से स्वतंत्र होने की घोषणा की और कहा कि अफगानिस्तान इस्लामिक सिद्धांतों और अफगान राष्ट्रवाद को बनाए रखेगा। सामाजिक नीतियां इस्लामिक हुक्मों के अनुरूप न होने के कारण गृहयुद्ध प्रारंभ हो गया। यह निश्चित रूप से याद रखा जाना चाहिए कि ईरान और पाकिस्तान, अफगानिस्तान के सबसे नजदीकी पड़ोसी हैं, जहां इस दौरान इस्लामीकरण के अधीन मूलभूत परिवर्तन हो रहे थे। इन धाराओं ने अफगानिस्तान की राजनीति को भी प्रभावित किया।

पूरे अफगानिस्तान में विद्रोह फूट पड़े। तराकी के विरोधी, हफीजुल्लाह अमीन अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों पर कब्जा करने में सफ[illegible] [illegible] गए। इस आशंका से कि [illegible] [illegible]कालीन निकट सहयोगी [illegible] कर लेगा, सोवियत [illegible] 1979

में अफगानिस्तान पर हमले का आदेश दिया। इस प्रक्रिया में अमीन की हत्या कर दी गई तथा मास्को के समर्थक बवरक करमाल को सत्तारूढ़ कर दिया गया। अब शीत युद्ध का केंद्र अफगानिस्तान बन गया। अमेरिका ने यह निर्णय लिया कि पाकिस्तान को सोवियत युद्ध के विरुद्ध सीमावर्ती राज्य के रूप में प्रयोग करेगा। अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने पाकिस्तान को तत्काल भारी मात्रा में सैन्य सामग्री भेजी। जियाउल हक सरकार ने इसका उपयोग, पूरे पाकिस्तान में फैले अफगान, शरणार्थी शिविरों में रह रहे मुजाहिदीन लड़ाकुओं को सज्जित तथा प्रशिक्षित करने के लिए किया।

इसके बाद अफगानिस्तान में और भी कड़ा संघर्ष प्रारंभ हुआ। आधुनिक हथियारों से सज्जित मुजाहिदीन लड़ाकुओं ने, जिनके पास अमेरिका द्वारा भेजी गई स्टिंगर मिसाइलें भी थीं, सोवियत संघ का पूरे देश पर नियंत्रण स्थापित करना असंभव बना दिया। साथ ही उबड़-खाबड़ भू-भाग ने मास्को की समस्याओं को और बढ़ा दिया। युद्ध में दोनों ओर से भयानक अत्याचार किए गए। सोवियत सैनिकों द्वारा गांव के गांव जला दिए गए तथा उनके निवासियों को गोलियों से भून दिया गया। तब भी मुजाहिदीन ने अपने संघर्ष को आठ वर्षों तक जारी रखा जिसमें लगभग 3 लाख लोग मारे गए।

राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचेव के नेतृत्व में सोवियत संघ ने इस अभियान की निरर्थकता को समझा। 1988 में जेनेवा में शांति समझौते पर हस्ताक्षर किए गए जिसके अंतर्गत सोवियत संघ अपने सैनिकों को अफगानिस्तान के बाहर बुलाने के लिए सहमत हो गया। परंतु राष्ट्रपति नजीबुल्लाह जिसे मास्को द्वारा बबरक करमाल के स्थान पर अफगानिस्तान का शासन सौंपा गया था, ने अपना शासन जारी रखा। परंतु गृहयुद्ध फूट पड़ा इसका कारण था कि मुजाहिदीन ने उसे राष्ट्रपति के रूप में मान्यता नहीं दी। रूसी सेनाओं के अफगानिस्तान से वापस चले जाने के बाद, अमेरिका की भी रुचि अफगानिस्तान में समाप्त हो गई। यद्यपि दोनों महाशक्तियां वापस लौट गईं परंतु वे अपने पीछे हथियारों और गोला-बारूद का एक बड़ा अंबार छोड़ गईं जिससे दोनों पक्षों ने अपना युद्ध जारी रखा।

अफगानिस्तान युद्ध के बाद का घटनाक्रम

यद्यपि अफगानिस्तान में गृहयुद्ध जारी रहा पर इसी दौरान सोवियत संघ का विघटन हो गया और इसके साथ ही शीत युद्ध भी समाप्त हो गया। अफगानिस्तान पर जहां अविश्वसनीय मानव संघर्ष जारी रहा तथा हत्याएं एक सामान्य-सी बात हो गई थीं, उसके बाहर के देशों ने ध्यान देना छोड़ दिया। पाकिस्तान हथियारबंद मुजाहिदीन, जिनकी संख्या काफी अधिक थी, का घर बन गया। बेनज़ीर भुट्टो के शासन काल में भारत के जम्मू-कश्मीर राज्य में इन हथियारबंद घुसपैठियों को भेजकर परोक्ष युद्ध शुरू किया गया, जिससे आतंक का अभियान शुरू हुआ जो अब भी जारी है।

इसी दौरान अफगानिस्तान में 1992 में नजीबुल्लाह से शक्ति छीन ली गई तथा मुजाहिदीन का काबुल पर नियंत्रण हो गया। उन्होंने ताज़िक जाति के बुरहानुद्दीन रब्बानी को शक्ति सौंप दी। परंतु दक्षिणी अफगानिस्तान की शक्तिशाली पश्तून जनजातियों को यह पसंद नहीं आया।

इसी दौरान पाकिस्तान ने एक नया रूढ़िवादी कट्टरपंथी गुट जिसे तालिबान कहा गया है, विकसित कर लिया। इसके अधिकांश छात्र (तालिब) लड़ाकू

थे। वे भी ऐसे लड़ाकू थे जिन्होंने काबुल तक की लड़ाई लड़ी तथा अपने रास्तों में आने वाले सैनिकों तथा असैनिकों को निर्दयता से मारा। पाकिस्तान ने जो अफगानिस्तान के घरेलू संघर्ष का लाभ उठाना चाहता था, इन बलों को सहयोग दिया ताकि वह भारत के विरुद्ध भावी युद्ध में उनकी सहायता ले सके। अफगानिस्तान के बादशाह ने 1965 और 1971 के दौरान भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान को यह सुविधा देने से इनकार कर दिया था।

1996 में तालिबान ने काबुल पर हमला कर दिया तथा दुनिया की सबसे रूढ़िवादी कट्टरपंथी सरकार वहां स्थापित कर दी। स्त्रियों के प्रति इसकी नीतियां बड़ी कठोर थीं। अफगानिस्तानी महिलाएं इस्लामिक जगत की सर्वाधिक प्रगतिशील और शिक्षित महिलाएं थीं, इसका कारण यह था कि 1950 के दशक के आरंभ में इसके बादशाह द्वारा इन्हें पूरी आज़ादी दे दी गई थी। अपने धार्मिक नेता मुल्ला उमर की छाया में तालिबान सरकार ने स्त्रियों द्वारा घरों से बाहर काम करने पर प्रतिबंध लगा दिया, उनको शिक्षा से वंचित कर दिया तथा उन्हें सदा बुर्का पहनने का आदेश दिया। महिलाओं पर सभी प्रकार के इस्लामिक प्रतिबंध लगा दिए गए। उनका उल्लंघन करने वालों को सर्वाधिक कड़ी सजा दी जाती थी। विश्व की केवल तीन सरकारों ने इस कट्टरपंथी-रूढ़िवादी सरकार को मान्यता प्रदान की थी। वे थी पाकिस्तान, सऊदी अरब और संयुक्त अरब अमीरात।

अब अफगानिस्तान का गृहयुद्ध तीसरे चरण में प्रवेश कर गया। अहमदशाह मसूद के नेतृत्व में ताज़िक-अफगान सीमा पर पंजशेर घाटी में पूर्ववर्ती मुजाहिदीन पुन: संगठित हो गए तथा उन्होंने लंबा युद्ध प्रारंभ कर दिया। तालिबान ने उस समय अंतर्राष्ट्रीय कुख्याति प्राप्त कर ली जब उन्होंने विश्व के सबसे खतरनाक आतंकवादी संगठन अल-कायदा का स्वागत किया, और अमेरिकियों से बचने के लिए उसे उस समय शरण दिलवाई जब अमेरिकी उसे फरवरी 1993 में न्यूयार्क में अमेरिकी वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर किए गए आतंकवादी हमले के लिए उसे पकड़ना चाहते थे। इस हमले में छ: लोग मारे गए तथा 1000 व्यक्ति घायल हो गए थे। इसी ग्रुप ने 1998 में कीनिया की राजधानी नैरोबी तथा तंजानिया की राजधानी दार-ए-सलाम में अमेरिकी दूतावासों पर एक साथ बमों से हमले किए जिनमें 263 लोग मारे गए।

अंतर्राष्ट्रीय दबाव को चुनौती देते हुए तालिबान ने अल-कायदा को अफगानिस्तान में केवल शरण ही नहीं दी अपितु उनके साथ भी समझौता कर लिया जो मध्य एशिया के रास्ते रूस तक तथा इससे आगे यूरोप और अमेरिका तक नशीली दवाओं (ड्रग्स) का धंधा करते थे। इस अवैध व्यापार से प्राप्त धन का उपयोग भारत विरोधी आतंकवाद के साथ-साथ पूरे मध्य एशिया तथा रूस तक आतंक फैलाने के लिए किया गया। चेचन्यावासियों ने भी रूस के लिए बड़ी समस्या उत्पन्न कर दी थी।

अमेरिका ने तालिबान प्रतिनिधियों के साथ गुप्त बातचीत करके ओसामा-बिन लादेन को हस्तांतरित करने का कठिन प्रयास किया। परंतु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। 1998 में हिंद महासागर में स्थित अमेरिकी पोतों से बिन लादेन के कैंप पर मिसाइलें दागी गईं परंतु मिसाइल पहुंचने के ठीक पहले वह अपने गुप्त पहाड़ी अड्डे से भाग निकला। भारत, रूस, चीन और मध्य एशियाई गणराज्यों ने संयुक्त राष्ट्र संघ को तालिबान से क्षेत्रीय शांति और सुरक्षा के लिए उत्पन्न गंभीर खतरों के प्रति आगाह किया। दिसंबर 1999 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने, इस उम्मीद से कि अफगानिस्तान के पास ओसामा-बिन-लादेन को सौंपने के अलावा कोई विकल्प नहीं होगा, इस

पर विमान और वित्तीय प्रतिबंध लगा दिए। परंतु ऐसा नहीं हुआ। इसलिए जनवरी 2001 में और कड़े प्रतिबंध लगाए गए । परंतु यह कदम भी सफल नहीं हुआ। तालिबान की सबसे बड़ा झटका देने वाली कार्रवाई विशाल बामियान बुद्ध प्रतिमा को बारूद से उड़ाकर नष्ट कर देने की थी।

अल-कायदा आतंकवादियों ने 11 सितंबर 2001 को वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमला किया। इस घटना से अमेरिकी स्तब्ध रह गए किंतु अपनी निजी पीड़ा और कष्ट से उन्होंने यह सीख लिया कि पिछले दशक के दौरान अफगानिस्तान तथा वहां के लोगों ने कैसी यातनाएं सही हैं।

राष्ट्रपति बुश ने 'आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध' की घोषणा कर दी, अफगानिस्तान उसका पहला निशाना बना। पश्चिमी सहयोगी बलों के साथ छोटेसे विरोध के बाद तालिबान काबुल से बाहर चले गए।

इस प्रकार एक नया युग प्रारंभ हुआ। पूर्व मुजाहिदीन हामिद करज़ई को अफगानिस्तान में नए चुनाव होने तक के लिए अस्थायी राष्ट्रपति बनाया गया।

यद्यपि परवेज़ मुशर्रफ की सरकार तालिबान को समर्थन दे रही थी, परंतु अमेरिकी दबाव में पाकिस्तान ने अपना समर्थन वापस ले लिया। पाकिस्तान ने अमेरिकी थल सेना तथा वायु सेना को तालिबान के विरुद्ध युद्ध करने के लिए अड्डे भी उपलब्ध कराए। पाकिस्तानी नीति में इस प्रकार के अचानक परिवर्तन से पाकिस्तान को राजनैतिक समर्थन तथा वित्तीय सहायता के रूप में बहुत अधिक लाभ हुआ। तालिबान का पतन पाकिस्तान के लिए एक बड़ा झटका था, क्योंकि उसे भारत के विरुद्ध सामरिक गहराई प्राप्त करने की अपनी इच्छा को त्यागना पड़ा।

अभ्यास

1. हाल में आजाद हुए अफ्रीकी राज्यों घाना एवं नाइजीरिया के सामने कौन-कौन सी समस्याएं आईं? 1960 के बाद के उनके सामाजिक-राजनीतिक विकास का चित्रण करें।
2. अफ्रीकी राज्य अंगोला, बुरूंडी एवं रवांडा में चल रहे सतत् गृहयुद्धों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करें। इन युद्धों को प्रोत्साहित करने में भिन्न-भिन्न जनजातियों के बीच की प्रतिद्वंद्विता की भूमिका पर प्रकाश डालें।
3. रंगभेद क्या है? दक्षिणी अफ्रीका में इसका किस प्रकार अंत हुआ।
4. मध्य एशिया में स्थित भूतपूर्व सोवियत राज्यों में घटित घटनाओं का उल्लेख करें।
5. 1973 के बाद के अफगानिस्तान राज्य की स्थिति स्पष्ट करें। इस देश में शांति स्थापित होने की क्या संभावनाएं हैं?
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (i) ज़ायरे में संयुक्त राष्ट्र का हस्तक्षेप
   (ii) राष्ट्रपति जूलियस न्यरेरे
   (iii) नेल्सन मंडेला

परियोजना कार्य

- अफ्रीका की विभिन्न जनजातियों की सूची तैयार करें तथा उनकी संस्कृतियों के बारे में अन्य जानकारी इकट्ठी करें।

अध्याय 13

सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में साम्यवाद का चरमोत्कर्ष एवं पतन

जोसेफ स्टालिन ने जिस साम्यवादी साम्राज्य को पश्चिम में पूर्वी जर्मनी से लेकर पूर्व में मंगोलिया तक स्थापित किया था, उसका अंत 1991 में जितना अचानक और जिस तेज़ी से हुआ उसे देख कर आज भी विद्वान अचंभे से दांतों तले उंगली दबाकर रह जाते हैं। मार्क्स-लेनिन की विचारधारा वाला साम्यवाद हालांकि केवल 74 वर्ष तक ही चला, लेकिन उसने मानव जाति के सामूहिक राजनीतिक अनुभव पर अपनी अमिट छाप छोड़ दी। स्टालिन की मृत्यु और अंततः सोवियत संघ की समाप्ति के बीच के अंतराल के वर्ष अनेक महान उपलब्धियों से भरे पड़े हैं जो अंतरिक्ष पर विजय के साथ अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचीं। लेकिन इसका एक अंधकारपूर्ण पक्ष भी है। सोवियत संघ (USSR) मूलतः एक सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) था जहां हर प्रकार की मानवीय स्वतंत्रता, चाहे वह वाक्‌स्वातंत्र्य हो, वैयक्तिक उद्यम हो, का दमन बड़ी क्रूरतापूर्वक किया जाता था। राष्ट्र की आर्थिक दशा पर इसका अनर्थकारी प्रभाव पड़ा जिसके कारण सोवियत संघ शीत युद्ध की अवधि के दौरान संयुक्त राज्य के नेतृत्व वाले पश्चिमी देशों से प्रतिस्पर्धा करने में विफल हो गया। यूरोप में स्थित मास्को के अधीन राज्य, जिन्हें सामूहिक तौर पर 'ईस्ट ब्लॉक' यानी पूर्वी गुट कहा जाता है, भी साम्यवाद को अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रतिकूल मानते थे क्योंकि वे इसका अर्थ सोवियत संघ की पूर्ण अधीनता समझते थे।

इस अध्याय में हम उन कारणों को समझने का प्रयास करेंगे जिनकी वजह से सोवियत साम्यवाद समाप्त हो गया। इससे पूर्व हमने रूसी क्रांति के आरंभिक काल की चर्चा की थी जो भीषण रक्तपात और विशेष आर्थिक उपलब्धि का काल था। हमने यह भी देखा था कि किस प्रकार स्टालिन ने अपने राजनीतिक और वैचारिक प्रभुत्व को विश्व-भर में फैलाने के लिए एक आक्रामक नीति अपनायी।

5 मार्च, 1953 को उसकी मृत्यु से सोवियत सर्वाधिकारवाद की दिशा एकदम बदल गई।

स्टालिन का अंत

हाल में हुए शोध-कार्यों से इस प्रबल संभावना का संकेत मिलता है कि स्टालिन को उसके निकटतम सहयोगियों ने ज़हर देकर मार डाला था क्योंकि उन्हें इस बात की आशंका थी कि सोवियत संघ, स्टालिन की आक्रामक नीतियों के कारण एक और विश्वयुद्ध की ओर बढ़ रहा है। सच जो भी हो लेकिन स्टालिन की मृत्यु के बाद क्रेमलिन के भीतर सत्ता के लिए संघर्ष छिड़ गया, क्रेमलिन ही सत्ता का केंद्र था और रक्तपात, षड्यंत्र और खामोश विप्लव उसकी विशेषताएं थीं। लाखों सोवियत नागरिक स्टालिन के अलावा किसी दूसरे राजनीतिक नेता से परिचित ही नहीं थे, इसलिए उन्हें उसकी मृत्यु से सदमा लगा। लेकिन उसके सहयोगी, अर्थात के.जी.बी. नामक खुफिया पुलिस संगठन का प्रमुख लावरेंती बेरिया, प्रधान मंत्री गिओर्गी मालेन्कोव और वरिष्ठ पार्टी प्रमुख निकिता ख्रुश्चेव, जिसने 1930 के दशक के उत्तरार्ध में यूक्रेन में विरोधियों का नृशंस नरसंहार कराया था, अपने मुखिया द्वारा खाली छोड़े गए स्थान को भरने के लिए आपाधापी मचाने लगे। लेकिन कुछ ही महीनों में ख्रुश्चेव उनमें सबसे ऊपर उभर कर आया। पुलिस प्रमुख बेरिया, जिससे लोग घृणा करते थे और जिसने स्वयं लाखों लोगों को मौत के घाट उतरवाया था, गोली से उड़ा दिया गया।

ख्रुश्चेव काल (1953-1964)

निकिता ख्रुश्चेव ने 1956 में 20वीं कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस में स्टालिन की इस बात पर खुले आम निंदा करके विश्व को विस्मय में डाल दिया कि स्टालिन ने अपने व्यक्तित्व की पूजा को बढ़ावा दिया था और वह पार्टी के सिद्धांतों से भटक गया था। उसने उतने ही उत्साह से 1930 के दशक में हुए उन नरसंहारों के ब्योरे भी दिए जिनके आदेश स्टालिन ने दिए थे। उसने द्वितीय विश्वयुद्ध में स्टालिन द्वारा अपनायी गई संचालन पद्धति की भी आलोचना की और इस बात की वकालत की कि समाजवाद को सफल बनाने के लिए स्टालिन के तौर-तरीकों का अनुसरण नहीं किया जाना चाहिए। अंतिम तथा सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उसने अमेरिका के साथ सोवियत संघ के संबंधों में संतुलन कायम किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया क्योंकि उसका विचार था कि परमाणु युद्ध किसी के भी हित में नहीं होगा।

इस उद्देश्य के साथ ख्रुश्चेव ने स्टालिनीकरण को खत्म करने की एक सुनियोजित प्रक्रिया शुरू की ताकि सोवियत नागरिकों के जीवन-स्तर को सुधारा जा सके। हालांकि उसने स्टालिन की पंचवर्षीय योजनाओं को जारी रखा, लेकिन इन योजनाओं में अब भारी उद्योगों के स्थान पर कृषि और उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले हल्के उद्योगों पर विशेष बल दिया गया था। उसने स्टालिन की केंद्रीकृत व्यवस्था को समाप्त करके क्षेत्रीय आर्थिक परिषदों की स्थापना की जहां पार्टी के स्थानीय अधिकारी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार निर्णय लेते थे। स्टालिन के शासन काल में पार्टी प्रबंधकों को केंद्र द्वारा तय किया गया उत्पादन कोटा पूरा करना होता था। ख्रुश्चेव के शासन के अधीन उन्हें लाभ कमाने के लिए प्रेरित किया गया। इन उपायों के कारण लोगों

की दशा में काफी सुधार हुआ। हालांकि सोवियत संघ आर्थिक विकास के क्षेत्र में अमेरिका और दूसरे पश्चिमी देशों की बराबरी पर नहीं आ सका, लेकिन ख्रुश्चेव ने अपने देश की अर्थव्यवस्था को निश्चित रूप से और अधिक सुदृढ़ बना दिया।

कृषि के क्षेत्र में प्रभावशाली प्रगति हुई। ख्रुश्चेव ने एक 'कोरी भूमि योजना' (Virgin Lands Scheme) शुरू की जिसके तहत साइबेरिया और सुदूरवर्ती कज़ाकिस्तान के बहुत बड़े भू-भाग पर विज्ञान-आधारित कृषि की शुरुआत हुई। सामूहिक फार्मों से जुड़े हुए किसानों को अपने निजी भू-खंडों पर उगायी गई फसल को इच्छानुसार अपने पास रखने या बेचने की स्वतंत्रता दी गई। सरकार ने कृषि उत्पादों की खरीद के भाव बढ़ा दिए जिससे सामूहिक फार्मों को और अधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहन मिला। इसके फलस्वरूप 1953 से 1958 तक की अवधि के दौरान इन सामूहिक फार्मों के उत्पादन में 56 प्रतिशत वृद्धि हुई। 1962 में 14.7 करोड़ टन खाद्यान्न का उत्पादन हुआ तथापि कोरी भूमि योजना में उभरी अनेक समस्याओं के कारण 1963 में यह उत्पादन घट कर 11.0 करोड़ टन ही रह गया। इसके कारण सोवियत संघ, पश्चिमी देशों से खाद्यान्नों के आयात पर निर्भर होता चला गया।

राजनीतिक दृष्टि से भी ख्रुश्चेव के शासन के वर्ष सोवियत लोगों के लिए चैन के वर्ष रहे। उसने स्टालिन के व्यक्ति-पूजा के सिद्धांत को नहीं अपनाया। ख्रुश्चेव ने सामान्य नागरिकों की जासूसी के लिए के.जी.बी. के इस्तेमाल को बंद कर दिया। जिन लोगों के साथ उसके मतभेद हुए उन्हें न तो मौत के घाट उतारा गया और न ही कारावास में डाला गया। कभी-कभी बड़े पैमाने पर आंतक का सहारा लिया जाता था, जैसा कि 1956 में हंगरी के मामले में हुआ। भिन्न मत रखने वाले लोगों को सामान्यतः बर्खास्त करके या सेवानिवृत्ति के लिए विवश करके दंडित किया जाता था। लेकिन 'गुलाग' या बंदी शिविरों की व्यवस्था को यथावत बनाए रखा गया।

हंगरी और पोलैंड में आंदोलनों का दमन

1956 में स्वेज संकट के दौरान हंगरी ने प्रधान मंत्री इमरे नैगी, जो एक उग्र राष्ट्रवादी साम्यवादी नेता था, के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। हंगरी की जनता सोवियत लोगों से मुक्ति चाहती थी। नैगी ने दूसरे गैर-साम्यवादी दलों को शामिल करते हुए एक व्यापक आधार वाली सरकार स्थापित करने की योजना बनायी और मास्को के साथ संबंध खत्म कर दिए। इससे सोवियत साम्यवादी सावधान हो गए। 24 अक्तूबर, 1956 को सोवियत टैंक हंगरी में घुस गए। कुछ हफ्तों के लिए हिंसा और मारकाट हंगरीवासियों के दैनिक जीवन का हिस्सा बन गई। विद्रोह को कुचले जाने के बाद 100,000 से ज़्यादा लोगों को गिरफ्तार किया गया। इनमें से कई हज़ार लोगों को शिविरों में बंदी बना कर रखा गया, 25,000 लोगों को जेल भेजा गया और 229 लोगों को मृत्युदंड दे दिया गया। स्टालिन का अनुकरण करते हुए विशेष अदालतें गठित की गईं। नैगी और उसके निकट सहयोगियों पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें मृत्युदंड दिया गया। सोवियत सेना इतनी भयभीत थी कि नैगी के शव को किसी गुप्त स्थान पर ले जाकर दफन कर दिया गया। उसके स्थान पर यानोस कादर को प्रधानमंत्री के रूप में स्थापित किया गया। कादर मास्को की

कठपुतली था और उसने सोवियत संघ के लिए कोई मुसीबत खड़ी नहीं की।

इससे पहले के वर्ष के जून माह में पोलैंड में मजदूरों ने बेहतर मजदूरी और बेहतर जीवन-स्तर की मांग करते हुए विद्रोह कर दिया। वारसा की कठपुतली सरकार ने इस विद्रोह को कुचलने की कोशिश की। उस वर्ष के अक्तूबर में ख्रुश्चेव ने शक्ति के प्रदर्शन के लिए टैंकों के प्रयोग की अनुमति दे दी लेकिन सेना को यह निर्देश दिया कि वह गोली न चलाए। अंततः एक समझौता हुआ और पोलैंड के साम्यवादी नेता गोमुल्का, जिसे स्टालिन द्वारा बंदी बनाया गया था, को मुक्त कर दिया गया। ख्रुश्चेव चाहता था कि वारसा की सत्ता गोमुल्का के हाथ में हो। दोनों ने मिलकर एक समझौता किया जिसमें पोलैंडवासियों को अपने प्रकार का साम्यवाद चुनने की अनुमति दी गई थी। इससे पोलैंड को साम्यवादी ब्लॉक से बाहर के देशों के साथ व्यापार करने की स्वतंत्रता हासिल हो गई।

ख्रुश्चेव का पतन

ख्रुश्चेव की कृषि नीति की विफलता उसके पतन का कारण बनी। अक्तूबर, 1964 में पार्टी की केंद्रीय समिति ने मतदान के माध्यम से उसे सेवानिवृत्त कर दिया। सत्तर वर्ष की आयु होने के बावजूद वह पूर्ण रूप से स्वस्थ था। सोवियत संघ और चीन के संबंधों में आयी दरार भी उसकी सेवानिवृत्ति की एक और वजह थी। ख्रुश्चेव की विदेश नीति को अस्वीकार कर दिया गया। उसने मिस्र के साथ अत्यधिक घनिष्ठता बना ली थी यहां तक कि राष्ट्रपति नासिर को सर्वोच्च सोवियत सम्मान 'ऑर्डर ऑफ लेनिन' से सम्मानित किया, हालांकि नासिर अपने देश में साम्यवाद को कुचलने का कार्य कर रहा था। ख्रुश्चेव अपने 'दाचा' (देहाती घर) में एकांतवास पर चला गया जहां 1971 में उसकी मृत्यु हो गई। लियोनिड ब्रेज़नेव उसका उत्तराधिकारी बना।

सोवियत संघ और चीन के संबंध

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के सत्ता में आने के बाद के वर्षों में सोवियत संघ और चीन, जो विश्व की सबसे बड़ी साम्यवादी शक्तियां थीं, की मित्रता और घनिष्ठ हुई। सोवियत सेना की सहायता से ही माओ को चीन में सत्ता हथियाने में सहायता मिली। दोनों देशों के बीच एक अनसुलझे सीमा विवाद के बावजूद उन्होंने 1950 में एक परस्पर सहयोग संधि पर हस्ताक्षर किए।

स्टालिन की मृत्यु के बाद दोनों साम्यवादी दलों के बीच वैचारिक मतभेद उभरने लगे। माओ ख्रुश्चेव की सुधारवादी नीतियों से सहमत नहीं था। चीनी प्रमुख क्रांति के लिए स्टालिन के आतंक और रक्तपात के प्रयोग का समर्थक था। धीरे-धीरे 'संशोधनवाद' (revisionism) शब्द का प्रचलन बढ़ता चला गया। चीनी नेतृत्व ने ख्रुश्चेव पर मार्क्स-लेनिनवाद के सिद्धांतों से भटकने और 'नरम' रवैया अपनाने का आरोप लगाया।

लेकिन यह सैद्धांतिक मतभेद तो मूल समस्या का अंश मात्र थे। भू-क्षेत्र को लेकर भी दोनों देशों के बीच विवाद था। 19वीं शताब्दी में रूस ने व्लादिवोस्तोक में और सिंकियांग प्रांत में चीनी भू-क्षेत्र के बड़े हिस्से पर कब्जा कर लिया था। माओ ने इस मुद्दे को पुनः उठाते हुए मांग की कि इस ज़मीन को चीन को लौटाया जाए। ख्रुश्चेव ने ऐसा करने से इनकार कर दिया।

वियतनाम युद्ध के दौरान रूसियों ने हो ची मिन के नेतृत्व में लड़ रहे वियतकांग लड़ाकों का खुल कर समर्थन किया। हालांकि चीन और वियतनाम के आपसी संबंध काफी मधुर थे, लेकिन 1975-79 की अवधि के दौरान पोल पोट के शासन द्वारा कंबोडिया में किए गए नृशंस अत्याचारों की व्यवस्था को लेकर दोनों पड़ौसी देशों में मतभेद था। जब फरवरी 1979 में चीन ने वियतनाम पर आक्रमण किया तो चीन के साथ सोवियत संघ के संबंध और बिगड़ गए।

इसी दौरान एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना घटित हुई। वर्ष 1972 से चीन और अमेरिका ने अपने परस्पर संबंधों को सुधारना शुरू कर दिया था। इससे दोनों बड़े साम्यवादी पड़ोसी देशों के बीच एक नए शीत युद्ध की भूमिका तैयार हो गई। इसलिए 1972 के बाद के वर्षों में रूसी कूटनीतिज्ञों ने चीन को अलग-थलग कर देने की रणनीति अपनायी। चीन ने भी कुछ सोवियत संघ विरोधी निर्णय लिए। जब सोवियत सेना ने अफगानिस्तान पर आक्रमण करके वहां एक कठपुतली साम्यवादी सरकार स्थापित कर दी तो चीन ने सोवियत सेना को बाहर खदेड़ने के लिए संघर्ष कर रहे मुजाहिदीन लड़ाकों का समर्थन किया। वर्ष 1988 में, मिखाइल गोर्बाचेव की ऐतिहासिक चीन यात्रा के बाद ही दोनों देशों के संबंधों में सुधार आना शुरू हुआ।

साम्यवाद और सोवियत साम्राज्यवाद के पतन के बाद के वर्षों में रूस, जो सोवियत संघ की विरासत का सीधा उत्तराधिकारी था, ने चीन के साथ अपने संबंधों को सुधारने का कार्य किया। अपनी आर्थिक बदहाली से उबरने के लिए नए रूस के पहले राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने चीन को अपने देश के रक्षा उत्पाद खरीदने के लिए राज़ी कर लिया। इसके बाद दोनों देशों के बीच व्यापारिक संबंधों में भी सुधार हुआ है।

चेकोस्लोवाकिया में सोवियत दमनचक्र

ख्रुश्चेव का उत्तराधिकारी लियोनिड ब्रेज़नेव स्टालिनवादी विचारधारा को मानने वाला था। ख्रुश्चेव इस बात पर सहमत हो गया था कि ईस्ट ब्लॉक के देश अपनी अलग पहचान बनाए रखते हुए समाजवादी समाज की स्थापना के लिए अपना मार्ग स्वयं चुन सकते हैं। लेकिन ब्रेज़नेव की मान्यता थी कि इससे विखंडनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलेगा। 1968 में वह चेकोस्लोवाकिया के घटनाक्रम को काफी चिंतातुर दृष्टि से देख रहा था।

स्वतंत्रता को महत्त्व देने वाली चेक जनता मास्को के समर्थन से चेकोस्लोवाकिया पर शासन कर रहे सोवियत समर्थक कट्टर साम्यवादी एंटोनिन नॉवोत्नी से घृणा करती थी। चेकोस्लोवाकिया, ईस्ट ब्लॉक का सबसे अधिक उद्यमशील और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत देश था। वे लोग मास्को के आधिपत्य और एक स्वतंत्र चेक अर्थव्यवस्था के स्थान पर एक सामूहिक ईस्ट ब्लॉक अर्थव्यवस्था बनाने के लिए मास्को द्वारा दबाव डाले जाने के कारण नाराज़ थे। इसका एक उदाहरण यह था कि सोवियत संघ ने चेकोस्लोवाकिया को स्वीडन में बने बेहतर श्रेणी के इस्पात के स्थान पर साइबेरिया में निर्मित घटिया इस्पात खरीदने के लिए बाध्य किया। चेक लोगों ने ईस्ट ब्लॉक की इच्छाओं का मास्को द्वारा तानाशाही ढंग से दमन किए जाने का विरोध किया। जब भी लोगों ने प्रदर्शन किए, नॉवोत्नी ने उनके विरुद्ध सशस्त्र पुलिस को तैनात कर दिया।

जनवरी 1968 में, प्राग की सड़कों पर हुए शृंखलाबद्ध प्रदर्शनों की परिणति नॉवोत्नी के इस्तीफे के रूप में हुई। इसके बाद चेक कम्युनिस्ट पार्टी के बेहद लोकप्रिय प्रथम सचिव एलेक्ज़ेंडर दुबचेक को शासक के रूप में स्थापित किया गया। दुबचेक ने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुधारों के लिए एक उग्र सुधारवादी कार्यक्रम शुरू किया। सर्वप्रथम, सभी बातों में साम्यवादी पार्टी के हस्तक्षेप को समाप्त किया गया। दूसरे, उसने उद्योगों के विकेंद्रीकरण के आदेश देते हुए उन्हें अपने दैनिक कार्यकलापों में पार्टी कार्यकर्ताओं के शिकंजे से मुक्त कराया। कृषि के क्षेत्र में सामूहिक फार्मों के स्थान पर स्वतंत्र सहकारिताओं के गठन की योजना बनायी गई। मज़दूर संघों को और अधिक शक्तियों के साथ कार्य करने की अनुमति दे दी गई। मास्को को नाराज़ करने के लिए इतना ही काफ़ी नहीं था, इसलिए दुबचेक ने चेक लोगों को विदेश यात्रा और स्वतंत्र प्रेस सहित अनेक प्रकार की अनियंत्रित स्वतंत्रता दे दी।

दुबचेक इसे 'मानवीय चेहरे वाले समाजवाद' की संज्ञा देता था। हालांकि उसने ब्रेज़नेव को आश्वासन दिया था कि वह चेकोस्लोवाकिया को वारसा संधि के अधीन रखेगा, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात, उसे साम्यवादी देश बना कर रखेगा, लेकिन मास्को में स्टालिनवाद के पुनः प्रवर्तक इस संबंध में बेहद आशंकित थे। वर्ष 1968 का पूर्वार्ध, चेकोस्लोवाकिया में आशाओं से भरपूर था। लोग अपनी नई-नई स्वतंत्रताओं से बेहद प्रसन्न थे और ऐसा लगता था कि साम्यवाद के क्रूर अत्याचार मानो बीते समय की बात बन कर रह गए थे। इसलिए वर्ष 1968 में फरवरी से अगस्त तक की अवधि को स्नेहपूर्वक 'प्राग का वसंत' कहा जाता है।

लेकिन मास्को को प्राग के वसंत के ईस्ट ब्लॉक के दूसरे देशों में भी फैल जाने का खतरा था। उस वर्ष के अगस्त माह में वारसा संधि सेना ने, जिसमें सोवियत सैनिकों के अलावा पोलैंड, पूर्वी जर्मनी, बुल्गारिया और हंगरी की सेना के सिपाही भी शामिल थे, 'डेन्यूब' कूटनाम से चेकोस्लोवाकिया पर एक बहुत बड़ा आक्रमण कर दिया। मास्को द्वारा इस आक्रमण के लिए जितनी सेना तैनात की गई थी वह 1938 में चेकोस्लोवाकिया पर जर्मनी के आक्रमण के समय तैनात की गई नाज़ी सेना से भी बड़ी थी।

दुबचेक ने अपने लोगों को कहा कि वे इस हमले का निष्क्रिय विरोध करें। स्वतंत्र विश्व घृणा की दृष्टि से, सशस्त्र साम्यवादियों को, सांस्कृतिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक विकसित लोगों को अपमानित करते हुए देखता रहा। सड़कों पर लगभग 90 लोग मारे गए। लेकिन ब्रेज़नेव सत्ता की कुर्सी पर किसी कठपुतली को बिठाने के लिए पर्याप्त समर्थक नहीं जुटा पाया। अनेक उदारवादी नेताओं को गिरफ्तार करके साइबेरिया भेज दिया गया। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय दबाव के कारण ब्रेज़नेव की सरकार को इन्हें मुक्त करना पड़ा। इसके बाद कई महीनों तक चेक लोगों ने अपना प्रतिरोध जारी रखा। अपनी स्वतंत्रता के मुद्दे पर अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का ध्यान आकृष्ट करने के लिए अनेक लोगों ने सड़कों पर आत्मदाह कर लिया। सोवियत सेना ने अपने दमन के शिकंजे को और कस दिया और जल्दी ही वहां गुस्ताव ह्यूज़ाक के नेतृत्व में एक कठपुतली सरकार स्थापित कर दी गई। सेंसर व्यवस्था को कड़ा कर दिया गया और चेक कम्युनिस्ट पार्टी के उदार सुधारवादियों को पार्टी से निकाल बाहर किया गया। 40,000 से अधिक

लोगों ने देश छोड़कर दूसरे देशों में शरण ली। ब्रेज़नेव ने अपनी क्रूरता की कार्रवाइयों को 'ब्रेज़नेव सिद्धांत' प्रस्तुत करते हुए यह कह कर उचित ठहराया कि यदि किसी साम्यवादी देश में साम्यवाद का अस्तित्व खतरे में हो तो ऐसे देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना उचित है।

चेक संकट के परिणाम

इस सबके बावजूद 'प्राग के वसंत' की हवा पूरे ईस्ट ब्लॉक में फैल गई। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि ये महत्त्वपूर्ण घटनाएं अंतर्राष्ट्रीय मीडिया की उपस्थिति में हो रही थीं जो वारसा संधि सेना द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण के समय प्राग में मौजूद थीं। हंगरी तथा पोलैंड (1956) और पूर्वी जर्मनी (1953) के मामले में सोवियत लोगों ने अपनी ओर लौह-पट (आवरण) की अपारदर्शिता का लाभ उठाते हुए कार्रवाई की थी। वर्ष 1970 में पोलैंड में दंगे भड़क उठे। दशक भर चलने वाले असंतोष की परिणति 1979 में 'सॉलिडैरिटी' नाम के एक स्वतंत्र मज़दूर संघ की स्थापना के रूप में हुई। पूरे क्षेत्र भर में लोग, गुप्त तरीकों से ही सही, साम्यवाद के सही रूप के विषय में विचारों का आदान-प्रदान करने लगे। पूर्वी जर्मनी के लोग पश्चिम जर्मनी के साथ मिल जाना चाहते थे जिसके कारण वहां की खुफिया पुलिस, स्टैसी ने, घबराहट में लोगों के खिलाफ अपनी कार्रवाइयां तेज़ कर दीं। सत्ताधारियों से मतभेद रखने वालों की संख्या तेजी से बढ़ने लगी और लोग बड़ी संख्या में इन देशों से पलायन करने लगे। प्रायः ऐसा करने की कोशिश में वे पकड़े जाते थे और फिर उन्हें या तो कारावास की सज़ा दी जाती या मृत्युदंड दिया जाता था। आगे इस अध्याय में हम देखेंगे कि स्वतंत्रता के लिए यह जागृति 1989 में किस प्रकार अपनी चरमावस्था पर पहुंची।

मिखाइल गोर्बाचेव के नेतृत्व में एक नए युग की शुरुआत

1980 के दशक के आरंभ तक सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी जराजन्य प्रवृत्तियों के प्रभाव में आ चुकी थी। जीवन के आखिरी वर्षों में लियोनिड ब्रेज़नेव अपने पूर्व व्यक्तित्व की धुंधली छवि मात्र बन कर रह गया था। ब्रेज़नेव और उसके वरिष्ठ सहयोगी वयोवृद्ध हो चले थे और एक ऐसे समय में किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए थे जब सोवियत संघ गंभीर आर्थिक संकट से घिर गया था। ब्रेज़नेव द्वारा अफगानिस्तान पर आक्रमण का आदेश दिए जाने के बाद से वाशिंगटन में रोनाल्ड रीगन का प्रशासन साम्यवाद को समाप्त कर देने के लिए दृढ़संकल्प था। जिस समय सोवियत संघ अनेक जटिल समस्याओं से घिरा हुआ था, तभी 1982 में ब्रेज़नेव की मृत्यु हो गई। उसके बाद यूरी आंद्रोपोव (1982–84) और कॉन्स्टेंटिन चेरनेनको (1984–85) थोड़े-थोड़े समय के लिए पार्टी प्रमुख रहे लेकिन वयोवृद्ध होने के कारण दोनों की मृत्यु उनके कार्यकाल के दौरान ही हो गई। आंद्रोपोव थोड़ा उदार प्रकृति का व्यक्ति था और उसने पार्टी के वृद्ध और बीमार नेताओं के स्थान पर युवा नेताओं को आगे लाने का कार्य किया। लेकिन चेरनेनको स्टालिनवाद को पुनः लागू करने का समर्थक था और उसने बिगड़ती आर्थिक स्थिति पर जनाक्रोश को अनदेखा करते हुए परमाणु वैज्ञानिक आंद्रेइ सखारोव, जिसे 1980 से साइबेरिया की जेल में बंदी बनाकर रखा गया था, जैसे बुद्धिजीवियों का उत्पीड़न जारी रखा।

चेरनेनको की मृत्यु के बाद मिखाइल गोर्बाचेव को पार्टी का महासचिव चुना गया। वह 54 वर्ष का था और उसे अब तक का सबसे अधिक प्रगतिशील और बुद्धिमान साम्यवादी नेता माना जाता है। उसने 'ग्लासनोस्त' और 'पेरेस्त्रोइका' की दोहरी नीतियों को अपने शासन का आधार बनाया।

'ग्लासनोस्त' का अर्थ है 'खुलापन'। सुधार के सुस्पष्ट समर्थक गोर्बाचेव ने साम्यवादी पार्टी की आलोचना को स्वीकार करने की शुरुआत की। उसने प्रख्यात परमाणु वैज्ञानिक सखारोव सहित अनेक विरोधियों को रिहा कर दिया। विरोधियों को मानसिक अस्पतालों में बंद करने के प्रावधान वाले कानून को खत्म कर दिया गया और घृणा की दृष्टि से देखी जाने वाली खुफिया पुलिस, के.जी.बी. की शक्तियों पर अंकुश लगा दिया गया। उसने स्टालिनवादी युग के इतिहास पर नजर डालते हुए ऐसे अनेक लोगों की गरिमा को पुनःप्रतिष्ठित किया जिन्हें स्टालिन ने या तो अपमानित किया था या जिनकी हत्या करवा दी थी। वर्ष 1940 में 4,000 पोलिश सैनिक अधिकारियों के कुख्यात नरसंहार को किसी सोवियत नेता द्वारा उस समय पहली बार स्वीकार किया गया जब गोर्बाचेव ने न केवल इस नरसंहार की घटना को स्वीकार किया बल्कि उसके लिए क्षमा भी मांगी। उसने सूचना माध्यमों को पार्टी द्वारा आयोजित किए जाने वाले सम्मेलनों और सभाओं की खबरें प्रकाशित करने की अनुमति भी दे दी। इससे पहले ये बैठकें गुप्त रूप से बंद कमरों में आयोजित की जाती थीं। सोवियत फिल्म निर्माता संघ और लेखक संघ को अपने प्रतिक्रियावादी नेताओं को हटाकर उनके स्थान पर अपनी इच्छानुसार नेता चुनने की अनुमति दे दी गई। पिछली सरकारों द्वारा प्रतिबंधित पुस्तकों और फिल्मों को पुनः वितरित करने की अनुमति दे दी गई। अनेक दशकों के दमन के बाद लोगों को धार्मिक स्वतंत्रता और ईश्वर तथा आध्यात्मिकता पर विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता भी दी गई। पूरा विश्व उस समय आश्चर्यचकित रह गया जब सोवियत मीडिया ने 1986 में हुई चेरनोबिल परमाणु दुर्घटना पर व्यावसायिक ढंग से खबरें प्रकाशित कीं। अभी तक इस प्रकार का खुलापन किसी भी साम्यवादी देश के लिए अनहोनी बात थी जब मीडिया भ्रष्टाचार और अकर्मण्यता को उजागर कर रहा था, जो घोर विपत्ति का कारण बना।

सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचेव और संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन

'पेरेस्त्रोइका' का अर्थ है 'पुनर्गठन'। गोर्बाचेव को एक लड़खड़ाती अर्थव्यवस्था विरासत में मिली थी जहां हर वस्तु का अभाव था। उसने सोवियत अर्थव्यवस्था और उद्योग जगत के सामने खड़ी समस्याओं का विश्लेषण किया और कुछ ऐसी गंभीर समस्याओं की पहचान की जिन्हें सोवियत संघ का अस्तित्व कायम रखने के लिए हल किया जाना आवश्यक था। सबसे पहली समस्या यह थी कि सोवियत अर्थव्यवस्था एक कृत्रिम अर्थव्यवस्था थी। जब भी धन की आवश्यकता होती, सरकार मुद्रा छाप लेती थी। इसके कारण धन (मुद्रा) और

वस्तुओं की उपलब्धता के बीच असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। हर वस्तु की कमी होने के कारण आम नागरिकों को दैनिक आवश्यकता की छोटी-से-छोटी वस्तु को खरीदने के लिए दुकानों के बाहर घंटों तक लंबी कतारों में खड़े रहना पड़ता था।

गोर्बाचेव ने वित्तीय अनुशासन लागू करने का फैसला किया। उसने छोटे उद्यमों को निजी क्षेत्र के साथ प्रतिस्पर्धा करने की छूट देकर अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। सोवियत संघ में निर्मित वस्तुओं का स्तर ऊंचा और प्रतिस्पर्धात्मक न होने के कारण उत्पादन प्रक्रिया में गुणवत्ता नियंत्रण शुरू किया गया। कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए मशीनों और कंप्यूटरों का प्रयोग शुरू किया गया। अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र पर पार्टी की मज़बूत पकड़ को ढीला किया गया और गुणवत्ता बनाए रखने का कार्य व्यावसायिक सिद्धांतों के आधार पर चलने वाली स्वायत्तशासी संस्थाओं को सौंपा गया। राज्य के योजनाकारों की भूमिका समाप्त कर दी गई और उद्यमों के मालिकों को बाज़ार की परिस्थितियों और उपभोक्ताओं की मांगों के अनुसार उत्पादन करने के लिए प्रेरित किया गया।

लेकिन गोर्बाचेव की साहसिक पहल के बावजूद कोई ठोस उपलब्धि हासिल नहीं हो सकी। गोर्बाचेव, अधिक साहस न दिखाने के लिए उसकी आलोचना करने वाले उग्र सुधारवादियों और ऐसे पुराने परंपरावादी नेताओं के बीच में फंसा हुआ था जो साम्यवाद को लोगों के अधिक अनुकूल सिद्धांत बनाने के उसके प्रयासों के कारण उसे नापसंद करते थे। यहां यह उल्लेखनीय है कि पूर्व में दुबचेक की ही भांति गोर्बाचेव ने भी साम्यवाद को बनाए रखने की शपथ ली थी। उसकी मान्यता थी कि साम्यवाद का कोई विकल्प नहीं है और एक बार उसने पूंजीवाद को 'म्लेच्छ' (Pagan) जीवन शैली भी कहा था।

वर्ष 1988 और 1989 में आर्थिक विकास की दर पेरेस्त्रोइका से पहले के वर्षों के स्तर पर यथावत बनी रही। लेकिन 1990 में राष्ट्रीय आय में पिछले वर्ष की तुलना में 15 प्रतिशत की गिरावट आई। गोर्बाचेव के नेतृत्व में सोवियत संघ की वही दशा थी जो 1930 के दशक में पश्चिमी विश्व की दशा थी। मजदूरों की मजदूरी उत्पादन पर निर्भर करती थी, इसलिए वे अधिक-से-अधिक उत्पादन करते थे। चूंकि उत्पादन के मूल्य को सदा रूबल में आंका जाता था, इसलिए कारखाने उच्च मूल्य वाली वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए प्रेरित होते थे। बुनियादी आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन घटता गया और दुकानों के बाहर लगी कतारें लंबी होती चली गईं। 1990 में यह पता चला कि लगभग 25 प्रतिशत जनसंख्या अत्यधिक गरीबी की हालत में जीवनयापन कर रही थी।

जो कामगार वर्ग पेरेस्त्रोइका के आरंभिक दौर में बेहद उत्साहित था, दशक का अंत होते-होते अपना धैर्य खो चुका था। 1989 में कोयला खनिकों ने आवश्यकता की आम वस्तुओं (साबुन, टूथब्रश, खाद्य वस्तुओं आदि) के अभाव और अर्थव्यवस्था की दुर्दशा के विरोध में राष्ट्रव्यापी हड़ताल कर दी। 1917 के बाद सोवियत संघ में होने वाली यह पहली हड़ताल थी। गोर्बाचेव ने इस विरोध को कुचलने की कोशिश नहीं की। इसके विपरीत वह स्वतंत्र मजदूर संघों की स्थापना के लिए मजदूरों की मांग के आगे झुक गया। रूस के उग्र सुधारवादी राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने गोर्बाचेव की खुलेआम आलोचना शुरू कर दी।

ईस्ट ब्लॉक का विघटन

हमने इससे पहले पढ़ा है कि 1970 के दशक में किस प्रकार प्राग के वसंत की बयार ने संपूर्ण पूर्वी यूरोप को सुवासित करना शुरू कर दिया था। 1980 के दशक में मुक्त विचार और राष्ट्रवाद के सिद्धांत और अधिक एकाग्रता के साथ फैलाए गए।

पोलैंड ने मार्ग प्रशस्त किया

पोलैंड में लेक वालेसा के नेतृत्व में 'सॉलिडैरिटी' (एकात्मता) आंदोलन और अधिक तेज़ हुआ। हालांकि ब्रेज़नेव ने अपने शासन के संध्याकाल में संस्थापित साम्यवादी विचारधारा से भटकने के लिए पोलैंड के खिलाफ सैन्य बल के प्रयोग को मंजूरी दे दी थी, लेकिन वह इतना बूढ़ा हो चला था कि इसे लागू नहीं कर सकता था। वहीं दूसरी ओर अफगान युद्ध में आक्रमणकारी सोवियत सेना को लगातार मुजाहिदीन की ओर से नुकसान पहुंच रहा था, इससे सोवियत सेना की अजेयता का मिथक चूर-चूर हो गया था। इसलिए अफगान युद्ध, जिसमें बड़ी संख्या में सोवियत सैनिक हताहत हुए थे, के खिलाफ बढ़ते घरेलू असंतोष के प्रति सचेत ब्रेज़नेव अपने सैनिकों को पोलैंड में प्रभावी ढंग से तैनात नहीं कर सका। उसने पोलिश नेता जनरल जारूजेल्स्की को सैनिक शासन या देश पर सेना के नियंत्रण की घोषणा करके सॉलिडैरिटी आंदोलन को कुचलने की अनुमति दे दी। सॉलिडैरिटी पर प्रतिबंध लगा दिया गया और उसके हजारों कार्यकर्ताओं का दमन किया गया। प्रतिरोध करने वाले लोगों पर एक बार फिर साम्यवादी अत्याचार किए गए। 1983 में सैनिक शासन खत्म कर दिया गया और सॉलिडैरिटी के नेताओं को रिहा कर दिया गया।

लेकिन पोलैंड की प्रमुख आर्थिक समस्याएं यथावत बनी रहीं। 1988 में पोलैंड के राष्ट्राध्यक्ष वॉजसीक जारूजेल्स्की ने राजसहायता में कटौती कर दी और सरकार द्वारा चलाए गए सुधार कार्यक्रम के कारण बहुत-से लोगों को अपने रोजगार से हाथ धोना पड़ा। खाद्य वस्तुओं के दाम बढ़ गए। प्रतिबंधित होने के बावजूद सॉलिडैरिटी ने देशभर में अनेक स्थानों पर विरोध प्रदर्शन किया। लेकिन इस बार जारूजेल्स्की ने इस विरोध को दबाया नहीं क्योंकि मास्को में गोर्बाचेव, ईस्ट ब्लॉक के देशों के आंतरिक मामलों के प्रति तटस्थ था। चूंकि आर्थिक संकट से निपटने के लिए विपक्ष के समर्थन की आवश्यकता थी, इसलिए जारूजेल्स्की सॉलिडैरिटी के साथ समझौता वार्ता करने पर विवश हो गया। अप्रैल, 1989 में पोलैंड के संविधान में आमूल परिवर्तन किए गए।

नए संविधान के अधीन संसद के दो सदनों, एक निचला सदन और एक सीनेट की स्थापना की गई। साम्यवादियों ने निचले संदन की 65 प्रतिशत सीटें अपने लिए सुरक्षित रखीं जबकि सीनेट को साम्यवादियों के लिए किसी प्रकार के आरक्षण के बिना सभी के लिए खुला रखा गया था। दोनों सदनों को मिलकर राष्ट्रपति का चुनाव करना था। इसके बाद चुने गए राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री का चयन किया जाना था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि सॉलिडैरिटी को पहली बार एक राजनीतिक दल के रूप में मान्यता दे दी गई।

जून 1989 में, पोलैंड में पहली बार स्वतंत्र चुनाव हुए जिसमें सॉलिडैरिटी ने सीनेट की 100 सीटों में से 92 सीटों पर और निचले सदन की आरक्षण मुक्त 161 सीटों में से 160 सीटों पर चुनाव जीता। किंतु जारूजेल्स्की साम्यवादियों के

लिए आरक्षित सीटों की संख्या के बल पर राष्ट्रपति बनने में सफल हो गया। लेकिन साम्यवाद के खिलाफ जनमत को भांपते हुए उसने ताद्यूज़ माज़ोवीकी को नामित कर दिया। यह पहला मौका था जब किसी पूर्वी यूरोपीय देश में कोई गैर-साम्यवादी प्रधानमंत्री बना था।

दिसंबर 1990 में, 1989 के संविधान में संशोधन करके साम्यवादियों के लिए रखी गई गारंटियों को समाप्त कर दिया गया। इस समय तक पूरे ईस्ट ब्लॉक में साम्यवाद ढह चुका था और जारूजेल्स्की के पास सत्ता में बने रहने का अब कोई बहाना नहीं रह गया था। इसलिए, 1939 से पहली बार स्वतंत्र हुए पोलैंड में लेक वालेसा को राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया।

1956 की घटना के लिए हंगरी का प्रतिशोध

मास्को के समर्थन से हंगरी पर शासन करने वाले जानोस कादर को 1986 में कम्युनिस्ट पार्टी में एक आंतरिक संकट का सामना करना पड़ा। देश उस समय गंभीर आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था और उसे लोगों की तकलीफों को कम करने का कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। देश के उद्योग-धंधे सोवियत लोगों द्वारा थोपी गई पुरानी और जर्जर मशीनों पर चल रहे थे। पार्टी का एक वर्ग सत्ता का विकेंद्रीकरण चाहता था जिसके लिए उसने कंपनी परिषदों का गठन किया जिन्हें प्रबंधकों का चुनाव करने का अधिकार दिया गया था। लेकिन एक दूसरा वर्ग, इस विश्वास के साथ कि मास्को उनका समर्थन करेगा, कादर पर इस बात के लिए दबाव डाल रहा था कि स्टालिनवादी नियंत्रण व्यवस्था को बरकरार रखा जाए। लेकिन इस वर्ग ने स्थिति का गलत आकलन किया था। गोर्बाचेव स्टालिन नहीं था।

मई 1988 में, पार्टी को उस समय भारी झटका लगा जब कादर और उसके आठ समर्थक पोलितब्यूरो का चुनाव हार गए जिससे पार्टी पर प्रगतिवादी नेताओं का नियंत्रण बढ़ गया। इसी दौरान दो बड़े विपक्षी दलों—मुक्त लोकतंत्रवादियों का उदार गठजोड़ (Liberal Alliance of Free Democrats) और लोकतांत्रिक मंच (Democratic Forum) का गठन हुआ। प्रगतिशील साम्यवादियों ने इन दलों के साथ चर्चा करके स्वतंत्र चुनाव कराने का फैसला किया। साम्यवादियों ने अपने दल का नाम भी बदल कर हंगेरियन सोशलिस्ट पार्टी रख लिया। लेकिन जनता अब उनसे ऊब चुकी थी। इसलिए जोसफ एन्टाल के नेतृत्व में लोकतांत्रिक मंच (Democratic Forum) ने चुनाव में विजय हासिल की और हंगरी सदा के लिए साम्यवाद से मुक्त हो गया।

जर्मनी का पुनः एकीकरण

एक पिछले अध्याय में हमने फरवरी, 1945 के याल्टा सम्मेलन के विषय में पढ़ा था जहां दो पृथक जर्मनियों की संकल्पना पर विचार किया गया था। अगस्त 1944 में, पश्चिमी ताकतों ने एक स्वतंत्र और लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में संघीय गणतांत्रिक जर्मनी, जिसे पश्चिमी जर्मनी के नाम से भी जाना जाता है, की स्थापना कर दी। इसके बाद चुनाव आयोजित किए गए और कोनराड एडेनोअर वहां का चांसलर बना। अक्तूबर 1949 में, ठीक इसी प्रकार स्टालिन ने जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक या पूर्वी जर्मनी की स्थापना की। इस प्रकार, जर्मनी का विभाजन बाहरी कारणों से हुआ। स्वयं जर्मन लोग एक होना चाहते थे और मित्र राष्ट्र भी अगले 40 वर्षों तक इस विचार का समर्थन करते रहे। जो लोग

पूर्वी जर्मनी से बचकर भाग निकले, उनका पश्चिमी जर्मनी में स्वागत किया गया। पूर्वी जर्मनी की साम्यवादी सरकार एक अत्यधिक कठोर सरकार थी। इसके नेता भ्रष्ट थे और जनता को स्टैसी नामक खुफिया पुलिस की सहायता से आतंकित करते थे जो प्रत्येक नागरिक पर कड़ी नज़र रखती थी। हालांकि पूर्वी जर्मनी की अर्थव्यवस्था ईस्ट ब्लॉक की सशक्ततम अर्थव्यवस्थाओं में से एक थी, लेकिन पश्चिमी जर्मनी की तुलना में यह सदा पिछड़ी ही रही।

इसलिए, इसमें आश्चर्य नहीं कि 1985 से ईस्ट ब्लॉक में चल रही राजनीतिक और आर्थिक सुधार की हवा का सबसे अधिक विरोध एरिक होनेकर के नेतृत्व वाली पूर्वी बर्लिन की सरकार ने किया। लेकिन उसके लिए घटनाचक्र कुछ ज़्यादा ही तेज़ी से घूमा।

होनेकर के लिए दुःखद बात यह थी कि पूर्वी जर्मनी के खात्मे की प्रक्रिया की शुरुआत सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचेव के हाथों हुई। जून 1989 में, गोर्बाचेव को अपने ही देश में गंभीर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा जिससे बचने के लिए वह सोवियत संघ के पुराने दुश्मन देशों को सहायता और निवेश के लिए मनाने का प्रयास करने लगा। उसने बीजिंग जाकर चीन से सहायता की मांग की। इसी महीने वह पश्चिमी जर्मनी के दौरे पर भी गया जहां का चांसलर हेल्मट कोल दोनों जर्मनियों को मिलाए जाने के विचार का समर्थक था। आर्थिक सहायता के एवज़ में कोल ने गोर्बाचेव को जर्मनी के पुनः एकीकरण को मंजूरी देने पर राज़ी कर लिया। जब इस आशय की घोषणा की गई तो दोनों ही जर्मनियों के लोग आनंदित हो गए। हज़ारों पूर्वी जर्मनीवासी, पश्चिम जर्मनी की ओर जाने लगे। पोलैंड, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया ने इन लोगों को वीसा उपलब्ध कराकर इनकी सहायता करना आरंभ कर दिया। पूर्वी जर्मनी के प्रोटेस्टैंट चर्च ने साम्यवादी शासन को खत्म करने के लिए एक सक्रिय अभियान छेड़ दिया। देश भर में विरोध प्रदर्शनों की एक लहर उठ खड़ी हुई।

होनेकर अपने सुरक्षा बलों की सहायता से इन प्रदर्शनकारियों को कत्ल करवा देना चाहता था। लेकिन साम्यवादी पार्टी ने ऐसा होने से रोक दिया। पार्टी ने होनेकर को सत्ता से हटाकर उसके स्थान पर एक उदारवादी नेता, एगॉन क्रेंज़ को पार्टी का अगला मुखिया बना दिया। क्रेंज़ ने नवंबर 1989 में, बर्लिन की दीवार को मिटाने का फैसला किया और स्वतंत्र चुनावों की घोषणा कर दी। जब यह बात साफ हो गई कि मास्को जर्मनी के एकीकरण की राह में बाधा नहीं बनेगा, तो पश्चिमी जर्मनी के राजनीतिक दलों ने पूर्वी जर्मनी जाकर वहां के लोगों को तत्काल एकीकरण की मांग करने के लिए प्रेरित किया। 3 अक्तूबर, 1990 की मध्य रात्रि को जर्मनी का औपचारिक एकीकरण हो गया। इस प्रकार, द्वितीय विश्वयुद्ध का यह अंतिम अध्याय, जो सामान्य जर्मन नागरिकों की दृष्टि से अभी तक समाप्त नहीं हुआ था, अंततः समाप्त हो गया। जर्मन एकीकरण के साथ ही शीतयुद्ध के अंत की शुरुआत भी हो गई। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा संयुक्त रूप से इस एकीकरण का समर्थन किया जाना अपने आप में इस बात का संकेत था कि शीत युद्ध अब अपनी अंतिम सांसें गिन रहा था।

चेकोस्लोवाकिया

हमने देखा कि किस प्रकार क्रूरतापूर्ण दमन के बावजूद चेक लोगों का मनोबल नहीं टूटा और

1970 के पूरे दशक के दौरान सर्वाधिकारवादी साम्यवादी सरकारों के खिलाफ उन्होंने अपने विरोध का प्रदर्शन जारी रखा। राजनीतिक तनावों के बावजूद चेक अर्थव्यवस्था उस क्षेत्र की सबसे मजबूत अर्थव्यवस्था थी। लेकिन 1980 के दशक के आते–आते कठपुतली सरकार की, चेकोस्लोवाकिया को सोवियत संघ के पिछले हिस्से के रूप में बदलने की नीति के कारण स्थिति बिगड़ने लगी थी। 1969 से सत्ता पर काबिज़ रहने वाला गुज़्ताफ हुज़ाक देश की आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए कुछ नहीं कर सका था। उसने 1987 में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, लेकिन उसका उत्तराधिकारी माइलोस जेक्स भी उतना ही अक्षम था। चेकोस्लोवाकिया के लोगों ने प्रसिद्ध नाटककार वैक्लाव हेवल के नेतृत्व में 1968 की भावना को पुनर्जीवित किया। हेवल ने 'चेक चार्टर 77' नाम की एक पार्टी का गठन किया। इस पार्टी ने 'मखमली क्रांति' (Velvet Revolution) के नाम से आंदोलन शुरू किया जिसे व्यापक जनसमर्थन मिला। वे एलेक्ज़ेंडर दुबचेक को राजनीतिक गुमनामी के उस अंधकार से बाहर निकाल लाए जहां साम्यवादियों ने उसे निर्वासित कर रखा था और उसे नवंबर 1989 में एक राजनीतिक सभा को संबोधित करने के लिए कहा। इसके बाद हड़तालों का सिलसिला शुरू हो गया। इस बार साम्यवादी सरकार को मास्को का समर्थन हासिल नहीं था, इसलिए वह जल्दी ही टूट गई। जेक्स ने इस्तीफा दे दिया और 29 दिसंबर, 1989 को हेवल को राष्ट्रपति चुन लिया गया।

रूमानिया में अति-साम्यवादी अत्याचार का अंत

ऐसा माना जाता है कि 1965 से शासन करने वाला शक्तिशाली साम्यवादी निकोलई कुसेस्कू पूर्वी जर्मनी के होनेकर से भी क्रूर तानाशाह था। होनेकर की खुफिया पुलिस स्टैसी की ही भांति उसने भी सिक्योरिटेट नामक कठोर पुलिस व्यवस्था बना रखी थी।

1989 में यह महसूस किया गया कि रूमानिया की क्रूर सरकार किसी-न-किसी रूप में परिवर्तन की इन हवाओं का विरोध अवश्य करेगी। नवंबर तक ऐसा महसूस हुआ कि ऐसा ही होगा। लेकिन अचानक दबा हुआ जनआक्रोश फट पड़ा। 17 दिसंबर को एक पादरी को सिक्योरिटेट द्वारा उत्पीड़ित किए जाने के विरोध में तिमिसोआरा में आयोजित एक शांतिपूर्ण प्रदर्शन में सेना ने लोगों पर गोलियां चलाई जिससे अनेक लोग मारे गए। इसका देश भर में प्रचंड विरोध हुआ। कूसेस्कू और उसकी पत्नी को 'हत्यारा' घोषित किया गया। 1989 में क्रिसमस के दिन एक बड़ी भीड़ जबरन उनके महल में जा घुसी, उन्हें घसीट कर एक न्यायाधिकरण के सामने लाया गया और अभियोजन की एक संक्षिप्त कार्रवाई के बाद उन्हें गोली मार दी गई।

रूमानिया में सचमुच एक जनक्रांति हुई थी। कूसेस्कू ने लोगों का दमन इतनी निर्दयतापूर्वक किया था कि वे पोलैंड की सॉलिडैरिटी या चेकोस्लोवाकिया के चार्टर 77 जैसे किसी संगठन के झंडे तले एकत्र हो सकने की स्थिति में नहीं थे। उन्हें लोकतंत्र का कोई अनुभव नहीं था। साम्यवादियों ने इसका फायदा उठाया और वे राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (National Salvation Front) के नए नाम से एक बार फिर लौट आए। कूसेस्कू के एक पूर्व मंत्री, इयॉन इलियेस्कू को राष्ट्रपति बनाया गया। लेकिन अंततः 1996 में एक ईसाई डेमोक्रेट एमिल कॉन्स्टैंटिनेस्कू ने चुनाव में विजय हासिल की और पहली गैर-साम्यवादी गठबंधन का गठन किया।

बुल्गारिया में सुगमतापूर्वक बदलाव

वर्ष 1954 से बुल्गारिया पर शासन करने वाला टोडोर झिवकोव एक कट्टरपंथी था और 1980 के दशक तक बुल्गारिया की अर्थव्यवस्था के जर्जर हो जाने के बावजूद वह सुधारों को लागू करने के लिए तैयार नहीं था। मिखाइल गोर्बाचेव ने अनेक बार उससे आग्रह किया कि वह ईस्ट ब्लॉक के अन्य देशों में हो रहे बदलावों को ध्यान में रखते हुए अपने देश की अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए कदम उठाए। लेकिन उसने कड़ाई से इसका विरोध किया। उसके अपने दल का धैर्य भी खोने लगा था क्योंकि उसके नेताओं को भय था कि उनका हश्र भी वैसा ही न हो जैसा पड़ोसी देशों के नेताओं का हुआ था। इस प्रकार दिसंबर 1989 में, बुल्गारिया की कम्युनिस्ट पार्टी ने उसे बर्खास्त कर दिया और पार्टी का नाम बदलकर बुल्गेरियन सोशलिस्ट पार्टी रख दिया गया।

अल्बानिया में साम्यवाद का अंत

अल्बानिया 1945 से एक साम्यवादी गणराज्य था। चूंकि देश के साम्यवादियों ने स्वयं ही एक सफल क्रांति की थी, इसलिए सोवियत संघ का उससे कोई वास्ता नहीं था। यह छोटा-सा यूरोपीय देश व्यावहारिक दृष्टि से यूरोप से कटा हुआ था और अपने अस्तित्व के पहले 40 वर्षों तक स्टालिनवादी व्यवस्था के प्रशंसक तानाशाह एनवर होक्सा के अधीन काफी पिछड़ा रहा। उसका उत्तराधिकारी रमीज अलिया भी देश की समस्याओं को सुलझाने में बिल्कुल नाकाम साबित हुआ। रूमानियावासियों की ही भांति अल्बानिया के निवासियों को भी विद्रोह का बहुत कम अनुभव था जबकि ईस्ट ब्लॉक के बाकी देशों में महत्त्वपूर्ण बदलाव आ रहे थे। 1991 में हजारों युवा अल्बानियावासियों ने देश से भाग कर इटली में शरण ली। साम्यवादी सरकार की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़ी आलोचना हुई। इसके परिणामस्वरूप 1992 में पहली बार स्वतंत्र चुनावों की अनुमति दी गई और सैली बेरिस्सा को देश के पहले गैर-साम्यवादी नेता के रूप में चुना गया।

पूर्वी यूरोप में साम्यवाद की विफलता के कारण

अब हम उन प्रमुख कारणों को देखेंगे जिनकी वजह से पूर्वी यूरोप में साम्यवाद 44 वर्ष की छोटी-सी अवधि में ही समाप्त हो गया।

सर्वप्रथम तो ईस्ट ब्लॉक के सभी देश स्वतंत्र थे, सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत थे और वहां के लोग कई पीढ़ियों से जीवन के हर क्षेत्र में स्वतंत्रता के अभ्यस्त थे। उन्होंने साम्यवाद को सहज भाव से नहीं अपनाया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मनी ने उन पर कब्जा किया था। सोवियत सेना ने नाज़ियों को तो खदेड़ कर बाहर कर दिया, लेकिन वे इन देशों के नागरिकों की स्वतंत्र रहने की इच्छा को बहाल करने में मित्र राष्ट्रों के उदाहरण का अनुकरण नहीं कर सके। स्टालिन ने साम्यवाद को क्रूरतापूर्वक उन पर थोप दिया।

दूसरा कारण यह था कि लोगों ने साम्यवादी अत्याचारों के कारण बहुत अधिक कष्ट भोगे थे। उदार समाजवादियों और लोकतंत्रवादियों की निर्दयतापूर्वक हत्या कर दी जाती थी। हंगरीवासियों को यह देखकर सदमा लगा कि स्टालिन की अवज्ञा करने पर उनके लास्लो राज्क और यानोस कादर जैसे नेताओं को 1949 में फांसी लगा दी गई। इसी प्रकार, 1949 में ही बुल्गारियाई प्रधानमंत्री त्राइचको कोस्लोव को गिरफ्तार करके गोली मार दी गई। 1952 में स्टालिन ने

चेकोस्लोवाकिया में चेक कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव रूडॉल्फ स्लेन्स्की तथा अन्य 10 कैबिनेट मंत्रियों की हत्या के आदेश दिए। धीरे-धीरे इन देशों के लोग यह समझने लगे कि उनके नेता महत्त्वहीन हैं और उनके पदों पर बने रहने का कारण यह है कि मास्को उन्हें इन पदों पर रखना चाहता है।

तीसरे, इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं को सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ दिया गया था। पुरानी प्रौद्योगिकी को उनके कारखानों पर थोप दिया गया था। ऐसी व्यवस्था में निर्मित उत्पाद विश्व बाजारों में प्रतिस्पर्धा करने की स्थिति में नहीं थे। चेक, हंगरीवासी, पोल और पूर्वी जर्मनी वासी लोग पश्चिमी देशों के नागरिकों को अपने आप से बेहतर स्तर का जीवन जीते हुए देखते थे। जैसे-जैसे 1970 और 1980 के दशक में समय आगे बढ़ा, इन देशों की अर्थव्यवस्थाएं चरमराने लगीं। युवाओं के बीच बेरोजगारी, जो कि प्रत्येक क्रांति के पीछे एक महत्त्वपूर्ण कारण होती है, एक क्रुद्ध पीढ़ी का निर्माण कर रही थी। यह जानते हुए कि उनके पास गंवाने के लिए कुछ, शेष नहीं है, उन्होंने विद्रोह करना शुरू कर दिया। इस प्रकार, 1989 के विद्रोह से पहले ही ईस्ट ब्लॉक में चारों ओर बेरोज़गारी फैली हुई थी।

चौथे, गोर्बाचेव का व्यक्तित्व भी निश्चित तौर पर साम्यवाद के पतन का एक कारण था। गोर्बाचेव जब सत्ता में आया तो उसे अफगान अभियान का बोझ विरासत में मिला जिसे उसके पूर्ववर्ती शासकों ने अपनी नासमझी के कारण अत्यधिक लंबे समय तक चलाया था। हजारों सोवियत युवा सैनिक ताबूतों में घर लौट रहे थे। इससे लोगों की नाराज़गी बढ़ रही थी। इसलिए जब ईस्ट ब्लॉक में सोवियत शैली का साम्यवाद समाप्त होने के खतरे से जूझ रहा था, तो गोर्बाचेव ने नज़र दूसरी ओर फेर ली। लोगों ने उसके इस रवैये का समर्थन किया क्योंकि वे युद्ध का नया दौर नहीं चाहते थे। लेकिन साम्यवादी पार्टी के कट्टरपंथियों को इस नीति से शिकायत थी और इसलिए उन्होंने गोर्बाचेव की हार सुनिश्चित करने के लिए योजना बनाना शुरू कर दिया।

पांचवां कारण यह था कि ईस्ट ब्लॉक के देशों के लोग साम्यवाद को एक घृणित व्यवस्था के रूप में देखते थे। साम्यवादी जीवन पद्धति, जिसमें धार्मिकता के लिए स्थान नहीं था, उनके स्वभाव के प्रतिकूल थी। 1970 के दशक में लोगों ने शासकों की अवज्ञा करते हुए उन चर्चों को बलपूर्वक खुलवा लिया जिन्हें स्टालिन के शासनकाल में बंद कर दिया गया था। युवा कैथोलिक बड़ी संख्या में पादरी बनने लगे। 1980 के दशक में उनकी आध्यात्मिक खोज उन्हें दूसरे धर्मों के संपर्क में लायी। ईस्ट ब्लॉक के अनेक देशों में अंतर्राष्ट्रीय कृष्ण भावना संघ (International Society for Krishna Consciousness-ISKCON) और आनंद मार्ग जैसे हिंदू संगठन बहुत लोकप्रिय हुए। आत्मचेतना व्यक्ति को बुराई से लड़ने की शक्ति देती है। साम्यवाद अब ऐसे लोगों की इच्छाशक्ति के सामने टिकने की स्थिति में नहीं था, जिन्होंने धर्म के माध्यम से स्वयं को पुनः खोज लिया था।

इसके अलावा, अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन, जो 1981 से लगातार दो बार राष्ट्रपति चुना गया था, साम्यवाद को समाप्त करने के लिए कृतसंकल्प था। उसने सोवियत संघ और ईस्ट ब्लॉक के खिलाफ एक आर्थिक युद्ध छेड़ दिया जिसके कारण साम्यवादी जगत में निर्मित वस्तुओं

का प्रतिस्पर्धा में टिक पाना मुश्किल हो गया। इस प्रयास में पश्चिम यूरोपीय देशों ने अमेरिका को पूरा सहयोग दिया। रीगन ने पोलैंड मूल के पोप जॉन पॉल द्वितीय का भी समर्थन हासिल कर लिया और पोप ने लोगों को धर्म तथा आध्यात्मिकता को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया।

सोवियत संघ की बारी

और अंततः विश्व के पहले साम्यवादी देश, सोवियत संघ में ही साम्यवाद का पतन बड़ी तेजी के साथ हुआ। विश्व-भर के स्वतंत्रताप्रिय लोगों ने बिना अधिक रक्तपात के इस व्यवस्था को समाप्त होते हुए देखा।

सोवियत संघ के पतन के कारण

राजनीतिक

प्रथमतः गोर्बाचेव द्वारा शुरू किए गए दूरगामी सुधारों के कारण सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभुत्व और उसे प्राप्त विशेष गारंटियां खत्म हो गई थीं। उसने जनवरी, 1987 में कम्युनिस्ट पार्टी में लोकतंत्र लागू करके इस प्रक्रिया की शुरुआत कर दी थी। वर्ष 1988 के दौरान दूरगामी प्रभाव वाले अनेक परिवर्तन किए गए। 1450 सदस्यों वाली पुरानी सुप्रीम सोवियत (संसद) के स्थान पर 2250 सदस्यों वाली कांग्रेस ऑफ पीपुल्स डेप्यूटीज़ की स्थापना की गई। इसका मुख्य कार्य केवल 450 सदस्यों वाली एक नई सुप्रीम सोवियत का चुनाव करना था। यह तय किया गया कि इस नई सुप्रीम सोवियत का अध्यक्ष ही राष्ट्राध्यक्ष होगा। दिसंबर 1989 में, कम्युनिस्ट पार्टी को प्राप्त गारंटियों को भी समाप्त करने का फैसला किया गया।

दूसरे, सोवियत संघ का युवा वर्ग इन सुधारों को अविलंब लागू किए जाने की मांग कर रहा था। उनका लोकप्रिय नेता बोरिस येल्त्सिन, गोर्बाचेव की तुलना में अधिक उग्र सुधारवादी नेता था। येल्त्सिन ने लोगों को पश्चिम के बाज़ारोन्मुखी शैली के लोकतंत्र की मांग करने के लिए उकसाया। गोर्बाचेव हालांकि इस विचार के खिलाफ नहीं था, लेकिन वह इस प्रक्रिया को धीमे किंतु सुचारू रूप से लागू करना चाहता था। इस संबंध में उसका सलाहकार यूगोर लिगाचेव था। इस बात को लेकर पार्टी में गंभीर मतभेद उभर आए।

तीसरे, उग्र सुधारवादियों में इस बात को लेकर कुंठा थी कि वे मई 1989 में, आयोजित की गई कांग्रेस ऑफ पीपुल्स डेप्यूटीज़ में पर्याप्त सीटें नहीं जुटा सके। स्वयं येल्त्सिन चुनाव हार गया। उसने अपना गुस्सा सड़कों पर उतारा और बड़े-बड़े विरोध प्रदर्शनों का आयोजन किया। विडंबना यह थी कि येल्त्सिन ने ग्लासनोस्त का लाभ उठाते हुए उसका प्रयोग स्वयं गोर्बाचेव के खिलाफ किया।

चौथा कारण यह था कि सोवियत संघ में शामिल गणराज्यों-जॉर्जिया, लिथुआनिया, उजबेकिस्तान तथा अन्य में असंतोष पनप रहा था। इनमें से अधिकांश पहले गौरवशाली स्वतंत्र राष्ट्र रह चुके थे, उदाहरण के तौर पर, लातविया, एस्टोनिया, लिथुआनिया और यूक्रेन में कई दशकों से सशक्त भूमिगत स्वतंत्रता समर्थक आंदोलन चल रहे थे। जैसे-जैसे ईस्ट ब्लॉक के देश साम्यवादी शिकंजे से मुक्त होते चले गए, यूक्रेन और लातविया तथा दूसरे गणराज्यों के लोग सोवियत संघ से अलग होने के लिए मास्को पर दबाव डालने लगे। संयोगवश, यह मांग सैद्धांतिक दृष्टि से स्वीकार्य थी। येल्त्सिन ने स्वतंत्र रूस के लिए आंदोलन का नेतृत्व किया, जो कि एक राजनीतिक इकाई के रूप में सोवियत संघ की संकल्पना के मूल पर ही प्रहार कर रहा था।

पांचवां कारण यह था कि अफगानिस्तान में सोवियत संघ की हार ने सोवियत संघ की अजेयता के मिथक को तोड़ दिया था। लोग अफगान मुजाहिदीन लड़ाकों की बहादुरी से प्रेरणा ले रहे थे। उन्हें यह बात समझ में आ गई थी कि एक बार चुनौती दिए जाने पर साम्यवादी व्यवस्था चरमराने लगती है। सोवियत लोगों की यह धारणा 1989 में ईस्ट ब्लॉक की घटनाओं के कारण और प्रबल हुई।

आर्थिक

प्रथमत:, गोर्बाचेव के आर्थिक सुधारों ने सोवियत संघ के लिए नई समस्याएं खड़ी कर दी थीं। आर्थिक विकास दर में कोई वृद्धि नहीं हुई। वर्ष 1990 में राष्ट्रीय आय में भारी गिरावट आयी और यह गिरावट 1991 में जारी रही। कुछ अर्थशास्त्री मानते हैं कि 1990 में पतन से पूर्व सोवियत संघ की आर्थिक स्थिति ठीक वैसी ही थी जैसी स्थिति महामंदी के वर्षों (1930 के दशक में) में अमेरिका की थी।

दूसरे, गोर्बाचेव ने मजदूरी को उत्पादन के सीधे अनुपात में रखते हुए सरकारी उद्यम संबंधी जो कानून पारित किया था, उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। चूंकि उत्पादन को रूबल में आंका जाता था और मजदूरी उत्पादन की कीमत के हिसाब से दी जाती थी, इसलिए कारखानों के मजदूरों ने दैनिक आवश्यकता की चीज़ों के स्थान पर केवल विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन शुरू कर दिया। इससे उन्हें अधिक मजदूरी मिलने लगी, लेकिन वे इस बढ़ी हुई मज़दूरी से कुछ भी खरीद सकने की स्थिति में नहीं थे। अधिकांश वस्तुओं की कमी थी। खाद्य वस्तुएं और आवश्यकता की दूसरी चीज़ें बेचने वाली दुकानों के सामने लंबी-लंबी कतारें लगने लगी थीं।

तीसरा कारण यह था कि सभी गणराज्यों में बड़े पैमाने पर हड़तालों का आयोजन किया जाने लगा। लोग खुल कर यह प्रश्न पूछ रहे थे कि उनका जीवन स्तर कब सुधरेगा। इन साम्यवादी देशों के लिए ये अनहोनी घटनाएं थीं। यह बात स्पष्ट हो गई थी कि इन घटनाओं ने पार्टी को घेर लिया था।

चौथा कारण यह था कि अमेरिका के साथ हथियारों की होड़ में दौड़ने का दबाव सोवियत संघ के लिए कठिन कार्य था। उसके पास इतना धन नहीं था कि वह हथियारों पर शोध के लिए इतनी बड़ी राशि खर्च कर सके। यूक्रेन और रूस के सैन्य उद्योग परिसर पुराने पड़ चुके थे और इन्हें चालू रखने के लिए बड़ी मात्रा में धनराशि खर्च करने की आवश्यकता थी।

पांचवां कारण यह था कि सोवियत संघ ने 1989 में अपने भीतरी प्रदेश, पूर्वी यूरोप को गंवा दिया था। इन देशों के साथ अधिमानी व्यापार समझौतों के कारण रूस लाभ की स्थिति में था, लेकिन ईस्ट ब्लॉक की स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदल गई। इसके अलावा, भारत जैसे मित्र देश सोवियत संघ को ऐसी विशेष सुविधाएं देते थे जिनसे वह बड़े पैमाने पर डॉलरों में लाभ कमाता था (सोवियत लोग भारतीय चाय को रुपए में खरीदते थे लेकिन उसे लाभप्रद बाज़ार में डॉलर में बेचते थे)। लेकिन इन मित्र देशों ने भी 1990 के दशक के आरंभिक वर्षों में अपनी अर्थव्यवस्था में सुधार करने शुरू कर दिए थे।
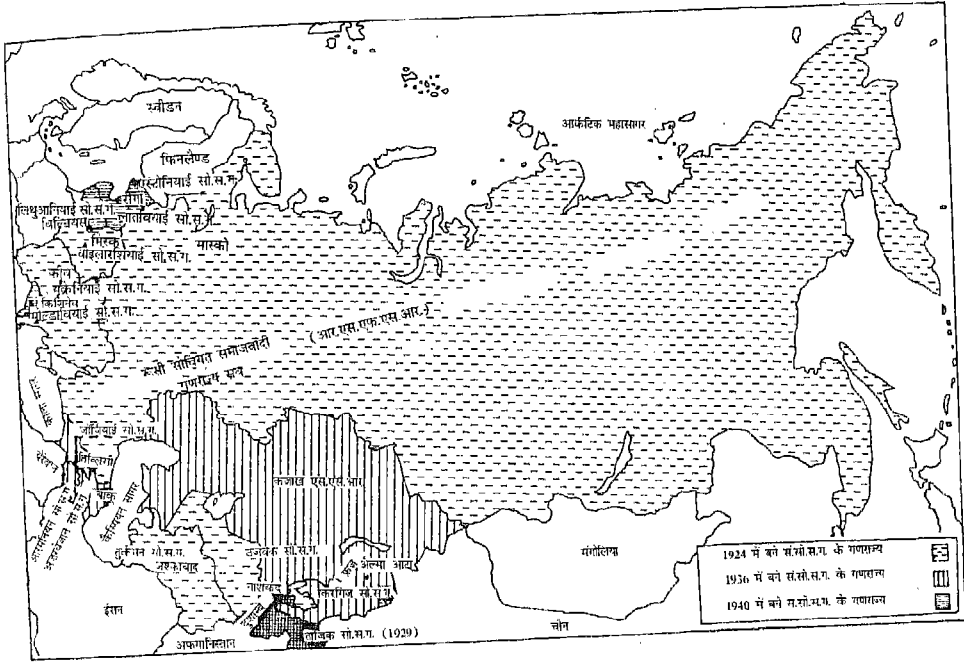
1991 में विघटन से पूर्व सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ

अगस्त, 1991 में सत्ता परिवर्तन का प्रयास

हम देख चुके हैं कि गोर्बाचेव किस प्रकार एक ओर येल्त्सिन के नेतृत्व में परिवर्तनवादियों और दूसरी ओर लिगाचेव के नेतृत्व वाले अनुदारवादियों की मांगों के बीच फंसा हुआ था। जुलाई 1990 तक, बहुत-से सोवियत गणराज्यों ने स्वतंत्रता की मांग शुरू कर दी थी। लातविया और लिथुआनिया में बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन हुए। जॉर्जिया ने अपनी स्वतंत्रता की एकतरफा घोषणा कर दी। गोर्बाचेव इन विद्रोहों को कुचलने के लिए सेना का प्रयोग किए जाने के खिलाफ था। उसने 15 सोवियत गणराज्यों के नेताओं की एक बैठक आयोजित की जिसमें उन्हें इस बात पर राजी करने का प्रयास किया गया कि वे एक ऐसा स्वैच्छिक संगठन बनाएं जिसमें उन्हें और अधिक स्वायत्तता दी जा सके। ये गणराज्य 20 अगस्त, 1991 को एक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए सहमत हो गए।

उपराष्ट्रपति गेन्नदी यानायेव ने इसे रोकने के लिए एक चाल सोची। 18 अगस्त को जब गोर्बाचेव क्रीमिया में छुट्टियां बिता रहा था, तो उसे बंदूक की नोक पर त्यागपत्र देने के लिए कहा गया। जब गोर्बाचेव ने ऐसा करने से इनकार कर दिया तो षड्यंत्रकारियों ने उसे बंधक बना लिया और टैंकों और सैनिकों को मास्को में तैनात कर दिया। लोगों को बताया गया कि गोर्बाचेव अस्वस्थ है और एक

नई समिति ने कार्यभार ग्रहण कर लिया है। इस समिति ने आपातकाल की घोषणा करते हुए प्रदर्शनों पर प्रतिबंध लगा दिया और लोगों को सेना और टैंकों की सहायता से डराने का प्रयास किया।

लेकिन, इस आकस्मिक शासन परिवर्तन के नेताओं ने लोगों की शक्ति का कम आकलन किया था। इसके अलावा उन्होंने अपनी योजना जल्दबाज़ी में तैयार की थी क्योंकि वे किसी भी कीमत पर 20 अगस्त को गणराज्यों के साथ की जाने वाली संधि पर हस्ताक्षर नहीं होने देना चाहते थे। उन्होंने येल्त्सिन की गिरफ्तारी पर विचार नहीं किया। इससे रूसी राष्ट्रपति को मास्को में व्हाइट हाउस (संसद भवन) जाकर एक बड़ी भीड़ जुटाने का मौका मिल गया। तख्तापलट के नेताओं को चुनौती के रूप में वह सड़कों पर घूमा और एक टैंक पर भी चढ़ गया। सैनिकों ने उस पर गोली चलाने की हिम्मत नहीं दिखायी। येल्त्सिन प्रतिरोध का प्रतीक बन गया। सैनिकों ने भी निर्दोष लोगों पर गोली चलाने के आदेश को मानने से इनकार कर दिया।

कुछ दिनों तक अफरातफरी की स्थिति बनी रही। शुरू-शुरू में कट्टरपंथी साम्यवादी बहुत प्रसन्न हुए। दुनिया भर में सोवियत राजनयिक मिशनों में गोर्बाचेव के चित्रों को हटा दिया गया और ग्लासनोस्त तथा पैरेस्त्रोइका संबंधी पुस्तकों और पुस्तिकाओं को आनन-फानन में नष्ट कर दिया गया । सरकारी इमारतों में लेनिन और स्टालिन के चित्र अचानक दिखाई देने लगे। इस घटनाक्रम पर अपनी टिप्पणी करते हुए भारत के एक प्रमुख अंग्रेजी दैनिक ने 'डान्स ऑफ फॉसिल्स' (जीवाश्मों का नाच) शीर्षक से एक संपादकीय लेख प्रकाशित किया।

21 अगस्त को तख्तापलट के नेताओं ने हार मान ली। ऐसी स्थिति में जब लाखों लोग, वह भी शांतिपूर्ण तरीके से, टैंकों को घेरे हुए थे, स्थिति पर काबू पाना असंभव था। उन्होंने येल्त्सिन के सामने आत्मसमर्पण कर दिया और येल्त्सिन ने उन्हें तुरंत गिरफ्तार करवा लिया। तख्तापलट के शीर्ष नेताओं में से चार को बाद में मृत्युदंड दिया गया, लेकिन उनकी सज़ा की पुष्टि होने से पहले ही सोवियत संघ का पतन हो गया। गोर्बाचेव वापस मास्को लौट आया।

यह तख्तापलट अंतिम आघात साबित हुआ। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी पूरी तरह कलंकित हो चुकी थी। गोर्बाचेव ने पार्टी के महासचिव के पद से त्यागपत्र दे दिया और येल्त्सिन ने उसे रूसी संघ में प्रतिबंधित कर दिया। इसके बाद गोर्बाचेव और येल्त्सिन के संबंधों में और कड़वाहट आयी। येल्त्सिन ने रूस की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और दूसरे गणराज्यों को भी ऐसा करने के लिए प्रेरित किया। 1 दिसंबर, 1991 को यूक्रेन ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। इसके बाद यह बात स्पष्ट हो गई कि सोवियत संघ (USSR) पूरी तरह से खत्म हो चुका था। वर्ष 1991 में क्रिसमस के दिन गोर्बाचेव ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

अभ्यास

1. सत्ता में निकिता ख्रुश्चेव के बढ़ते प्रभाव पर टिप्पणी कीजिए। उसने सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था और जीवन स्तर को सुधारने के लिए क्या प्रयास किए?
2. सोवियत संघ और चीन के बीच उत्पन्न हुए मतभेदों के क्या कारण थे? इन मतभेदों के क्या प्रभाव हुए?
3. मिखाइल गोर्बाचेव के सुधारों का मूल्यांकन कीजिए। उसके द्वारा किए गए विभिन्न सुधारों के बावजूद रूसी अर्थव्यवस्था में गिरावट क्यों आयी?
4. उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जो 1989 में जर्मनी के पुनः एकीकरण का कारण बनीं।
5. पूर्वी यूरोप में साम्यवाद की विफलता के कारणों का उल्लेख कीजिए। इस विफलता ने सोवियत संघ के पतन में किस प्रकार योगदान दिया?
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
   (i) हंगरी तथा पोलैंड का साम्यवाद विरोधी आंदोलन
   (ii) ख्रुश्चेव का पतन
   (iii) चेकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप
   (iv) ग्लासनोस्त तथा पेरेस्त्रोइका
   (v) अगस्त, 1991 का असफल तख्तापलट

परियोजना कार्य

- विश्व भर के विभिन्न देशों में साम्यवाद के पतन के संबंध में और अधिक जानकारी एकत्र कीजिए और इसके विभिन्न प्रभावों पर एक सामूहिक चर्चा आयोजित कीजिए।

अध्याय 14

समकालीन विश्व में राज्यव्यवस्था और अर्थव्यवस्था

मानवजाति के इतिहास में 20वीं शताब्दी एक विरोधाभास थी। यह शताब्दी कुछ देशों के लिए अभूतपूर्व समृद्धि की अवधि थी, किंतु अधिकांश देशों के लिए यह पिसने वाली गरीबी का दौर रही। व्यापार और उद्योग में मंदी और गिरावट की स्थिति इस शताब्दी के इतिहास की विशेषता रही। किंतु इसके बावजूद अमीर और अधिक अमीर हो गया और गरीब और अधिक गरीब होता चला गया। इस शताब्दी के आरंभ में, यूरोप की बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों ने विश्व में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित रखा। किंतु 50 वर्षों के भीतर ये साम्राज्य नष्ट हो गए और विश्व दो महाशक्तियों के बीच विभाजित हो गया। इन महाशक्तियों की ताकत उपनिवेशों को अधिग्रहण करने में निहित नहीं थी बल्कि परमाणु हथियारों पर इनके नियंत्रण और स्वतंत्र देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर इनके प्रभुत्व पर आधारित थी। संयुक्त राज्य अमेरिका जो कि अपेक्षाकृत एक 'युवा' देश था और जिसका इतिहास मुश्किल से 250 से भी कम वर्षों का था, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अकेले सबसे बड़ी आर्थिक ताकत के रूप में उभरा और फिर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तो यह संपूर्ण पश्चिमी जगत में सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक और आर्थिक ताकत के रूप में सामने आया। फिर शीत युद्ध के बाद यह विश्व की अकेली महाशक्ति के रूप में बचा रहा और अनेक देशों की निर्णय लेने की प्रक्रियाओं पर इसका जबरदस्त प्रभाव रहा।

1900 से अब तक विश्व की अर्थव्यवस्था

19वीं सदी की समाप्ति पर 'भूमंडलीकरण' की संकल्पना पूरे विश्व में फलने-फूलने लगी। कुछ अत्यधिक औद्योगीकृत देश जिनमें अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस शामिल थे, विश्व को अधिकांश निर्मित वस्तुएं उपलब्ध कराते थे जबकि एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के देश उनके लिए

कच्चा माल पैदा करते थे। विश्व को उसके अलग-अलग प्रभाव-क्षेत्रों में बांटा गया था। अमेरिका के लिए लातिन अमेरिका, और ब्रिटेन तथा फ्रांस के लिए क्रमशः एशिया और अफ्रीका उनके प्रभाव के क्षेत्र थे। औपनिवेशिक शक्तियां ही यह तय करती थीं कि कौन-सी फसलें कहां उगाई जानी चाहिए। ब्रिटेन ने यह सुनिश्चित किया कि युगांडा और सूडान उसके वस्त्र उद्योग के लिए कपास की खेती करेंगे और पुर्तगालियों ने भी मोज़ाम्बीक में ऐसा ही किया। अन्य उपनिवेशवादी देश भी अपने उपनिवेश में ऐसा ही कर रहे थे। उपनिवेशों में स्थानीय किसानों की मूल्य-निर्धारण में कोई भूमिका नहीं होती थी क्योंकि मूल्य अनिवार्यतः क्रेता के हितों के अनुकूल ही तय किए जाते थे।

अमेरिका के उदय के बाद विश्व की अर्थव्यवस्था का पलड़ा अमेरिका के पक्ष में झुक गया। 1900 तक अमेरिका ने कोयले, लोहे और इस्पात का इतना उत्पादन किया जो ब्रिटेन के उत्पादन से दोगुना था। द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ होने के समय अमेरिका में आय-स्तर ब्रिटेन के आय-स्तरों से दोगुने और सोवियत संघ के आय-स्तरों से सात गुने अधिक थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिका ने 'पुराने विश्व' की सभी अग्रणी अर्थव्यवस्थाओं को बहुत पीछे छोड़ दिया।

मुक्त व्यापार की ओर बढ़ते कदम

प्रथम विश्वयुद्ध ने विश्व में उपभोक्ता सामग्री की सामान्य आपूर्ति को बाधित किया। अनेक देश जो सीधे यूरोप से आयात करते थे उन्हें विवश होकर नए पूर्तिकर्ता अमेरिका का सहारा लेना पड़ा क्योंकि व्यापारिक पोतों की आवाजाही में जर्मन पनडुब्बियों के हमले की आशंका के कारण रुकावटें आ गई थीं। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत ब्रिटेन और फ्रांस में पूंजी की गंभीर कमी पड़ गई और जर्मनी के विध्वंस ने भी विश्व संभरक के रूप में अमेरिका का वर्चस्व सुनिश्चित कर दिया था। यह बात छिपी हुई नहीं है कि अगर युद्ध से किसी देश को सर्वाधिक लाभ हुआ था तो वह अमेरिका था।

यूरोप की विजेता शक्तियों ने अपने शस्त्रास्त्रों एवं युद्ध संबंधी प्रयत्नों की वित्त व्यवस्था के लिए अमेरिका से भारी कर्ज लिया था। इन कर्जों के ब्याज ने तंगहाली से उबर कर वापस युद्ध-पूर्व स्तरों पर आने की गति को धीमा कर दिया। अमेरिकियों ने इस पैसे का उपयोग 1920 के दशक में जर्मनी के पुनरुत्थान में अत्यधिक निवेश के रूप में किया। यूरोप और अमेरिका की अर्थव्यवस्थाओं के बीच परिणामी संपर्क का महामंदी के दौर में, दुनिया भर में विनाशकारी प्रभाव पड़ा। महामंदी के चरम दौर में अमेरिका में 2.5 करोड़ लोग बेरोजगार थे और यूरोप, अफ्रीका और एशिया में बेरोजगारों की संख्या 5 करोड़ से भी अधिक थी। द्वितीय विश्वयुद्ध में अमेरिका ने देर से प्रवेश किया। युद्ध के प्रथम दो वर्षों के दौरान अमेरिकी कंपनियों ने ब्रिटेन को खाद्य पदार्थों, अनिवार्य वस्तुओं और रक्षा उपकरणों की बिक्री करके अत्यधिक मुनाफा कमाया। फिर युद्ध में प्रवेश करने के बाद अमेरिका की अर्थव्यवस्था का कई गुना विस्तार हो गया। अमेरिका में प्रत्येक क्षेत्र में उछाल आ गया। युद्ध के बाद यूरोपीय अर्थव्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न हो गईं। अमेरिका के पास उस समय इतनी ज्यादा अधिशेष नकदी थी कि उसने उसका प्रयोग मार्शल योजना के माध्यम

से यूरोप में अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने के लिए किया। अमेरिका ने यह सोचा कि जब यूरोप पुनर्संगठित और पुनर्जीवित हो जाएगा तो वह अमेरिकी उत्पादों के लिए एक बहुत बड़ा बाजार साबित होगा। इससे पश्चिमी यूरोप को साम्यवादी प्रभाव में आने से भी रोका जा सकेगा।

अमेरिकी प्रोत्साहन ने पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों को आर्थिक एकता की दिशा में पहला कदम उठाने के लिए प्रेरित किया। मार्शल योजना के अंतर्गत यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन की स्थापना की गई। इस निकाय ने पश्चिमी यूरोप के देशों के बीच साझा योजना और सहयोग के बीज डाले और उन्हें आर्थिक राष्ट्रवाद का सहारा लेने के लिए निरुत्साहित किया। इसी समय 'नाटो' के साथ हुए ऐसे ही अनुभव से पश्चिमी यूरोप के देशों को एक नया अनुभव हुआ कि वे एक-दूसरे के साथ मिल कर काम करना सीख गए और उन्होंने यह पाया कि युद्ध की अपेक्षा शांति अधिक लाभकारी होती है। तो सबसे पहले हम यह देखेंगे कि यूरोप की आर्थिक एकता का मार्ग कैसे प्रशस्त हुआ।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय

फ्रांस का विदेश मंत्री राबर्ट शूमैन (1886-1963) पहला ऐसा व्यक्ति था जिसने यूरोपीय अर्थव्यवस्था के लिए उसके अलग-अलग क्षेत्रों (Sectors) की एकता की पेशकश की थी। शूमैन ने अन्य यूरोपीय देशों को भी इस बात के लिए तैयार कर लिया कि उनके देशों में इस्पात और कोयले के उत्पादन को समेकित एवं सहकारी आधार पर संगठित किया जाना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप 1951 में फ्रांस, नवसृजित पश्चिमी जर्मनी, इटली और 'बेनेलक्स' देशों (बेल्जियम, हालैंड और लक्जमबर्ग) ने यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय का संगठन किया। इसकी गतिविधियां औद्योगिक कार्यकलापों के क्षेत्र तक ही सीमित थीं। किंतु इसकी सफलता ने अन्य सभी उद्योगों को प्रेरित किया। सहयोग की भावना के कारण 1955 में कोयले का उत्पादन 23 प्रतिशत और लोहे तथा इस्पात का उत्पादन लगभग 150 प्रतिशत बढ़ गया। इसकी सफलता ने इन देशों की सरकारों को इस प्रयोग को अन्य क्षेत्रों में भी आजमाने के लिए उत्साहित किया।

1957 में रोम संधि के माध्यम से यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय के 6 सदस्य एक नया संगठन बनाने पर सहमत हो गए जिसे यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community-EEC) कहा गया। यह 'कॉमन मार्केट' यानी साझा मंडी के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसने पूंजी और श्रम के मुक्त प्रवाह की संकल्पना को बढ़ावा दिया, एक-दूसरे के माल तथा वस्तुओं पर सीमा-शुल्क समाप्त करने की दिशा में कार्य किया और मजदूरी तथा सामाजिक लाभों के बीच एक संतुलन स्थापित किया। ई.ई.सी. की प्रमुख संस्थाएं थीं : विदेश मंत्रियों की परिषद् और एक हाई कमीशन यानी उच्चायोग जिसमें प्रौद्योगिकीय विशेषज्ञ शामिल थे।

1968 तक इस साझा मंडी के सभी 6 मूल सदस्यों के बीच प्रशुल्क (Tarrif) संबंधी समस्त सीमाएं हटा दी गईं। धीरे-धीरे सदस्य देशों के बीच व्यापार और श्रम का अंतरण विकसित होने लगा। शनैः शनैः अन्य देश भी इस उदाहरण का अनुकरण करने लगे। ब्रिटेन, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, स्विट्जरलैंड, ऑस्ट्रिया और पुर्तगाल ने यूरोपीय मुक्त व्यापार क्षेत्र (European Free Trade Area-EFTA) का निर्माण किया। ब्रिटेन से भी

यूरोपीय आर्थिक समुदाय का सदस्य बनने के लिए अनेक बार अनुरोध किया गया, लेकिन ब्रिटेन ने आरंभ में इन अनुरोधों को ठुकरा दिया, किंतु 1961 में वह इसके लिए तैयार होने लगा। हालांकि फ्रांस इस पक्ष में नहीं था कि ब्रिटेन इसका सदस्य बने फिर भी 1973 में आयरलैंड और डेनमार्क के साथ-साथ ब्रिटेन भी इसका सदस्य बन गया।

इसके बाद ई.ई.सी. ने आगे और एकीकरण पर बातचीत आरंभ की जिसमें यूरोप के लिए साझी मुद्रा (Common Currency) अपनाने का प्रस्ताव भी शामिल था। इससे आरंभ में अनेक असहमतियां उत्पन्न हुईं क्योंकि ब्रिटेन, नार्वे और स्वीडन जैसे कुछ यूरोपीय देशों ने यह महसूस किया कि इससे उनकी अपनी अर्थव्यवस्थाओं की शक्ति कम हो जाएगी। अंतत: 1988 में एक व्यापक समझौता यूरोप को एक ऐसे मुक्त व्यापार क्षेत्र में बदलने के पक्ष में हुआ जिसमें 1992 तक शेष सभी व्यापार अवरोध समाप्त कर दिए जाएंगे। 1991 में मास्ट्रिक संधि ने अनेक विशिष्ट सिफारिशें कीं जिनसे एक सशक्त केंद्रीय बैंक और एक समेकित करेंसी या मुद्रा के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो गया। प्रत्येक सदस्य देश की संसद को इस संधि का अनुमोदन करने में सात वर्ष का समय और लग गया। अंतत: वर्ष 2000 में 'यूरो' के रूप में यूरोप की एक साझी मुद्रा सामने आई। इस समय केवल ब्रिटेन की ही अपनी अलग मुद्रा (पौंड) है।

यूरोपीय संघ (European Union-EU) जो कि ई.ई.सी. का उत्तराधिकारी है, विश्व का पहला ऐसा प्रयोग है जिसमें आर्थिक प्रगति के लिए विभिन्न राष्ट्र परस्पर घनिष्ठ सहयोग से कार्य कर रहे हैं। यह पहला व्यापारिक खेमा (Trade Block) था जिसमें सदस्य देश आपस में समानता का व्यवहार करते थे; उन्होंने अपने बीच के समस्त व्यापार अवरोधों को दूर किया और एक-दूसरे के संसाधनों से शक्ति प्राप्त की। इस प्रयोग का अनुकरण पूरे विश्व में किया गया है और इसमें मिलने वाली सफलता की मात्रा भिन्न-भिन्न रही है। इसने भौगोलिक समीपता और सामान्य आर्थिक हितों के अनुसार देशों को आपस में गठजोड़ करने को प्रेरित किया, जैसे-उत्तर अमेरिका मुक्त व्यापार संघ, खाड़ी समन्वय परिषद्, दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्रों का संघ आदि। दुर्भाग्यवश, दक्षिण एशिया, जिसमें विश्व की आबादी का लगभग 2/5 भाग रहता है और जिसमें भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बांग्लादेश, नेपाल, भूटान और मालदीव स्थित हैं, दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (सार्क) के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका है। हालांकि 'सार्क' दो दशकों से भी अधिक समय से अस्तित्व में है फिर भी वह इस क्षेत्र को एक साझा बाजार के रूप में एकीकृत करने के अपने संस्थापकों के सपने को अभी तक साकार नहीं कर पाया है। इस दिशा में भारत के प्रति पाकिस्तान की शत्रुता को अकेली सबसे बड़ी बाधा माना जा सकता है।

विश्व व्यापार संगठन (WTO)

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत विश्व की प्रमुख शक्तियों ने व्यापार अवरोधों को कम करने और विवादों को निपटाने के लिए अनेक नियमों पर वार्ता आरंभ की। इन नियमों को व्यापार और प्रशुल्क संबंधी सामान्य समझौता (General Agreement on Trade and Tarrif-GATT) कहा गया। गैट्ट के प्रशासन का निरीक्षण करने के लिए स्विट्जरलैंड

में जेनेवा में इसका मुख्यालय स्थापित किया गया। गैट्ट के अंतर्गत समय-समय पर बहुपक्षीय व्यापार वार्ताओं के दौर आयोजित किए गए। आठवां दौर, जो उरुग्वे में पुंटा डेल एस्टे में 1986 में शुरू हुआ, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। इसे उरुग्वे दौर कहा गया। यह 15 दिसंबर 1993 तक चला और इसमें 117 देशों ने भाग लिया। अंततः जिस व्यापार उदारीकरण समझौते पर हस्ताक्षर किए गए, वह अब तक का सर्वाधिक व्यापक समझौता है और उसमें विश्व समुदाय के समस्त सरोकारों पर ध्यान देने के लिए सूक्ष्म ब्योरे भी शामिल हैं।

उरुग्वे दौर के दौरान विश्व के सबसे बड़े व्यापारिक देशों और नवस्वतंत्र राष्ट्रों के बीच अनेक विवाद उठ खड़े हुए। इससे 'उत्तर' (विकसित विश्व) 'दक्षिण' (विकासशील देशों) के विरुद्ध खड़ा हो गया। गंभीर चर्चा के लिए जो कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे सामने आए वे इस प्रकार हैं :

- *आर्थिक सहायता* : क्या किसी सरकार को किसी खास उत्पाद या वस्तु के निर्माण या उत्पादन पर आर्थिक सहायता (Subsidies) देने का अधिकार है और इस प्रकार किसी देश-विशेष के उत्पाद को उस अन्य देश के उत्पाद से सस्ता बनाने का अधिकार है कि जिस देश ने उस उत्पाद पर आर्थिक सहायता नहीं दी है? यह मुद्दा केवल उन गरीब देशों के लिए ही नहीं था जिन्हें अपने उद्योगों को सक्षम बनाने के लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी, बल्कि यह अमीर देशों के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था। उदाहरण के लिए, यूरोप के कृषि क्षेत्र को उनकी सरकारों से विशाल आर्थिक सहायता मिलती है। किंतु अमेरिका ने इसका यह कह कर विरोध किया कि जब तक यूरोपीय सरकारें अपनी आर्थिक सहायता कम नहीं कर देतीं तब तक अमेरिकी कृषि उत्पाद विश्व बाजार में प्रतिस्पर्धी नहीं बन सकेंगे। इस विशेष बहस ने गैट्ट प्रक्रिया को लगभग नष्ट ही कर दिया था। किंतु अंततः समझौता हुआ। गरीब देशों को निश्चित सीमा तक अपनी आर्थिक सहायता जारी रखने की अनुमति दे दी गई। तथापि, सरकारें अभी भी गुप्त रूप से निर्धारित सीमा से अधिक आर्थिक सहायता दिए जा रही हैं।
- *पेटेंट* : विकसित देशों में कतिपय उत्पादों के निर्माताओं द्वारा अपने उत्पादों पर एकाधिपत्य की मांग करना क्या इस आधार पर नैतिक रूप से उचित है कि उस आविष्कार का पंजीकरण मूल रूप से उस देश में हुआ था? इस बहस ने भूमंडलीय मुक्त व्यापार व्यवस्था की नींव को ही हिला कर रख दिया। कारण यह था कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के एक समूह ने यह मांग की थी कि पेटेंटशुदा वस्तुओं का व्यापार राष्ट्रीय कंपनियों को न करने दिया जाए क्योंकि इन राष्ट्रीय कंपनियों ने पेटेंटशुदा उत्पादों की निर्माण प्रक्रियाओं की नकल की है। यह एक अत्यधिक संवेदनशील मुद्दा है क्योंकि अनेक औषधियां और दवाइयां विकासशील देशों में उन कंपनियों द्वारा सस्ते दामों पर निर्मित की जाती हैं और बेची जाती हैं जिन्होंने इन पेटेंटशुदा उत्पादों की निर्माण प्रक्रियाओं की नकल की है। यदि विकसित देशों का इन पर एकाधिकार हो जाता है तो ये जीवनरक्षक दवाएं विकासशील देशों के उपभोक्ताओं के लिए इतनी महंगी हो जाएंगी कि उन्हें खरीदना मुश्किल हो जाएगा।

कोटे : अनेक गरीब देश विदेशी मुद्रा के अर्जन के लिए कोटों पर, खास कर टेक्सटाइल (कपड़े) के क्षेत्र में निर्भर रहते हैं। बहु-रेशा करार (Multi-Fibre Agreement-MFA) के अंतर्गत अमीर देश, गरीब देशों के लिए विशेष कोटे आवंटित कर उन्हें प्रत्येक वर्ष कुछ न्यूनतम आयात का आश्वासन देते हैं। इससे गरीब देशों को बहुत मदद मिलती है। किंतु अमीर देशों में इन्हीं उत्पादों के निर्माता यह तर्क देते हैं कि यह कोटा प्रणाली तो मुक्त व्यापार के प्रयोजन को ही समाप्त कर देगी। अंतत: कटु बहस के बाद यह निर्णय किया गया कि एम.एफ.ए. 2005 तक जारी रहेगा।

विवाद का समाधान : मुक्त व्यापार के लिए निरपवाद रूप से मध्यस्थ की आवश्यकता होती है। पहले न्यायालयों में मंहगे और समय नष्ट करने वाले मुकदमे चलते थे। उरुग्वे दौर ने विश्व व्यापार संगठन के भीतर ही एक पारदर्शी विवाद समाधान निकाय की स्थापना कर दी जिसमें किसी भी अन्य देश की व्यापार नीति से पीड़ित कोई भी देश, जिसके उत्पादों पर उस देश ने प्रतिबंध लगा दिया है, विवाद का त्वरित समाधान करा सकता है।

गैर-प्रशुल्क अवरोध : गैट्ट प्रक्रिया के दौरान पर्यावरण और श्रम जैसे अनेक मुद्दे विवाद का कारण बने। 'उत्तर' की अनेक सरकारों ने यह तर्क दिया कि 'उत्तर' के श्रमिकों को 'दक्षिण' के मजदूरों की तुलना में कई गुना मजदूरी देनी होती है। इससे 'उत्तर' में उत्पादन लागत बढ़ जाता है और बाजार में इसके अनेक उत्पाद प्रतिस्पर्धात्मक नहीं रह पाते। अत: उन्होंने श्रम मानकों में समानता लाने की दलील दी। गरीब देशों ने इसका विरोध किया क्योंकि उनकी घरेलू आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे इन मांगों को पूरा कर सकें। दूसरी बात यह थी कि कुछ 'उत्तरी' सरकारों ने इस बात की ओर संकेत किया था कि 'दक्षिण' में उत्पादन प्रक्रियाएं अपेक्षाकृत अधिक उन्नत नहीं हैं और इनसे प्राय: पर्यावरण को नुकसान पहुंचता है। अत: उन्होंने यह तर्क दिया कि पर्यावरण की दृष्टि से 'असुरक्षित' समझी जाने वाली प्रणालियों के माध्यम से निर्मित उत्पाद प्रतिबंधित किए जाने चाहिए। 'दक्षिण' ने यह तर्क दिया कि 'उत्तर' पर्यावरण की रक्षा का बहाना अपने उद्योगों को बचाने के लिए कर रहा है। हालांकि उरुग्वे दौर ने इस पहलू पर विचार करने से मना कर दिया किंतु यह मुद्दा अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है।

- *अतिस्वीकारात्मक राष्ट्र का दर्जा* : उरुग्वे दौर में यह निर्णय किया गया कि विश्व व्यापार संगठन के सभी सदस्य देश एक-दूसरे को अतिस्वीकारात्मक राष्ट्र (Most Favoured Nation-MFN) का दर्जा प्रदान करेंगे। वे एक-दूसरे के विरुद्ध भेदभाव नहीं बरतेंगे। लेकिन समस्या तब उठ खड़ी हुई जब यह देखा गया कि अनेक देश पहले से ही बड़े या छोटे क्षेत्रीय व्यापार गुटों, जैसे-ई.ई.सी., एन.ए.एफ.टी.ए., जी.सी.सी., ए.एस.ई.ए.एन. आदि के सदस्य हैं। इन समझौतों के तहत ये पहले ही अपने पड़ोसी को अधिमान्यतापूर्ण व्यापार अधिकार देने के लिए वचनबद्ध हैं। यह विरोधाभास अभी भी विश्व व्यापार

संगठन के भीतर विवाद पैदा करता रहता है। गैट्ट का नाम बाद में बदल कर डब्ल्यू.टी.ओ. या विश्व व्यापार संगठन कर दिया गया। इसने आधिकारिक तौर पर अपना कार्यकाल 1 जनवरी 1995 से शुरू कर दिया। यह व्यापार समझौतों और संधियों का प्रशासन करता है और सदस्य देशों की व्यापार नीतियों की जांच करता है, विभिन्न व्यापार उपायों और आंकड़ों की खोज-खबर रखता है और व्यापार-विवाद निपटाता है।

औद्योगीकरण और उत्तर-दक्षिण का विभाजन

1950 के दशक के दौरान 'तीसरी दुनिया' शब्द का ऐसे देशों के संबंध में व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा जो न तो अत्यधिक औद्योगीकृत पश्चिम के और न ही तेजी से औद्योगीकृत हो रहे साम्यवादी गुट का भाग थे। ये नव-स्वतंत्र देश थे जो पहले वैश्विक आर्थिक धाराओं से अलग-थलग रहे थे। 1970 तक तीसरी दुनिया के देशों में अधिकतर अफ्रीका, एशिया और लातिन अमेरिका के देश ही शामिल थे।

विश्व की 70 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या 'तीसरी दुनिया' में रहती है। किंतु तीसरी दुनिया के लोग विश्व के समस्त आहार का 30 प्रतिशत से भी कम भाग अपने उपभोग में लाते हैं। अमेरिका, जहां विश्व की आबादी का 10 प्रतिशत से भी कम हिस्सा रहता है, अकेले समस्त विश्व के कृषि उत्पादन के 40 प्रतिशत भाग का उपभोग करता है। 1970 के दशक से विश्व के नेता विश्व के इस भाग की समस्याओं को हल करने में लगे हैं। 1980 में पश्चिम जर्मनी के चांसलर विली ब्रांड्ट और ब्रिटेन के पूर्व प्रधानमंत्री एडवर्ड हीथ ने ब्रांड्ट रिपोर्ट पेश की जिसमें अमीर-गरीब के विभाजन की समस्या पर विस्तार से चर्चा की गई थी। इसने पहली-दूसरी-तीसरी दुनिया की संकल्पना को खारिज कर दिया और विश्व को दो भागों में बांट दिया। 'उत्तरी' भाग में उत्तरी अमेरिका, यूरोप, पूर्व सोवियत संघ, जापान, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड जैसे विकसित औद्योगिक राष्ट्र थे और 'दक्षिणी' भाग में तीसरी दुनिया के देश।

इस रिपोर्ट ने उस बात की पुष्टि कर दी जिसे लोग बहुत लंबे समय से कह रहे थे। 'उत्तर' अमीर से अमीरतर हो रहा है और दक्षिण गरीब से गरीबतर होता जा रहा है। 1989-90 में उत्तर का सकल राष्ट्रीय उत्पाद दक्षिण के सकल राष्ट्रीय उत्पाद से 24 गुना अधिक पाया गया।

दक्षिण में अनेक देशों का उनके पूर्व औपनिवेशिक शासकों द्वारा अभी भी, नव-उपनिवेशवाद के रूप में, शोषण चल रहा है। अफ्रीकी देश, खास तौर पर इस शोषण के शिकार हैं। वे अभी भी पूर्व साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा आरंभ की गई एक उत्पाद वाली अर्थव्यवस्था पर आश्रित हैं। उदाहरण के लिए, घाना अभी भी कोको पर और जाम्बिया तांबे पर निर्भर है। इन संसाधनों के निर्यात से वे जो पैसा कमाते हैं वह पैसा उन्हें अन्य अनिवार्य उत्पाद और उपभोक्ता सामग्री खरीदने में मदद करता है। इसलिए उनके मुख्य उत्पाद के विश्व-मूल्य में गिरावट आने से उनकी घरेलू अर्थव्यवस्था ढह जाती है।

दक्षिणी राष्ट्रों का निर्यात विभिन्न कारणों से घटता-बढ़ता रहता है, उत्तर के निर्मित उत्पाद लगातार बढ़ते जाते हैं। इससे दक्षिण निरंतर ऋणग्रस्त रहता है क्योंकि उत्तरी उत्पाद खरीदने के लिए उसे उत्तर से हमेशा पैसा उधार लेना पड़ता है।

दक्षिण को इन ऋणों पर ब्याज भी देना पड़ता है। विश्व बैंक के अनुमानों के अनुसार, दक्षिण का कुल ऋण भार लगभग 900 अरब अमेरिकी डालर है। कुछ देशों को तो मूल ऋण का ब्याज चुकाने के लिए भी ऋण लेना पड़ता है।

दक्षिण की विशेष समस्याएं

दक्षिणी विश्व अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है। सबसे बड़ी समस्या है जनसंख्या वृद्धि की तीव्र दर। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक वर्ष भूखे पेटों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत, उत्तर में जनसंख्या वृद्धि नगण्य है। अनेक दक्षिणी देश ऐसे अंतहीन झगड़ों से दुखी हैं जो उनके आर्थिक विकास को बाधित कर रहे हैं। जिस पैसे का उपयोग मानव विकास के लिए किया जाना चाहिए वह पैसा सैनिक साजो-समान पर नष्ट हो रहा है। कुछ सबसे बुरे संघर्ष इथियोपिया, इरीट्रिया, निकारागुआ, ग्वाटेमाला, लेबनान, कांगो, सूडान, लिबेरिया आदि में देखने को मिले। अनेक दक्षिणी देश अनिश्चित मौसम की मार का शिकार भी होते हैं। अकाल और बाढ़ इनकी अर्थव्यवस्था को बार-बार विनाशकारी झटका देते रहते हैं।

औद्योगीकरण और दक्षिण

दक्षिण एक विविधतापूर्ण दृश्य प्रस्तुत करता है। इस गुट के कुछ देश इसलिए सौभाग्यशाली कहे जा सकते हैं क्योंकि उनके पास तेल के विशाल भंडार हैं। तेल की बिक्री से होने वाली विशाल आय ने उनके प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) को बेहतर बनाने में मदद की है। दक्षिण कोरिया, ताईवान, मलेशिया, इंडोनेशिया, सिंगापुर जैसे कुछ देशों का 1960 और 1970 के दशकों में तेजी से औद्योगीकरण हुआ है और इन देशों ने अपने लोगों के जीवनयापन की स्थिति में आमूल सुधार किए हैं।

दक्षिण पूर्व एशिया की 'टाइगर' अर्थव्यवस्थाओं का सकल राष्ट्रीय उत्पाद अनेक यूरोपीय देशों के सकल राष्ट्रीय उत्पाद के मुकाबले अच्छा है। इन देशों ने उत्तर से विशाल निवेश आकर्षित किए हैं। कुछ उत्तरी देशों ने तो अपनी समस्त उत्पादन क्षमताएं (कारखाने) इन देशों को अंतरित कर दी हैं।

पर्यावरण पर औद्योगीकरण का प्रभाव

उत्तरी और दक्षिणी दोनों ही भागों के देशों के औद्योगीकरण के प्रति मोह ने उनके उत्पादन को अधिकतम स्तर पर पहुंचाने के लिए नई प्रौद्योगिकियों की खोज का मार्ग प्रशस्त किया। उद्योग का मुख्य उद्देश्य है-धन और मुनाफा कमाना। इस प्रक्रिया में पर्यावरण जो कि प्रकृति के प्रति हमारे समस्त सरोकारों का समष्टि रूप है, का विनाश हो रहा है। पृथ्वी के संसाधनों का शोषण किया जा रहा है और इस बात पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जा रहा है कि कहां और कैसे इनका प्रतिस्थापन होगा।

अत: औद्योगीकरण विश्व के संसाधनों को नि:शेष कर रहा है। असुरक्षित गैसों और रसायनों के उत्सर्जन से प्रदूषण फैल रहा है और अंतत: पारिस्थितिकी तंत्र नष्ट हो रहा है। कोयले, तेल और प्राकृतिक गैस जैसे जीवाश्म ईंधन एक बार खत्म होने पर प्रतिस्थापित नहीं किए जा सकते। ऐसा कोई विश्वसनीय अनुमान नहीं लगाया गया है कि विश्व के तेल भंडार कब तक चलेंगे। इस कारण तेल के दाम भी प्रतिवर्ष बढ़ रहे हैं। कुछ विशेषज्ञों को यह आशंका है कि विश्व के तेल भंडार 21वीं

सदी के पूर्वाद्‌र्ध में संमाप्त होने शुरू हो जाएंगे। जब तक ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत नहीं ढूंढ़ लिए जाते तब तक स्थिति को संभालना बड़ा कठिन हो जाएगा।

यह आशंका है कि विश्व के टिन, सीसे, तांबे, जस्ते (जिंक) और पारे के भंडार लुप्त होने के कगार पर हैं। इससे ऐसे अनेक दक्षिणी देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर विनाशकारी प्रभाव पड़ेगा जो इन वस्तुओं के निर्यात पर निर्भर हैं।

विश्व के संसाधनों के तेजी से शोषण का एक प्रमुख कारण रहा है दक्षिण द्‌वारा आर्थिक विकास के उत्तरी मॉडल का अनुकरण। विश्व की अल्प किंतु अमीर आबादी की खपत पद्‌धति अब बहुसंख्यक आबादी के लिए मानदंड बनती जा रही है। इसका प्रभाव भयंकर होगा, क्योंकि जब दक्षिण में जीवन स्तर बेहतर हो जाएगा तो इस विकास की प्रक्रिया को आगे बनाए रखने के लिए शायद पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन नहीं बचेंगे। इस चिंता के कारण विश्व के अब तक के सबसे बड़े सम्मेलन, जिसे उचित ही पृथ्वी शिखर सम्मेलन (Earth Summit) कहा गया, का जून 1992 में रियो द जनेरियो, ब्राजील में आयोजन किया गया। इस सम्मेलन की एक उपलब्धि थी 'संधारणीय विकास' (Sustainable Development) की संकल्पना को अपनाना जो यह प्रस्तावित करती है कि प्रत्येक देश एक ऐसे विकास मार्ग का चयन करेगा जो धन-संपति के समान वितरण और प्राकृतिक संसाधनों के युक्तिसंगत दोहन पर आधारित होगा।

तथापि 'संधारणीय विकास' तब तक वास्तविक रूप धारण नहीं कर सकता जब तक कि मानव स्वयं को अनुशासित नहीं कर लेता और संधारणीय उपभोग के सिद्‌धांत को अपनाने का निर्णय नहीं कर लेता। आवश्यकता से अधिक उपयोग के पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में व्यापक जागरूकता होनी चाहिए। लोगों को सादा जीवन के गुणों को पहचानना चाहिए जिसका समर्थन उनकी धार्मिक शिक्षाओं में भी किया गया है। उदाहरण के लिए, भारत के पवित्र ग्रंथ 'वेदों' में लोगों को प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करके रहने की सलाह दी गई है और केवल उन्हीं उत्पादों को उपयोग में लाने को कहा है जो प्राकृतिक रूप से नवीकरणीय हैं यानी फिर से पैदा हो जाते हैं और स्थानीय रूप से उपलब्ध हैं क्योंकि अधिक दूरी से लाने में खर्च तो होता ही है, पर्यावरण को भी क्षति पहुंचती है। 20वीं सदी के महान दिव्यद्रष्टा महात्मा गांधी ने भी ऐसी ही जीवन-शैली अपनाने का परामर्श दिया था। आजकल 'दुनिया-भर की सोचो और स्थानीय रूप से जियो' की आवश्यकता पर विश्व-भर में जागरूकता फैल रही है, जिसका अर्थ है मनुष्य को ऐसी वस्तुओं का लालच छोड़ देना चाहिए जो बहुत दूरदराज से ढोकर लाई जाती हैं। पशुओं के जीवन के प्रति भी सम्मान की भावना बढ़ रही है। इससे शाकाहारिता की लोकप्रियता बढ़ रही है। पर्यावरणीय दृष्टि से संधारणीय और नवीकरणीय तरीके से निर्मित वस्तुएं लोकप्रिय हो रही हैं। वैज्ञानिक वैकल्पिक ईंधन की खोज में संलग्न हैं। उदाहरण के लिए, चीनी से निर्मित ईथेनॉल का अब आटोमोबाइल चलाने में अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है। सुरक्षित साधनों द्‌वारा निर्मित नाभिकीय (परमाणु) विद्‌युत भी कोयले और अन्य जीवाश्म ईंधनों के प्रयोग द्‌वारा तापीय रूप से जनित विद्‌युत के सर्वोत्तम विकल्प के रूप में देखी जा रही है। इस बात के प्रति व्यापक चिंता है कि विश्व के वन संसाधन जल्द ही समाप्त हो जाएंगे।

1987 तक विश्व के लगभग आधे उष्णकटिबंधीय वर्षा जन्य वन समाप्त हो चुके थे। ऐसा अनुमान है कि प्रतिवर्ष लगभग 80,000 वर्ग किमी. वन भूमि समाप्त हो रही है। अनेक पेड़-पौधे, जीव-जंतु और कीट प्रजातियां जो पहले कभी अस्तित्व में हुआ करती थीं अब लुप्त हो रही हैं। इससे विश्व का प्राकृतिक संतुलन बिगड़ा है क्योंकि ये प्राणी बृहत्तर आहार श्रृंखला का भाग हुआ करते थे। मछलियों और ह्वेलों की अनेक प्रजातियां अत्यधिक खपत के कारण अब लुप्त हो चुकी हैं या तेजी से लुप्त होती जा रही हैं।

विश्व-भर में कृषि संकट का सामना कर रही है। हालांकि विश्व की जनसंख्या बढ़ रही है लेकिन खाद्य उत्पादन जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में नहीं बढ़ रहा है। उर्वरकों के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले प्राकृतिक फास्फेट लुप्त हो रहे हैं। इससे किसान अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए विषैले रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग की ओर उन्मुख हो रहे हैं। विश्व की जनसंख्या में प्रतिवर्ष लगभग 90 करोड़ लोगों की वृद्धि हो रही है। इससे कृषि भूमि पर जबरदस्त दबाव पड़ रहा है क्योंकि मनुष्य को आवास के लिए भूमि चाहिए। 21वीं सदी के मध्य तक विश्व में खाद्य की बहुत बड़ी कमी होने की आशंका है, क्योंकि एक ओर तो कृषि के लिए पर्याप्त भूमि उपलब्ध नहीं होगी, दूसरी ओर जो थोड़ी-बहुत भूमि उपलब्ध होगी वह भी सबकी क्षुधाशांति के लिए पर्याप्त मात्रा में पैदावार प्राप्त करने के लिए प्रयोग में नहीं लाई जा सकेगी।

हानिकारक प्रौद्योगिकी का विवेकहीन प्रयोग भी विश्व की जलवायु को प्रभावित कर रहा है। क्लोरो-फ्लोरो-कार्बन (C.F.C.) जिनका इस्तेमाल घरेलू फ्रिजों और एयर कूलरों में प्रशीतन के लिए किया जाता है, बचकर पर्यावरण में विलीन हो जाते हैं और पृथ्वी की ओजोन परत को हानि पहुंचाते हैं। यह परत सूर्य की हानिकारक किरणों को हम तक पहुंचने से रोकती है। हालांकि वैज्ञानिक अनुसंधान से वैकल्पिक प्रशीत तत्त्वों का पता चला है किंतु ये अभी बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं हुए हैं। दूसरी ओर तापमान भी तेजी से बढ़ रहे हैं। इसे 'ग्लोबल वार्मिंग' यानी 'भूमंडल का गरमाना' कहा जाता है। इससे पृथ्वी का ध्रुवीय हिमावरण तेजी से पिघल रहा है। हिमगलन की यह गति बहुत तेज हो जाने पर विनाशकारी बाढ़ें आएंगी।

इसीलिए संधारणीय उपभोग की आवश्यकता बढ़ रही है। प्राय: यह कहा जाता है कि 21वीं सदी के युद्ध पानी के लिए लड़े जाएंगे। पृथ्वी के ताजा जल भंडार तेजी से लुप्त हो रहे हैं। अधिकांश जन-समाजों को अपनी नदियों और भू-जल भंडारों के पुनर्भरण के लिए वर्षा जल पर निर्भर रहना पड़ता है। वनों की समाप्ति और मरुस्थल की वृद्धि से प्राकृतिक जल चक्र प्रभावित हुआ है और वाष्पित होने के लिए बहुत कम पानी बचता है। इसलिए कुछ देश तो पूरी तरह से निर्जल होने के खतरे का सामना कर रहे हैं। अपनी जनता की प्यास बुझाने के लिए शायद इनको अपने पड़ोसियों के भू-भाग पर अतिक्रमण करना पड़े। नदियों के पानी के बंटवारे के बारे-में अनेक अंतर्राज्यीय जल-विवाद पहले ही उत्पन्न हो चुके हैं। इससे भविष्य में संयुक्त राष्ट्र के लिए बहुत बड़ी सिरदर्दी पैदा हो सकती है।

पर्यावरणीय आकर्षण के विरुद्ध मानव जाति अपनी लड़ाई पहले ही हार रही है। स्थिति को बदलने के लिए जिस चीज की तत्काल आवश्यकता

है वह है विशाल मात्रा में पूंजी। उद्योगों को सुरक्षित प्रौद्योगिकियों में परिवर्तित करने के लिए आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। किसानों को वित्त, आर्थिक सहायता और अनुदान देना चाहिए ताकि वे कृषि के जैविक साधनों को अपना सकें जो अल्पावधिक संदर्भ में मंहगे तो हो सकते हैं किंतु दीर्घकालिक संदर्भ में अधिक किफायती साबित होंगे। सिंचाई और जल उपचार पर विशाल धनराशि खर्च की जाए। गैर-मानवीय खपत के प्रयोजनों के लिए अपशिष्ट जल के पुन: प्रयोग को अनिवार्य बनाया जाए। यह कहना आसान है किंतु करना कठिन, क्योंकि अपशिष्ट जल को पुन: उपयोगी बनाना एक मंहगी प्रक्रिया है। जो उद्योग अत्यधिक प्रदूषण फैलाते हैं उन्हें बंद कर देना चाहिए। ऐसा तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि इन उद्योगों के मालिकों व कर्मचारियों को पर्याप्त मुआवजे का भुगतान नहीं कर दिया जाए।

पैसे से भी अधिक आवश्यक है इच्छा शक्ति। लोगों को यह अहसास कराया जाए कि जब तक वे अपने भीतर नहीं झांकेंगे तब तक वे इसका समाधान नहीं ढूंढ़ सकते। उन्हें स्वयं को ऐसे विश्व नागरिक के रूप में परिवर्तित करने को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जो संधारणीय उपभोग के सिद्धांत का समर्थन करते हों। वे आवश्यकता से प्रेरित हों, लालच से नहीं। सरकारी हस्तक्षेप के माध्यम से पर्यावरण के बारे में जागरूकता फैलाने के लिए उपभोक्ता क्षेत्र में कंपनियों की विपणन तकनीकों को संशोधित किया जाना चाहिए।

शीत-युद्धोत्तर विश्व में राजनीतिक धाराएं

फ्रांस की क्रांति ने 1789 में लोकतंत्र, समानता और बंधुत्व की शक्तियों को प्रवर्तित किया था। दो शताब्दियों के बाद विश्व तेजी से लोकतंत्रीकरण के मार्ग पर अग्रसर हो रहा था। अपनी अनेक कमियों के बावज़ूद, लोकतंत्र को अब मानव समस्याओं का निवारण करने वाले एकमात्र उपलब्ध साधन के रूप में देखा जाता है। तानाशाही, सैनिक शासन प्रणाली और एकदलीय शासन में शीत युद्धेत्तर काल में परिवर्तन किए जा रहे हैं। इस संदर्भ में, 1942 में अपनाए गए अटलांटिक चार्टर ने एक ऐसे युद्धोत्तर विश्व का सपना देखा था जिसमें लोकतंत्र ही एकमात्र स्वीकार्य शासन प्रणाली होगी।

लोकतंत्रीकरण में अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में लोगों की भागीदारी निहित रहती है। प्रारंभ में मताधिकार केवल अमीर लोगों तक ही सीमित था। धीरे-धीरे सभी वयस्क पुरुषों को मताधिकार मिल गया किंतु महिलाएं इससे वंचित रहीं। लेकिन अब अरब जगत के कुछ देशों को अपवादस्वरूप छोड़ कर, सभी समाजों में महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष माना जाता है।

संयुक्त राष्ट्र के अधिकांश सदस्य देश लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था अपनाए हुए हैं। पाकिस्तान और चीन इसका अपवाद हैं। 21वीं सदी के आरंभिक वर्षों में हर जगह सत्तावादी सरकारें ढह रही हैं। जब 2001 में अफगानिस्तान तालिबान शासन से मुक्त हुआ तो वहां के लोगों ने लोकतंत्र को ही एकमात्र स्वीकार्य शासन व्यवस्था के रूप में अपनाया। इसी प्रकार, जब इराक के तानाशाह सद्दाम हुसैन को अमेरिकी हस्तक्षेप द्वारा सत्ता से हटाया गया तो वहां के लोगों ने लोकतंत्र की मांग शुरू कर दी।

लोकतंत्रीकरण आंदोलन का चमत्कारी प्रभाव अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा। इसने राज्य विनियमित अर्थव्यवस्थाओं का स्वरूप बदल दिया है। राज्य

की भूमिका अब विनियमन और नियंत्रण से बदल कर निरंतर सुविधाकारक और लोकपाल की भूमिका में बदलती जा रही है और मुख्य भूमिका अब जनता और निजी क्षेत्र को प्राप्त हो गई है।

शीत युद्ध काल में विरोधी शक्तियों द्वारा 'दोस्त' तानाशाहों को बढ़ावा देने की घटनाएं हुईं, जिसका प्रयोजन होता था–सामरिक महत्त्व के देशों में अपने इशारों पर नाचने वाली सरकारों की स्थापना करना। कई बार इसके परिणामस्वरूप नृशंस हस्तक्षेप भी हुए। 1973 में चिली में सल्वाटोर एलेंडे के अंतर्गत लोकमत से एक वामपंथी सरकार चुनी गई थी। किंतु इससे अमेरिका को चिंता हो गई इसलिए उसने जनरल ऑगस्त पिनोचेट के नेतृत्व में एक सैनिक बगावत करवाई, हालांकि बाद में अमेरिका ने पिनोचेट से अपना समर्थन वापस ले लिया था। इसी प्रकार, अभी हाल ही में अमेरिका ने पाकिस्तान के जनरल परवेज़ मुशर्रफ जैसे सैनिक तानाशाह के साथ जो सौदेबाजी की थी, उसके लिए दुनिया के सभी देशों ने अमेरिका की आलोचना की। किंतु संतोषजनक बात यह है कि अब दुनिया भर में स्वतंत्रता की भावना विद्यमान है, जिसमें उल्लंघनकर्ता चाहे परवेज़ मुशर्रफ जैसा व्यक्ति हो या अमेरिका जैसा सशक्त देश, उनके अतिचार की खुलेआम आलोचना की जाती है।

आतंकवाद - 21वीं सदी की सबसे बड़ी मुसीबत

11 सितंबर 2001 को न्यूयार्क में वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की दो विशाल अट्टालिकाओं (टावरों) को आतंकवादियों द्वारा ध्वस्त किए जाने की घटना से पूरा विश्व स्तब्ध रह गया। सशस्त्र आतंकवादियों ने दो यात्री हवाई जहाजों का अपहरण कर लिया और उन दोनों हवाई जहाजों से वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के दोनों टावरों में टक्कर मार दी। कार्यालय जाने वाले सैकड़ों निर्दोष लोग, जो मूलतः अनेक राष्ट्रों के निवासी थे, मारे गए। इस दुर्घटना के टी.वी. पर दिखाए जाने वाले चित्रों ने दुनिया भर के लोगों को यह बता दिया कि 21वीं सदी के युद्ध हथियारों द्वारा युद्ध भूमि में नहीं, बल्कि आसान लक्ष्यों की तलाश में जुटे सशस्त्र आतंकवादियों द्वारा अचानक हमलों के रूप में लड़े जाएंगे।

आतंकवाद को प्रायः किन्हीं सताए गए और जबरन वशीभूत किए गए लोगों की निराशा की अभिव्यक्ति माना जाता है। विजयी शक्तियों के खिलाफ खुला और पारंपरिक युद्ध न लड़ पाने के कारण साधनों के अभाव में ऐसे संगठन शत्रु के मर्मस्थल पर हमला करने की प्रच्छन्न युद्ध नीति को बढ़ावा देते हैं। इसीलिए एक व्यक्ति के लिए जो आतंकवादी है वही दूसरे व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता सेनानी है। उदाहरण के लिए, अंग्रेजों ने भी भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, सूर्यसेन, बाघा जतिन जैसे देशभक्तों को आतंकवादी कहा था।

किंतु यहां आतंकवादियों और स्वतंत्रता सेनानियों के बीच के अंतर को समझ लेना जरूरी होगा। भगत सिंह और सूर्यसेन जैसे क्रांतिकारियों ने कभी भी निर्दोष अंग्रेजों, महिलाओं और उनके बच्चों को नहीं मारा था। उन्होंने अपने लक्ष्यों का चुनाव सैनिक-नागरिक प्रशासन में से ही अपने लोगों को न्याय दिलाने की भावना के साथ किया था। किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का आतंकवाद, जो म्यूनिख ओलंपिक के दौरान निर्दोष इज़राइली खिलाड़ियों को फिलिस्तीनी बंदूकधारियों द्वारा मारे जाने के बाद तेज हो गया था, स्वतंत्रता संग्राम की परिभाषा में नहीं आता। ये इज़राइली खिलाड़ी

गैर–राजनीतिक व्यक्ति थे जिनसे फिलिस्तीनी जनता को या पृथक् राष्ट्र की उनकी मांग को किसी प्रकार का कोई खतरा नहीं था। यात्री विमानों का अपहरण और शहरों में रेस्तरांओं को बम से उड़ा देना केवल आतंकवाद ही है जिसमें निर्दोष लोग मारे जाते और अपंग हो जाते हैं।

संयुक्त राष्ट्र और आतंकवाद के विरुद्ध लड़ाई

इस प्रकार, आतंकवाद की कोई सटीक परिभाषा न होने से विश्व समुदाय भ्रांति में ही जीता रहा है। यह मानना भी गलत है कि कट्टरपंथी इस्लाम ने आतंकवाद को तेज किया है। हालांकि यह सच है कि 20वीं सदी के अंतिम तीन दशकों में इस्लामी कट्टरवाद तेजी से बढ़ा, फिर भी ऐसी प्रवृत्ति, जिन देशों में मुसलमान बसे हैं, उन देशों में विदेशी जीवनशैलियों को थोपे जाने और नव–औपनिवेशिक शक्तियों के विश्वस्तरीय षड्यंत्रों के विरोध में अधिक उभर कर आई। कुछ संकीर्ण मनोवृत्ति के धार्मिक कट्टरपंथियों ने अमेरिका द्वारा अपने हिसाब से तैय़ार की जा रही विश्व की रूपरेखा के विरुद्ध घृणा की भावना फैलानी शुरू कर दी और वे 'इस्लाम खतरे में है' के जेहादी नारे का इस्तेमाल करने लगे थे। इज़राइल को अमेरिकी प्रशासन का समर्थन मिला, इस बात ने भी इस्लामी देशों में बहुत विद्वेष फैलाया। बेराजगार और अर्धशिक्षित युवाओं के समूहों को अलकायदा, इंतिफदा जैसे असंख्य आतंकवादी गुटों द्वारा फैलायी गई 'बंदूक की संस्कृति' की ओर आकर्षित किया जा रहा है।

1972 के म्यूनिख ओलंपिक खेलों की दुर्घटना के समय से ही संयुक्त राष्ट्र आतंकवाद की समस्या पर विचार-विमर्श कर रहा है। 20वीं सदी के अंत की सबसे बड़ी सुरक्षा समस्या को हल करने के प्रयोजन से संयुक्त राष्ट्र ने आतंकवाद से संबंधित 12 अंतर्राष्ट्रीय अभिसमय (Convention) पारित किए हैं। उनकी सूची नीचे दी गई है :

1. विमान में किए गए अपराधों और कतिपय कृत्यों पर संयुक्त राष्ट्र संघ का अभिसमय (1963)।
2. विमान को गैर–कानूनी तरीके से कब्जे में लेने को प्रतिबंधित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र का अभिसमय (1970)।
3. नागर विमानन की सुरक्षा के विरुद्ध गैर–कानूनी कृत्यों पर प्रतिबंध के लिए संयुक्त राष्ट्र अभिसमय (1971)।
4. अंतर्राष्ट्रीय रूप से सुरक्षाप्राप्त व्यक्तियों के विरुद्ध अपराधों की रोकथाम और दंड के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का अभिसमय (वरिष्ठ सरकारी) अधिकारियों और राजनयिकों पर हमलों को गैर–कानूनी घोषित करने के लिए, (1973)।
5. बंधक बनाने के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र का अभिसमय (1979)।
6. नाभिकीय (परमाणु) सामग्री की भौतिक सुरक्षा संबंधी संयुक्त राष्ट्र अभिसमय (1980)।
7. अंतर्राष्ट्रीय नागर विमानन सेवा प्रदान करने वाले हवाई अड्डों पर हिंसा के गैर–कानूनी कृत्यों पर प्रतिबंध संबंधी संयुक्त राष्ट्र का नयाचार (प्रोटोकॉल) जो नागर विमानन की सुरक्षा के विरुद्ध गैर–कानूनी कृत्यों पर प्रतिबंध के अभिसमय (1988) का पूरक है।
8. समुद्रवर्ती नौचालन सुरक्षा के विरुद्ध गैर–कानूनी कृत्यों को प्रतिबंधित करने वाला संयुक्त राष्ट्र अभिसमय (1988)।

9. कांटिनेंटल शेल्फ पर स्थापित प्लेटफार्मों की सुरक्षा के विरुद्ध गैर-कानूनी कृत्यों को प्रतिबंधित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र का नयाचार (1988)।
10. जासूसी के प्रयोजनार्थ प्लास्टिक विस्फोटकों के निर्माण पर संयुक्त राष्ट्र अभिसमय (1991)।
11. आतंकवादी बमबारी निरोध संबंधी संयुक्त राष्ट्र का अंतर्राष्ट्रीय अभिसमय (1997)।
12. आतंकवाद के वित्तपोषण को प्रतिबंधित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र का अंतर्राष्ट्रीय अभिसमय (1999)।

तथापि आज तक कोई ऐसा अभिसमय पारित नहीं हुआ है जो आतंकवाद को वास्तव में परिभाषित करता हो और संयुक्त राष्ट्र के सभी सुरक्षात्मक उपायों और नयाचारों को एक ही ढांचे के अंतर्गत लाता हो। 1995 में भारत ने संयुक्त राष्ट्र में अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद पर व्यापक संधि का ऐसा एक संकल्प प्रस्तुत किया था। यह संकल्प सभी राष्ट्रों से आतंकवाद को कम करने और उसके निवारण के लिए विभिन्न कदम उठाने का आह्वान करता है।

किंतु आज तक यह 'व्यापक अभिसमय' संभव नहीं हो पाया है। इसके विरुद्ध तरह-तरह के तर्क दिए जाते हैं। एक तर्क मानव अधिकार समूहों द्वारा भी दिया जाता है जो यह चेतावनी देते हैं कि सरकारें इसका प्रयोग पश्चिम एशिया के कुछ देशों में राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ करेंगी। ये वैध जन आंदोलन कहे जाने वाले आंदोलनों और 'आतंकवाद' के बीच भेद करने पर आपत्ति करते हैं।

समकालीन विश्व इतिहास का एक कम प्रचार पाने वाला तथ्य है भारत को अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद का शिकार बनाया जाना। ऐसा अनुमान है कि 10 लाख से भी अधिक भारतीय नागरिक, जिनमें से अधिकांश समाज के सबसे गरीब तबकों के थे, उस आतंकवाद का शिकार हो चुके हैं, जो अधिकांशत: सीमापार से बाह्य एजेंसियों द्वारा चलाया जा रहा है। ये एजेंसियां देश में उत्तर-पूर्व में नागालैंड से लेकर उत्तर-पश्चिम में पंजाब और जम्मू-कश्मीर तक संपूर्ण क्षेत्र में, किसी-न-किसी रूप में अलगाववादी आंदोलन चला रही हैं।

उत्पीड़ित लोगों के आंदोलन

कई बार 20वीं सदी को जन-शताब्दी यानी आम लोगों की सदी भी कहा जाता है। इसलिए कि द्वितीय सहस्राब्दी के अंतिम वर्षों में आम आदमी की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति में अत्यधिक सुधार हुआ। सामंतवाद के ढहने, साम्राज्यों के समाप्त होने और घातक सामाजिक स्तर-विन्यास के टूटने से लोगों को हर संभव तरीके से अपने विचार अभिव्यक्त करने और राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रियाओं में शामिल होने का अधिकार मिल गया। तथापि यह सब बहुत आसानी से नहीं हुआ। लातिन अमेरिका के मूल निवासी अभी भी अपने मूल अधिकारों को पाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। पश्चिम एशिया में कुर्द लोग, जो ईरान, इराक, जॉर्डन और तुर्की में रह रहे हैं, अभी भी अपनी सरकारों के अत्याचारों की मार झेल रहे हैं। वे जो आंदोलन चलाते हैं वे प्राय: हिंसक होते हैं। महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलाए गए भारत के स्वतंत्रता-संग्राम ने अश्वेतों द्वारा रंगभेद के विरुद्ध चलाए गए चार दशक लंबे आंदोलन के लिए प्रकाश स्तंभ का काम किया। अब हम कुछ ऐसे
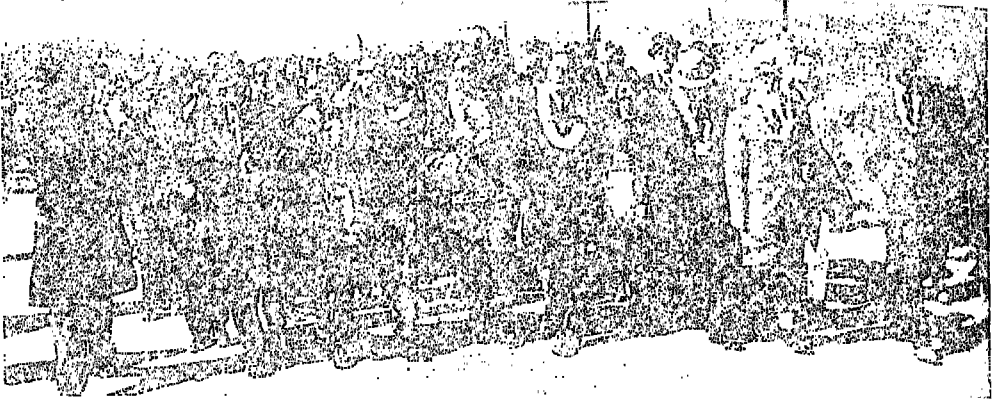
अनेक प्रदर्शनों में से एक प्रदर्शन के दौरान मार्टिन लूथर किंग

अभियानों की जांच करते हैं जो उन राष्ट्रों की सामूहिक चेतना पर अभी भी अमिट छाप छोड़े हुए हैं जहां उन्होंने लोगों को अपने अधूरे एजेंडा को आगे बढ़ाने के लिए अनुभव भी दिया और प्रेरणा भी दी।

संयुक्त राज्य अमेरिका का नागरिक अधिकार आंदोलन

अमेरिका में 1863 में गुलामी को समाप्त करने से भी अश्वेतों को श्वेतों की भांति समान अधिकार नहीं मिले। हालांकि संघीय सरकार ने दोनों जातियों की हैसियत के बीच कोई भेद नहीं किया तथापि कुछ दक्षिणी राज्यों ने सिलसिलेवार ऐसे अनेक कानून प्रख्यापित किए जो स्थानीय चुनावों में अश्वेतों को मताधिकार से वंचित करते थे (हालांकि वे संघीय चुनावों में वोट दे सकते थे)। अश्वेतों को श्वेतों से बलपूर्वक अलग करने की व्यवस्था, जिसे 'पृथक्करण' कहा गया, कुछ राज्यों में लागू की गई जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद प्रणाली का पूर्वानुमान लगा लिया था। अश्वेत बच्चों को उन स्कूलों में पढ़ने की अनुमति नहीं थी जहां श्वेत बच्चे पढ़ने जाते थे, उन्हें उन बसों में चढ़ने की अनुमति नहीं थी जिनमें श्वेत बच्चे यात्रा करते थे, वे उन रेस्तरांओं में भोजन नहीं कर सकते थे जहां श्वेत बच्चे भोजन करते थे। रोजगार के अवसरों में भी अश्वेतों के साथ भेदभाव बरता जाता था जिसके कारण वे आर्थिक रूप से पिछड़े रहे। यहां तक कि फैक्ट्रियों में मजदूर यूनियनों ने भी अश्वेतों को सदस्य बनने की अनुमति नहीं दी। यह याद रखना चाहिए कि इस अपमान और भेदभाव की पीड़ा सहने के बावजूद अश्वेतों ने दोनों विश्वयुद्धों में अमेरिका की उल्लेखनीय सेवा की।

जब भारत को स्वतंत्रता मिली उस समय अमेरिका के अश्वेतों में भी श्वेतों के शोषण से मुक्ति पाने का सपना आग बन कर धधक उठा। मार्टिन लूथर किंग जूनियर, जो कि बाप्टिस्ट पादरी था, एक विलक्षण नेता के रूप में उभर कर सामने आया और उसने अहिंसक आंदोलन के रूप में विरोध किया जिसे नागरिक अधिकार आंदोलन कहा गया। यह आंदोलन दिसंबर, 1965 में आरंभ किया गया जब एक अश्वेत महिला रोजा पार्क्स को अलबामा में मोंटगुमरी में एक बस में श्वेतों

के लिए आरक्षित एक सीट पर बैठने के कारण गिरफ्तार किया गया। गांधी जी द्वारा अपनाई गई युक्तियों का अनुकरण करते हुए मार्टिन लूथर किंग ने अश्वेतों को मोंटगुमरी में सभी बसों का शांतिपूर्वक बहिष्कार करने को कहा। यह अभियान सफल रहा। शहर में रंग के आधार पर अलग-अलग सीटों की व्यवस्था समाप्त कर दी गई।

1957 में किंग और उनके साथियों ने निर्णय किया कि जो आंदोलन उन्होंने आरंभ किया है उसे पूरे दक्षिणी अमेरिका में जहां कहीं भी पृथक्करण और भेदभाव है, फैलाया जाना चाहिए। किंग ने दक्षिणी ईसाई नेतृत्व परिषद् की स्थापना की और इसके माध्यम से एक प्रबल अहिंसात्मक आंदोलन चलाया जिसमें धरनों के माध्यम से प्रदर्शन और सामूहिक सार्वजनिक सविनय अवज्ञा का प्रदर्शन किया जाता था। उसने अश्वेत अमेरिकियों के दु:खों और शिकायतों की पुरजोर अभिव्यक्ति के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समाचार-माध्यमों का प्रयोग किया। शीघ्र ही हजारों श्वेत अमेरिकियों ने भी संघर्ष में भाग लेना शुरू कर दिया। इससे श्वेत पृथक्करण के समर्थकों को रक्षात्मक रवैया अपनाना पड़ा। जातिभेद के श्वेत समर्थकों ने नागरिक अधिकार आंदोलन के कार्यकर्त्ताओं पर हमला किया किंतु उन्हें कोई जनसमर्थन प्राप्त नहीं था। 1963 में मार्टिन लूथर किंग ने वाशिंगटन डी.सी. में 25,000 लोगों के शांतिपूर्ण मार्च का नेतृत्व किया। यहां उन्होंने अपना प्रसिद्ध भाषण दिया - 'मेरा एक सपना है' - जिसने दुनिया भर में इस सामान्य अनुरोध के साथ तहलका मचा दिया कि पूरी मानवता को एक ही ईश्वर की संतान होने के कारण एक हो जाना चाहिए। 1967 में उन्हें शांति के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। किंतु गांधी जी की भांति 1968 में अतिवादियों ने लूथर किंग की भी हत्या कर दी।

किंतु अश्वेत संघर्ष का अकेला अहिंसक पक्ष ही नहीं था। किंग के अहिंसक रवैये से निराश होकर 'ब्लैक पैंथर' और 'ब्लैक पावर' जैसे कुछ उग्रवादी समूह भी उभर आए थे। इनके अलावा 'कू क्लक्स क्लान' नामक एक चरमपंथी समूह भी था जो समस्त अश्वेत लोगों का उन्मूलन करने में विश्वास करता था। इस चरमपंथी समूह और अन्य पृथकतावादी श्वेतों ने अश्वेतों पर बार-बार हमले किए। इससे युवाओं में असंतोष फैल गया। दो वर्गों के जातीय समूहों ने वही हिंसक तरीके अपनाने का निर्णय किया, जो तरीके कू क्लक्स क्लान समूह अपनाता था। 1964 में न्यूयार्क में हार्लेम में जातीय दंगे हुए और 1965 में लॉस एंजिल्स में एक दंगे में 35 से अधिक लोग मारे गए। बहुत अधिक संख्या में अश्वेत लोगों ने ईसाई धर्म छोड़ने का निर्णय कर लिया क्योंकि वे इसे गोरों का धर्म मानने लगे थे और फिर उन्होंने इस्लाम को अपना लिया। इस्लाम के विश्व-बंधुत्व के आह्वान से जो सर्वाधिक लोकप्रिय व्यक्ति आकर्षित हुए उनमें 1960 के ओलंपिक स्वर्ण पदक विजेता मुक्केबाज केशियस क्ले भी शामिल था, जो बाद में मोहम्मद अली के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नागरिक अधिकार आंदोलन का डेमोक्रेटिक पार्टी के साथ अच्छा तालमेल था जो 1961 से 1968 तक अपने दो राष्ट्रपतियों जान.एफ. केनेडी और लिंडन बी. जॉनसन के माध्यम से सत्ता में रही। उन्होंने स्वीकार किया कि अश्वेत अमेरिकियों के साथ अत्याचार और अनुचित व्यवहार हुए हैं। उन्होंने समयबद्ध कार्यक्रम बनाकर सुधार आरंभ

किए ताकि अमेरिकी जीवन में अश्वेतों को भी श्वेतों की भांति समान भूमिका निभाने में सहायता मिल सके।

20वीं सदी के भारत में सामाजिक सुधार आंदोलन

भारत शाश्वत रूप से सामाजिक सुधारों की भूमि रही है। 19वीं सदी में राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, स्वामी दयानंद सरस्वती और विवेकानंद जैसे दिव्यद्रष्टा समाज सुधारकों ने रूढ़िवादी भारतीयों की उनके अपने समाज के बारे में निर्मित समझ और बोध का पुनर्निर्माण किया। भारत के दार्शनिक और नैतिक पुनर्जागरण में इनका योगदान चिरस्थायी रहा है जिसकी आज भी देश में सराहना की जाती है। किंतु इन्होंने जो सुधार लागू किए वे भले ही महिला उद्धार के क्षेत्र में हों या आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में, आध्यात्मिक जिज्ञासा के क्षेत्र में हो या वैज्ञानिक भावबोध के क्षेत्र में, भारत की विशाल जनसंख्या की स्थिति सुधारने में बहुत अधिक सफल नहीं हुए, अधिकांश जनता अभी भी जाति-आधारित भेदभाव की बेड़ियों में बंधी थी। भारतीय जाति व्यवस्था, जो मूलत: श्रम-विभाजन का एक रूप थी, भ्रष्ट व्यवस्था के रूप में विकृत हो चुकी थी।

इस प्रकार 20वीं सदी अनेक आंदोलनों की साक्षी रही। ये ऐसे आंदोलन थे जिनका उद्देश्य भारत की पददलित जातियों को संगठित सामाजिक आंदोलनों के माध्यम से सामाजिक-राजनीतिक अस्मिता प्रदान करना था। इन आंदोलनों का नेतृत्व महात्मा गांधी के समकालीन अनेक असाधारण मनीषियों ने किया था जिन्होंने यह अनुभव किया कि राजनीतिक आंदोलन चलाने और कानून में

अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान महात्मा गांधी

संशोधन मात्र कर देने से ही दलितों की स्थिति में सुधार नहीं होगा; इसके लिए और भी बहुत कुछ करना होगा। शिक्षा और आत्मजागृति से ही उनकी समस्याओं का स्थायी समाधान हो सकता है।

इन मनीषियों में पहले थे श्री नारायण गुरु (1854-1928) जो केरल के इझावा समुदाय के लोगों की स्थिति में सुधार लाने के लिए उत्तरदायी थे। इझावा समुदाय के लोगों की जनसंख्या केरल की कुल जनसंख्या के आधे से भी अधिक है किंतु श्री नारायण गुरु द्वारा अपना आंदोलन चलाए जाने से पूर्व इस जाति के लोगों का मंदिरों और उच्च जाति के लोगों के घरों में प्रवेश करना वर्जित था। ब्राह्मणों का आधिपत्य समाप्त करने के लिए श्री नारायण गुरु ने एक बहुत ही कारगर नीति तैयार की। उन्होंने पूरे राज्य में इझावा शिवलिंगों वाले मंदिर स्थापित किए और इन मंदिरों के लिए इझावा पुजारी ही रखे। इससे इस समुदाय के लोगों को आत्मसम्मान और एक नया विश्वास मिला। जीवन में बदलाव लाने के लिए श्री नारायण गुरु शिक्षा की शक्ति में विश्वास करते थे, "मुक्त होने के लिए

शिक्षित बनो, शक्तिशाली होने के लिए संगठित हो जाओ और उद्यम के माध्यम से उन्नति करो'' यह संदेश उन्होंने इझावा समुदाय के लोगों को दिया। इन आदर्शों को लागू करने के लिए उन्होंने प्रत्येक मंदिर में शिक्षा केंद्र की स्थापना की, विवाह की धार्मिक विधि को सरल बनाया, और आदेश दिया कि किसी भी विवाह में 10 से अधिक अतिथियों को आमंत्रित नहीं किया जाना चाहिए।

विश्व के लिए उनका एक ही संदेश था - "मनुष्य के लिए एक जाति, एक धर्म और एक ईश्वर"। उनका यह कहना था कि "अगर धर्मों की लड़ाई समाप्त करनी है तो आत्मनियंत्रण सहित सभी को सभी धर्मों को जानना और सीखना होगा। फिर यह स्पष्ट हो जाएगा कि जहां तक मूलभूत सिद्धांतों का संबंध है धर्मों के बीच कोई आधारभूत अंतर नहीं है।" उन्होंने पिछड़ी जातियों का धर्मपरिवर्तन कर उन्हें ईसाई या मुसलमान बनाने का भी विरोध किया।

श्री नारायण धर्म परिपालन योगम् नाम की संस्था श्री नारायण गुरु का संदेश दुनिया भर में स्थित अपने सैकड़ों केंद्रों के माध्यम से प्रचारित-प्रसारित कर रही है। इस दौरान उत्तर भारत में एक अन्य महान सावंत डॉ. भीमराव अम्बेडकर (1891-1956) ने एक अन्य आंदोलन शुरू किया जो अछूतों के लिए संघर्षरत रहा।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर

1924 में अम्बेडकर ने अछूतों के उद्धार के लिए बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना की। सभा ने निरक्षरता उन्मूलन, महिला उद्धार और सामान्यत: पिछड़ी जातियों की आर्थिक स्थिति सुधारने की रणनीति अपनाई। बंबई उच्च न्यायालय में उन्होंने सफलतापूर्वक एक मुकद्मा लड़ा जिसमें अस्पृश्यता को गैर-कानूनी घोषित किया गया। राजनीतिक स्तर पर भी उनका आंदोलन 'अनुसूचित जाति संघ' सक्रिय रहा।

भारत के संविधान निर्माण की प्रक्रिया में भी डॉ. अम्बेडकर ने प्रारूप समिति के चेयरमैन के रूप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। पिछड़ी जातियों को उन्होंने वह सब कुछ दिलवाया जिसकी वे सदियों तक भेदभाव और अपमान सहने के बाद हकदार थीं।

अभ्यास

1. भूमंडलीकरण के संदर्भ में उन घटनाओं का विवेचन कीजिए जो विश्व अर्थव्यवस्था में 1900 के बाद घटित हुई हैं।
2. यूरोपीय आर्थिक समुदाय का निर्माण क्यों हुआ? इसके विभिन्न कार्यकलापों की चर्चा करें।
3. ब्रांड्ट रिपोर्ट की विस्तार से चर्चा करें। विश्व में अमीर-गरीब के विभाजन की समस्या के प्रति इसने क्या दृष्टिकोण अपनाया?
4. विश्व पर्यावरण पर अंधाधुंध औद्योगीकरण के हानिकारक प्रभावों की चर्चा करें। विश्व को इसके हानिकारक प्रभावों से बचाने के लिए क्या-क्या कदम उठाने की आवश्यकता है?
5. 'आतंकवाद' शब्द की व्याख्या करें। संयुक्त राष्ट्र संगठन के भीतर और बाहर, दोनों जगह, विश्व में इस संकट से निपटने के लिए अब तक क्या-क्या उपाय किए गए हैं?
6. 20वीं सदी के भारत के विभिन्न सामाजिक सुधार आंदोलनों की समालोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
7. कई बार 20वीं सदी को 'जन-शताब्दी' क्यों कहा जाता है? अमेरिका में नागरिक अधिकार आंदोलन के संदर्भ में इस कथन को स्पष्ट करें।
8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :
   (i) मार्टिन लूथर किंग जूनियर
   (ii) कू क्लक्स क्लान
   (iii) उरुग्वे वार्ता दौर
   (iv) रियो द जनेरियो का पृथ्वी शिखर सम्मेलन

परियोजना कार्य

- दुनिया भर में फैले विभिन्न आतंकवादी संगठनों पर, उनकी कार्य-प्रणाली पर और ऐसे संगठनों के संकट से निपटने के लिए विभिन्न राष्ट्र-राज्यों द्वारा उठाए गए कदमों के लिए एक व्यापक रिपोर्ट तैयार करें।
- भूमंडलीकरण के विभिन्न पहलुओं पर एक सामूहिक चर्चा का आयोजन करें और अपने देश की अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर पड़ने वाले इसके प्रभावों पर विचार करें।

अध्याय 15

समकालीन विश्व में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, साहित्य, कला और संस्कृति

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रमुख विकास

आदिकाल से ही मानव जाति के विकास के लिए खोजें और आविष्कार अनिवार्य रहे हैं। 19वीं और 20वीं सदी में, विशेष रूप से इन क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास हुआ। ये 200 वर्ष उन आविष्कारों के वर्ष रहे हैं जिन्होंने अनेक प्रकार से आम आदमी के जीवन को प्रभावित किया है। बिजली, एंटीबायोटिक्स, टेलीफोन, उपग्रह, ऊर्जा जैसे आविष्कारों की उपयोगिता किसी एक राष्ट्र-विशेष या समाज-विशेष तक सीमित नहीं रही बल्कि अंततः इनसे समस्त मानव जाति लाभांवित हुई। इनमें से कुछ विकास विश्व के कुछ क्षेत्रों में विलंब से पहुंचे क्योंकि उनकी अपनी आर्थिक और राजनीतिक सीमाएं थीं। अभी भी विश्व के कुछ देशों या क्षेत्रों में समुचित संचार प्रणालियां और अपेक्षाकृत अधिक विकसित समाजों की तुलना में आवश्यक समझी जाने वाली मूलभूत सुविधाएं मौजूद नहीं है। एक विशाल परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय विकास किसी राष्ट्र द्वारा की गई उन्नति के प्रमुख सूचक होते हैं। कोई भी समाज या राज्य प्रौद्योगिकी की दृष्टि से जितना अधिक उन्नत होगा उसकी अर्थव्यवस्था उतनी ही अच्छी होगी। यहां हमें यह याद रखना चाहिए कि प्रौद्योगिकीय उन्नति और आर्थिक विकास परस्पर संबंधित प्रक्रियाएं हैं।

प्रौद्योगिकी में हमारे दैनिक जीवन में वैज्ञानिक सिद्धांतों का अनुप्रयोग शामिल है। प्रौद्योगिकीय प्रगति का स्तर वैज्ञानिक ज्ञान के स्तर में वृद्धि से संबंधित होता है क्योंकि विज्ञान में प्रत्येक खोज समाज को अधिक बड़ी प्रौद्योगिकीय उन्नति की ओर ले जाती है। पहले के समय में विज्ञान और प्रौद्योगिकी में विकास के लाभ उस समाज-विशेष तक ही मुख्य रूप से सीमित रहते थे जो इन विकासों के लिए उत्तरदायी होता था। इसके विपरीत,

पिछले दो सौ वर्षों के दौरान विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जो भी विकास हुए वे बहुत कम समय में ही दुनिया भर के लोगों तक पहुंच गए।

किसी भी समय में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले विकास उस युग में उपलब्ध ऊर्जा स्रोतों पर ही निर्णायक रूप से निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए, प्रारंभ में जलाने की लकड़ी, पवन और जल ही ऊर्जा के मुख्य स्रोत थे। फिर कोयले की खोज हुई और जल्द ही यह ऊर्जा का महत्त्वपूर्ण साधन बन गया। कोयले को ईंधन के रूप में प्रयोग में लाकर इंजन चलाए जाने लगे, फिर पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस की खोज से इंजनों की प्रौद्योगिकी भी बेहतर बनी। इसी प्रकार, बिजली और चुंबकत्व की खोज से नए प्रौद्योगिकीय आयाम खुले। इलेक्ट्रॉनिकी और परमाणु ऊर्जा, 20वीं सदी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आविष्कार साबित हुए, जिन्होंने विश्व में विकास का मार्ग ही बदल डाला।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहां प्रौद्योगिकी का विकास वैज्ञानिक ज्ञान के विकास पर निर्भर रहा है। किंतु प्रौद्योगिकी के प्रयोग के कारण वैज्ञानिक ज्ञान और खोजों में भी वृद्धि हुई है। इसे स्पष्ट करने के लिए सैकड़ों उदाहरण हैं, चाहे वह जेम्स वॉट द्वारा भाप के इंजन का आविष्कार हो या गैलीलियो द्वारा टेलीस्कोप का आविष्कार।
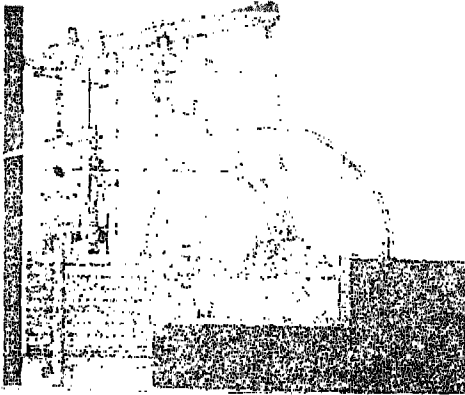
जेम्स वॉट का भाप का इंजन

19वीं सदी के दौरान विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के बीच अंतर्संबंध अधिक दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गए थे। नई प्रौद्योगिकी विकसित करने के लिए वैज्ञानिकों ने अनेक सिद्धांतों का प्रयोग किया। उदाहरण के लिए, डेवी द्वारा आविष्कृत माइनर्स सेफ्टी लैम्प ने ताप चालन, धूम्र निकास, प्रकाश संचरण और सुरक्षा प्रक्रिया के सिद्धांत को लागू किया। इसी प्रकार, इलेक्ट्रिक जेनरेटर और इलेक्ट्रिक बल्ब, यांत्रिक अभियांत्रिकी (इंजीनियरिंग) और ताप चालन के सिद्धांतों के अनुप्रयोग के उदाहरण हैं।

प्रौद्योगिकी और वैज्ञानिक क्रांति

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई प्रगति से 19वीं सदी में विश्व में प्रथम 'वैज्ञानिक क्रांति' आई। नई सामग्री, नए ऊर्जा स्रोतों और उपयुक्त प्रौद्योगिकी की उपलब्धता ने नई फैक्ट्रियों और नए उद्योगों की स्थापना को जन्म दिया। वस्तुओं का बड़े पैमाने पर सामूहिक उत्पादन संभव हो गया। यूरोप और अमेरिका में इस्पात (steel), रेलवे, कपड़ा, आटोमोबाइल और विद्युत उपकरणों और यंत्रों के उत्पादन से संबंधित उद्योग स्थापित किए गए।

इलेक्ट्रॉन की खोज, परमाणु संरचना की समझ, वैक्यूम ट्यूबों के विकास, विद्युत चुंबकीय तरंगों का उत्पादन और संचार में उनका प्रयोग, परमाणु ऊर्जा के रहस्यों को सुलझाने और बिजली पैदा

सन 1900 के बाद प्रौद्योगिकीय उन्नति
दूसरी वैज्ञानिक क्रांति

1900-1910	संश्लेषित प्लास्टिक (बैकलैंड द्वारा बेकलाइट 1906); बीमारियों का रासायनिक उपचार आरंभ हुआ (केमोथेरेपी, एहर्लिच, 1907): मोटर कारों का अत्यधिक उत्पादन (असेम्बली लाइन पद्धतियां, मॉडल टी कार, फोर्ड 1908)
1910-1920	रेडियो और बेतार संचार के लिए वैक्यूम ट्यूब या वॉल्व (फ्लेमिंग 1904, 1912); ट्रैक वाहनों का अत्यधिक उत्पादन हुआ; विशाल नहरें बनाई गईं (पनामा नहर, 50 मील लंबी, 1914)
1920-1930	रेडियो प्रसारण नेटवर्क (1922); विश्व की सबसे ऊंची बिल्डिंग का निर्माण किया गया (एम्पायर स्टेट बिल्डिंग, न्यूयार्क, 102 मंजिल ऊंची, 1930): द्रव ईंधन का प्रयोग करके प्रथम रॉकेट बनाया गया (गोडार्ड, 1976)
1930-1940	टेलीविजन का आविष्कार (बेयर्ड, 1936); बांधों के निर्माण द्वारा जल विद्युत (हाइड्रोइलेक्ट्रिक पावर) पैदा की गई (बोल्डर बांध 10 लाख किलोवाट बिजली पैदा करता है, 1936): गैस टरबाइन इंजन (विट्टल और चेन, 1937)
1940-1950	पेनिसिलिन जैसी एंटीबायोटिक दवा (फ्लेमिंग और फ्लोरे 1942); प्रथम परमाणु *श्रृंखला अभिक्रिया (फर्मी और अन्य, 1942); प्रथम परमाणु बम (अमेरिका 1945);* इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटर (1946); ध्वनि से तेज गति वाला विमान (सुपरसॉनिक,1947); ट्रांजिस्टर का आविष्कार (1948)
1950 से अब तक	शांतिपूर्ण प्रयोगों के लिए परमाणु विद्युत संयंत्र (1952); अंतरिक्ष की खोज (स्पूतनिक, सोवियत संघ 1957); उपग्रह दूरसंचार (1970 का दशक); जैव प्रौद्योगिकी (1975); पर्सनल कंप्यूटर (1980 का दशक); कंप्यूटर आधारित संचार प्रणाली।

करने के लिए इसके प्रयोग और प्रक्षेपास्त्र विज्ञान (rocketry) तथा संचार उपग्रहों के क्षेत्र में हुई प्रगति के रूप में वैज्ञानिक ज्ञान में और उन्नति होने से 20वीं सदी में 'द्वितीय वैज्ञानिक क्रांति' आई। अब हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अब तक हुई प्रमुख विकास-घटनाओं का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

ऊर्जा के नए साधन

आजकल व्यावसायिक और घरेलू ऊर्जा अधिकांशत: कोयले, तेल, प्राकृतिक गैस जैसे ईंधनों से पैदा होती है। ये ऊर्जा स्रोत फिर से पैदा होने में लाखों वर्ष लेते हैं। अंत: इन ईंधनों को अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोत कहा जाता है। इन स्रोतों के भंडार लुप्त होते जा रहे हैं और यह दुनिया भर में चिंता का

विषय हो गया है। परिणामतः नवीकरणीय और स्वच्छ ऊर्जा स्रोतों की खोज का प्रयास किया जा रहा है।

सौर ऊर्जा

सूर्य चंद्रमा से 400,000 गुना अधिक चमकीला है और यह अंतरिक्ष में 10^{26} वाट की दर से ऊर्जा फैलाता है। वास्तव में उस ऊर्जा के एक अरबवें हिस्से से भी कम ऊर्जा पृथ्वी पर पहुंचती है, जिसका एक-तिहाई भाग पुनः अंतरिक्ष में प्रत्यावर्तित हो जाता है। सौर ऊर्जा को ताप के रूप में एकत्र करके या इसे सीधे बिजली में बदल कर उपयोग में लाया जा सकता है। सौर कुकर, वाटर हीटर और सौर भट्टी जैसे सौर तापन उपकरणों को तैयार किया जा चुका है और ये प्रयोग में लाए जा रहे हैं। सौर सेलों के प्रयोग द्वारा सौर ऊर्जा को सीधे बिजली में बदला जाता है। लगभग सौ वर्ष पूर्व यह पाया गया था कि जब सूर्य का प्रकाश सेलेनियम की किसी अत्यंत पतली चादर पर पड़ता है तो बिजली पैदा होती है। किंतु इस प्रयोजन के लिए सेलेनियम एक व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त सामग्री नहीं हो सकती थी। पहला व्यावहारिक सौर सेल 1954 में तैयार किया गया था जिसकी कार्य-कुशलता दर लगभग 1 प्रतिशत थी। नई सामग्रियों के विकास के साथ आधुनिक सौर सेलों ने लगभग 25 प्रतिशत कार्य-कुशलता दर प्राप्त कर ली। अब सौर सेलों के निर्माण में सिलिकॉन सर्वाधिक व्यापक रूप से प्रयुक्त होने लगा। सौर सेल स्वच्छ एवं पर्यावरण-अनुकूल होते हैं और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये सेल स्वतः जननशील विद्युत स्रोत उपलब्ध कराते हैं। सभी कृत्रिम उपग्रहों में ये सौर सेल ऊर्जा के मुख्य स्रोतों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। दूर-दराज के क्षेत्रों में सौर सेलों का प्रयोग ऊर्जा के मुख्य स्रोतों के रूप में किया जाता है। अपनी बढ़ती ऊर्जा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सौर ऊर्जा को प्रयोग में लाने वाले देशों में भारत सबसे आगे है।

सौर विद्युत संयंत्र – इसमें सूर्य की किरणों को संकेंद्रित करने और प्रत्यावर्तित करने के लिए दर्पणों का प्रयोग किया जाता है।

पवन चक्की

पवन ऊर्जा

हालांकि पवन ऊर्जा का प्रयोग हजारों सालों से किया जा रहा है और आधुनिक विश्व की जरूरतों को पूरा करने के लिए कार्यकुशल प्रौद्योगिकी विकसित करना एक प्रमुख चुनौती है। जहां मुख्य कठिनाई ऐसी मशीनें तैयार और स्थापित करने की है जो इष्टतम मात्रा में ऊर्जा पैदा करेंगी। अब एकल पवन चक्की की प्रौद्योगिकी को, एक ही साथ बहुत विशाल क्षेत्र में अनेक पवन चक्कियां स्थापित करके, बेहतर बनाया जा रहा है ताकि पवन ऊर्जा पैदा की जा सके। भारत में पवन ऊर्जा की संभावना 20,000 मेगावाट आकलित की गई है। 1999 तक भारत में 125 मेगावाट से अधिक की संस्थापित क्षमता थी, अब नई सुविधाओं के आरंभ हो जाने से इसमें और वृद्धि होने की संभावना है।

पानी से ऊर्जा

नदियों में बहता पानी एक महत्त्वपूर्ण ऊर्जा-स्रोत है। इसी ऊर्जा को जल विद्युत संयंत्रों द्वारा प्राप्त किया जाता है।

महासागरों में भी अनेक रूपों में ऊर्जा मौजूद है, अर्थात् महासागर के पानी में ज्वार, लहरों और तापमान के घटने-बढ़ने के रूप में भी ऊर्जा निहित रहती है। ज्वार-भाटे में पानी के ऊंचा उठने और गिरने में निहित ऊर्जा को ज्वारीय ऊर्जा के रूप में जाना जाता है। इस ज्वारीय ऊर्जा को उपयोग में लाने का इतिहास बहुत पुराना है। मध्यकाल में, विशेषकर ब्रिटेन और फ्रांस में ज्वारीय चक्कियां प्रयोग में लायी जाती थीं। ज्वारीय ऊर्जा प्राप्त करने का सिद्धांत वही है जो नदियों में बहते जल से ऊर्जा प्राप्त करने का है, दोनों ही तरह की ऊर्जा प्राप्त करने में टरबाइन का प्रयोग किया जाता है।

महासागरों की सतह पर बहती हवाओं को तरंगों में बदला जाता है। बिजली के व्यावसायिक उत्पादन के लिए ऐसी तरंग ऊर्जा प्राप्त करने के लिए अब तक अनेक प्रकार के उपकरण विकसित किए जा चुके हैं। तरंग ऊर्जा प्राप्त करने के लिए सबसे बड़ी संभावना उत्तरी और दक्षिणी, दोनों गोलार्द्धों में 40° और 60° अक्षांश के बीच मौजूद है। महासागर तापीय ऊर्जा रूपांतरण (Ocean Thermal Energy Conversion-OTEC) की तकनीक में, कम अक्षांश वाले उष्णकटिबंधीय महासागरों के लगभग 26° सेल्सियस के गर्म सतह वाले जल और 5° से 10° सेल्सियस के लगभग के गहरे शीतल जल जो कुछ सौ मीटर की गहराई के नीचे होता है, के बीच के तापमान के अंतर का उपयोग किया जाता है। तापमान के इस अंतर का उपयोग जेनरेटर के टरबाइन को चलाने के लिए किया जाता है और फिर उस जेनरेटर से बिजली पैदा होती है।

भूतापीय ऊर्जा

भूतापीय पृथ्वी के अंदर पैदा होने वाला प्राकृतिक ताप है। पृथ्वी की औसतन लगभग 12 किमी. की अपेक्षाकृत पतली पपड़ी के नीचे तापमान 1000° सेल्सियस से 4000° सेल्सियस के बीच होता है। भूतापीय ऊर्जा को प्राकृतिक गीज़रों या पाइपों द्वारा पृथ्वी की सतह पर लाया जाता है और फिर इसका प्रयोग बिजली पैदा करने के लिए किया जाता है। अमेरिका और न्यूजीलैंड में अनेक भूतापीय ऊर्जा आधारित संयंत्र कार्य कर रहे हैं। भारत में कुछ सीमित स्थानों पर ही भूतापीय ऊर्जा का व्यावसायिक दृष्टि से दोहन किया जाता है।

ईंधन के रूप में हाइड्रोजन और ऐल्कोहॉल

हाइड्रोजन और ऐल्कोहॉल ऊर्जा के दो संभावित स्रोत माने जाते हैं। पानी बनाने के लिए हाइड्रोजन,

ऑक्सीजन के साथ अभिक्रिया (reaction) करता है। इस अभिक्रिया में ताप की अत्यधिक मात्रा निर्मुक्त होती है। पानी के विद्युत अपघटन की प्रक्रिया के माध्यम से आसानी से हाइड्रोजन पैदा की जा सकती है। अनेक औद्योगिक प्रक्रियाओं के उपोत्पाद से भी इसे प्राप्त किया जा सकता है। हाइड्रोजन का प्रयोग अंतरिक्ष यानों (spaceships) और उच्च तापमान वाली ज्वालाओं में ऊर्जा के स्रोत के रूप में किया जाता है। तथापि, हाइड्रोजन की विस्फोटक प्रकृति के कारण इसे ऊर्जा के आम स्रोत के रूप में प्रयोग में लाने में प्रौद्योगिकीय अड़चनें आती हैं। हाइड्रोजन ऊर्जा प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक उपयुक्त प्रौद्योगिकी विकसित करने की दिशा में कार्य कर रहे हैं। विज्ञान कथा-साहित्य के प्रसिद्ध लेखक जूल्स वर्न ने अपनी पुस्तक *दि मिस्टीरियस आइलैंड* (1874 में प्रकाशित) में यह भविष्यवाणी की थी कि भविष्य में अंततोगत्वा हाइड्रोजन ऊर्जा का प्रमुख स्रोत बन जाएगा। इसी प्रकार, ऐल्कोहॉल का प्रयोग भी वैकल्पिक ऊर्जा-स्रोत के रूप में किया जा सकता है। ऐल्कोहॉल ऑक्सीजन के साथ आसानी से अभिक्रिया करता है और कार्बन डाइऑक्साइड और ऑक्सीजन पैदा करता है। इस अभिक्रिया में ताप पैदा होता है। कुछ देशों में मोटर कारों में ईंधन के रूप में ऐल्कोहॉल और पेट्रोल के मिश्रण का प्रयोग किया जा रहा है। ऐल्कोहॉल से ऊर्जा प्राप्त करने के लिए उपयुक्त प्रौद्योगिकी विकसित करने की दिशा में अनुसंधान कार्य चल रहा है।

परमाणु ऊर्जा

नाभिकीय विखंडन और संलयन की घटना की खोज से ऊर्जा पैदा करने में परमाणु में छिपी ऊर्जा
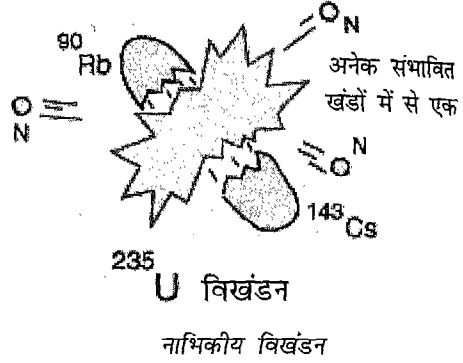
नाभिकीय विखंडन

के प्रयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ। विखंडन की प्रक्रिया के आधार पर बिजली पैदा करने के लिए नाभिकीय रिएक्टर तैयार किए गए हैं। बेल्जियम, फिनलैंड, फ्रांस, जर्मनी, हंगरी, जापान, स्पेन, स्वीडन, स्विट्जरलैंड जैसे देश अपनी कुल बिजली का 30 प्रतिशत से भी अधिक भाग विभिन्न नाभिकीय रिएक्टरों के प्रयोग द्वारा पैदा करते हैं। भारत में नाभिकीय विद्युत पैदा करने वाले अनेक रिएक्टर हैं। तथापि, यह देश में पैदा होने वाली विद्युत का लगभग 3 प्रतिशत ही है।

परिवहन और संचार

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में उन्नति के साथ-साथ समय-समय पर परिवहन के नए और अधिक कारगर साधन तैयार किए गए हैं। ऊर्जा के नवीनतर स्रोतों, भाप के इंजनों के आविष्कार और पेट्रोलियम उत्पादों पर चलने वाले इंजनों के विकास से परिवहन के अधिक नए और तेज रूपों का जन्म हुआ।

परिवहन को मुख्यत: तीन वर्गों में बांटा जा सकता है-(i) भूमि (ii) जल और (iii) हवाई। सड़कों के निर्माण और पहियों वाले वाहनों की उपलब्धता से सड़क परिवहन, परिवहन का एक

मुख्य साधन बन गया। भाप के इंजन के आविष्कार ने रेल परिवहन के युग की शुरुआत की। इसी प्रकार जल परिवहन ने आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत में नौवहनीय जलमार्गों की लंबाई लगभग 5760 मील है।

हवाई परिवहन समस्त परिवहन साधनों में से नवीनतम है और इसका बहुत तेज गति से विकास हो रहा है। इससे हमारे सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन में दूरगामी परिवर्तन हो रहे हैं। इस परिवहन के माध्यम से यात्रा-समय कम हो गया और विश्व के विभिन्न क्षेत्रों की दूरी कम हो गई। द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ होने के समय यह केवल अपने विकास की दहलीज पर ही था। आज यह यात्री और डाक परिवहन का एक महत्त्वपूर्ण साधन बना हुआ है और एक संभावित माल परिवहन के साधन के रूप में इसका तेजी से विकास हो रहा है।

तरल और गैसीय उत्पादों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में पाइपलाइनें परिवहन के एक महत्त्वपूर्ण साधन का काम करती हैं। इनका प्रयोग कच्चे तेल, गैसोलिन, गैस, पानी और अन्य उत्पादों के परिवहन में किया जाता है। पाइपलाइन परिवहन शहरी जल और गैस उपयोगिताओं का एक अनिवार्य अंग रहा है। यह पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस उत्पादन उद्योगों का भी एक अभिन्न अंग है।

परिवहन के क्षेत्र में विकास ने संचार के नए-नए साधनों को जन्म दिया। हालांकि 15वीं सदी में मुद्रण प्रौद्योगिकी परिष्कृत थी, फिर भी प्रमुख युगांतरकारी घटना माइकल फैराडे द्वारा वैद्युत चुंबकीय प्रेरण की खोज थी। इस खोज का प्रयोग करते हुए विद्युत धारा (current) को चालू करके और रोक कर संकेत भेजे जा सकत थे। मोर्स ने टेलीग्राफ के विकास में इस सिद्धांत को लागू किया। इसने न केवल संचार की गति को द्रुत बनाया बल्कि लंबी दूरियों में भी संचार को संभव बनाया। ग्राहम बेल ने 1876 में टेलीफोन का आविष्कार किया, जिसने लंबी दूरी से बातचीत करने की क्रिया को संभव बनाया।
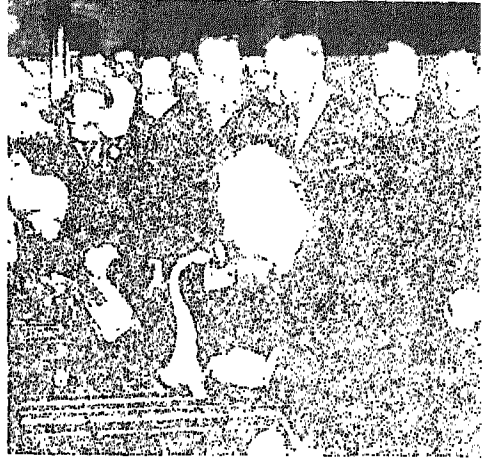
ग्राहम बेल टेलीफोन के प्रयोग का प्रदर्शन करते हुए

सर जगदीश चंद्र बोस

1901 में मारकोनी को बिना तारों के संदेश भेजने में सफलता मिली और इस प्रकार बेतार संचार युग का आरंभ हुआ। उसने हर्ट्ज़ और सर जगदीश चंद्र बोस द्वारा विकसित वैद्युत चुंबकीय तरंगों के विज्ञान का प्रयोग किया। 1920 और 1930 के दशकों में रेडियो और टेलीविजन के विकास ने जनसंचार को अधिक सुगम और प्रभावी बनाया। 1962 में मानव संचार में एक नए युग का सूत्रपात हुआ जब पहली बार समाचारों, समाचारों से संबंधित चित्रों, रेडियो बुलेटिन और सीधे (live) टेलीविजन कार्यक्रमों को बाह्य अंतरिक्ष में स्थापित कृत्रिम उपग्रहों के माध्यम से महाद्वीपों के बीच प्रसारित किया गया।

प्रौद्योगिकी : विनाश के साधन के रूप में

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में हुए विकास ने पृथ्वी पर मानव-जीवन की गुणवत्ता को समृद्ध बना दिया है। किंतु परम शक्तिमान (सुपर पावर) बनने के मनुष्य के लोभ और इच्छा के परिणामस्वरूप विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का नकारात्मक प्रयोग भी हुआ है। इस प्रकार, 20वीं सदी में हथियारों के विकास में भी अत्यधिक तेजी आई, जो व्यापक विनाश के शक्तिशाली साधन हैं। व्यापक विनाश के ये हथियार अर्थात् मिसाइल, एटम बम, रासायनिक और जैविक हथियार आदि अनेक देशों के पास हैं। आज विश्व भर में ऐसे वैज्ञानिकों की संख्या में कई गुना वृद्धि हुई है जो केवल सैनिक अनुसंधान और विकास (Research and Development - R&D) में लगे हैं। यहां तक कि वे वैज्ञानिक भी जो प्रौद्योगिकीय नवाचारों के अग्रदूत हैं, सैनिक अनुसंधान और विकास कार्यों में भर्ती कर लिए गए हैं। सूक्ष्म-इलेक्ट्रॉनिकी (microelectronics) के प्रयोग, नई सामग्रियों के विकास, अधिक कारगर ईंधन के विकास और इंजन की कार्यक्षमता में वृद्धि से प्रमुख हथियार प्रणालियों और उनके वाहकों, जैसे - टैंकों, लड़ाकू विमानों, मिसाइलों और युद्धपोतों आदि की विशेषताओं में परिवर्तन आ गया है। प्रक्षेपास्त्रों (cruise missiles) अर्थात् पृथ्वी से पृथ्वी, पृथ्वी से आकाश और आकाश से पृथ्वी पर मार करने वाली मिसाइलों का विकास कर लिया गया है। कुछ देशों ने बैलिस्टिक मिसाइलें (rockets) जैसे इंटरमीडिएट रेंज बैलिस्टिक मिसाइलें यानी मध्यम दूरी तक मार करने वाली मिसाइलें (IRBM), अंतरमहाद्वीपीय बैलिस्टिक मिसाइलें (ICBM) आदि भी विकसित कर ली हैं जो किसी अन्य महाद्वीप में भी लक्ष्य पर दागी जा सकती हैं। मिसाइल प्रणालियों ने 'स्टार वार' कार्यक्रम जैसे खतरनाक विचार को भी एक सुस्पष्ट संभावना बना दिया है। सूचना प्रौद्योगिकी में विकास के साथ सटीक और लक्ष्यभेदी (guided) मिसाइल प्रणालियां तैयार होने लगी हैं। यदि इनकी विस्फोटक शक्ति (payload) को पारंपरिक से नाभिकीय में बदल दिया जाए तो इनकी व्यापक संहार शक्ति कई गुना बढ़ जाएगी। एटम बम का विकास रेडियोधर्मिता के क्षेत्र में और न्यूट्रानों की खोज के क्षेत्र में वैज्ञानिक ज्ञान के विकास का परिणाम था। इसने एटम बमों को व्यापक विनाश के साधन के रूप में प्रयोग में लाने की संभावना को प्रकट कर दिया। निःसंदेह, द्वितीय विश्वयुद्ध, जापान में हिरोशिमा (6 अगस्त 1945) और नागासाकी (9 अगस्त 1945) पर एटम बम गिराने के साथ ही समाप्त हो गया। अब विभिन्न प्रकार के एटमी हथियार तैयार कर लिए गए हैं। स्फोटक शीर्ष वाली नाभिकीय मिसाइलें, जैसा कि

पहले वर्णन किया गया है, एक घातक संयोग उत्पन्न करती हैं। आज हमारे पास ऐसी मिसाइलें हैं जो 1600 किमी. की दूरी तक 200 किलो टन स्फोटक शीर्ष वहन कर सकती हैं (जापान पर गिराए गए एटम बम 12 किलो टन आकार के थे)।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई प्रगति ने रासायनिक और जैविक हथियारों के निर्माण को भी जन्म दिया है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान विशाल मात्रा में ऐसे रासायनिक हथियारों का प्रयोग किया गया जिनमें क्लोरीन, फास्जीन और मस्टर्ड गैस जैसे प्राणघातक एजेंट शामिल थे। 1935-36 में इथियोपिया के खिलाफ इटली ने भी रासायनिक हथियारों का प्रयोग किया था। यह विदित ही है कि 1937 और 1945 के बीच जापान ने भी चीन के विरुद्ध रासायनिक हथियारों का इस्तेमाल किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिटलर ने अत्यंत घृणित बंदी शिविरों में लाखों यहूदियों को गैस से दम घोटकर मरवा डाला था। जैविक हथियारों के प्रयोग का भी लंबा इतिहास है। अब एक अंतर्राष्ट्रीय प्रोटोकॉल अर्थात जेनेवा प्रोटोकॉल युद्ध में गैसों और बैक्टीरिया के प्रयोग को प्रतिबंधित करता है। 1975 का जैविक हथियार सम्मेलन जैविक और विषैले हथियारों के विकास, उत्पादन और संचयन को प्रतिबंधित करता है। इस सबके बावजूद, नए रासायनिक और जैविक हथियारों को विकसित करने के लिए गुप्त रूप से अनुसंधान चल रहा है। आज सर्वाधिक उन्नत रासायनिक हथियार है द्विकर्मी तंत्रिका कारक (*binary nerve agent*)। संभावित जैविक युद्ध कारक या एजेंट हैं रोगवाहक पदार्थ और जीव। इनमें पीला बुखार, रिकेट्स, टायफाइड, प्लेग जैसे और कवक (fungi)जैसे कोसीडायोआइडोनाइकोसिस आदि रोग पैदा करने वाले वायरस और बैक्टीरिया शामिल हैं। जैविक और रासायनिक हथियार उन देशों द्वारा भी तैयार किए जा सकते हैं जो प्रौद्योगिकी की दृष्टि से अधिक विकसित और उन्नत नहीं हैं। जननिक इंजीनियरी (genetic engineering) संभावित सैन्य प्रयोगों के लिए रक्षा वैज्ञानिकों को नई सामग्री और प्रक्रियाएं सुलभ करा रही हैं। यह विकास बहुत खतरनाक साबित हो सकता है और इसको सीमित करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका है – विभिन्न राष्ट्रों के बीच एक कारगर अंतर्राष्ट्रीय संधि और उस संधि का पालन करने की उनके लिए अनिवार्यता और बाध्यता।

जैविक विज्ञानों में विकास

प्राणियों के जीवन, स्वभाव और कार्यों के आधार को समझने की मनुष्य की जिज्ञासा और बीमारियों से लड़ने के प्रयास ने जैविक विज्ञानों में प्रगति को जन्म दिया। 1897 में एक जर्मन रसायन विज्ञानी ई. बूचर की इस खोज ने जैव रसायन विज्ञान का आरंभ किया जिससे कि खमीर के एक कोशिका मुक्त अर्क चीनी को ऐल्कोहॉल में बदल सकता है (बिना किसी जीवित कोशिका की उपस्थिति के किण्वन यानी खमीर बनना)। इससे पूर्व रसायनज्ञ यह मानते थे कि जीवन से जुड़ी प्रक्रियाएं केवल जीवित कोशिकाओं के भीतर ही घटित हो सकती हैं। इसी प्रकार, वायरस की भी पहचान की गई। अनुसंधानकर्ताओं ने यह रहस्योद्घाटन किया कि ये संक्रामक कारक (viruses) पौधों और जानवरों में अनेक बीमारियों जैसे पीला बुखार, पोलियो, कनपेड़े, छोटी माता, चेचक, इन्फ्लुएंजा और आम जुकाम का कारण हैं। इन बीमारियों के इलाज के लिए दवाइयों की खोज में कई दशक लग गए।

20वीं सदी के पूर्वाद्र्ध को सूक्ष्म जीव विज्ञान (microbiology) और जैव-रसायन विज्ञान के क्षेत्र में विकास का काल माना जा सकता है। इस दौर में विटामिनों की खोज हुई, आनुवंशिकता के वाहक के रूप में 'जीन' शब्द प्रचलन में आया, इंसुलिन का वियोजन सामने आया और पेनिसिलिन की खोज और इसका निर्माण हुआ। पेनिसिलिन के प्रतिजीवाणुक गुण अप्रायिक हैं। इसी अवधि के दौरान 'सल्फा' औषधियां भी तैयार की गईं। पेनिसिलिन की खोज से वैज्ञानिकों ने अन्य अनेक प्रतिजीवाणुकों (antibiotics) की खोज की और उन्हें तैयार किया। इससे संक्रामक रोगों से होने वाली मृत्यु-दर में बहुत कमी आ गई। यह दौर आनुवंशिकी (genetics) और आनुवंशिकता के क्षेत्र में भी गहन अनुसंधान कार्य का साक्षी रहा।

20वीं सदी के उत्तराद्र्ध में वैज्ञानिकों को समस्त जीवों के आधारभूत रचना-खंडों को समझने की दिशा में एक बड़ी सफलता मिली। यह इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शिकी (microscopy) और एक्स-रे क्रिस्टल विज्ञान (crystallography) जैसे अनुसंधानक उपकरणों के विकास के कारण ही संभव हो पाया। प्रोटीन, डिऑक्सीराइबोन्यूक्लिक अम्ल (DNA) और राइबोन्यूक्लिक अम्ल (RNA) जीवों के सार के रूप में पाए गए। इन मूल जीवन-निर्माता खंडों को समझने की ललक ने अणुजैविकी को जन्म दिया जो जैव-रसायन और भैतिकी की देन था। डी.एन.ए. आनुवंशिक विशेषताओं की पहचान करने के लिए अनिवार्य पाया गया क्योंकि यह जेनेटिक कोड का वाहक था जो माता-पिता से लेकर आगे उनकी संतति को आनुवंशिक स्वरूप प्रदान करता था। 1950 के दशक के आरंभ में क्रिक और वॉटसन ने डी.एन.ए. अणु की दोहरी कुंडली वाली
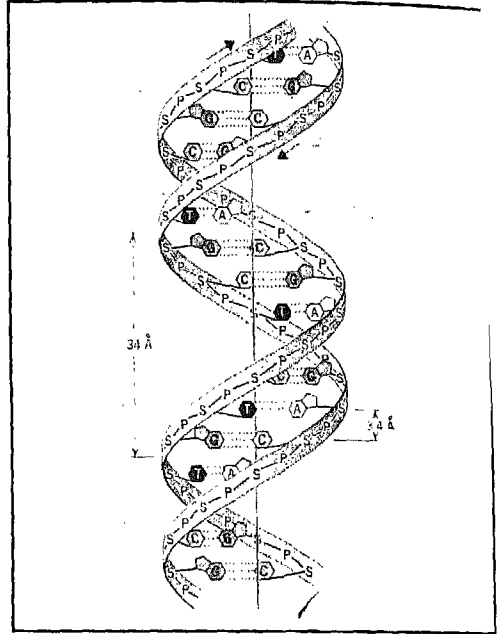
वॉटसन एवं क्रिक द्वारा विकसित DNA मॉडल

संरचना की खोज की। एक बार जब डी.एन.ए. संरचना का पता चल गया फिर वैज्ञानिकों ने इस सिद्धांत पर कार्य करना आरंभ कर दिया कि डी.एन.ए. अपने आदेश, कोशिका में प्रोटीनों को कैसे संप्रेषित करता है।

1970 में हरगोबिंद खुराना और उनके साथी अनुसंधानकर्ताओं ने पहली बार जीन का पूर्ण विश्लेषण किया और इसे सीधा इसके घटक रसायनों से जोड़ा। कुछ वर्ष बाद कोहेन और बोयेर ने जेनेटिक इंजीनियरिंग की स्थापना की। जब उन्होंने यह दर्शाया कि डी.एन.ए. अणुओं को संकुचन एंजाइमों से काटा और फिर अन्य एंजाइमों से जोड़ा भी जा सकता है और बैक्टीरियम 'एश्केरिकिआ कोली.' में प्रविष्ट करके पुनर्जनित भी किया जा सकता है। 1980 के दशक में पहली

हरगोबिंद खुराना

बार एड्स (Acquired Immune Deficiency Syndrome) का पता चला और बाद में एड्स के वायरस को अलग किया गया। 1990 के दशक में वैज्ञानिकों को बृहदत्र (colon) के कैंसर के जीन्स की पहचान करने में सफलता मिली।

1980 और 1990 के दशकों में जेनेटिक इंजीनियरिंग ने वैज्ञानिकों को मानव इंसुलिन इंटरल्यूकिन 2, खून के थक्के को विलीन करने जैसे अनेक नए प्रोटीन और हेपेटाइटिस 'बी' का टीका तैयार करने में सहायता दी। जेनेटिक इंजीनियरिंग, 20वीं सदी की महत्त्वपूर्ण खोजों में से एक है और इसे हमारे जीवन और स्वास्थ्य को ठीक रखने के एक सशक्त साधन के रूप में प्रयोग में लाया जा सकता है।

सूचना प्रौद्योगिकी

सूचना प्रौद्योगिकी सूचना के संग्रहण, भंडारण, संसाधन और पारेषण का विज्ञान है। यह कंप्यूटर प्रौद्योगिकी और संचार का मेल है, इसने सूचना के संग्रहण, भंडारण और प्रसारण में क्रांति ला दी है।

कंप्यूटर प्रौद्योगिकी में उन्नति के परिणामस्वरूप मिनी और माइक्रोकंप्यूटरों का निर्माण हुआ है जो सूचना के आदान-प्रदान संबंधी कार्यकलापों में प्रयुक्त होते हैं। यह कंप्यूटर न केवल कार्यकुशल और विश्वसनीय हैं बल्कि उच्च गति पर सूचना को संसाधित भी करते हैं। दूरसंचार में हुए विकास से टेलेक्स, फैक्स, कृत्रिम उपग्रहों और आप्टिकल फाइबर जैसे उपकरण तैयार किए गए हैं जिनके द्वारा दूरस्थ स्थानों को लगभग तत्काल सूचना भेजना संभव हो गया है। प्रथम इलेक्ट्रॉनिक डिजिटल कंप्यूटर 1946 में अमेरिका में बनाया गया था। इसका भार 30 टन था और इसने दो कार-गैराजों के बराबर का स्थान घेर रखा था। अब सेमी-कंडक्टरों और माइक्रोइलेक्ट्रॉनिक्स के क्षेत्र में उन्नति के कारण समान मात्रा की कंप्यूटिंग शक्ति एक मटर के दाने के आकार के सिलिकॉन चिप में रखी जा सकती है। अब दूरसंचार प्रौद्योगिकियों के नेटवर्क संकेतों का प्रयोग करते हैं (न कि तुल्यरूप संकेतों का), यही तकनीक कंप्यूटिंग में भी प्रयुक्त होती है। इसके परिणामस्वरूप इलेक्ट्रॉनिक्स, कंप्यूटिंग और दूरसंचार प्रौद्योगिकियां समन्वित हुई हैं और इन्होंने मिलकर सूचना प्रौद्योगिकी में क्रांति ला दी है। यह हमारी जीवन-शैली और हमारी कार्य-शैली और शायद हमारी चिंतन-शैली में भी नाटकीय परिवर्तन ला रही है।

घर के भीतर माइक्रोचिप हमारी वाशिंग मशीनों, फूड प्रोसेसरों और वीडियो केसेट रिकार्डरों को नियंत्रित कर रहे हैं। घरों में पर्सनल कंप्यूटरों का प्रयोग भी बढ़ता जा रहा है। स्कूलों में पर्सनल कंप्यूटरों का प्रयोग न केवल शैक्षिक प्रयोजनों के लिए किया जा रहा है बल्कि अनेक छात्र अपने

पेशेवर कैरियर के निर्माण के लिए हार्डवेयर और साफ्टवेयर प्रौद्योगिकियां भी सीख रहे हैं।

नई सूचना प्रौद्योगिकी कागजी कार्रवाई का स्थान ले रही है और उत्पादकता तथा ग्राहक सेवा में सुधार ला रही है। इसका व्यापक प्रयोग परिवहन, बैंकिंग, स्थापत्य कला, प्रकाशन और स्वास्थ्य रक्षा में किया जा रहा है। यह मौसम की भविष्यवाणी करने में भी वैज्ञानिकों की मदद कर रही है। अत: कंप्यूटर के प्रयोग अनगिनत हैं और इसने दुनिया भर के समाजों को नाना प्रकार से प्रभावित किया है।

समकालीन विश्व में संस्कृति

मानव जाति के इतिहास में कला और संस्कृति के क्षेत्र में विकास की गति पिछली दो सदियों के दौरान जितनी अधिक तेज रही है उतनी पहले कभी नहीं रही। पुराने समय में बौद्धिक अभिव्यक्ति अधिकांशत: राजदरबारों या चर्च के पवित्र प्रांगणों तक ही सीमित थी और बहुत हद तक यह उनके संरक्षण पर भी आश्रित थी, जबकि अधिसंख्य लोग अपने सामाजिक-धार्मिक जीवन में अभिव्यक्ति के साधारण और अपरिष्कृत रूप ही प्रयोग में लाते थे। इनमें से एक अभिव्यक्ति रूप को आज 'लोक कला' के रूप में जाना जाता है। यह एक ऐसी परंपरा है जो समय के साथ निरंतर चल रही है, खास तौर पर उस समय जब हम भारतीय संदर्भ में इसकी बात करते हैं। प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में प्रौद्योगिकीय विकास होने से किसी भी कलात्मक कृति का अत्यधिक संख्या में पुनरुत्पादन होना संभव हो गया है। परिणामत: साहित्य के सभी रूप, चाहे वह कविता, नाटक या उपन्यास हो और दृश्य तथा अभिनय कलाओं का सृजन, आम आदमी की पहुंच में आ गए हैं। अभी हाल ही में सेटेलाइट टेलीविजन और इंटरनेट सिस्टम ने संस्कृति की संकल्पना में एक नया आयाम और अर्थ जोड़ा है। समकालीन विश्व में यह एक व्यापक आधार वाला शब्द बन गया है जिसे पूरी तरह समझने के लिए बहुआयामी समझ चाहिए। उपर्युक्त सभी विकास घटनाएं परस्पर निर्भर हैं और समकालीन समाज के विकास में इन्होंने योगदान दिया है।

संस्कृति

राबर्ट रेडफील्ड के अनुसार संस्कृति, "कला और शिल्पवस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त पारंपरिक बोध का संगठित रूप है जो परंपरा के आधार पर किसी मानव समूह को परिभाषित करता है।" अत: संस्कृति का प्रयोग अर्जित व्यवहारों को द्योतित करने के लिए किया जाता है जिन्हें किसी समाज के सदस्य आपस में बांटते और संप्रेषित करते हैं। भूमंडलीकरण के दौर में मैथ्यू आर्नोल्ड के ये शब्द अभी भी सत्य प्रतीत होते हैं कि, "विश्व में जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है और जो भी सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, संस्कृति उससे हमें परिचित कराती है।"

लोग आमतौर पर एक दोहरी सांस्कृतिक परंपरा में भागीदार बनते हैं। एक सांस्कृतिक परंपरा वह है जिसे धर्मग्रंथों द्वारा मंजूरी नहीं मिली हुई है और यह स्थानीय विशेषताओं पर ध्यान केंद्रित करती है और समुदाय के अधिसंख्य लोगों द्वारा स्वीकृत होती है। दूसरी परंपरा साहित्य और विचार के परिष्कार में निहित है और किसी अभिजात समूह के व्यवहार में प्राय: अभिव्यक्त होती है। उदाहरण के लिए, जब स्टालिन बीमार पड़ा तो कम्युनिस्ट पार्टी के पोलित ब्यूरो ने रूसी चर्च से उनके लिए प्रार्थना

करने को कहा। यहां तक कि सांस्कृतिक क्रांति के मध्य में बौद्ध धर्म के शताब्दी समारोह में माओ जेदांग ने अध्यक्षता की। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी समाज के विकास में संस्कृति की भूमिका अमिट रहती है और इसे नकारा नहीं जा सकता।

आजकल भूमंडलीकरण की घटना ने सभी विशेषीकृत संस्कृतियों को प्रभावित करना आरंभ कर दिया है और दुनिया भर में एक प्रकार की सांस्कृतिक समानता प्रदान की है। अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम भूमंडलीकरण की संकल्पना से परिचित हो जाएं। क्या आज का भूमंडलीकरण नव-उपनिवेशवाद का ही एक कर्णप्रिय पर्याय है? अनेक बार भूमंडलीकरण एक सूक्ष्म रूप में नव-उपनिवेशवाद को लागू करता प्रतीत होता है। कई लोग इसे संस्कृति और आर्थिक प्रभुत्व की नई विचारधारात्मक बोतल में प्रत्यक्ष शोषण की पुरानी शराब मानते हैं। इस अर्थ में विकसित देशों को उनके तत्कालीन उपनिवेशों से होने वाले आर्थिक लाभों के प्रवाह की प्रक्रिया इन उपनिवेशों की राजनीतिक स्वतंत्रता के उपरांत भी निरंतर चल रही है। दूसरे शब्दों में, तत्कालीन राजनीतिक या सैनिक नियंत्रण का स्थान अब आर्थिक प्रभुत्व ने ले लिया है। इसलिए कई बार यह मान लिया जाता है कि पुराने औपनिवेशिक साम्राज्यों की समाप्ति से यह जरूरी नहीं कि वास्तविक या कल्पित साम्राज्यवाद की भी समाप्ति हो गई हो।

तथापि, भूमंडलीकरण का एक अन्य पहलू भी उल्लेखनीय है। नव-स्वतंत्र राष्ट्रों ने नई विश्व-व्यवस्था की चुनौतियों का जवाब उल्लेखनीय आत्मविश्वास के साथ दिया है। यह घटना आज समकालीन इतिहास में आंखों के सामने बराबर घट रही है। यहां तक कि एकध्रुवीय विश्व के संदर्भ में भी शक्ति संतुलन 'पाश्चात्य' की अपेक्षा अधिक 'भूमंडलीय' हुआ है। विदेश नीति और घरेलू नीति यानी दोनों ही प्रकार की नीतियों के साधन लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया से गुजरे हैं। लोग निरंतर अधिकाधिक संख्या में समस्त अंतर्राष्ट्रीय और बहुपक्षीय संस्थाओं के काम-काज और परिणामों के साथ पर्याप्त रूप से जुड़ रहे हैं।

समकालीन दौर, खासकर 1945 के बाद के दौर ने पांच नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया। ये हैं : (i) स्वतंत्र राष्ट्रों की संख्या में वृद्धि, (ii) विभिन्न राष्ट्रों द्वारा नाभिकीय यानी परमाणु हथियार प्राप्त और तैयार करना, (iii) राष्ट्रों के बाहरी और कई बार आंतरिक व्यवस्था भंजक कार्यों के संपर्क में आने में वृद्धि, (iv) महाशक्तियों द्वारा प्रभावित किया जाना, और (v) राज्येत्तर सक्रिय घटकों के प्रभाव में अकस्मात बोधगम्य वृद्धि। 'दक्षिण' के राष्ट्रों या देशों के बारे में कहा जाता है कि आक्रामक राष्ट्रवाद, जनसंख्या में तीव्र वृद्धि और परिणामतः आर्थिक पिछड़ापन, राजनीतिक अस्थिरता और परिणामी सुरक्षाहीनता ही उनके विशेष लक्षण हैं। आर्थिक रूपरेखा के अनुसार 'उत्तर-दक्षिण' ध्रुवीकरण ने विकसित उत्तर और लगभग भुखमरी से ग्रस्त 'दक्षिण' के बीच की खाई को तेजी से और भी चौड़ा कर दिया है। अतः समकालीन ऐतिहासिक संस्कृति का विरोधाभास यह है कि भारत और पाकिस्तान जैसे देशों की क्षमताओं में जहां एक ओर पर्याप्त वृद्धि हुई है वहीं कतिपय अन्य देशों की क्षमताओं में बहुत कमी आई है, जो लगातार विदेशी सहायता पर निर्भर होते जा रहे हैं, जैसे कि कुछ लातिन अमेरिकी देश।

नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (New International Economic Order-NIEO)

की मई 1974 में स्थापना पर संयुक्त राष्ट्र की घोषणा बहुत ही युगांतरकारी महत्त्व की है। भूमंडलीकरण की अग्रदूत यह व्यवस्था बेहतर दाता और प्रतिग्रहीता की व्यवस्था मात्र नहीं थी या अप्रत्यक्ष रूप से उत्तर-दक्षिण के बीच सहायता और अनुदान पर आधारित संबंधों की व्यवस्था नहीं थी। इसकी सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धि थी समानता और पारस्परिकता पर आधारित लाभकारी सहभागिता। विकसित और विकासशील राष्ट्र जिन समस्याओं का सामना कर रहे हैं उन्हें भूमंडलीय संदर्भ में अधिक अनुकूल रूप से हल किया जाना था। अत: एक भूमंडलीय समझौता अनिवार्य हो गया था। फरवरी 1980 में, संयुक्त राष्ट्र के महासचिव वाल्दहीम को पेश की गई ब्रांड आयोग की रिपोर्ट में यह कहा गया था कि "अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों की नई व्यवस्था में सबके लिए लाभकारी प्रावधान हैं।" जनसंचार माध्यमों के विकास और इनके द्वारा व्यक्त जनमत की बढ़ती अभिव्यक्ति ने दुनिया के लोगों के प्रति इस 'नई कूटनीति' की बातचीत और करारों को अधिक जवाबदेह बनाया है। जनसंचार माध्यमों में सूचना के विस्फोट से और कंप्यूटरों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय आधार पर आंकड़ों के संग्रहण और उनकी पुन: प्राप्ति को सुगम बनाने से 'ग्लोबल विलेज' या विश्व ग्राम का सपना अब बहुत दूर की बात नहीं लगती। वास्तव में भूमंडलीकरण एक सर्वव्यापी वास्तविकता बन गई है। फिल्मों, फिल्म उत्सवों, खेलों के या महाविपत्तियों के टेलीविजन पर प्रसारण जैसे कार्यक्रम इसे सुस्पष्ट वास्तविकता बना रहे हैं। इसलिए नेल्सन मंडेला या मदर टेरेसा पूरे विश्व में पूज्य या स्तुत्य बन गए हैं। इस स्तुति या पूजा का आधार है मानववाद। पश्चिमी व्यक्तिवाद या पश्चिम के उपयोगितावाद जैसे विशिष्ट सांस्कृतिक लोकाचार अब पर्याप्त नहीं समझे जाते। पूर्व के सार्वभौमीकरण को इसीलिए इसके साथ जोड़ा गया है ताकि मानववाद के नए सांस्कृतिक लोकाचार के लिए आधार प्रदान किया जा सके।

समकालीन विश्व साहित्य

यूरोपीय साहित्य

सामाजिक पृष्ठभूमि : प्रथम विश्वयुद्ध से पहले के 50 वर्ष सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक खोजों सहित आर्थिक विकास के उल्लेखनीय दौर के साक्षी रहे। इस दौर में आम जनता के लिए भौतिक संपदा का सृजन हुआ। सामाजिक संदर्भ में इसका अर्थ यह हुआ कि मध्य वर्ग, लोकतांत्रिक, यंत्रवादी और शहरी व्यवस्था ने अभिजात तंत्रीय, अर्धसामंती मानवतावादी और कृषि-आधारित व्यवस्था का दमन किया। सन 1900 तक विश्व में 11 महानगर बन चुके थे और इनमें से प्रत्येक की जनसंख्या दस लाख से अधिक थी। यूरोपीय देशों की राजधानियां, जैसे-लंदन, बर्लिन और पेरिस, औद्योगिक, वाणिज्यिक और वित्तीय कार्यकलापों का केंद्र बन गईं और उनका यह नेटवर्क शायद विश्वव्यापी आर्थिक व्यवस्था के बहुत निकट था। अत: व्यक्तिवादी आधुनिक चिंतन का उदय हुआ और आधुनिकतावाद एक शहरी कला के रूप में उभरा और इसने आधुनिक नगर की भावना पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। अब नगर ही संस्कृति का प्रतीक बन चुका था।

सैकड़ों सालों के साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक विस्तार के कारण पश्चिमी गोलार्द्ध में इन परिवर्तनों ने विश्व के सुदूरवर्ती समुद्री तटों को भी प्रतिध्वनित किया और औद्योगीकरण के प्रभाव की प्रतिक्रिया

को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करने के लिए विश्व साहित्य सामने आया। प्रचुर भौतिक उन्नति से गौरवान्वित उपनिवेशों के मालिक ही दो विश्वयुद्धों और महामंदी की मार से सबसे ज्यादा प्रभावित हुए। रूस और चीन में पारंपरिक सत्ताओं में महान क्रांतियों द्वारा परिवर्तन हुआ और एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के सुदूरवर्ती देशों में राष्ट्रवाद की ध्वजाएं फहराने लगीं और स्वतंत्रता की ध्वनियां सुनाई देने लगीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि पश्चिमी देशों ने कभी आंतरिक खतरों का सामना नहीं किया। मार्क्स और समाजवाद का उदय इसका तात्कालिक परिणाम था। दूसरा, और शायद अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम था—ईश्वरहीन विश्व की खोज। अत: विश्व ने स्वयं को भौतिक समृद्धि और भावनात्मक अभाव के विरोधाभासों के बीच फंसा हुआ पाया। यह विडंबना ही थी कि पश्चिम के महान औद्योगिक जागरण ने अपने महान साहित्यकारों के विचारों को इन देशों तक पहुंचा कर उन्हें अपनी अद्वितीय सत्ता में विश्वास व्यक्त करने की प्रेरणा दी और इस प्रकार अपनी औपनिवेशिक आकांक्षा की समाप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। लेखक ने एक व्यक्ति के रूप में स्वयं को, खासकार पश्चिम में, व्यापक भ्रांति, आध्यात्मिक दिवालियेपन, पारंपरिक पारिवारिक जीवन और विभिन्न ईश्वरों के विघटन की स्थिति में फंसा हुआ पाया। अत: उसका प्रत्युत्तर पारंपरिक नहीं था। जीवन के अर्थ की अपनी तलाश में उसने परिवर्तनशील समाज के प्रति अपनी व्यक्तिवादी प्रतिक्रिया में अभिव्यक्ति के नए रूप और शैलियां विकसित कीं।

कविता : यह तर्क दिया जा सकता है कि आधुनिक कविता का जन्म बाद्लेयर के अवास्तविक शहर के साथ हुआ। उसके लिए भीड़ का अर्थ था अकेलापन। जर्मनी के रिल्के और जार्ज जैसे अभिव्यंजनावादी कवि भी शहरी जीवन और अतिवादी राजनीति से अभिभूत थे। उनके लिए शहर, दीवानगी और विरासत से वंचित होने का स्थान था। किंतु रिम्बौड की भाषा और बिंबविधान ने उसे पहला सच्चा आधुनिक कवि बनाया। रिम्बौड की भांति उस काल के सभी कवियों, यीट्स और इलियट, मलार्मे और वलेरी, मोंटाले और लोर्का ने परंपरा और नवीनता के बीच तनाव का अनुभव किया। इन सबने प्रचलित काव्य-भाषा की अपर्याप्तता को अनुभव किया। इससे मुक्त छंद के व्यापक प्रयोग का जन्म हुआ। यह एक ऐसी कविता थी जिसमें अतुकांत पंक्तियां होती थीं और छंदोबद्धता नहीं होती थी। व्हिटमैन और एज़रा पाउंड की कलम से आरंभ होकर मुक्त छंद टी.एस. इलियट के हाथों में '*द वेस्ट लैंड*' में एक विलक्षण माध्यम बन गया। इन सब कवियों ने सचेत शिल्पकारिता पर भी बल दिया। इलियट की '*द फोर क्वार्टेट्स*' नाट्य रूप में लिखी गई कविता इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

उपन्यास : 19वीं सदी के दौरान उपन्यास ने स्वयं को व्यापक विविधता, व्याप्ति और गहराई वाले साहित्यिक माध्यम के रूप में स्थापित किया। अमेरिका के हेनरी जेम्स उपन्यास को कला रूप में अपनाने वाले पहले लेखक थे। द *अमेरिकन्स* जैसे उनके उपन्यासों में रूप केवल विषय-वस्तु को व्यक्त करने का साधन मात्र ही नहीं था बल्कि एक अर्थ में यह स्वयं भी विषय-वस्तु बन गया था। रूप और विषय-वस्तु का यह संयोजन आधुनिक उपन्यास का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। जोसेफ कोनार्ड और जेम्स ज्वायस ने इसका कुशलतापूर्वक प्रयोग किया। इनमें से अनेक उपन्यासकार सिगमंड फ्रॉयड और उनके द *इंटरप्रेटेशन आफ ड्रीम्स* द्वारा अत्यधिक
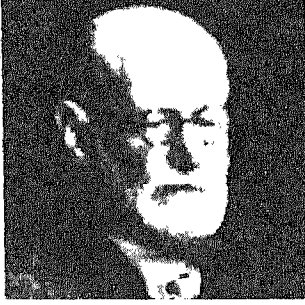
सिगमंड फ्रायड
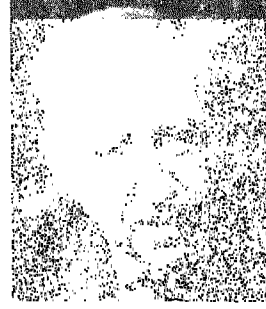
ई.एम. फॉस्टर

प्रभावित थे। ज्वायस द्वारा प्रयोग में लायी गई चेतना पद्धति की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति *यूलीसेस* में हुई। ज्वायस की परंपरा को आगे बढ़ाया वर्जीनिया वूल्फ ने। मार्सेल प्राउस्त का उपन्यास *रिमेम्बरेंस आफ थिंग्स पास्ट* भी चेतना की जटिलता की एक लंबी यात्रा थी और यह अतीत की लुप्त वास्तविकता की तलाश भी था। कलाकार एक चरित्र बन गया और चरित्र के रूप में कलाकार का चित्रण थॉमस मान और आंद्रे गीद आदि रचनाकारों की कृतियों में बार-बार दोहराया जाने वाला विषय बन गया। अनेक उपन्यासकारों ने जीवन के अनेक पहलुओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के लिए मिथकों का सहारा लिया। आंद्रे मलरॉ, सार्त्र, कैमो और फ्रांज़ काफ्का के उपन्यासों, क्रमशः *दि मैजिक माउंटेन, नॉसिया, दि आउटसाइडर, दि ट्रायल* को यथार्थवादी आग्रह के बावजूद उल्लेखनीय उपलब्धि माना गया। अतः पारंपरिक अर्थ में रूप, भाषा और कथानक मुक्तता की नवीनता और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ने आधुनिक उपन्यास की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित किया। यहां तक कि अधिक परंपरावादी उपन्यासकारों जैसे डी. एच. लॉरेंस और ई. एम. फॉस्टर की कृतियों, क्रमशः *रेनबो* और *ए पैसेज टू इंडिया* में भी पाठक प्रतीकवाद के प्रयोग का सचेत प्रयास पाता है।

नाटक : व्यापक विविधता और रूप तथा तकनीक के प्रति कलाकार का पूर्वाग्रह नाटक के क्षेत्र में जितने उत्कृष्ट रूप से व्यक्त हुए उतने कहीं किसी अन्य विधा में नहीं। आधुनिक नाटक के जनक थे हेनरिक इब्सन। उन्होंने पाश्चात्य समाज की समस्त उथल-पुथल देखी थी और तकनीकी तथा भाषायी संरचना के संयोजन के माध्यम से उन्होंने समकालीन विषयों को चित्रित करने की कोशिश की थी, उनकी रचना *दि डॉल्स हाउस* में यह प्रयास देखने को मिला। इब्सन इस तथ्य से परिचित थे कि विश्व की बाह्य दृश्यमान अभिव्यक्ति कभी भी पूर्ण सत्य नहीं हो सकती। अतः इब्सन द्वारा प्रतीकों का प्रयोग, स्ट्रिंडबर्ग के अभिव्यंजनावादी स्वप्न नाटक और चेखव द्वारा साधारण संवादों का प्रयोग, प्रच्छन्न वास्तविकता की ओर संकेत करते थे। किंतु भाषा के मामले में एक बेल्जियन रचनाकार, मायतेरलिंक प्रथम आधुनिकतावादी बना। उसने विराम, हाव-भाव और बाह्य ध्वनि-पद्धतियों जैसी युक्तियों के माध्यम से मौन का व्यापक रूप से प्रयोग किया। इन्हीं पद्धतियों का अनुकरण चेखव ने अपने नाटक *दि चेरी आर्चर्ड* में अप्रत्यक्ष संवादों के माध्यम से किया। जर्मन नाटककार

वेडेकाइंड ने यह खोज की कि वास्तविक जीवन में प्राय: लोग एक-दूसरे की बात नहीं सुनते और इस प्रकार उनमें कोई संवाद नहीं है। वस्तुत: 20वीं सदी ने भाषा पर, और अधिक उल्लेखनीय रूप से नाटक पर, सर्वाधिक जघन्य हमले देखे, यह माध्यम (नाटक) अभिव्यक्ति के अन्य रूपों के लिए भी स्पष्ट रूप से उपयुक्त था।

अपोलिनर ने नाटक का एक अन्य रूप आरंभ किया जिसे अतियथार्थवाद (surrealism) कहा गया। एंटोनिन औरटॉड क्रूरता के रंगमंच (Theatre of Cruelty) का अग्रदूत बना। क्रूरता से तात्पर्य था दर्शक को प्रभावित और परिवर्तित करने के लिए अभिनय की गंभीरता। उदारवादियों ने निरर्थकता और चौंकाऊ प्रस्तुति पर बल दिया। बर्तोल्त ब्रेख्त ने अपने नाटक *मदर करेज* में विमुखता-प्रभाव की अपनी अभिनव पद्धति के प्रयोग द्वारा, रंगमंच को रंगमंच के तौर पर ही लेने की बात कही न कि वास्तविक विश्व के एक खंड के रूप में। किंतु नाटक में आधुनिकतावाद का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन, चाहे आधुनिकतावाद अपारंपरिक भाषा हो, कहानी का अभाव हो, या नकारात्मक पात्र के रूप में हो, ब्रेख्त, बायोनेस्को, अदामोव और जेनेट जैसे नाटककारों के नाटकों में पाया गया। इसे सामूहिक रूप से जनता में बेतुके नाटक (Abusrd Drama) की शाखा के रूप में जाना जाने लगा। इनके नाटकों में वास्तविक जीवन के पात्र नहीं होते बल्कि प्रेमविहीनता, अकेलेपन और निराशावादिता जैसे मानव-भावों की केवल प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है। भाषा निरर्थकतापूर्ण थी, जो संवाद की अपेक्षा एकालाप के रूप में अधिक होती थी। अनेक भाव-भंगिमाएं, विराम, विस्मयादिबोधक, अनभिप्रेत व्यंजनाएं इन नाटकों की विशेषताएं हैं। ये नाटक घोर नास्तिकवादी या शून्यवादी थे और दर्शकों को किसी सुखद अनुभूति के साथ घर नहीं लौटने देते थे, जैसे ब्रेख्त का नाटक *एंडगेम* । दूसरी ओर, कैमो और सार्त्र ने अपने नाटकों में कुशल तार्किक संवादों के माध्यम से बिना किसी आशा के आधारहीन अस्तित्व के उसी विश्व को प्रस्तुत किया। ब्रेख्त ने उसी विषय के एक अधिक बिंबवादी, प्रतीकात्मक और कंकालीय रूप को पेश किया।

ब्रेख्त के नाटक "मदर करेज" का एक दृश्य

इस प्रकार 20वीं सदी के साहित्य में सभी विधाओं में प्रयासों का एक महत्त्वपूर्ण संयोजन पाया जाता है जहां कई बार परंपरा से बिल्कुल अलग होने को रेखांकित किया गया है और कई बार लेखन के पारंपरिक उपकरणों के विभिन्न पहलुओं को संयोजित किए जाने को लक्षित किया गया है। किंतु मात्र प्रयोगधर्मिता और उसकी विविधता मात्र ही इसके इतिहास के लिए एक विशिष्ट स्थान सुनिश्चित करेगी।

डी. एच. लॉरेंस

अंग्रेजी साहित्य

19वीं सदी के अंत का समय ब्रिटेन के लिए जटिल परिवर्तन का समय था। रुडयार्ड किपलिंग ने अपनी लघु कहानियों में प्रायः साम्राज्यवादी विचार की ही नहीं बल्कि आदर्शों के अनुरूप न जी पाने की देश की असफलता की आलोचना भी की। 20वीं सदी के विकास के साथ टॉमस हार्डी ने साम्राज्य निर्माण और युद्ध की वास्तविकताओं को आम आदमी पर उनके प्रभाव की दृष्टि से चित्रित किया। इन तमाम वर्षों में दैनिक जीवन को आम भाषा में व्यक्त करने वाले छंद की या कविता की परंपरा रही। डी.एच. लॉरेंस की कृतियों में इसने अपनी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति पाई।

यूरोप की मुख्य भूमि का प्रभाव 1900 तक बहुत व्यापक हो चुका था। इसे फोर्ड मेडोक्स फोर्ड के *दि गुड सोल्जर* (1915), सौमरसेट मॉम के *ऑफ ह्यूमन बांडेज* (1915) तथा जॉन गाल्सवर्दी के उपन्यास *विला रूबिन* (1900) में देखा जा सकता है।

यूरोपीय प्रभाव ने दो अन्य उपन्यासकारों की शैली को भी प्रभावित किया। जेम्स ज्वायस ने 1890 के दशक के सौंदर्यवादी आंदोलन के साथ संबंध दर्शाया। उनका उपन्यास *ए पोर्ट्रेट ऑफ ऐन आर्टिस्ट एज ए यंग मैन* विशेष रूप से फ्रांसीसी प्राकृतवाद के साथ संबंध दर्शाता है। एक अन्य प्रारंभिक और दीर्घकालिक महाद्विपीय प्रभाव था। इस्बन के यथार्थवाद का।

20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में राजनीतिक उदारतावाद का पुनरुत्थान हुआ। यह उदारवाद देश के बौद्धिक जीवन में प्रतिबिंबित था। 'उदारतावाद' ने मानव-मुक्ति और अधिक परिष्कृत जीवन मूल्य अपनाने के लिए मनुष्य की चिंताओं को एक पूरे आंदोलन के रूप में अभिव्यक्त किया। यह बौद्धिक उदारतावाद ई.एम. फॉस्टर के उपन्यास *व्हेयर एंजेल्स*

फियर टू ट्रीड (1905) और वर्जीनिया वूल्फ के उपन्यास *मिसेज डालोवे* (1925) और *टू दि लाइट हाउस* (1927) में चित्रित हुआ। एल्डस हक्सले के उपन्यास *क्रोम येलो* (1921) ने आधुनिक विश्व का सामना करने वाले एक उदार बौद्धिक की चिंताओं के एक नए चरण को संकेतित किया। इस अवधि के दौरान ग्रामीण जीवन का स्थान तेजी से औद्योगिकतावाद ले रहा था। इसलिए डी.एच. लॉरेंस ने अपनी रचनाओं जैसे *सन्स एंड लवर्स* (1913), *दि रेनबो* (1915) आदि में मानव मूल्यों की पुन: खोज की आवश्यकता को महसूस किया। लॉरेंस की भांति डब्ल्यू. बी.यीट्स को भी विवश होकर एक ऐसे युग में स्थानीय और पारंपरिक संस्कृति का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए विवश होना पड़ा जिसने आधुनिकता के खतरे को भांप लिया था।

1930 के दशक के सुविख्यात कवियों ने व्यंग्य और सुगठित बोलचाल की भाषा के संदर्भ में एजरा पाउण्ड और इलियट का अनुकरण किया। उन्होंने अपनी रचनाओं का प्रतीकवादी पक्ष छोड़ दिया। सामाजिक रूपांतरण के प्रतिबिंब के रूप में व्यापक साहित्यिक रूपांतरण पहले से ही घटित हो रहा था। 1930 के दशक के राजनीतिक कवि, विल्यिम एम्पसन, जार्ज बार्कर और डायलन टॉमस प्रतिभावान, कल्पनाशील और भविष्योद्घोषक थे।

20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में अंग्रेजी नाटक के विकास ने स्वदेशी शक्तियों और महाद्विपीय प्रभाव की जटिल अंतर्क्रिया को प्रतिबिंबित किया। सामाजिक समालोचक हेनरिक इब्सन के नाटकों ने जार्ज बर्नार्ड शॉ के आरंभिक नाटकों जैसे *मैन एंड सुपरमैन* (1905), और *मेजर बारबरा* (1905) और जॉन गाल्सवर्दी के नाटकों जैसे *सिल्वर बॉक्स* (1906), *स्ट्राइफ* (1909), और *जस्टिस* (1910) को अत्यधिक प्रभावित किया। इस दौर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी– काव्य नाटक। इस विधा में सर्वश्रेष्ठ योगदान आयरलैंड का रहा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत 'नई कविता' का उदय हुआ जिसने सामान्य बुद्धि, सावधानीपूर्वक निर्धारित तान, अनुशासित शिल्पकारिता और प्रखर बुद्धिमत्ता को व्यक्त किया। डब्ल्यू.एच. औडेन के काव्य संकलनों *एबाउट दि हाउस* (1965) और *सिटी विदाउट वॉल्स* (1969) ने ऐतिहासिक ज्ञान और भाषायी कलाविज्ञता में रुचि दिखाई।

अमेरिकी साहित्य

1900 से 1941 तक अमेरिकी साहित्य को तीन घटनाओं ने प्रभावित किया। इस दौर के लेखकों ने औद्योगिक क्रांति द्वारा प्रस्तुत की गई दबावकारी सामाजिक समस्याओं को यथार्थपरक दृष्टि से देखना आरंभ किया। प्रथम विश्वयुद्ध और 1930 के दशक की महामंदी के कारण अनेक लेखक अमेरिकी जीवन शैली के आलोचक बन गए। सिगमंड फ्रॉयड के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययनों ने लेखकों को व्यक्तित्व के नए क्षेत्र तलाशने की ओर प्रेरित किया।

1900 के दशक के सर्वाधिक प्रभावशाली लेखकों में से एक था–अर्नेस्ट हेमिंग्वे। *दि सन ऑल्सो राइजेज* (1926), *ए फेयरवेल टू आर्म्स* (1929), *फॉर हूम दि बेल्स टॉल्स* (1940) और *दि ओल्ड मैन एंड दि सी* (1952) जैसी अपनी कृतियों के कारण हेमिंग्वे को अपार ख्याति मिली।

विलियम फॉक्नर ने अपनी अधिकांश कहानियां योकनापाटावफा की काल्पनिक मिसीसिपी काउंटी

विलियम फॉक्नर

को पृष्ठभूमि में रखकर लिखीं। अपने *दि साउंड एंड दि फ्यूरी* (1929) और अन्य उपन्यासों में फॉक्नर ने चेतना की तकनीक की एक धारा का प्रयोग किया। उनकी लीक से हटकर कहानियां और जटिल शैली ऐसा जादुई जाल बुनती प्रतीत होती थीं जो पाठक के ध्यान को अपनी गिरफ्त में ले लेता था।

पर्ल एस. बक और विलियम सरोयान की साहित्यिक कृतियों को प्राय: क्षेत्रीयतावादी रचनाओं के रूप में वर्गीकृत किया जाता है क्योंकि उनमें जीवंत क्षेत्रीय ब्यौरे दिए गए हैं। बक की ख्याति *गुड अर्थ* (1931) तथा चीन के बारे में अन्य भावनात्मक उपन्यासों के कारण फैली। सरोयान ने अधिकतर फ्रेस्नो, केलीफोर्निया में आर्मीनियाई-अमेरिकी समुदाय के बारे में लिखा। उसकी कृतियों में एक नाटक *दि टाइम ऑफ योर लाइफ* (1939) और एक उपन्यास *दि ह्यूमन कॉमेडी* (1943) शामिल है।

1892 में वॉल्ट व्हिटमैन की मृत्यु के उपरांत लगभग 20 वर्ष तक अमेरिकी कविता में जबरदस्त गिरावट आई। किंतु 20वीं सदी के आरंभ में हैरियट मोनरो ने शिकागो से *ए मैगजीन ऑफ वर्स* 1912 में प्रकाशित की जो अनन्य रूप से कविता को ही समर्पित आरंभिक पत्रिकाओं में से एक थी। इसने 1900 के दशक के कुछ महान कवियों की रचनाओं को एक साथ प्रस्तुत किया।

एडविन आर्लिंग्टन रॉबिन्सन और रॉबर्ट फ्रॉस्ट को *पोएट्री* पत्रिका द्वारा कविता में जगायी गई नई रुचि के कारण जनता में मान्यता मिली। फ्रास्ट ने मानव मनोविज्ञान की गहराइयों का चित्रण किया। उनकी कविताएं *मेंडिग वॉल* (1914) और *स्टॉपिंग बाइ वुड्स ऑन ए स्नोई ईवनिंग* (1923) आधुनिक काल की श्रेष्ठ रचनाएं मानी गईं।

सर्वाधिक उग्र सुधारवादी 'नए कवियों' में एजरा पाउण्ड और एमी लोवेल प्रमुख थे। ये बिंबवादी (imagists) कहे जाने वाले एक कवि समूह के अग्रज बन गए। इन बिंबवादियों ने आम भाषा, नई लय, स्पष्ट प्रखर बिंबों के प्रयोगों पर बल दिया। लोवेल ने *पैटर्न्स* (1916) और *लिलैक्स* (1925) जैसी संवेदनशील कविताओं में बिंबवादी उद्देश्यों को व्यक्त किया।

इग्विन ओ नील ने अपने यथार्थवादी विषयों और साहसिक मंच तकनीकों द्वारा थिएटर के क्षेत्र में क्रांति ला दी। *बियांड दि हॉराइजन* उसका एक अत्यंत यथार्थवादी नाटक था। उसकी परवर्ती रचनाओं में प्रतीकवादी त्रासदियां जैसे *दि हेयरी एप* (1922) और गहन मनोवैज्ञानिक नाटक जैसे *मोर्निंग बिकम्स इलेक्ट्रा* (1931) शामिल हैं।

पारंपरिक यहूदी जीवन और आधुनिक, गैर-यहूदी अमेरिकी समाज के बीच के संघर्ष जैसे विषय भी सामने आए। सॉल बैलो युद्धोत्तर काल का एक महत्त्वपूर्ण लेखक था जिसने इस विषय पर अपने उपन्यास *हेरज़ोग* (1964) और *हम्बोल्ड्ट्स गिफ्ट* (1975) लिखे।

1920 के दशक के दौरान न्यूयार्क सिटी के एक जिले हार्लेम में अश्वेत साहित्य भी फलने-फूलने लगा। पहली बार अश्वेत अमेरिकी संस्कृति की गहराई से खोज आरंभ हुई।

1950 के दशक के आरंभ में अश्वेत लेखकों ने अमेरिकी साहित्य में एक सम्मानित स्थान बना लिया। यहूदी लेखकों की भांति अश्वेत लेखकों ने भी अपने अनूठे अमेरिकी अनुभवों का वर्णन किया। राल्फ एलिसन का उपन्यास *इनविज़िबल मैन* अमेरिका में अश्वेतों के जीवन का प्रमुख युद्धोत्तर उपन्यास माना जाता है। एक अन्य प्रमुख लेखक, जेम्स बाल्डविन ने अपने लेखन की शुरुआत *गो टैल इट ऑन दि माउंटेन* (1953) से की। *रूट्स* (1976) में अलेक्स हैले ने अफ्रीका से अमेरिका के अपने परिवार के 200 वर्षों के इतिहास की तलाश की और अन्य मानवजातीय समूहों के अनेक लोगों के बीच अपनी वंशावली के बारे में रुचि पैदा की।

लातिन अमेरिकी साहित्य

15वीं सदी के उत्तरार्द्ध में दक्षिणी यूरोप, खासकर स्पेन और पुर्तगाल से लोग आकर लातिन अमेरिका में बसने लगे थे। ये लोग अपने साथ अपनी भाषाएं, धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज लाए थे। इन अनेक वर्षों में इस क्षेत्र में उनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

निकारागुआ के कवि रूबेन डारियो (1867-1916) ने आधुनिकतावाद को अपनाया। असामान्य की खोज में लातिन अमेरिकी कवि यूनानी प्राच्य और नोर्डिक मिथक कथाओं जैसे विदेशी स्रोतों की ओर उन्मुख हो गए। 20वीं सदी के आरंभ में कवयित्रियों का एक समूह भी उभर कर सामने आया। चिली के गैब्रियल मिस्त्रैल को 1945 में साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार मिला। 20वीं सदी के मध्य में अर्जेंटीना के एडुआर्डो मालिया ने अकेलेपन और मानव संवाद के अभाव के प्रबल विषय को अपने उपन्यासों *बे ऑफ साइलेंस* (1940) और *आल ग्रीन शैल पेरिश* (1941) में अभिव्यक्त किया। आरंभिक लातिन अमेरिकी लेखकों ने प्राचीन अतीत, सुदूरवर्ती प्राच्य विषयों तथा बचपन की कल्पना भूमियों और स्वापक-सृष्टि जैसे विजातीय विषयों पर लिखा। सुंदरता उनकी देवी थी, 'कला के लिए कला' उनका धर्म था। 1950 के दशक के आधुनिक लातिन अमेरिकी लेखक भाषा और रचना-शैली के साथ प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने प्राय: अपनी रचनाओं में फैंटेसी और खंडित देश और काल को समाविष्ट किया। इस शैली को जादुई यथार्थवाद के रूप में जाना जाता है जिसमें दैनिक जीवन के यथार्थ के साथ स्वप्न और जादू का सम्मिश्रण किया गया। गैब्रियल गार्सिया मार्क्वेज का प्रसिद्ध उपन्यास *वन हंड्रेड इयर्स ऑफ सॉलिट्यूड* इसी जादुई यथार्थवाद को चित्रित करता है।

रूसी साहित्य

20वीं सदी के आरंभिक वर्षों में सोवियत साहित्य में लेखकों और राजनीतिज्ञों द्वारा एक नई विचारधारा के साथ समन्वय स्थापित करने के प्रयास की प्रमुखता रही। जिन आरंभिक लेखकों ने 19वीं सदी की साहित्यिक परंपराओं को अपनाया, उन लेखकों का नए सामाजिक और राजनीतिक विचारों से सरोकार रखने वाले लेखकों द्वारा विरोध किया गया। तोलस्तॉय (1828-1910) ने *रीसरेक्शन* में आधुनिक समाज की आलोचना की और एक नई प्रणाली और नई मानव-व्यवस्था के

आगमन का संकेत दिया। 1930 के दशक में सोवियत लेखक संघ की स्थापना हुई। इस संघ ने सामाजिक यथार्थवाद के सिद्धांत का समर्थन किया। इस अवधि के दौरान ऐतिहासिक साहित्य आम हो गया। क्रांति और गृहयुद्ध से संबंधित एक उत्कृष्ट रचना थी मिखाइल शोलोखोव की *क्वाइट फ्लोज़ दि डोन* (1928-40)।

अख्माटोवा और पास्तरनाक इस दौर के अन्य प्रसिद्ध लेखक हैं। पास्तरनाक का *डाक्टर ज़िवागो* सोवियत संघ में पहली बार 1956 में प्रकाशित हुआ। साम्यवादी दल की स्थापना के साथ ही साम्यवादी सिद्धांतों के समर्थन में साहित्य लिखने का एक आंदोलन चल पड़ा। 1960 के दशक में अनेक उदारवादी लेखकों ने सोवियत जीवन में स्वतंत्रता और रचनात्मकता का समर्थन किया। इसी समय अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बारे में चिंता बढ़ गई और मिखाइल गोर्बाचेव की *ग्लासनोस्त नीति* ने विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

अफ्रीकी साहित्य

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रवादी आंदोलन के उभर कर आने से अफ्रीकी साहित्य प्रमुखता से सामने आया। राष्ट्रवादी आंदोलन का सर्वश्रेष्ठ नेता था – घाना के कुरामे नक्रुमा। नक्रुमा ने 'अभी स्वतंत्रता' का नारा दिया। राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद का विरोध उनके साहित्य की विषय-वस्तु बन गया और उन्होंने अंग्रेजी, फ्रेंच, पुर्तगाली आदि विभिन्न यूरोपीय भाषा में लिखा। दो लेखक- लिओपोल्ड सेडोर सेंघोर और सेम्बेन औस्मान अपने लेखन द्वारा अफ्रीका को अंतर्राष्ट्रीय फलक पर ले आए। उन्होंने अफ्रीकी उपन्यासों में गतिशील यथार्थवाद व्यक्त किया। औस्मान के उपन्यास *जाला* और *ली मैंडेट* पूरे विश्व में प्रसिद्ध हुए।

दक्षिण अफ्रीका में जातिवादी श्वेत सरकार द्वारा प्रयोग में लायी गई रंगभेद की नीति लेखकों के लिए बाधा थी। डेनिस ब्रूटस की रचनाओं में उस समय की विकट स्थितियों का चित्रण हुआ। उनकी कविताओं में कारावास और निर्वासन के अनुभवों की अभिव्यक्ति मिलती है। एलेक्स ला गुमा भी *ब्लैक ओरफियस* में प्रकाशित अपनी हृदयस्पर्शी कहानियों के कारण लोकप्रिय हुआ।

अन्य अफ्रीकी देशों में साहित्य के क्षेत्र में नाइजीरिया अग्रणी रहा। नाइजीरियाई लेखक वोले सोयिंका, चिनुआ अकेबे, गैब्रियल ओकारा और क्रिस्टोफर ओकारा ने अफ्रीकी साहित्य के विकास में अमूल्य योगदान दिया। गैब्रियल ओकारा, जो कवि और उपन्यासकार, दोनों था, को उनके काव्य-संग्रह *दि फिशरमैन्स इन्वोकेशन* के लिए राष्ट्रमंडलीय कविता पुरस्कार दिया गया। अंग्रेजी भाषा को स्थानीय बोली के साथ मिला कर ओकारा ने भाषा में अनूठा प्रयोग किया था।

चिनुआ अकेबे ने अपने उपन्यासों, कहानियों, निबंधों और व्याख्यानों के माध्यम से अफ्रीकी साहित्य को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसकी कतिपय महत्त्वपूर्ण रचनाओं में उसकी लघु कहानियों का संग्रह *गर्ल्स एट वार एंड अदर स्टोरीज* (1972), *ए मैन ऑफ दि पीपुल* और *थिंग्स फॉल अपार्ट* शामिल हैं। *बिवेयर सोल एंड ब्रदर्स* उसका प्रसिद्ध कविता संग्रह है।

नगुगी वा थियोंगो केन्या का एक क्रांतिकारी लेखक था। उसने *वीप नॉट चाइल्ड* (1964) उपन्यास के माध्यम से अपनी पहचान बनाई। एक

अन्य अफ्रीकी लेखक मेजा मवांगी ने गरीबों और पतित लोगों की समस्याओं को चित्रित किया। अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता के उपरांत अफ्रीकी साहित्य की विषय-वस्तु में बदलाव आया है। औपनिवेशिक अनुभव और सांस्कृतिक संघर्ष के स्थान पर अब मनुष्य के असंतोष और आकांक्षाओं को व्यक्त किया जा रहा है।

आस्ट्रेलियाई साहित्य

19वीं सदी के अंतिम 20 वर्ष राष्ट्रवाद के विकास और पृथक राज्यों के संघ के निर्माण के साक्षी रहे। 20वीं सदी के प्रथम 30 वर्षों के दौरान साहित्यिक रचनाएं आम आदमी के दु:खों और सामाजिक सुधार की आवश्यकता पर केंद्रित रहीं। कैथरीन सुसन्ना प्रिचार्ड, लुई स्टोन और एडवर्ड डायसन जैसे प्रसिद्ध लेखकों ने शहर और शहर के श्रमिकों के जीवन के बारे में लिखा। ईनीस गुन्न, जेवियर हर्बर्ट और कैथरीन सुसन्ना ने आदिवासियों के जीवन और श्वेतों के साथ उनके संबंधों का भी वर्णन किया।

कवियों की सफलता भले ही कम थी किंतु उन्होंने प्रयोजनों और हितों की विविधता को व्यक्त किया। जॉन शॉ निल्सन ने मंजे हुए सुकोमल गीत लिखे, विक्टर डाले ने रूमानी स्वच्छंदतावादी कविताएं और तीखे व्यंग्य लिखे। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान और उसके बाद साहित्यिक पत्रिकाओं की बाढ़-सी आ गई और पाठकों की संख्या बढ़ गई। 1950 के दशक के बाद ऑस्ट्रेलियाई लेखक निरंतर चिंतनशील और अन्वेषी होते गए। 20वीं सदी के मध्य भाग का सर्वाधिक प्रभावशाली उपन्यासकार था पैट्रिक व्हाइट। उसके प्रमुख उपन्यास सुस्पष्ट रूप से ऑस्ट्रेलियाई थे किंतु उनका निरूपण राष्ट्रीय सीमाओं को पार करते हुए व्यापक दृष्टि रखता था। लघु कहानियों का लेखन जारी रहा, किंतु उन्होंने सुदृढ़ ग्रामीण आधार प्राप्त कर लिया। विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण रचना थी हाल पोर्टर की आत्मकथात्मक कृति जिसने 1930 के दशक से 1960 के दशक तक आस्ट्रेलियाई समाज में आए परिवर्तनों को चित्रित किया। वर्णनात्मक कविता की परंपरा यथावत् बनी रही किंतु 20वीं सदी के मध्य भाग के कवियों ने रचना-जगत में अपना प्रभुत्व कायम कर लिया।

एशिया का साहित्य

भारतीय साहित्य

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के उपरांत साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों के बीच, यूरोपीय भाषाओं और संस्कृति तक व्यापक पहुंच के कारण जिन दो प्रमुख मुद्दों ने 20वीं सदी के भारतीय लेखकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया वे थे राष्ट्रीय जागरण और पाश्चात्य सांस्कृतिक उपलब्धियां। यह एक तरह से विरोधाभास ही था कि वह पश्चिमी सभ्यता जो उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का पर्याय थी उसने अपने उन धर्मनिरपेक्ष क्रांतिकारी आदर्शों के माध्यम से भारतीय लेखकों के हृदय में स्थान बना लिया जो मानववाद, स्वतंत्रता और व्यक्तिवाद आदि के रूप में यूरोप में पिछली दो सदियों के दौरान निरंतर विकसित हो रहे थे। अन्य सभी साहित्यों की भांति भारतीय लेखन में भी समाज की बदलती मनोदशाएं प्रतिबिंबित हुईं। यह एक उल्लेखनीय घटना थी कि एक ऐसे देश में, जो अपनी जातीय, धार्मिक और भाषायी वैविध्य के संदर्भ में एक महाद्वीप से भी बड़ा था, अपने साहित्य के माध्यम से

समान रूप से उल्लेखनीय और अद्‌वितीय प्रेरणा मिली और इसने लोगों की एकता और उनकी उद्‌विघ्नता को प्रतिबिंबित किया।

साहित्यिक कृतियों में क्षेत्रीय और राष्ट्रीय, परंपराओं की निरंतरता मिलती है। क्षेत्रीय परंपरा की अपनी स्थानीय विशेषताएं हैं किंतु यह सुस्पष्ट रूप से समूचे राष्ट्र की व्यापक साहित्यिक संस्कृति का अखंड भाग है। विभिन्न विधाओं और शैलियों ने नए भारतीय साहित्य को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया और 19वीं सदी के अंत तक ये शैलियां नए विचारों और संवेदनशीलताओं का सशक्त माध्यम बन गईं।

अतीत में फारसी ने भारतीय साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय परिवर्तन लाने में प्रमुख भूमिका निभाई थी और इस समय अंग्रेजी भी ऐसी ही भूमिका निभा रही है। हालांकि अंग्रेजी साम्राज्य अस्त हो चुका है तथापि अंग्रेजी भाषा का व्यापक प्रभाव आज भी बरकरार है। परिवर्तनों और प्रगति के बावजूद जनता को प्रभावित करने की लेखकों की शक्ति यथावत कायम है और राष्ट्रीय गौरव अभी भी एक शक्तिशाली ताकत बना हुआ है।

श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर (ठाकुर), शरत चंद्र चटर्जी, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सुब्रह्मण्यम भारती, शिवराम कारंत, डी.आर. बेंद्रे और तकाझी शिव शंकर पिल्लै आदि जीवन का एक ऐसा दृष्टिकोण और लोकाचार प्रस्तुत करते हैं जो अनिवार्यत: और चिरस्थायी रूप से भारतीय हैं। इनमें से कुछ लेखकों ने अपनी कृतियों में धर्मनिरपेक्ष मानववाद को अधिक चित्रित किया है जो रूप और संरचना पर पाश्चात्य प्रभाव को दर्शाता है, किंतु अंतर्वस्तु और विषय के संबंध में यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम है।

तीन उल्लेखनीय कवि, जो 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय साहित्य में प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे, वे थे मनमोहन घोष (1869-1924), अरविन्द घोष (1872-1950) और सरोजिनी नायडू (1879-1949)। विवेकानंद, अरविन्द घोष, एस. सुब्रह्मण्यम अय्यर और वी.एस. श्रीनिवास शास्त्री का लेखन सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विषयों पर आधारित था जिसने समाज पर जबरदस्त प्रभाव डाला।

रवीन्द्रनाथ टैगोर

किंतु इस अवधि के उल्लेखनीय साहित्यकार थे रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941)। अपने काव्य संग्रह *गीतांजलि* के लिए साहित्य का नोबेल पुरस्कार (1913) प्राप्त करने वाले वे प्रथम एशियाई लेखक थे। अपनी प्रत्येक रचना में उन्होंने नए धरातलों की खोज की और छंद और शैली, संरचना और विचार विन्यास में वे धीमी और शांत क्रांति लाए। हालांकि अंग्रेजी पर उनका पूर्ण अधिकार था फिर भी टैगोर ने अपनी मातृभाषा बांग्ला को ही अपने रचनात्मक लेखन का माध्यम चुना। टैगोर की रचनाएं न केवल राष्ट्रीय जागरण को प्रतिबिंबित करती हैं, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय मानववाद को भी व्यक्त करती

हैं। उनका लघु कहानी संग्रह *गल्प गुच्छ* और उनके उपन्यास *गोरा* और *घरे बाहिरे* व्यापक रूप से समादृत हैं। उनकी कविताओं में मौखिक संगीत और सौंदर्य, प्रकृति के प्रति उत्कट अनुराग और रहस्यात्मक सौंदर्य के इंद्रियातीत जगत की ओर ले जाने वाले भौतिक अस्तित्व के प्रति गहन आकर्षण पाया जाता है।

सुब्रह्मण्यम भारती (1882–1921) के आगमन के साथ एक गौरवपूर्ण युग का आरंभ हुआ। वे एक महान देशभक्त कवि थे जिन्होंने तमिल काव्य परंपरा में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। *कुवाटेका कितांकल* (1908) उनके गीतों का पहला संग्रह था। उनकी कविता को उस समय प्रेरक बल मिला जब उन्होंने 1905 में राजनीतिक आंदोलन में भाग लिया।

कथा-साहित्य : 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के आरंभ का काल भारतीय कथा-साहित्य के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। भारतीय साहित्य में लघु कहानियों और कविताओं की तुलना में उपन्यास की विधा अपेक्षाकृत अधिक नई थी। यह भारत-यूरोपीय संपर्क की महत्त्वपूर्ण देन थी। 19वीं सदी का उत्तराद्र्ध आकर्षक था क्योंकि बंकिम चंद्र चटर्जी, मिर्ज़ा कलीच बेग और हरिनारायण आप्टे जैसे अनेक महान उपन्यासकार उस समय साहित्य जगत में सक्रिय थे। यह युग मलयालम, उड़िया, सिंधी, कोंकणी, कन्नड़ और पंजाबी जैसी अनेक भाषाओं में नए उपन्यासों के अभ्युदय का साक्षी रहा। किंतु 19वीं सदी के अंतिम वर्षों में चंदू मेनन, फकीर मोहन सेनापति और भाई वीर सिंह उल्लेखनीय रचनाकारों के रूप में सामने आए।

बंकिम चंद्र चटर्जी (1838-1894) एक प्रसिद्ध बांग्ला उपन्यासकार थे, उन्होंने अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। *आनंद मठ* और *देवी चौधरानी* ने उनके अनुशीलन तत्त्व या 'संस्कृति सिद्धांत' को व्यक्त किया। आनंद मठ अपने सशक्त देशभक्तिपूर्ण गीतों– जैसे 'वंदे मातरम्' के लिए भी सुविख्यात है। उनके अंतिम उपन्यास *राजसिम्ह* को उनके उल्लेखनीय साहित्यिक जीवन का भव्य समापन कहा जा सकता है। इच्छाराम सूर्याराम देसाई (1853-1912) मध्यकालीन गुजराती साहित्य के इतिहास के प्रकांड विद्वान थे। उनका प्रथम उपन्यास *हिंद अने ब्रिटेनिया* राजनीतिक विषय-वस्तु वाले आरंभिक भारतीय उपन्यासों में विशेष स्थान रखता है। रजनीकांत बारदोलाई (1868–1939) ने असमिया साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास की परंपरा को *मनोमति* नामक अपने उपन्यास द्वारा दृढ़तापूर्वक स्थापित किया। *मोहनरा रजनी* (1931) की लेखिका गिरिजा देवी और *दसिकलिन मोसा वलई* (1936) की लेखिका रामातीर्थ तम्माल जैसी तमिल लेखिकाओं ने भी उपन्यास को सामाजिक अनुभव का प्रभावपूर्ण माध्यम बनाया। जी.वी. कृष्ण राव का तेलुगु उपन्यास *किलुबोम्मालु* (1956, कठपुतलियां) ग्रामीण समाज के लोगों के नैतिक पहलुओं और व्यवहार से संबंधित सरोकारों पर आधारित था। मलयालम के एक प्रतिष्ठित लेखक थे वाइकोम मोहम्मद बशीर (1910–1994)। उनका प्रसिद्ध उपन्यास *बाल्यकाल सखी* (1944) एक दु:खांत प्रेम कथा था। तकाझी शिव शंकर पिल्लै अपने दो उत्कृष्ट उपन्यासों *टोट्टियुटे माकन* (सफाई वाले का बेटा, 1948) और *सेम्मिन* (झींगी, 1956) के कारण प्रतिष्ठित हुए। यद्यपि इन उपन्यासकारों की शैक्षिक पृष्ठभूमि और सामाजिक दृष्टिकोण

परस्पर भिन्न थे, फिर भी ये यथार्थवाद की सशक्त और प्रखर समझ रखते थे और दलितों-पीड़ितों तथा समाज के हाशिए पर पड़े लोगों के जीवन में गहन रुचि लेते थे।

मुंशी प्रेमचंद

मुंशी प्रेमचंद (1880-1946) अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के उर्दू-हिंदी उपन्यासकार और लघु कहानीकार थे। उन्होंने हिंदी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्ति को स्थापित किया और उपन्यास को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाया। उनके उपन्यासों में गहन सामाजिक सरोकार और भारतीय ग्रामीण समाज की गतिशीलता का बोध अभिव्यक्त हुए। उनकी कृतियों में *सेवासदन* (1919), *प्रेमाश्रम* (1924), *रंगभूमि* (1924), और *गोदान* (1936) शामिल हैं। उनकी लघु कहानियों में *कफन*, *पूस की रात*, *शतरंज के खिलाड़ी* आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नियाज फतेहपुरी (1887-1966) और काज़ी अब्दुल गफ्फार (1862-1956) का लेखन स्वच्छंदतावादी परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है। किंतु प्रेमचंद ने उर्दू में यथार्थवाद की प्रवृत्ति का आरंभ किया और वस्तुतः उपन्यास के एक नए प्रतिमान का सृजन किया। भारतीय प्रगतिशील लेखकों में से सज्जाद ज़हीर ने जेम्स ज्वायस से प्रेरित होकर *लंदन की एक रात* लिखा और उर्दू में पहली बार चेतना धारा की तकनीक का प्रयोग किया। प्रगतिशील लेखकों में किशन चन्दर और इस्मत चुगताई विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस्मत चुगताई का उपन्यास *टेढ़ी लकीर* (1947) सामाजिक कानून-कायदों को चुनौती देने वाली मध्यवर्गीय मुस्लिम युवती की कहानी है।

ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाली उपन्यास-परंपरा को आगे फणीश्वरनाथ रेणु (1921-1977) ने अपने हिंदी उपन्यास *मैला आंचल* द्वारा और परिपुष्ट किया। इसके अलावा विभूति भूषण वंधोपाध्याय (1899-1954) का उपन्यास *पाथेर पांचाली* (1929), गोपीनाथ मोहंती का उड़िया उपन्यास *प्रजा*, गुजराती में पन्ना लाल पटेल का उपन्यास *मकेलाजीत*, मराठी में भाल चंद्र नेमाडे का उपन्यास *कोसला* ग्रामीण जीवन को चित्रित करने वाले प्रतिनिधि उपन्यास हैं। बांग्ला में शरत चंद्र चटर्जी (1876-1938) के उपन्यास सामाजिक और पारिवारिक जीवन में मध्यवर्गीय संघर्ष की
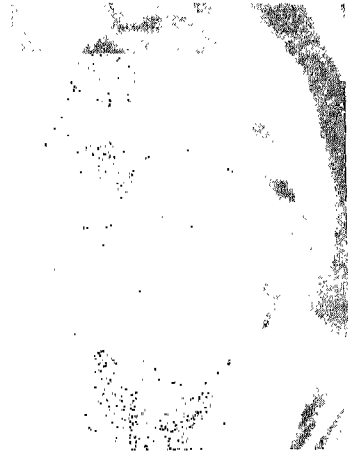
महाश्वेता देवी

कहानी कहते हैं। जैनेंद्र कुमार (1905-1998) ने अनेक मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे। यू.के. अनंतमूर्ति का कन्नड़ भाषा का उपन्यास *संस्कार* नैतिक संघर्ष की कहानी है। यशपाल (1903-1973) का उपन्यास *झूठा सच*, खुशवंत सिंह का उपन्यास *ट्रेन टू पाकिस्तान* (1956), और कुर्रतुल ऐन हैदर (1927) का उर्दू उपन्यास *आग का दरिया* ऐतिहासिक त्रासदी के रूप में भारत के विभाजन की कहानी कहते हैं। महाश्वेता देवी ने अपने उपन्यासों और लघु कहानियों में भारतीय जनजातीय जीवन और संस्कृति को चित्रित किया है। दया पवार (जन्म 1935) बाबू राव बागुल (जन्म 1931) दो ऐसे स्वातंत्र्योत्तर लेखक हैं जिन्होंने मराठी भाषा में पीड़ित और दलित वर्गों के बारे में लिखना शुरू किया। मुल्क राज आनंद की *अनटचेबल* (1935) और राजा राव की कृति *कांथापुरा* (1938) ने सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल और संक्रमण को चित्रित किया। आर. के. नारायण की कृति *स्वामी एंड फ्रेंड्स* (1935) में भारत के लघु रूप को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया गया। के.ए. अब्बास की कृति *टुमारो इज़ अवर्स* असली भारतीय जीवन, उसकी निराशाओं और आकांक्षाओं का वर्णन करती है।

लघु कहानी : भारतीय साहित्य की समस्त शैलियों या विधाओं में से लघु कहानी को 20वीं सदी की अपनी विधा कहा जा सकता है। 20वीं सदी के प्रथम दशक के दौरान रवीन्द्रनाथ टैगोर की ख्याति एक उत्कृष्ट लघु कहानीकार के रूप में फैल चुकी थी। उनकी कहानियों में *पोस्टमास्टर* (1891), *काबुलीवाला* (1892) आदि शामिल हैं जो ग्रामीण भारत के प्रामाणिक अनुभव से निकल कर आईं। उनकी कहानियां खुशी के छोटे-छोटे पलों और छोटे-छोटे दु:खों की कहानियां हैं। प्रेमचंद की यथार्थवादी कहानियों ने समाज और लोक व्यवहार का चित्रण किया। तकाझी शिव शंकर पिल्लै एवं मुहम्मद बशीर ने मलयालम में लघु कहानियां लिखीं, जिन्होंने सजीव यथार्थवाद के साथ किसानों और मजदूरों, अध्यापकों और फैक्टरी श्रमिकों के जीवन को सामने रखा। दिवाकर कृष्ण केलकर (1902-1973), एन.एस. फड़के, जी.जी. लिमये (1891-1971) आदि मराठी के प्रख्यात लघु कहानीकार हैं। दयानिधि मिश्रा (1891-1955) ने ऐतिहासिक विषयों पर कहानियां लिखीं और उड़ीसा के अतीत की महिमा का गुणगान किया। गोदावरीश महापात्र (1898-1965) ने उड़ीसा के ग्रामीण जीवन की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के बारे में प्रखर सामाजिक चेतना के साथ एक समाज सुधारक के रूप में अपनी कलम चलाई। लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ की असमिया कहानियां समकालीन समाज, अभिजाततंत्र के विघटन और हतोत्साह नौकरशाही को चित्रित करती हैं। सुदर्शन की कहानी *हार की जीत* और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की *उसने कहा था*, हिंदी कहानियों में ऊंचा स्थान रखती हैं। यू.आर. अनंतमूर्ति (जन्म 1932) ने इस नए रूप को मान्यता प्रदान की, जिसने अगले तीन दशकों तक कन्नड़ लघु कहानियों पर अपना वर्चस्व बनाए रखा। लघु कहानी लेखन की कला को जिन लेखकों ने आगे और समृद्ध बनाया उनमें सआदत हसन मंटो (1912-1955), राजेन्दर सिंह बेदी (1915-1984), किशन चन्दर (1914-1977), मुल्क राज आनंद, आर. के. नारायण, गोपी नाथ मोहंती, करतार सिंह दुग्गल और राजा राव शामिल हैं।
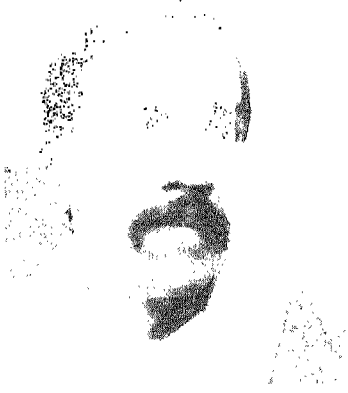
श्री अरविन्द घोष

कविता : भारतीय काव्य की अपनी ही एक सशक्त और अपेक्षाकृत पुरानी साहित्यिक परंपरा है। 20वीं सदी की भारतीय कविता लचीलेपन और समय की मांग के अनुरूप अनुकूलन करने की अपनी क्षमता को प्रदर्शित करती है। यह स्वतंत्रता-संघर्ष द्वारा अभिप्रेरित देशभक्तिपूर्ण-राष्ट्रीय भावनाओं, प्रगतिशील बौद्धिकता और उस संचार क्रांति द्वारा प्रेरित है जिसके हम इस समय साक्षी हैं। भारतीय कविता में संक्रमण के दो सुस्पष्ट चरण हैं। 20वीं सदी के आरंभ में भारतीय कविता स्वच्छंदतावाद (romanticism) की और दूसरे चरण में 'राष्ट्रवाद' की साक्षी रही। स्वच्छंदतावाद ने प्रकृति और समाज के प्रति विशेष दृष्टिकोण को व्यक्त किया और राष्ट्रवाद का स्वर अनिवार्यत: देशभक्तिपूर्ण था। यह काल स्वच्छंदतावादी शैली में लिखे गए तुकांत गीत के साथ आरंभ हुआ। स्वच्छंदतावाद को आत्मसात करने की प्रक्रिया जारी रही। शैली के ढंग पर लिखी गई टैगोर की कविताओं की दो प्रमुख विशेषताएं हैं-रहस्यवाद और स्वच्छंद आत्मपरकता। उनके पास देश की समूची संस्कृति को प्रस्तुत करने की शक्ति और बुद्धि थी। गांधी जी ने अत्यंत सम्मानवश उन्हें 'गुरुदेव' कहा था।

किंतु विशुद्ध गीतिकाव्य और वर्णनात्मक गीतिकाव्य, स्वच्छंद और विक्टोरियाई शैली में तोरु दत्त, मनमोहन घोष, श्री अरविन्द (1872-1950), सरोजिनी नायडू (1879-1949), रवींद्र नाथ टैगोर और स्वामी विवेकानंद (1863-1902) की कविताओं में पाया जाता है। श्री अरविंद की *सावित्री* और *सांग्स टू माइरटिला* अलौकिक विचारों से परिपूर्ण रचनाएं थीं जिन्होंने काव्य परंपरा का आगे और विकास किया। यहां कुछ अन्य कवि भी उल्लेखनीय हैं, जैसे उर्दू में मोहम्मद इकबाल (1866-1938), हिंदी में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर', सूर्यकांत त्रिपाठी निराला (1897-1961), बांग्ला में काजी नज़रूल इस्लाम (1899-1976), मराठी में केशवसुत (1866-1905) और मलयालम में जी. शंकर कुरूप (जन्म, 1902) तमिल राष्ट्रवादी कवि सुब्रह्मण्यम भारती (1882-1921) और वी. के.गोकक (जन्म 1909)। प्रगतिशील लेखक-आंदोलन के परिणामस्वरूप 1936 में भारतीय कविता के क्षेत्र में परिवर्तन आया। प्रगतिशील आंदोलन ने स्वच्छंदतावादी परंपरा के कुछ पहलुओं, विशेष रूप से सामाजिक विरोध और अत्याचार मुक्त विश्व के स्वप्न को संजोया। इसने स्वच्छंद कल्पना का परित्याग किया, स्वयं को बुर्जुआ आदर्शवाद की कल्पनाओं से मुक्त किया और विचार तथा भाषा, दोनों स्तरों पर यथार्थवाद को अपनाया। भारतीय भाषाओं में नई कविता का प्रतिनिधित्व हिंदी में मुख्य रूप से नागार्जुन और शिवमंगल सिंह 'सुमन', उर्दू में मजाज़
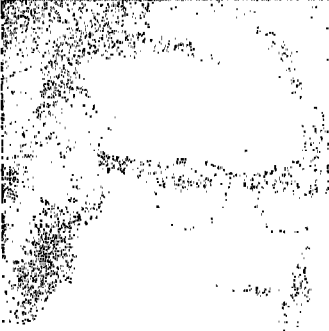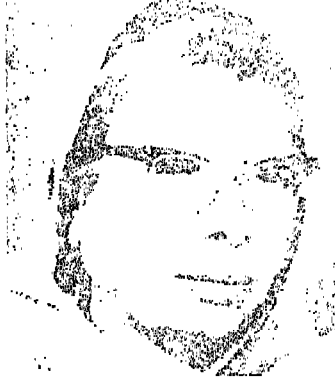
सुमित्रानंदन पंत — महादेवी वर्मा — रामधारी सिंह 'दिनकर'

(1909-1955) और फैज़ (1911-1984), तेलुगु में हुमायूं कबीर (जन्म 1906), श्री श्री (1910-1983), बांग्ला में जीवनानंद दास (1899-1954), और सुकांत भट्टाचार्य, मराठी में बी.एस.मर्ढेकर (1907-1956), गुजराती में उमा शंकर जोशी (1911-1987), उड़िया में गोपबंधु दास (1877-1928), नीलकंठ दास (1884-1967) और गोदावरीश मिश्र (1886-1956) ने किया। असमिया में पद्मधर चालिहा (1895-1968), ज्योतिप्रसाद अग्रवाल (1903-1951) और देवकांत बरुआ (जन्म 1914) और उर्दू में कैफी आज़मी (1925-2002) भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। कैफी आज़मी की कृति *आवारा सज़दे* उर्दू में नई कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

हरिवंश राय 'बच्चन'

नया काव्य-आंदोलन एक सौंदर्यवादी और आत्मपरक आंदोलन है। यह विचार और भाषा में अत्यधिक निजी बन गया है और यह रूपवाद और उपदेशवाद के विरुद्ध विद्रोह करता है। यह आधुनिकतावादी और नव प्रतीकवादी प्रवृत्तियों का पोषक है। इसने एक सुस्पष्ट स्वरूप अर्जित कर लिया है और इसने नई अभिव्यंजनाओं की खोज की है। यह प्रतीकों, बिंबों और रूपकों का बहुत प्रयोग करता है। कई बार कविता एक बिंब या एकाधिक बिंबों का समूह बन जाती है। यह आंदोलन कमला दास, अमृता प्रीतम, रघुवीर सहाय, हरिवंश राय 'बच्चन' और अज्ञेय (हिंदी), शक्ति चट्टोपाध्याय (बांग्ला), दिलीप चित्रे और अरुण कोल्हाटकर (मराठी) और रमाकांत रथ (उड़िया),

निस्सीम इजेकील, ए.के.रामानुजम., पी.लाल, जयंत महापात्र, केकी एन. दारूवाला, विक्रम सेठ, सीताकांत महापात्र और जीव पटेल (अंग्रेजी) जैसे नई पीढ़ी के रचनाकारों के माध्यम से आगे बढ़ा है।

थिएटर (रंगमंच)

19वीं सदी के मध्य में पाश्चात्य नाटक के आदर्श का अनुसरण करते हुए भारतीय भाषाओं में एक नई साहित्यिक परंपरा का विकास होने लगा। पाश्चात्य परंपरा के साथ शास्त्रीय एवं क्षेत्रीय नाट्य परंपराओं में एक तनाव पैदा हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि लोक रंगमंच की अनेक शैलियों को नवजीवन मिला और उनका परिष्कार हुआ। बांग्ला, मराठी, हिंदी और गुजराती भाषाओं में तदनुरूप नाट्य साहित्य प्रकाशित हुआ किंतु अन्य भाषाओं ने इस नए थिएटर के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं दर्शाई। तथापि 20वीं सदी के आरंभ में इन भाषाओं ने भी नए रंगमंच को मोहक मनोरंजन और वाणिज्यिक उद्यम के नए स्रोत के रूप में अपनाया। उल्लेखनीय लेखक थे—तमिल में पी. संबंध मुदालियार (1873-1964), उड़िया में भिखारीचरण पटनायक (1877-1962) और गोदावरीश मिश्र (1886-1956), तेलुगु में डी. कृष्णमाचार्य (1853-1913), गुजराती में चंद्रवदन मेहता (1930), मलयालम में सी.वी. राम पिल्लै, मराठी में जी.बी. देवल (1855-1916) आदि।

राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव रंगमंच पर दिखाई देने लगा। इसके प्रयोजनार्थ पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों की खोज की गई। इसी के साथ-साथ एक नई प्रवृत्ति उभरी जिसने मध्य वर्ग के जीवन और उसकी समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया। इसके उल्लेखनीय नाटककार हैं शचींद्रनाथ सेनगुप्त, मन्मथ राय, पार्वती प्रसाद बरुआ, लक्ष्मी नारायण मिश्र आदि। नाट्य कला की दृष्टि से बंगाल अत्यंत समृद्ध था और उसने 'फिल्म' को इस कला पर हावी नहीं होने दिया। बंगाल ने घूमते स्टेज की शुरूआत की और अनेक अंकों वाले नाटक तैयार किए। दूसरी ओर, मराठी ने भिन्न तरीके से रंगमंच में क्रांतिकारी परिवर्तन किया।

जुलाई 1943 में, इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन (IPTA) की स्थापना हुई। इसने थिएटर में नए नाटक को स्थापित करने के लिए एक आंदोलन चलाया और इसमें लोकप्रिय रुचि पैदा करने का प्रयास किया। लोक रंगमंच और मुक्ताकाश रंगमंच की विभिन्न विशेषताओं ने अकस्मात् नया अर्थ ग्रहण कर लिया। बंगाल, महाराष्ट्र, कर्नाटक और केरल ने उस समय नाटक और थिएटर में उल्लेखनीय योगदान दिया।

20वीं सदी के मध्य में एकांकी नाटक लोकप्रिय हो गए। आकाशवाणी ने विभिन्न भाषाओं के अनेक लेखकों को लघु नाटक तैयार करने के लिए आकर्षित एवं आमंत्रित किया। इस नई विधा के विकास के अग्रदूत थे बिवेंद्र कृष्ण भद्र (1905-1991), बामी कुमार, राशिद जहान, शौकत थानवी, सादत हसन मंटो आदि।

थिएटर और नाटक दोनों में ही प्रयोगात्मकता महत्त्वपूर्ण है। इनकी आधुनिक कविता के साथ तुलना की जा सकती है। कविता मौजूदा संदर्भ में वैयक्तिक है तो नाटक लोगों के एक पूरे समूह या वर्ग तक पहुंचता है। भारतीय थिएटर पर जिन महत्त्वपूर्ण नाटककारों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया, वे हैं बादल सरकार (बांग्ला), विजय तेंदुलकर (मराठी), गिरीश कर्नाड (कन्नड़), मोहन राकेश और उपेंद्रनाथ अश्क (हिंदी), इंदिरा

भीष्म साहनी

पार्थसारथी (तमिल), चंद्रशेखर कम्बार (कन्नड़), भीष्म साहनी (हिंदी) और मनोरंजन दास (उड़िया)।

चीन में साहित्य

वास्तविक चीनी साहित्यिक क्रांति 1911 में गणराज्य की स्थापना तक घटित नहीं हुई, जब तक तीन सहस्राब्दियों से भी अधिक समय से चली आ रही राजतंत्रीय संस्था समाप्त नहीं हो गई। चीन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी कवि था आई क्विंग, जो 26 वर्ष की आयु में 1936 में चीनी काव्य में संपूर्ण क्रांति ले आया व 1957 तक निरंतर लिखता रहा और फिर उसे 20 साल के लिए देश निकाला दे दिया गया। चीन में राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के पश्चात् उसका पुनर्वास हुआ और उसने काव्य-रचना जारी रखी। इस अवधि के एक अन्य महत्त्वपूर्ण चीनी लेखक थे लू ह्सुन (1881-1936)। उसने यथार्थवादी कथा-साहित्य में नई प्रवृत्ति का सृजन किया। उसने *मैडमैन्स डायरी* और *दि स्टोरी ऑफ अई क्यू* लिखीं। उसकी कहानियों की भांति लू ह्सुन के लघु व्यंग्यात्मक निबंधों ने भी जनजागरण में क्रांतिकारी भूमिका निभाई। 1937 से 1945 तक, सभी लेखकों ने, चाहे वे वामपंथी थे, दक्षिणपंथी या निर्दलीय, जापानी आक्रमण के विरुद्ध किसी-न-किसी रूप में राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लिया। लोगों के नैतिक बल का संवर्धन करने के एक प्रभावी माध्यम के रूप में इन सबने साहित्य के महत्त्व पर बल दिया और इस प्रकार जापानियों के विरुद्ध युद्ध जीतने में चीनी जनता की सहायता की। तथापि, वामपंथियों ने ही साहित्य लेखन तथा उसके सिद्धांतों के प्रतिपादन के क्षेत्र में प्रमुख भूमिका निभाई। 1950 के दशक में चीनी समाज अनेक विचारधारात्मक पुनर्निर्माणों की श्रृंखला से गुजरा, इन सबने साहित्यिक दायरों को गहराई से प्रभावित किया। कुछ लेखक ऊर्जस्वित होकर अपनी रचनाओं का सृजन कर रहे थे तो अन्य लेखकों ने अपने प्रयासों को पारंपरिक श्रेष्ठ कृतियों को संशोधित और पुनः संपादित करने की दिशा में लगाया। चीन की समस्त साहित्यिक धरोहर का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन किया गया और इसकी पुनर्व्याख्या की गई ताकि इसे साम्यवादी विचारधारात्मक पद्धति में व्यवस्थित किया जा सके।

1966-69 की सांस्कृतिक क्रांति के दौरान व्यावहारिक रूप से साहित्य की समस्त रचनात्मक गतिविधियों में ठहराव आ गया किंतु 1970 के दशक के आरंभ में फिर नए जोश के साथ साहित्यिक सृजन का संकेत मिलने लगा।

जापानी साहित्य

पाश्चात्य विचारों के प्रभाव ने जापानी साहित्य को अत्यधिक परिवर्तित किया है। इस प्रभाव का प्रमुख परिणाम रहा है आधुनिक उपन्यास का विकास।

जापानी कथा-साहित्य को कलात्मक प्रौढ़ता प्रदान करने में मोरी ओगई (1862-1922) और नाटसुमे सोसेकी (1846-1916) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सोसेकी के उपन्यासों में मध्यवर्गीय समाज के जीवन की विसंगतियों और खोखलेपन को चित्रित किया गया है।

पाश्चात्य साहित्य ने 20वीं सदी के जापानी काव्य और नाटक को भी प्रभावित किया। कुछ कवि अभी भी पारंपरिक *टंका* और *हाइकू* लिख रहे थे। मासाओका शिकी (1867-1902) प्रमुख हाइकू रचनाकार थे। अब जापानी कविता का अधिकांश भाग लंबी कविताओं और मुक्त छंदों से परिपूर्ण है।

शोवा काल में (1926) साहित्य श्रमिक वर्ग से संबंध रखता था। किंतु पाश्चात्य प्रभावों के बावजूद जापानी साहित्यिक परंपरा अभी भी सशक्त है।

20वीं सदी के आरंभ का दौर जापानी कविता में स्वच्छंदतावाद के पुन: प्रवर्तन का काल था। काफू नागई (1879-1959) और यासुनारी कवाबाटा (1899-1972) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के समय के प्रमुख लेखक थे।

समकालीन कला

यूरोप में पुनर्जागरण के बाद की अवधि (17वीं-18वीं सदी) में कला पर बारोक और शास्त्रीय कलाकारों का प्रभुत्व रहा। इनकी रचनाओं का विषय ईसाई धर्म और प्रकृति चित्रण के इर्द-गिर्द घूमता था। किंतु फ्रांसीसी क्रांति सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यकलापों में परिवर्तन की साक्षी रही। एक बार फ़िर फ्रांस विश्व में आधुनिक कला का केंद्र बन गया और इसकी अधिकांश सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र-बिंदु पेरिस बना। उसने 19वीं और 20वीं सदी के कला-जगत पर आधिपत्य कायम किया।

श्रेण्यवाद, स्वच्छंदतावाद, आदर्शवाद और प्रकृतिवाद की रचनाओं में विश्व ने कलात्मक अभिव्यक्ति के दर्शन किए लेकिन बाद में 1860 के दशक में एडवर्ड माने की रचनाओं के साथ ही आधुनिकतावाद का उदय हुआ। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में विकास के साथ कला के क्षेत्र में नए आयाम जुड़ गए। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जिस एक अन्य कारक ने विशेष महत्त्व प्राप्त किया वह था यूरोप में बौद्धिक मंथन जहां दार्शनिक, वैज्ञानिक, कवि, मनोविज्ञानी, राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री, विषयों के व्यापक वैविध्य में नए सिद्धांतों का विकास करने में तल्लीन थे। फ्रांसीसी दार्शनिक हेनरी बर्गसां ने इस बात पर पुन: बल देने के लिए नीत्से के सिद्धांत को प्रबल रूप में प्रस्तुत किया कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। इस सिद्धांत ने बुद्धि पर अंतर्ज्ञान की श्रेष्ठता को स्थापित किया जिसे वैज्ञानिकों का व्यापक समर्थन मिला।

फ्रॉयड के अवचेतन के सिद्धांत ने भी 19वीं सदी के कलाकारों की रचनाओं को प्रभावित किया। बुद्धिजीवियों की नई पीढ़ी यह विश्वास करने लगी कि यथार्थ का चित्रण करना असंभव है। अत: स्पष्ट सत्य और प्रकृति के स्थान पर भावनाएं और बुद्धि महत्त्वपूर्ण हो गईं।

यूरोप में आधुनिक कला

यूरोप में एक नए कलात्मक आंदोलन ने 19वीं सदी के अंत में 'प्रभाववाद' (impressionism) और इसके उत्तरवर्ती आंदोलनों को जन्म दिया। कला के इतिहास में 'आधुनिक कला' शब्द आम

तौर पर 1860 के दशक के आसपास से आरंभ होने वाले और 1960 के दशक तक चलने वाले काल की ओर संकेत करता है, उसके बाद एक नए आंदोलन के रूप में 'उत्तर- आधुनिकतावाद' (post-modernism) आरंभ हुआ। आधुनिक कला का यह काल उस युग में उत्पन्न हुई प्रमुख शैलियों और कला की विचारधारा का वर्णन करता है। आधुनिकतावाद इसका मार्गदर्शी दर्शन था। हालांकि भिन्न-भिन्न कलाकारों की अभिव्यक्ति शैली भिन्न-भिन्न थी फिर भी उन्होंने, जैसे मोने, देगा, पिकासो, सिसली और रेनोआ ने 'उत्तर-प्रभाववाद' आंदोलन चलाया जिसका अनुसरण सेज़ेन, रोदैं, पिकासो, केंडिंस्की और अन्य अनेक कलाकारों ने किया। इस प्रकार अभिव्यंजनावाद, फाववाद, धनवाद,, भविष्यवाद, अमूर्तवाद, दादावाद (रूढ़िविरोधवाद) और अतियथार्थवाद जैसे आंदोलन इसके बाद आए। ये सभी आंदोलन रूप और अभिव्यक्ति की तलाश में थे जिन्होंने यूरोपीय 'श्रेण्यवाद' की सौंदर्यपरक संवेदनशीलता को प्रतिस्थापित किया था। यह काल समस्त पूर्ववर्ती सिद्धांतों को अस्वीकृत करने का काल भी था। प्रयोगधर्मिता न केवल रूपात्मक अभिव्यक्ति को लेकर आरंभ हुई बल्कि कला सामग्री और तकनीकों को लेकर भी प्रयोग हुए। 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रयोगात्मकता की यह प्रक्रिया और आगे बढ़ी। इस काल को कला में उत्तर-आधुनिक काल भी कहा जाता है। आधुनिकतावाद अमेरिकी महाद्वीप में दो विश्वयुद्धों के बीच के समय में पहुंचा। इसी के साथ इसने उत्तर-क्रांतिकालीन रूस में घुसपैठ की किंतु वहां इसे साम्यवाद ने कुचल डाला। दो विश्वयुद्धों के बीच का समय, जिसे जर्मनी के विध्वंस और साम्यवादी सोवियत संघ के निर्माण द्वारा रेखांकित किया जाता है, ऐसा समय था जिसने यूरोपीय कला के परिदृश्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। 1950 और 1960 के दशकों तक आते-आते इसने एक परिवर्तित बोध के साथ अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति पुनः प्राप्त की। व्यवस्था के विरोध की भावना कला की विशेषता बनी रही। प्रगतिशील आधुनिकतावाद ने केंद्रीय स्थान ग्रहण किया। न्यूयार्क कलाकारों का 'मक्का' यानी गंतव्य बन गया। इस अवधि की कला ने भविष्य को परिभाषित करने और मौजूदा समय के मूल्यों को अपदस्थ करने पर ध्यान केंद्रित किया। कला का एक अन्य रूप उभर कर सामने आया जिसे प्रत्ययात्मक कला कहा गया।

1900 और 2000 के बीच जो कतिपय प्रमुख कला आंदोलन उभर कर सामने आए, उनका विवेचन नीचे किया जा रहा है।

धनवाद (Cubism)

धनवाद का विकास 1908 के आसपास पाबलो पिकासो और जार्ज बराक ने किया। हालांकि यह आंदोलन अधिक समय तक न चल सका किंतु यह बहुत प्रभावशाली था। इसका प्रभाव बाद के आंदोलनों, जैसे आर्फिज्म, शुद्धतावाद, सूक्ष्मतावाद, भविष्यवाद, रचनावाद और अभिव्यंजनावाद पर महसूस किया गया।

धनवाद का दूसरा चरण 1912 के बाद आरंभ हुआ और इसे सांश्लेषिक धनवाद कहा गया। इस चरण के रचना कर्म में चित्र में रूपों के संश्लेषण या संयोजन पर बल दिया गया। कैनवस पर चित्रकारी किए गए स्थानों के साथ सौंदर्यात्मक रूप से विलयन के लिए अखबारों और तंबाकू के रैपरों

जॉर्ज ब्रॉक की एक रचना

को प्रायः चिपका हुआ पाया जाता था। कोलाज़ निर्माण का यह रूप धनवाद के इस चरण की प्रमुख विशेषता थी।

फाववाद (Fauvism)

हेनरी माटिस (1869-1954) एक घोर स्वतंत्र विचारक चित्रकार था जो रंगों के मुक्त प्रयोग में विश्वास करता था। उसने अपने मित्रों मोरिस डि व्लामिंक (1876-1895) और आंद्रे डेरॉ (1880-1954) के साथ मिल कर जिस फाववादी आंदोलन को आरंभ किया उस आंदोलन ने न केवल वस्तु के वर्णन के लिए रंग-प्रयोग को बढ़ावा दिया बल्कि उस वस्तु को अधिक प्रदीप्त करने के लिए भी रंगों के प्रयोग पर बल दिया।

अतियथार्थवाद (Surrealism)

अतियथार्थवाद अमूर्त कला के कुछ रूपों से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। वस्तुतः इनका उद्गम एक ही है किंतु कला सौंदर्य के लिए इन उद्गमों का अर्थ क्या है इस व्याख्या के संबंध में ये भिन्न हैं। अतियथार्थवाद का नेतृत्व आंद्रे ब्रेतां ने किया जिसने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान रवाइयों में रहकर युद्ध लड़ा था। युद्ध के बाद, अनेक कलाकारों का कला के प्रति मोहभंग हो गया। उनका यह मानना था कि जो विश्व युद्ध का निर्माण करता है वह कला का विषय बनने का पात्र नहीं है। इसलिए उन्होंने ऐसी प्रत्येक वस्तु को नष्ट करने के लिए कला-विरोधी आंदोलन आरंभ किया जो कला का प्रतिनिधित्व करती थी। यूरोप के बुर्जुआ वर्ग के बीच इसे व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई। किंतु ब्रेतां सहमत नहीं हुआ। वह कला को बचा कर उसे एक नया अर्थ देना चाहता था। इसलिए उसने अमूर्त के साथ प्रयोग करना आरंभ कर दिया। थोड़े ही समय के भीतर अतियथार्थवादियों के बीच दो समूह स्पष्टतः उभर कर सामने आए जो सिगमंड फ्रायड और कार्ल युंग के कार्य की व्याख्या को आधार मान कर चलते थे। प्रथम समूह को 'आटोमेशन ग्रुप' और दूसरे को 'वेरिस्टोइक सुर्रियलिस्ट ग्रुप' कहा गया। सल्वाडोर डाली और पाबलो पिकासो क्रमशः दोनों समूहों के नेता थे।

उत्तर-आधुनिकतावाद (Post-modernism)

उत्तर-आधुनिकतावाद एक जटिल शब्द है। यह एक ऐसी संकल्पना है जो कला के सभी

क्षेत्रों-चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, फिल्म, साहित्य, समाजविज्ञान, संचार, फैशन और यहां तक कि प्रौद्योगिकी में भी देखने को मिलती है। हालांकि 1980 के दशक के मध्य में यह अकादमिक अध्ययन के क्षेत्र के रूप में उभर कर सामने आई किंतु यह पता लगाना सरल नहीं है कि उत्तर-आधुनिकतावाद का आरंभ कैसे और कब हुआ।

आधुनिकतावाद की भांति उत्तर-आधुनिकतावाद ने भी कला के उच्च और अवर रूपों के बीच की सीमाओं को अस्वीकृत कर दिया। दोनों शाखाओं की कृतियों को विडंबना और व्यंग्योक्ति पर उनके द्वारा दिए जाने वाले बल के आधार पर परिभाषित किया जाता है। किंतु इनके बीच अंतर तो अवश्य है। आधुनिकतावादी यह मानते थे कि समाज की समस्त बुराइयों के बावजूद कला, एकता, सामंजस्य और उस अर्थ को प्रस्तुत कर सकती है जो समकालीन जीवन में खो गए हैं। इसके विपरीत, उत्तर-आधुनिकतावादी यह मानते हैं कि दुनिया को सुधारना कलाकार का कार्य नहीं है। यदि विश्व निरर्थक है तो वे निरर्थकता के साथ प्रयोग करना बेहतर समझेंगे।

कला-इतिहासकार फ्रेडरिक जेम्सन के अनुसार आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद ऐसे सांस्कृतिक संघटन हैं जो पूंजीवाद की विशेष अवस्थाओं को उजागर करते हैं। 18वीं सदी के मध्य में बाजार-पूंजीवाद काल के दौरान प्रौद्योगिकीय उन्नति यूरोप और अमेरिका में कला में यथार्थवाद के साथ मिल कर चली। दूसरे चरण में, जो 19वीं सदी के अंत से 20वीं सदी के मध्य तक रहा, एकाधिकारी पूंजीवाद का प्रभुत्व रहा, प्रौद्योगिकी में वैद्युत एवं आंतरिक दहन और कला में आधुनिकतावाद का वर्चस्व रहा। मौजूदा चरण उपभोक्ता या बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद का चरण है जो माइक्रोप्रोसेसर चालित प्रौद्योगिकियों और उत्तर-आधुनिकतावाद से संबद्ध है।

उत्तर-आधुनिकतावाद शब्द विरोधाभासी है। कुछ लोगों के लिए इसका अर्थ है आधुनिकता-विरोधी जबकि अन्य के लिए यह आधुनिकता का संशोधित रूप है। यह सच है कि आधुनिकतावाद को नकारने वाली प्रच्छन्न धाराएं भी विद्यमान हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद कारण की सर्वोच्चता, सत्य की अवधारणा, व्यक्ति की संपूर्णता में विश्वास के सिद्धांत को नकारता है।

आधुनिक भारतीय कला

आधुनिक भारतीय कला में बंगाल स्कूल की भूमिका अर्थपूर्ण है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय समाज में एक नई चेतना का उदय हुआ। अनेक विचारकों और सुधारकों ने भाषण दिए और निबंध लिखे और इस प्रकार राष्ट्रवाद की भावना का जन्म हुआ। कला-जगत और साहित्य-जगत भी इससे अछूता न रहा। इसलिए इस काल को भारतीय कला के इतिहास में पुनर्जागरण काल भी कहा जाता है। गगनेंद्रनाथ टैगोर, रवीन्द्रनाथ टैगोर और अवनींद्रनाथ टैगोर - इन तीनों के योगदान ने इस अवधि के दौरान शांतिनिकेतन में रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा विश्व प्रसिद्ध 'विश्वभारती विश्वविद्यालय' की स्थापना को चरम उत्कर्ष पर पहुंचा दिया। 1850 के आसपास तक मद्रास (चेन्नई), कलकत्ता (कोलकाता) और बम्बई (मुंबई) में तीन आर्ट स्कूलों की स्थापना भी हो चुकी थी जिन्हें स्थापित करने का प्रयोजन था स्थानीय शिल्पकारों के औद्योगिक कौशलों को बढ़ावा देना, ताकि वे ब्रिटिश औपनिवेशिक

अमृता शेरगिल द्वारा निर्मित स्व-चित्रण
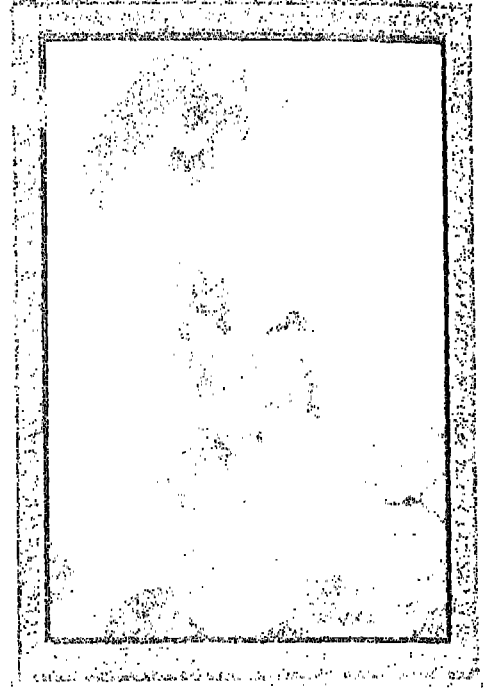
राजा रवि वर्मा की एक कलाकृति

अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाए जा सकें। बाद में बम्बई स्कूल प्रतिष्ठित जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट बन गया। इसके उपरांत, लाहौर (अब पाकिस्तान में) और लखनऊ में आर्ट स्कूल खोले गए। 20वीं सदी के आरंभ के दौरान औद्योगिक कला विद्यालय अपने स्वरूप में अकादमिक हो गए और विश्वभारती, एम.एस.यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, रवींद्र भारती, कोलकाता और अभी हाल ही में चंडीगढ़ और दिल्ली विश्वविद्यालयों में ललित कला विभागों की स्थापना हुई। ये संस्थाएं दृश्य और अभिनय कलाओं में अपने शैक्षिक पाठ्यक्रम के कारण देश-विदेश में प्रसिद्ध हुईं।

तीन टैगोरों के बाद कलाकारों की एक पूरी पीढ़ी 20वीं सदी के दौरान राष्ट्रीय परिदृश्य पर उभरी। नंदलाल बोस, जामिनी राय, रामकिंकर बैज ने बंगाल में कार्य किया। अमृता शेरगिल और राजा रवि वर्मा दो अन्य ऐसे कलाकार थे जिनका आधुनिक भारतीय कला को महत्त्वपूर्ण योगदान मिला। इनका कार्य भारतीय विषयों और पश्चिमी तकनीकों का संगम है। अमृता शेरगिल का पालन-पोषण यूरोप में हुआ और चित्रकार के रूप में उनका विकास भारत में हुआ, जबकि राजा रवि वर्मा (त्रावनकोर, केरल) ने अपने कार्य के लिए भारतीय पौराणिक कथाओं और परंपरा को विषय चुना।

बम्बई स्कूल में प्रशिक्षण रॉयल अकेडमी ऑफ आर्ट्र्स, लंदन के पाठ्यक्रम पर आधारित था। स्वतंत्रता के तुरंत पश्चात् क्रांतिकारी कलाकारों के एक समूह ने प्रगतिशील कलाकार समूह का निर्माण किया और एफ.एन. सूजा, एम.एफ. हुसैन, जे.एच.रज़ा और के.एच. आरा ने भारतीय कला में उभरती प्रवृत्तियों को चित्रित किया। तथापि यह समूह जल्द ही टूट गया। सूजा लंदन में, रज़ा फ्रांस में बस गए। हुसैन मुंबई में ही रहे। वास्तव में इस स्कूल ने बंगाल स्कूल के खिलाफ आंदोलन चलाया और स्वयं को अपने पूर्ववर्तियों द्वारा स्थापित भारतीय मूल्यों से मुक्त घोषित किया था।

स्वातंत्र्योत्तर काल में दिल्ली में ऑल इंडिया फाइन आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स सोसाइटी, दिल्ली कालेज ऑफ आर्ट्स, ललित कला अकादमी, नेशनल म्यूजियम और नेशनल गैलरी ऑफ आर्ट्स खोले गए। इन सबने राजधानी को महत्त्वपूर्ण कला-केंद्र बना दिया। बी.एस. सान्याल, कृष्ण खन्ना, धनराज भगत, मनजीत बावा जैसे कलाकारों ने दिल्ली में रहते हुए भारतीय कला में एक नए युग का सूत्रपात किया।

1980 के दशक में उस समय कलाकारों का एक नया समूह उभर कर आया जब दिल्ली, मुंबई और बड़ौदा के कलाकार दिल्ली में मिले और उन्होंने जे. स्वामिनाथन को अपना नेता चुना। समकालीन भारतीय कलाकारों में अंजलि इला मेनन, मनजीत बावा, सतीश गुजराल, मीरा मुखर्जी, धीरज चौधरी आदि अग्रणी हैं। पिछले दो दशकों के दौरान भोपाल, नागपुर, बंगलौर, इंदौर, लखनऊ, जयपुर, हैदराबाद आदि अन्य स्थान भी कला के सक्रिय केंद्र बन गए हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल के दौरान भारतीय कला का एक अन्य पहलू उभर कर सामने आया – देश के हस्तशिल्प और हथकरघे। यह महत्त्वपूर्ण क्षेत्र जो भारत की ग्रामीण सामाजिक अर्थव्यवस्था का आधार है, ब्रिटिश शासन के दौरान नष्ट हो चुका था। अब इस क्षेत्र में क्रांति हो रही है और भारत एक बार फिर एक नए रूप में अपनी लोक-कलाओं के लिए प्रसिद्ध हो रहा है। श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय और श्रीमती नीलिमा बरूआ दो ऐसी हस्तियां हैं जिन्होंने भारतीय हस्तशिल्प और वस्त्रकला (textiles) में नए प्राण फूंक दिए हैं। कॉटेज एम्पोरियम, विभिन्न राज्यों के एम्पोरियम, शिल्प परिषदों, वस्त्र डिजाइन केंद्रों, शिल्प संग्रहालयों जैसी सरकारी एजेंसियों की शृंखला की स्थापना से हस्तशिल्प उत्पादों का विपणन सुगम हो गया है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय उत्सव भी इन उत्पादों को लोकप्रिय बनाने के लिए आयोजित किए जाते हैं।

आज, अपने भारत के प्रत्येक राज्य हस्तशिल्प के लिए पहचाने जाते हैं। उत्तर-पूर्वी राज्यों के हथकरघा उत्पाद; जैसे – ऊनी नागा शॉल, असम सिल्क, मैतिफी वस्त्र, लखनऊ की चिकनकारी, बनारस का जरी का काम, गुजरात और राजस्थान का बंधेज का काम (tie and dye) तथा उड़ीसा में संबलपुर और बेहरामपुर के टेक्सटाइल डिजाइन, उड़ीसा के मयूरभंज और मध्यप्रदेश का टसर सिल्क, तमिलनाडु की कांजीवरम और कर्नाटक में मैसूर की सिल्क साड़ियां आदि हस्तशिल्प के कुछ उदाहरण हैं। चित्रकला में स्क्रॉल पेंटिंग, वॉल पेंटिंग और फ्लोर पेंटिंग सुविख्यात हैं। उड़ीसा के पट्टचित्र, बिहार की मधुबनी पेंटिंग और राजस्थान के वर्णनात्मक फड़ चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विभिन्न राज्यों के धातु शिल्पों में उत्तर प्रदेश की पीतल की कारीगरी, मध्य प्रदेश और उड़ीसा की कांस्य कारीगरी, उड़ीसा की चांदी की कारीगरी

और हैदराबाद की बीदरी कारीगरी सुविख्यात हैं। उन अधिकांश राज्यों में जहां विशाल जनजातीय जनसंख्या है, वहां उनकी मिट्टी की मूर्तियों और बर्तनों (टेराकोटा और पॉटरी) की कारीगरी की भी समृद्ध परंपराएं हैं। इन कला रूपों को 21वीं सदी में भी जीवित रूप में फलते-फूलते देखना एक खुशी की बात है क्योंकि भूमंडलीकरण का दमनकारी प्रभाव विश्व परिदृश्य से इन कलाओं की विपुलता और विविधता को एकदम लुप्त कर देता।

अमेरिका की समकालीन कला

1960 के दशक के बाद अमेरिका में कला ने यूरोपीय कला से भिन्न अपनी नई सार्थकता और पहचान स्थापित की। केवल 'उच्च' कला में स्वीकार्य तिरस्कृत और अत्यंत साधारण विषयों से नई देशज बिबंमाला, जो लोकप्रिय स्रोतों और गृहस्मारी से ली गई है, की ओर जाने के प्रतिमान-परिवर्तन ने स्वयं को एक प्रेरणादायक अभिनव प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करना आरंभ कर दिया था। यह एक्शन पेंटिंग के आत्मपरक पूर्वाग्रहों और आदर्शवाद के एकदम विपरीत था। दुनिया के अन्य भागों से कलाकारों, वैज्ञानिकों, बुद्धिजीवियों के मुक्त प्रवाह ने न केवल अमेरिकी अर्थव्यवस्था में योगदान दिया है बल्कि वहां के प्रबुद्ध वर्ग को भी समृद्ध बनाया है। स्वतंत्रता और बेहतर अर्थव्यवस्था के लिए इस देशांतरण ने इस राष्ट्र को वास्तविक अर्थों में 20वीं सदी के अंत तक एक महाशक्ति बना दिया है।

कला के क्षेत्र में प्रमुख कलाकारों में रॉय लिचेंस्टीन, जिम डाइन, टॉम वेस्सेल मान, रिचर्ड एस्टेस शामिल हैं। कुछ समय तक कला परिदृश्य पर 'ओप-आर्ट' या ऑप्टिकल आर्ट ने आधिपत्य स्थापित कर लिया था जिसमें बिंबविधान प्रकाशिकी (optics) के वैज्ञानिक, सिद्धांत पर आधारित था। ओप-आर्ट के बाद बोधात्मक, न्यूनतमवादी, और उत्तर-न्यूनतमवादी चित्रकार आए जिन्होंने अमेरिका के कला परिदृश्य पर आधिपत्य स्थापित किया।

20वीं सदी में अमेरिका में जो अन्य आंदोलन चले उनमें लोक कला आंदोलन शामिल है। 'अमेरिकन प्रिमिटिव्ज' के रूप में जाने वाले कलाकार बेजोड़ विभूति थे, जो मुक्त अभिव्यक्ति की गैर-अकादमिक शैली में विश्वास करते थे। उनके कला-रूपों का पुन:सृजन अमेरिकी कला की बहुलतावादी पच्चीकारी में नए-नए रंग और अर्थ भर देता है।

[illegible]

सिनेमा

सिनेमा का आविष्कार 19वीं सदी के अंत की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, जब ल्यूमियर बंधुओं के चलचित्र को दिसंबर 1895 में पहली बार पेरिस में दिखाया गया। तब यूरोप और अमेरिका में व्यावसायिक सिनेमा शुरू हुआ था किंतु भारत में इसकी शुरूआत 1913 में हुई जब दादा साहब फाल्के ने 'राजा हरिश्चंद्र' फिल्म बनाई। मूक फिल्मों का दौर 1931 में 'आलम आरा' के निर्माण के साथ ही समाप्त हो गया – आलम आरा भारत में निर्मित पहली बोलती फीचर फिल्म थी। सिनेमा न केवल भारत में बल्कि पश्चिमी जगत में भी अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली माध्यम है। फिल्में, वृत्तचित्र और फीचर लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में बनाए जाते हैं और वे विशाल जनसमूह के जीवन और कार्यों को चित्रित करते हैं। नृत्य और थिएटर की भांति सिनेमा भी एक कला का रूप समझा जाता है और राष्ट्रीय तथा अतंर्राष्ट्रीय, दोनों स्तरों पर दुनिया भर में अनेक फिल्म समारोहों का आयोजन किया जाता है
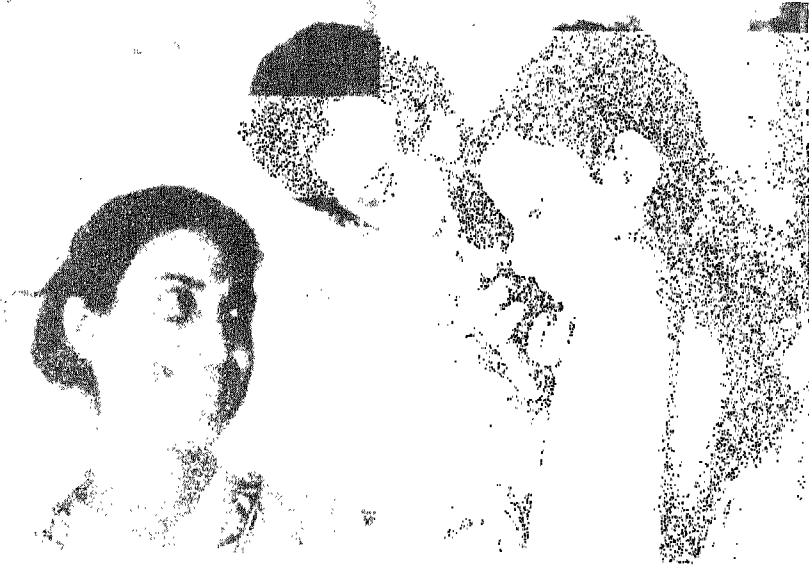
पाथेर पंचाली : सत्यजीत रे की फिल्म का एक दृश्य

जहां किसी वर्ष-विशेष में निर्मित सर्वश्रेष्ठ फीचर फिल्मों को विभिन्न पुरस्कार दिए जाते हैं।

हालांकि हम सिनेमा को एक आविष्कार मानते हैं लेकिन वस्तुत: यह एक ऐसा विकास था जो मुद्रण प्रौद्योगिकी के आविष्कार से विकसित हुआ और बहुत जल्द ही यह मनोरंजन का लोकप्रिय साधन बन गया। कुछ ही वर्षों में यह बहुत बड़े व्यवसाय के रूप में विकसित हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व के दौर में फ्रांस ने सिनेमा जगत पर अपना प्रभुत्व जमा रखा था, बाद में सिनेमा इंग्लैंड और अमेरिका में फैल गया। पूरे विश्व में सिनेमा की लोकप्रियता बहुत तेजी से फैली। सिनेमा के इतिहास में कुछ प्रतिष्ठित निर्देशक हैं – सर्गेई आइंस्टाइन, चार्ल्स चैपलिन, अकीरा कुरोसावा, सत्यजीत रे, इंग्मार बर्गमैन, ब्रेस्सन, फैलिनी, अल्फ्रेड हिचकॉक, डेविड लीन और स्टीफन स्पीलबर्ग आदि।

समाचारपत्र

हालांकि सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में असीमित प्रगति हुई है, लेकिन आज भी समाचारपत्र जनसाधारण के बीच, चाहे वह अमीर हो या गरीब, शहरी हो या ग्रामीण अत्यधिक लोकप्रिय हैं। यह जनसंचार का आरंभिक रूप है और सेटेलाइट टीवी और रेडियो पर नियमित रूप से खबरों के कार्यक्रम आने के बावजूद समाचारपत्रों ने अपना आकर्षण नहीं खोया है। नवीनतम सूचना प्रौद्योगिकी के कारण अब अनेक महानगरीय संस्करणों का एक साथ अवलोकन करना सरल हो गया है। समाचारपत्रों की अनेक श्रेणियां हैं; जैसे – दैनिक समाचारपत्र जिनके प्रात:कालीन, मध्याह्न और सांध्यकालीन संस्करण निकलते हैं, और साप्ताहिक समाचारपत्र। इनका परिचालन पूरे विश्व में होता है। अकेले भारत में ही पृथक राष्ट्रीय और क्षेत्रीय समाचारपत्र और पत्रिकाएं हैं। लोगों में जागरूकता

और साक्षरता का स्तर बढ़ने से समाचारपत्रों और पत्रिकाओं की लोकप्रियता भी बढ़ी है।

किसी भी देश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों का चित्रण करने में जनसंचार का मुद्रित माध्यम (Print media) बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह जनमत को प्रभावित करता है और 20वीं सदी की विश्वस्तरीय मामलों की न केवल अभिव्यक्ति में बल्कि उन्हें आकार देने में भी इसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ख़ोजी पत्रकारिता के कारण अनेक सरकारें गिर चुकी हैं। इसका अभी हाल का एक सर्वाधिक ज्वलंत उदाहरण है अमेरिका का वाटरगेट कांड जिसके कारण वहां के राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन को पद से हटना पड़ा।

प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय समाचार एजेंसियां हैं–अमेरिका में एसोसिएटिड प्रेस, ग्रेट ब्रिटेन में रॉयटर्स, फ्रांस में एजेंस फ्रांस प्रेस, जापान में कियोडो, रूस में तास और चीन में सिनहुआ। ऐसे न्यूज सिंडिकेट और वायर सर्विसेज भी हैं जिनमें समाचारों, फीचरों, लेखों आदि को बांटने की परस्पर सहमति होती है। भारत में यूनाइटेड न्यूज ऑफ इंडिया और प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया, सरकारी न्यूज एजेंसियां हैं।

देश में साक्षरता के बढ़े हुए स्तर के साथ अंग्रेजी पत्रकारिता ने शहरी लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा, जबकि अर्ध-शहरी और देहाती क्षेत्र विभिन्न समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के क्षेत्रीय भाषा के संस्करणों को संरक्षण प्रदान करते रहे।

पत्रिकाए, प्रिंट मीडिया का सशक्त माध्यम हैं और इसके अनेक लाभ हैं; जैसे—समाचारों, फीचरों और मौजूदा घटनाओं की व्यापक रिपोर्ट। इसने विज्ञापन को बढ़ावा देने में और इस प्रकार लोगों में उपभोक्ता संबंधी जागरूकता का स्तर बढ़ाने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

रेडियो और टेलीविजन

1920 के दशक में प्रसारण जनसंचार का एक कारगर माध्यम बन गया। रेडियो ने सामुदायिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ट्रांजिस्टर की खोज के साथ यह अधिक सुविधाजनक और किफायती हो गया। ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कारपोरेशन (BBC) और बाद में वॉयस ऑफ अमेरिका दुनिया भर में लोकप्रिय प्रसारण निगम बन गए। भारत में आकाशवाणी बहुत लोकप्रिय रहा है। राष्ट्रीय प्रसारण एजेंसी होने के नाते आकाशवाणी का नेटवर्क बहुत व्यापक है। 1990 के दशक में भारत में हवाई प्रसारण (air broadcasting) निजी क्षेत्र के लिए खोल दिया गया और सदी के अंत में 'फ्रीक्वेंसी माड्यूलेशन', जिसे एफ.एम. चैनल कहा जाता है, बहुत लोकप्रिय हो गए हैं।

20वीं सदी के आरंभ में टेलीविजन का आविष्कार बड़े पैमाने पर जनसंचार (mass media) के क्षेत्र में क्रांति लाया। 1936 में टेलीविजन का प्रथम प्रसारण आरंभ हुआ, तब से इस संचार माध्यम ने निजी स्टूडियो से सेटेलाइट टी.वी. का प्रयोग करने वाले नेटवर्क तक अनेक व्यापक परिवर्तन देखे हैं। 1980 के दशक में उन्नत उपग्रह प्रौद्योगिकी के कारण दुनिया के किसी भी भाग में सीधा प्रसारण देखना संभव हो गया। समाचारों और सामाजिक जागरूकता कार्यक्रमों के प्रचार-प्रसार के अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हुए टेलीविजन व्यापक रूप से मनोरंजन का एक साधन भी बन गया है। केबल नेटवर्क ने कार्य और भी सरल कर दिया है। अनेक चैनलों के प्रसारण में उपभोक्ता बहुत सारे चैनलों में से देखने के लिए अपनी पसंद का कोई भी चैनल चुन सकते हैं, इन चैनलों की भाषायी और विषयगत

विविधता बहुत व्यापक होती है। सी.एन.एन., एशियन ऐज, डिस्कवरी, नेशनल ज्योग्राफिक और स्टार जैसे अंतर्राष्ट्रीय चैनल हैं जो दर्शकों की विभिन्न जरूरतों को पूरा करते हैं। भारत में दूरदर्शन सरकारी प्रसारण एजेंसी है और 1980 के दशक तक यह देश की एकमात्र ऐसी एजेंसी रही। 1980 के दशक में सरकार ने इस क्षेत्र को निजी भारतीय और विदेशी चैनलों के लिए खोल दिया।

समूचे विश्व में पिछले सौ सालों के दौरान घटित हुए विकास क्रम का विहंगावलोकन उस द्रुत गति के विकास का संकेतक है जिसने राष्ट्रों और उसके लोगों के बीच की दूरियों को न्यूनतम कर दिया है। न्यूनाधिक रूप से यह वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय उन्नति का आख्यान रहा है जिसने समाज के सभी वर्गों--कला, संस्कृति, साहित्य, अर्थव्यवस्था, मीडिया और संचार को प्रभावित किया है। एक ओर यह नवीनतम आविष्कारों के माध्यम से लोगों को जीवन प्रदान करता है तो दूसरी ओर ऐसे आविष्कारों के प्रयोग में मतिभ्रंश के कारण मनुष्य को अपने जीवन के लिए खतरे का सामना भी करना पड़ रहा है। 21वीं सदी का आरंभ विश्व के समक्ष नई चुनौतियां लाया है जिनसे निपटना होगा और विश्व-शांति तथा सार्वभौमिक सह-अस्तित्व के नए क्षितिज तलाशने होंगे।

अभ्यास

1. 19वीं और 20वीं सदी के दौरान विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रमुख रूप से कौन-कौन सी घटनाएं घटीं और इन्होंने समाज को समग्रत: कैसे प्रभावित किया?
2. हमारे दैनिक जीवन में सूचना प्रौद्योगिकी क्या भूमिका निभाती है?
3. आर्थिक रूप से विकसित राष्ट्र के संकेतक के रूप में प्रौद्योगिकी के विकास पर प्रकाश डालिए।
4. ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों और उनकी उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
5. आधुनिक परिवहन किस अर्थ में उपयोगी है? पिछले सौ सालों में परिवहन के विभिन्न साधनों के विकास की चर्चा कीजिए।
6. जैविक विज्ञानों के क्षेत्र में 19वीं और 20वीं सदी की खोजों का आलोचनात्मक परिकलन कीजिए।
7. स्वातंत्र्योत्तर काल के दौरान भारतीय हस्तशिल्पों की स्थिति का ब्योरा दीजिए।
8. समकालीन विश्व में लोगों के दैनिक जीवन को कंप्यूटरों और कृत्रिम उपग्रहों ने कैसे प्रभावित किया? इस पर एक निबंध लिखिए।
9. जनसंचार के साधन कौन से हैं? समकालीन दौर में जनसंचार माध्यमों की भूमिका का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
10. 20वीं सदी के दौरान साहित्य के क्षेत्र में प्रमुख प्रवृत्तियां क्या रही हैं? इस अवधि के दौरान अफ्रीकी-एशियाई देशों के साहित्यिक अनुभव क्या रहे, संक्षेप में विवेचन कीजिए।
11. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
    (i) एंटीबायोटिक्स
    (ii) समकालीन सिनेमा
    (iii) परमाणु ऊर्जा - विनाश का साधन या ऊर्जा का संभावित स्रोत?

परियोजना कार्य

- अपने समुदाय में सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन और परंपराओं का अध्ययन कीजिए और अपने अध्यापक के परामर्श से इस पर एक रिपोर्ट तैयार कीजिए।

पारिभाषिक शब्दावली

अंत:स्थ राज्य	:	एक छोटा देश जो दो या अधिक बड़े देशों के बीच में स्थित हो। अंत:स्थ राज्य की स्थिति उन दो या अधिक बड़े राज्यों को आपस में लड़ने से रोकती है।
अधिदेश	:	राष्ट्र संघ द्वारा अपने किसी सदस्य को किसी राज्य-क्षेत्र का प्रशासन करने के लिए दिया गया आदेश।
अध्यात्मवाद	:	आध्यात्मिक व्यवहार, जिसमें जड़ वस्तुओं से परे, परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास किया जाता है और उसमें विलीन होने की आकांक्षा की जाती है।
अनिवार्य सैनिक भर्ती	:	सशस्त्र सेनाओं में नौकरी करने के लिए सरकार द्वारा अनिवार्य रूप से भर्ती करना।
अनुगामी राज्य	:	कहने भर के लिए एक स्वतंत्र देश, लेकिन वास्तव में जिसका नियंत्रण एक अधिक शक्तिशाली देश के हाथ में हो; विशेष रूप से वे देश जो सोवियत संघ के नियंत्रण में थे।
अनुदार दल	:	एक राजनीतिक दल जो मुक्त उद्यम तथा निजी स्वामित्व के अधिकार को बढ़ावा देता है; ब्रिटेन का एक प्रमुख दल।
अभिजात-वर्ग	:	यूरोपीय समाज के उच्च वर्ग के लोग।
अभिसमय	:	दो या अधिक राज्यों के बीच कुछ बातों के लिए करार या समझौता; यह संधि से कम औपचारिक होता है।
अल्पविकसित देश	:	आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश।
आंकड़े	:	तथ्यात्मक आंकड़े (डाटा), सांख्यिकी सामग्री जिसका विश्लेषण किया गया है।

आंग्ल (एंग्लिकन)	:	इंग्लैंड के चर्च अथवा उससे जुड़े किसी भी चर्च का सदस्य।
आंतांत (सौहार्द)	:	राज्यों और गुटों के बीच मैत्रीपूर्ण समझौता अथवा अनौपचारिक मैत्री-संधि।
आंदोलन	:	एक जन-समूह जो अपने समान राजनीतिक या सामाजिक विचारों को बढ़ावा देने के लिए साथ-साथ मिलकर काम करे।
आतंकवादी	:	ऐसा व्यक्ति जो अपने राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हिंसा और संत्रास यानी डराने-धमकाने की चालें चलता हो।
आत्म-निर्णय	:	एकसमान पृष्ठभूमि वाले लोगों द्वारा अपना निजी राष्ट्र बनाने और खुद की सरकार चुनने का अधिकार।
आधुनिकीकरण	:	आधुनिक उपकरण लगाकर अथवा आधुनिक विचार या तरीके अपनाकर किसी व्यवस्था या वस्तु को आधुनिक जरूरतों या आदतों के अनुसार बनाना।
इतिहास लेखन	:	इतिहास शास्त्र; इतिहास लिखने की कला।
उड़ान-वर्जित क्षेत्र	:	एक ऐसा क्षेत्र जिसपर, विशेष रूप से लड़ाई के दौरान, हवाई जहाज उड़ाने की मनाही हो।
उत्तर अटलांटिक संधि संगठन	:	1949 में की गई एक सैन्य मैत्री-संधि, जिसके विभिन्न पक्ष थे : संयुक्त राज्य अमेरिका, कानाडा और पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र।
उत्पादक संघ	:	देशों के बीच एक सहकारी व्यवस्था जिसका उद्देश्य परस्पर आर्थिक हितों की रक्षा करना और उन्हें बढ़ावा देना होता है।
उदारतावाद	:	19वीं सदी के यूरोप का यह मध्यवर्गीय सिद्धांत जिसके अंतर्गत मध्य वर्ग के सदस्यों को अधिक राजनीतिक सहभागिता और आर्थिक अवसर प्रदान करने के लिए उत्साहित किया जाता था।
उपनिवेशवाद	:	एक देश द्वारा दूसरे देश पर पूर्ण या आंशिक रूप से राजनीतिक और राज्यक्षेत्रीय नियंत्रण प्राप्त करने की नीति।
एक-ध्रुवीय विश्व	:	एक अकेली बड़ी शक्ति द्वारा संपूर्ण विश्व की राजनीति पर प्रभुत्व स्थापित करना।
एकपक्षीय	:	किसी बात पर किसी अन्य की परामर्श लिए बिना, स्वयं निर्णय लेना और उसे कार्यान्वित करना अथवा किसी सिद्धांत का एकतरफा समर्थन करना।

एकाधिकार : ऐसी स्थिति जिसमें कोई कंपनी अथवा समूह किसी वस्तु या सेवा पर अनन्य नियंत्रण रखे।

ऐस्ट्रोलेब : एक खगोल-वैज्ञानिक उपकरण जिसका उपयोग जहाज की अक्षांश स्थिति का पता लगाने के प्रयोजन से, सूर्य तथा तारों की तुंगता (उन्नतांश) को नापने के लिए किया जाता है।

उपनिवेश-मुक्ति : औपनिवेशिक शक्ति का उपनिवेश को स्वतंत्र कर देना।

कॉमिन्टर्न : 'तीसरा अंतर्राष्ट्रीय', एक साम्यवादी संगठन।

केंद्रीय शक्तियां : जर्मनी, आस्ट्रेलिया, तुर्की और बुल्गारिया को दिया गया नाम, जो द्‌वितीय विश्वयुद्‌ध में मित्र राष्ट्रों के रूप में लड़ी थीं।

खून और तलवार नीति : कठोर नीति; जर्मनी के एकीकरण के लिए बिस्मार्क की नीति जो प्रशा की संसद की उपेक्षा करते हुए प्रशा के राजतंत्र द्‌वारा अपनाई गई थी।

जिरोंदिस : फ्रांस में उदारवादी रिपब्लिकन दल का सदस्य। यह दल 1791 से 1793 तक सत्ता में रहा।

गणतंत्र : गणराज्य; एक ऐसा राज्य जिसमें सर्वोच्च सत्ता जनता या उसके द्‌वारा चुने गए प्रतिनिधियों के हाथों में हो, और जिसका अध्यक्ष, एक राजा या बादशाह नहीं बल्कि एक निर्वाचित राष्ट्रपति हो।

गुटबंदी : गुटवाद; एक विशाल समूह में उसके एक छोटे संगठित समूह द्‌वारा राजनीतिक असहमति की स्थिति।

ग्लासनोस्त : खुलापन; सोवियत संघ के नेता मिखाइल गोर्बाचेव द्‌वारा 1980 के दशक में प्रारंभ की गई खुलेपन की साहसपूर्ण नीति। इसका उद्‌देश्य आर्थिक विकास को बढ़ावा देना और चर्चा के लिए प्रोत्साहन देना था।

घेराबंदी की नीति : किसी देश के चारों ओर मित्र राष्ट्रों का घेरा बनाने की नीति; ऐसी नीति का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में किया जाता है।

जनमत संग्रह : मतदाताओं द्‌वारा एक ऐसे राजनीतिक प्रश्न पर सामान्य मतदान, जिस पर प्रत्यक्ष निर्णय लेने के लिए उनसे राय मांगी गई हो।

जनसंहार : किसी सरकार द्‌वारा देश में रहने वाले किसी विशेष जातीय, धार्मिक या राष्ट्रीय समूह के लोगों को योजनाबद्‌ध तरीके से समाप्त किया जाना।

ज्ञानोदय : 17वीं शताब्दी के अंतिम दशकों और 18वीं शताब्दी में यूरोप में चला बौद्धिक आंदोलन, जिसमें परंपराओं की बजाय तर्कबुद्धि तथा व्यक्तिवाद पर ज़ोर दिया गया था।

टैंक : एक भारी सशस्त्र लड़ाकू वाहन, जिसमें तोपें लगी हों और जो लगातार अपने धातु-पथ पर ही चलता हो।

ट्रूमैन का सिद्धांत : यह सिद्धांत कि संयुक्त राज्य अमेरिका उन देशों या लोगों को समर्थन एवं सहायता दे जिन्हें सोवियत सेनाओं या साम्यवादी विद्रोह का खतरा है। इस सिद्धांत को सर्वप्रथम 1947 में अमेरिकी राष्ट्रपति एच. ट्रूमैन द्वारा अभिव्यक्त किया गया था।

डोमीनियन : ब्रिटिश राष्ट्रमंडल (कॉमनवेल्थ) के स्वशासी राज्यक्षेत्र; इन्हें स्वतंत्र उपनिवेश भी कहा जा सकता है।

तख्तापलट : राजनीति में अचानक की गई निर्णायक कार्रवाई, जिससे आमतौर पर अवैध रूप से या बलपूर्वक सरकार बदल दी जाती है। इसे बलात् राजपरिवर्तन भी कहा जाता है।

तड़ित युद्ध : यह शब्द जर्मन भाषा के 'ब्लिट्ज़क्रीग' शब्द का हिंदी पर्याय है जिसका अर्थ है बिजली की तेजी से आक्रमण यानी तूफानी हमला। ऐसे युद्ध में बड़ी तेजी से एक साथ स्थल सेना तथा वायुसेना द्वारा तूफानी हमला किया जाता है।

तानाशाही : अपने देश पर संपूर्ण शक्ति के साथ शासन करने वाले शासक की सरकार।

त्रिपक्षीय मैत्री-संधि : प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व जर्मनी, ऑस्ट्रिया और इटली की सैन्य मैत्री-संधि।

तीसरी दुनिया : एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के विकासशील देश।

तुष्टीकरण : परेशान करने की क्षमता रखने वाले विरोधी को शांत या संतुष्ट करने के लिए बनाई गई नीति।

दिक्सूचक : दिशाएं दिखाने वाला यंत्र; इसमें एक सूई होती है जो उत्तरी ध्रुव की ओर संकेत करती है।

द्विध्रुवीय विश्व : विश्व की वह स्थिति जिसमें दो बड़ी शक्तियां संपूर्ण विश्व की राजनीति पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए हों।

द्विपक्षीय : दो पक्षों द्वारा परस्पर सहमति या समझ-बूझ के आधार पर कार्य करने या किसी निर्णय पर पहुंचने अथवा किसी सिद्धांत को अपनाने की प्रक्रिया।

द्वीपसमूह	:	बहुत-से द्वीपों की श्रृंखला या समूह।
द्वैध शासन	:	दो स्वतंत्र सत्ताओं द्वारा चलाई जाने वाली सरकार।
धुरी राष्ट्र	:	द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, जर्मनी, इटली तथा जापान द्वारा बनाया गया सैनिक गठजोड़।
प्रोटोकॉल	:	उपसंधि; एक राजनयिक दस्तावेज का मूल मसौदा; विशेष रूप से एक संधि की शर्तें जिन पर सम्मेलन में सहमति हो चुकी हो और पक्षों द्वारा हस्ताक्षर किए जा चुके हों।
नव-उपनिवेशवाद	:	अन्य देशों को, विशेष रूप से पूर्ववर्ती अधीनस्थ देशों को नियंत्रण तथा प्रभाव में रखने के लिए उन पर डाले जाने वाले आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अथवा अन्य दबावों का प्रयोग।
नाज़ी	:	जर्मनी की राष्ट्रीय सामाजिक कामगार पार्टी।
परमाणु बम	:	ऐसा बम जो भारी परमाण्विक नाभिकों के विखंडन से तेजी से उत्पन्न नाभिकीय ऊर्जा से शक्ति प्राप्त करता है और ताप विस्फोट तथा रेडियोधर्मिता के कारण नुकसान पहुंचाता है।
परिरोधन नीति	:	किसी शत्रु देश को अथवा उसके प्रभाव के विस्तार को रोकने की नीति या कार्रवाई।
पाश्चात्यकरण	:	पश्चिम की प्रणालियों को अपनाने या उनसे प्रभावित होने की प्रक्रिया।
पीढ़ी	:	लगभग एक ही समय में उत्पन्न हुए और जीवनयापन करने वाले लोग।
पुनर्जागरण	:	यूरोप में, 14वीं से 16वीं सदी तक शास्त्रीय आदर्शों के प्रभाव के अंतर्गत, कला तथा साहित्य का पुनरुत्थान।
पूंजीवाद	:	एक आर्थिक प्रणाली जिसमें व्यक्ति जमीन से भिन्न संपत्ति को मुनाफा कमाने के लिए काम में लेता है और फिर उस मुनाफे को भी आगे और मुनाफा कमाने के लिए कारोबार में लगा देता है। पूंजीवाद के अंतर्गत उत्पादन के साधन व्यक्तियों या निगमों के स्वामित्व में होते हैं और व्यवसाय पर सरकार का नियंत्रण नगण्य या शून्य के बराबर होता है।
पेट्रोलियम निर्यातक देश संगठन (ओपेक)	:	पेट्रोलियम का निर्यात करने वाले देशों का संगठन जो प्राथमिक रूप से पश्चिम एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका में बना; ये देश मिलकर तेल संबंधी नीतियां बनाते हैं।

पेरेस्त्रोइका	:	पुनर्निर्माण; सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचेव द्वारा 1980 के दशक के मध्य में, ग्लासनोस्त (खुलापन) की नीति के साथ विकसित की गई पुनर्निर्माण की नीति।
पैगन	:	विधर्मी; ऐसा व्यक्ति जिसके धार्मिक विश्वास दुनिया के प्रमुख धर्मों से अलग हों।
प्रक्षेपास्त्र	:	मिसाइल; एक ऐसा अस्त्र जो स्वत: चालित हो अथवा दूरस्थ नियंत्रण से लक्ष्य पर भेजा जा सके।
प्रतिसुधार आंदोलन	:	रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा अपने भीतर मौजूद बुराइयों को दूर करने के लिए 16वीं शताब्दी के मध्य में किए गए प्रयत्न। यह प्रक्रिया प्रोटेस्टैंट आंदोलनों से उत्तेजित होकर प्रारंभ की गई थी।
प्रभाव-क्षेत्र	:	विदेशी ताकतों द्वारा अंकित किए गए क्षेत्र, जिनसे उनके आर्थिक तथा सामरिक हित जुड़े हों।
प्रसंविदा	:	एक ऐसा करार या समझौता जो प्रतिबद्धता का संबंध स्थापित करता है; जैसे – पुराने जमाने में रोमन कैथोलिक धर्म में ईश्वर और उसके भक्तों के बीच प्रसंविदा।
प्राचीन शासन-व्यवस्था (Ancien Regime)	:	फ्रांस में 1789 की क्रांति से पहले की राजनीतिक तथा सामाजिक प्रणाली।
प्राधान्यवाद	:	किसी एक राज्य अथवा सामाजिक समूह का अन्य समूहों पर प्रभुत्व या वर्चस्व।
फासीवाद	:	किसी सरकार या राजनीतिक दल के सिद्धांत या तरीके जिनसे एक तानाशाह के शासन को समर्थन मिलता हो, केंद्रीय सरकार द्वारा उद्योग तथा श्रम पर प्रबल नियंत्रण हो, व्यक्ति स्वातंत्र्य पर भारी प्रतिबंध हो और अतिवादी राष्ट्रवाद और सैन्यवाद को बढ़ावा मिलता हो।
फिलस्तीनी मुक्ति संगठन	:	पी. एल. ओ. ; विभिन्न फिलस्तीनी और अरब गुरिल्ला समूहों का एक सर्वोपरि संगठन।
महाशक्ति	:	एक अत्यंत शक्तिशाली और प्रभावशाली राष्ट्र।
बहुजातीय राज्य	:	ऐसा राज्य जहां के निवासी कई जातियों या नस्लों के हों।
बहुपक्षीय	:	ऐसा निर्णय या नीति जिस पर तीन से अधिक पक्ष विशेष रूप से भिन्न-भिन्न देशों की सरकारें सहमत अथवा हिस्सेदार हों।
बहुराष्ट्रीय कंपनियां	:	औद्योगिक देशों की व्यापारिक या वाणिज्यिक फर्में, जो अनेक देशों में काम करती हैं।

बुर्जुआ	:	मध्यवर्ग; यह शब्द फ्रांसीसी भाषा के एक शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'नगरवासी'।
बोल्शेविक	:	लेनिन के नेतृत्व में संचालित रूस की क्रांतिकारी मार्क्सवादी पार्टी के सदस्य।
भूकेंद्रिक	:	कोपरनिकस से पहले के खगोल वैज्ञानिकों का यह मत कि पृथ्वी समस्त विश्व के केंद्र में स्थित है।
भूमंडलीकरण	:	सभी मामलों में और सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए संपूर्ण विश्व को एक विश्व-ग्राम के रूप में समेकित करना।
भू-राजनीति	:	राजनीति, विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय संबंध, जो भौगोलिक घटकों से प्रभावित हों।
औषध विज्ञान	:	आयुर्विज्ञान की वह शाखा जो दवाइयों के प्रयोग, प्रभाव और कार्य-रीतियों से संबंधित हो।
महामंदी	:	1929 और उसके बाद वाले वर्षों में वित्तीय तथा औद्योगिक मंदी की स्थिति जो सबसे पहले संयुक्त राज्य अमेरिका में आई और फिर उसने समस्त विश्व की अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया।
मानववाद	:	एक पुनर्जागरणकालीन सांस्कृतिक आंदोलन, जिसने मध्ययुगीन पांडित्यवाद से हटकर, पुरातन यूनानी और रोमन विचारधारा में रुचि उत्पन्न की।
मार्शल योजना	:	वित्तीय सहायता और अन्य सुविधाएं देने वाला कार्यक्रम जो संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रायोजित किया गया था।
मिली-जुली सरकार	:	इसे गठजोड़ या बहुदलीय सरकार भी कहते हैं। इसमें कई राजनीतिक पार्टियां मिलकर अस्थायी गठजोड़ के अंतर्गत परस्पर सहमत कार्यक्रम के आधार पर सरकार बनाती और चलाती हैं।
मुक्त उद्यम	:	एक आर्थिक प्रणाली जो इस विश्वास पर आधारित है कि व्यापार और कारोबार तभी फूले-फलेंगे जब उनके संचालन में सरकार का हस्तक्षेप या सहायता कम-से-कम होगी।
मुजाहिदीन	:	इस्लामिक देशों के गुरिल्ला लड़ाकू विशेष रूप से जो धार्मिक जोश से प्रेरित हों।
मेनर	:	सामंत भूमि; भूमि की एक इकाई जो सामंत के अधीन होती थी, जिसमें सामंत की भू-संपत्ति और काश्तकारों को लगान पर दी गई जमीनें शामिल थीं।

मेन्शेविक : रूस की एक अल्पसंख्यक पार्टी जो क्रांतिकारी मार्क्सवादी पार्टी की सदस्य थी।

यथास्थिति : मामलों की वर्तमान स्थिति, विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति-समीकरण की स्थिति।

यहूदीवाद : एक यहूदी राष्ट्र की पुनःस्थापना, उसके विकास और संरक्षण के लिए आंदोलन।

याल्टा सम्मेलन : फरवरी 1945 में रूस में हुई एक बैठक, जिसमें एफ. डी. रूजवेल्ट, डब्ल्यू. चर्चिल और जे. स्टालिन ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप के राष्ट्रों को सहायता देने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और सोवियत संघ को प्रतिबद्ध किया।

युद्धविराम : अस्त्र विराम; युद्ध को थोड़े समय के लिए रोक देना।

यू-बोट : एक जर्मन पनडुब्बी जिसका सर्वप्रथम प्रयोग प्रथम विश्वयुद्ध में किया गया था।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय : ई.ई.सी., पश्चिमी यूरोप के देशों का एक आर्थिक संगठन, जो रोम की संधि (1957) द्वारा स्थापित किया गया।

रंगभेद नीति : जाति या नस्ल के आधार पर पृथक्करण; फरवरी 1991 तक दक्षिण अफ्रीका संघ में गोरों, कालों और अन्य वर्ण (रंग) के लोगों को एक-दूसरे से अलग करने के लिए व्यवहार में लाई गई नीति।

राइख : पूर्ववर्ती जर्मन राज्य। इस शब्द का प्रयोग अक्सर 'थर्ड राइख' यानी तृतीय जर्मन साम्राज्य के संदर्भ में किया जाता है।

राजनय : अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रबंध करने का कौशल; इसे कूटनीति भी कहते हैं।

राष्ट्रवाद : एक ही इतिहास, भाषा और संस्कृति के लोगों द्वारा महसूस किया गया एकता का भाव।

रोमनेस्क : रोम-प्रभावित; वह वास्तु-शैली जो पुनर्जागरण काल में रोम में प्रचलित थी।

लाल सेना : सोवियत संघ की सेना जो 1917 की क्रांति के बाद बनाई गई। 1946 में इस नाम को आधिकारिक रूप से छोड़ दिया गया।

लोकतंत्र : सरकार का एक रूप या प्रकार जिसमें शासन करने की शक्ति लोगों यानी जनता के पास होती है।

लोकोपकारवाद : मानवतावाद; मानव कल्याण से संबंधित अथवा उसे बढ़ावा देने वाला आंदोलन।

लौह-आवरण : इस अभिव्यक्ति का प्रयोग सर्वप्रथम विन्सटन चर्चिल द्वारा 1948 में किया गया था। यह शब्द उन अड़चनों एवं कठिनाइयों का द्योतक है जो सोवियत संघ द्वारा यूरोप के साम्यवादी तथा गैर-साम्यवादी राष्ट्रों के बीच विचारों, वस्तुओं और लोगों के संचार पर लगाई गई थीं।

वाणिज्यिक क्रांति : यूरोप के व्यावसायिक जीवन में परिवर्तन जो समुद्र पार के उपनिवेशों के साथ व्यापार बढ़ने से हुए। इस क्रांति के फलस्वरूप व्यवसाय के नए तरीके लागू हुए, कीमतों में बढ़ोतरी हुई, और आधुनिक पूंजीवाद की वृद्धि हुई।

विकसित देश : आर्थिक तथा समाजिक दृष्टि से काफी हद तक उन्नत देश।

विकासशील देश : निर्धन कृषि-प्रधान देश जो आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से उन्नत होने के लिए प्रयत्नशील हैं।

विश्व व्यापार संगठन : 1995 में स्थापित एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन जिसका उद्देश्य शुल्क-दरों (टैरिफ) और अन्य प्रतिबंधों को कम करके अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक विकास को बढ़ावा देना था।

व्यापार तथा प्रशुल्क संबंधी सामान्य करार : प्रशुल्क (टैरिफ) तथा अन्य प्रतिबंधों को कम करके व्यापार और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए की गई एक अंतर्राष्ट्रीय संधि।

व्हिग : ब्रिटेन की सुधार-समर्थक संवैधानिक पार्टी का सदस्य। इस पार्टी ने संसद को सर्वोपरि माना था। आगे चलकर 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन की राजनीति में इस पार्टी का स्थान लिबरल पार्टी (उदारवादी दल) ने ले लिया।

शक्ति-संतुलन : वह स्थिति जिसमें प्रतिस्पर्धी समूह या राष्ट्र लगभग बराबर की ताकत रखते हों। इस स्थिति से ऐसा समझा जाता है कि कोई भी एक समूह या राष्ट्र दूसरे पर अपना प्रभुत्व जमाने की कोशिश नहीं करेगा। यह भी समझा जाता है कि इससे प्रतिस्पर्धी समूह या राष्ट्र युद्ध करने से कतराएंगे।

शरणार्थी : वे व्यक्ति जो युद्ध उत्पीड़न अथवा प्राकृतिक विपदा से बचने के लिए अपने देश को छोड़कर अन्य देश में पलायन करने के लिए बाध्य हुए हों।

शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व	:	सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच, सैनिक संघर्ष की बजाय, आर्थिक सहयोग की नीति।
शीत युद्ध	:	तत्कालीन सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी खेमे (वारसा संधि) और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवादी खेमे (नाटो) के बीच शक्ति के लिए संघर्ष जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रारंभ हुआ।
शुद्धाचारवादी	:	प्यूरिटन; 16वीं सदी के अंतिम दशकों तथा 17वीं सदी के दौरान अंग्रेज प्रोटेस्टैंट मतावलंबियों के एक समूह का सदस्य; यह समूह महारानी एलिज़ाबेथ के अधीन अंग्रेजी चर्च में किए गए सुधारों को अपूर्ण मानता था और पूजा-पद्धतियों को सरल तथा विनियमित बनाना चाहता था।
संघ/परिसंघ	:	फेडरेशन; किसी प्रकार के संगठन के साथ अनेक राज्यों का एक समूह बनाना।
संरक्षित राज्य/देश	:	एक कमज़ोर देश जो किसी प्रबल देश के संरक्षण और आंशिक नियंत्रण में हो।
सत्तावाद	:	व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कीमत पर सत्ता, विशेष रूप से राज्य की सत्ता के प्रति कठोरतापूर्वक वफादारी या आज्ञापालन कराना।
समझौता	:	व्यक्तियों अथवा पक्षों के बीच एक औपचारिक करार।
समाजवाद	:	एक आर्थिक प्रणाली जिसमें उत्पादन के साधन सरकार के स्वामित्व में हों।
सर्व-अरबवाद	:	यह विश्वास कि यदि सारे अरब एक हो जाएं तो वे ब्रिटेन और फ्रांस के राजनीतिक प्रभुत्व पर और पश्चिम के सांस्कृतिक तथा आर्थिक प्रभुत्व पर काबू पा सकेंगे।
सर्वनाश	:	बड़े पैमाने पर मानवजाति (प्राणियों) का विनाश। यहूदियों द्वारा इस शब्द का प्रयोग हिटलर द्वारा द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान बंदी शिविरों में लगभग 60 लाख यूरोपवासी यहूदियों के नृशंस संहार का उल्लेख करने के लिए किया जाता है।
सर्वहारा वर्ग	:	श्रमिक वर्ग; आर्थिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से सबसे नीचे का वर्ग, जिसमें सभी कृषक, औद्योगिक और अकुशल कामगार शामिल हैं।
सर्वाधिकारवाद	:	एकदलीय शासन पद्धति; सरकार का वह रूप जिसमें राज्य जनता पर परम सत्ता या प्राधिकार का दावा करता हो।

सांस्कृतिक क्रांति	:	चीन में 1966 से 1968 तक हुई राजनीतिक उथल-पुथल, जिसका उद्देश्य क्रांतिकारी माओवादी सिद्धांतों को फिर से अपनाना था।
साँ कुलौते	:	फ्रांस की क्रांति के दौरान, पेरिस का एक निम्नवर्गीय रिपब्लिकन (गणतंत्रवादी)।
सामंत प्रणाली	:	मध्ययुगीन यूरोप में एक प्रमुख सामाजिक प्रणाली, सामंत लोग सैन्य सेवाओं के बदले भूपति यानी राजा से जमीन प्राप्त करते थे और उस जमीन पर काश्तकार लोग सामंतों को लगान देकर या फसल में से हिस्सा देकर खेती करते थे। बदले में सामंत लोग किसानों की रक्षा करते थे। यह सामंत प्रणाली पश्चिमी यूरोप में 900 ईस्वी से 1400 ईस्वी तक प्रचलित रही।
साम्यवाद	:	समाजवाद का एक रूप, जो सिद्धांत रूप से तो राज्य के शिथिल पड़ जाने की बात करता है लेकिन व्यवहार में, साम्यवादी पार्टी की तानाशाही चलाता है।
साम्राज्यवाद	:	एक देश के शासन या सत्ता को दूसरे देशों, विशेषकर उपनिवेशों पर फैलाने की नीति। यह शब्द अन्य देश की आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक संरचनाओं पर प्रभुत्व की स्थापना का भी द्योतक है, लेकिन वहां की सरकार को नियंत्रण में नहीं लिया जाता।
सूर्यकेंद्रिक	:	कोपरनिकस का यह खगोलीय मत कि सूर्य संपूर्ण सौरमंडल का केंद्र है।
सैन्यवाद	:	किसी सरकार या जनसमुदाय का यह विश्वास या इच्छा कि उनका देश एक अत्यंत सशक्त सैन्यव्यवस्था रखे और राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए अथवा उन्हें बढ़ावा देने के लिए आक्रामक रूप से उस सेना का प्रयोग करने को तैयार रहे।
हत्याकांड	:	लोगों को अंधाधुंध और निर्दयतापूर्वक मार डालने का सिलसिला।
हानिपूर्ति	:	युद्धक्षतिपूरण; युद्ध के दौरान विजेता राज्य के भू-क्षेत्र में हुए विनाश के लिए विजित राष्ट्र द्वारा किया जाने वाला भुगतान।